

पं. अरुणविजय म. विरचित

# आध्यात्मिक विकासयात्रा



1. निश्चयात्त्व

2. सार-वादन

3. मिथ

4. अविरति सम्यग दृष्टि

5. देश विरति सम्यग दृष्टि

6. सर्व विरति प्रकृत

7. सर्व विरति अप्रकृत

8. अपूर्व करण

9. अभिवृत्ति वादर

10. सूक्ष्म संपराय

11. उपशांत मोह

12. क्षीण मोह

13. सयोजी केवली

14. अयोजी केवली

पं. अरुणविजय म. विरचित

# आध्यात्मिक विकासयात्रा

भाग-२



१. निश्चयात्वा

२. साध्यादला

३. मिश्र

४. अविरति सम्यग दृष्टि

५. देश विरति सम्यग दृष्टि

६. सर्व विरति प्रगता

७. सर्व विरति अग्रगता

८. अपूर्व करण

९. अलिवृत्ति चादर

१०. सूक्ष्म संवराय

११. उपशांत मोह

१२. दीण मोह

१३. सारोगी केवली

१४. अलोगी केवली

पुस्तक नाम - आध्यात्मिक विकास यात्रा - भाग

लेखक - प.पू. गच्छाधिपति आ. भ. श्री प्रेमसुरि म.सा.

के वडील बंधु एवं गुरुभ्राता

प.पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय सुबोधसूरीश्वरजी म. सा.

के डबल M.A. Ph.D, हुए विद्वान शिष्य रत्न -

पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.

प्रकाशक - SHREE MAHAVEER RESEARCH  
FOUNDATION

प्रूफ संशोधक - पू. मुनि श्री हेमन्तविजय महाराज

प्रति १०००, वि.सं. २०६३, वीर सं. २५३३, इ.स. २००७

श्री महावीर जैन साहित्य प्रकाशन पुष्प - 49

### प्राप्ति स्थान

❁ वीरालयम् जैन तीर्थ ❁

N.H.4. कात्रज बाय पास,

मुंबई-पुणे, आंबेगाव (खुर्द)

जामुलबाडी, पुना - 411 046

24319057 / 24317874 / 9328230914

❁ वीरालयम् जैन तीर्थ ❁

A-३ ज्ञात विक्रान्त,

१७- B पोद्दार स्ट्रीट, एस.वी.रोड

सान्ताक्रुज(प.), मुंबई- ५४

Ph.No.28136850 / 28136834

❁ महेन्द्र ज्वेलर्स ❁

सोहनलालजी तालेडा,

पिल्लप्पा लेन, नगरथ पेठ,

बेंगलोर - ५६० ०५३.

❁ गुलाबचन्दजी जे. जैन. ❁

B-1-3rd Floor, मातृआशीष

सोसायटी, ३९ नेपियन्सी रोड,

मुंबई - ४०० ०३६.

❁ वीरालयम् जैन तीर्थ कार्यालय ❁

इन्द्रमलजी बोराणा

महेन्द्र पेपर मार्ट

१३०२ सणस प्लाझा शुक्रवार पेठ, बाजीराव रोड - पुना - २

अक्षर गम्पिका :- VEERALAYAM COMPUGRAPHICS - PUNE

# समर्पण

उपकारीओं के उपकार का स्मरण...

समग्र विश्व में.. अजोड.. एवं अद्वितीय.. महान उपकारी..

ऐसे जिनेश्वर परमात्मा के शासन में... जैन धर्म में...

उच्च जैन कुल में... जिन्होंने जन्म दिया...

उच्च संस्कारों से सिंचन किया... ऐसे... जन्मदाता...

जननी... जनक... १२ व्रतधारी तपस्विनी सुश्राविका...

**श्रीमति शान्तिदेवी गुलाबचन्दजी जैन**

तथा...

भवोदधि तारक... सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र...

भगवती प्रवृज्या देकर आत्मा को मोक्षमार्ग के  
सोपानों पर आरुढ करनेवाले...

प. पू. गच्छाधिपति आचार्य देव

**श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज सा.**

के वडील बंधु एवं गुरु बंधु प. पू. आचार्यदेव

**श्रीमद्विजय सुबोधसूरीश्वरजी म. सा.**

उभय उपकारीओं की उपकार स्मृति करते हुए पूज्यों के

चरणारविंद में... सादर समर्पण...

— अरुणविजय



अनुक्रमिका

अनुक्रमिका

समर्पण

लेखक के हृदयोद्गार

प्रकाशकीय निवेदन

वीरस्थानक यन्त्रमय महाप्रसाद

वीरालयम्

महावीर रिसर्च फाउन्डेशन

श्री महावीर जैन साधर्मिक कल्याण केन्द्र

वीरालयम् प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुष्पों

अध्याय - ८

सम्यक्त्व गुणस्थान पर आरोहण.....४३५

अध्याय - ९

सम्यक्त्व प्राप्ति का अद्भूत आनन्द.....५१५

अध्याय - १०

देशविरतिधर भ्रातृक जीवन.....५७५

अध्याय - ११

साधना का साधक - आदर्श साधु जीवन.....६३१

अध्याय - १२

आत्मशक्ति का प्रगटीकरण.....७७५

अध्याय - १३

कर्मण्य - संसार की सर्वोत्तम साधना.....८४९

अध्याय - १४

अप्रमत्तभाव पूर्वक - ध्यान साधना..९१३



# आर्थिक सहयोग

श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ -  
अक्की पेट - बेंगलोर में इ.सं. १९९४ में श्री संघ की  
आग्रहभरी चातुर्मास की विनंती से श्री संघ मे सर्व प्रथम  
चातुर्मास हुआ। सुबोध भवन की वास्तु में जहां  
प.पू.पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.के  
कर कमलों से

## आध्यात्मिक विकास यात्रा

यह पुस्तक करीब १५०० पृष्ठों में लिखि गई है  
प्रस्तुत दूसरा भाग वासुपूज्यस्वामी श्वे.मूर्ति.संघ अक्की  
पेट-बेंगलोर द्वारा श्री संघ के ज्ञानखाता से प्राप्त आर्थिक  
सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है। पू. साधु-  
साध्वीजी महाराजों को तथा ज्ञान भंडारों को सादर  
समर्पित की जाती है।

इस उदार आर्थिक सहयोग हेतु

## धन्यवाद

श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन

## लेखक के हृदयोद्गार.....

आध्यात्मिक क्षेत्र में मेरा प्रवेश हुआ कि नहीं ? यदि प्रवेश हुआ तो आगे विकास हुआ कि नहीं ? और यदि विकास हुआ तो कितना हुआ ? किस सोपान पर पहुंचे हैं ? कहां रुके हैं ? यदि रुके हैं तो क्यों रुके हैं ? विकास के अवरोधक कारण और क्या - क्या हो सकते हैं ? आखिर विकास का प्रमाण कितना है ? विकास के सोपान कितने हैं ? संसार में कितने जीव हैं ? कैसे कैसे जीव हैं ? कौन से जीव कीस गति में है ? इन अनन्त जीवों का स्थान विकास के किस सोपान पर है ? किस गति के जीवों की विकास मर्यादा कितनी है ? कहां तक है ? वे क्यों नहीं आगे के सोपानों पर चढ़ते हैं ? आखिर क्या अवरोध है ? मनुष्य गति में गृहस्थ किस विकास तक पहुंचे हैं ? पहुंचते हैं ? इसके आगे के सोपानों पर साधु - सन्त महात्मा कैसे पहुंचते हैं ? साधु-सन्त भी कैसा किस सोपान पर है ? कौन आगे - पीछे है ? कौन कहां तक पहुंचे है ? किस सोपान पर वीतरागी बना जाता है ? और किस पर तीर्थंकर भगवान बना जाता है ? और आध्यात्मिक विकास का अंतिम सोपान कौनसा है ? विकास की पूर्णता कहां, कैसे होती है ? पूर्ण विकसित सिद्धात्मा का सही स्वरूप क्या, कैसा होता है ? अविकसित अपूर्ण स्वरूप क्या, कैसा होता है ?

आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में ये और ऐसे सैंकड़ों प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत पुस्तक के तीन खंडों में प्रस्तुत किया है । कर्म बाधक-अवरोधक तत्त्व है । क्यों और कैसे है ? इसकी मीमांसा करते हुए गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थानुसार सरल-सुगम और सचित्र विवेचन इन ती न खंडों में प्रस्तुत किया है । यह निश्चित है कि प्रस्तुत पुस्तक साद्यन्त संपूर्ण समझते हुए पढ़ने पर प्रत्येक साधक को अपना स्थानभूत सोपान ख्याल में आ जाएगा । आखिर मैं कौन हूं ? कहां हूं ? किस सोपान पर हूं ? मेरा आध्यात्मिक विकास कितना हुआ है ? मैं कहां रुका हूं ? क्यों रुका हूं ? अब पुनः आगे सोपान चढ़ने के लिए मुझे क्या करना चाहिए ? इत्यादि का मार्गदर्शन इस ग्रन्थ से अवश्य मिलेगा ।

इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ आत्मा का एक अच्छा आयना है । जैसे दर्पण देह दर्शन कराता है ठीक वैसे ही ग्रन्थरूपी यह दर्पण आत्मदर्शन कराता है । आत्म स्वरूप एवं आत्मज्ञान तथा आत्मा की स्थिति का भान कराता है । सर्व सामान्य लोगों का कर्म शास्त्र का इतना अभ्यास न होने के कारण तथा भौतिक चकाचौंध में इतने डूबे हुए हैं कि... उसमें से ऊपर ही नहीं उठ सकते हैं । दूसरी तरफ भौतिक विकास को ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मान ली है । इन्ही भौतिक साधन-सामग्रीयों की विपुल प्राप्ति

में अपना काफी अच्छा विकास मान लीया है। अतः आध्यात्मिक विकास का विचार तक नहीं आता है। लेकिन जिस दिन भेदज्ञान होगा उस दिन आंखें खुलेंगी। शायद तब तक बहुत देर भी हो चुकी होगी।

योगानुयोग बेंगलोर के नए स्थापित अक्की पेट जैन संघ में चातुर्मास हुआ और “आध्यात्मिक विकास यात्रा” शीर्षक देते हुए पुस्तक लिखने की अतः स्फुरणा ने काफी जोर पकड़ा। उत्कट हुई। प्रवचनमाला की धारा भी इसी विषय पर चली। जिज्ञासु श्रोताओं को सचित्र शैली से समझाने में सरलीकरण करने के फायदे में जटील एवं रुक्ष विषय भी काफी सरल-सुगम एवं सुबोध हुआ। परिणाम स्वरूप विस्तार भी काफी ज्यादा जरूर हुआ। लेकिन वह निरर्थक नहीं - सार्थक ही हुआ। मुद्रण व्यवस्था में काफी विलम्ब ने चित्त को काफी विक्षिप्त जरूर किया। लेकिन भवितव्यता पर छोड़कर निश्चित हुआ। आखिर मुनि हेमन्तविजय के पुरुषार्थ से तीनों भाग प्रसिद्ध हो रहे हैं। इसका आनन्द अवश्य हो रहा है। सिद्धान्त के क्षेत्र में सर्वज्ञ वचन विरुद्ध अंश मात्र लिखा गया हो तो त्रिविध क्षमायाचना सह मिच्छामिदुक्खं। विद्वद्वर्ग ध्यान खिंचेगे तो अवश्य सुधारणा करूंगा। संसार की सब आत्माओं का आध्यात्मिक विकास हो ऐसी शुभ कामना।

अषाढी गुरु पूर्णिमा

३० जुलाई २००७ - पुना

— अरुणविजय

## भावना भव नाशिनी

अनित्यादि १२ भावना तथा मैत्री आदि ४ भावना ऐसे १६

भावना योग का यह मानसशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आध्यात्मिक उत्थान के सोपान सर करनेवाला सुंदर सात्विक सचित्र विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। संसार से विरक्ति पाने में मददरूप बनेगा यह पुस्तक। भटकते मन पर काबू पाने के लिए भावनाओं का चिंतन बहुत आवश्यक है। पू. पं. न्यास डॉ. अरुणविजयजी म. सा. ने बहुत सरल शैली से यह पुस्तक का लेखन किया है। गुजराती एवं हिन्दी भाषा में श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन संस्था ने प्रकाशित किया है।



## प्रकाशकीय निवेदन

भौतिक विश्व में मानव जहां भौतिक साधन-सामग्रियों की विपुलता में ही सुख-शान्ति मान बैठा है वहां अध्यात्म के रुक्ष विषय को सर्वथा उपेक्षित होना कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन सर्वथा जब ये भौतिक साधन सुख के बजाय दुःख के निमित्त बन जाते हैं तब इन्सान की आंखें खुलती हैं, लेकिन तब तक काफी विलंब हो जाता है। क्योंकि कीमति मानव जीवन का काफी अमूल्य आयुष्य बीत जाता है। फिर भी काफी हद तक वास्तविकता के बीच की भेदरेखा समझ में आते ही आंखें खुलती हैं। दोनों के बीच में कितना अन्तर है यह तब अच्छी तरह समझ में आता है।

भौतिकता में जीनेवाला आध्यात्मिकता का सर्वथा विस्मरण कर बैठता है। और आध्यात्मिकता में जीनेवाले के लिए भौतिकता सर्वथा निरुपयोगी लगती है। यह भी एक वास्तविकता है। आखिर आध्यात्मिक जगत क्या है? इसके अन्दर सुख-शान्ति कैसे सन्निहित है? सच में यही सही है, उपयोगी ही नहीं अपितु उपकारी भी काफी है। यह सब तब ही अनुभव में आता है जब व्यक्ति स्वयं इसका आस्वाद लेता है। अध्यात्म के मार्ग पर हमारा विकास कितना हुआ? हम कुछ आगे बड़े या नहीं? यदि आगे नहीं बड़े हैं तो हम कहां रुके हुए हैं? और यदि आगे बड़े हैं तो कहां तक पहुंच पाए हैं? जहां रुके हैं? या जहां पहुंचे हैं वहां की स्थिति क्या है? और कैसी है? इत्यादि सारी जानकारी साधक को हो इस हेतु से प्रस्तुत ग्रन्थ एक आयना (दर्पण) के समान है।

आध्यात्मिक विकास के १४ सोपान हैं। संसार में अनन्त जीव है। इन सबका स्थान किस सोपान पर है? कौन कहां हैं? कौन कहां तक आगे बढ़ा है? इत्यादि समस्त निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में है।

जैन श्रमण संघ के डबल हुए सुप्रसिद्ध विद्वान प.पू.पंन्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.सा.ने आध्यात्मिक विकास यात्रा नामक प्रस्तुत पुस्तक करीब १५०० पृष्ठों में लिखकर एक नया कीर्तिमान निर्माण किया है। जिसे प्रस्तुत पुस्तकाकार के रूप में प्रसिद्ध किया जा रहा है। श्री अक्की पेट जैन संघ - बेंगलोर की तरफ से प्रथम भाग इ.स.१९९६ में मुद्रण करके प्रकाशित किया था। तत्पश्चात् मुद्रक की तरफ से काफी विलंब हुआ। आखिर हमारे हाथमें बड़ी मेहनत के पश्चात् आया। कालिक भवितव्यता ही इसमें कारणीभूत होगी ऐसा मानकर मन मना लेते हैं। पू. मुनि हेमन्तविजय म.सा. के अथाक परिश्रम से अब हम दूसरा और तीसरा भाग प्रकाशित करते हुए तीनों भाग का पूर्ण सेट वाचक वर्ग के कर कमलों में अर्पित करते हुए धन्यता अनुभवते हैं। आशा है जिज्ञासु वाचक-पाठक इसमें से बोध प्राप्त करके अपना आध्यात्मिक विकास साधेंगे।

- शुभं भवतु सर्वेषाम् -

अषाढी गुरु पूर्णिमा

३० जुलाई २००७ - पुना

श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन वीरालयम् - पुना

ट्रस्ट मंडल

# वीरालयम् जैन तीर्थ में - विश्व का सर्व प्रथम श्री वीशस्थानक यन्त्रमय महाप्रासाद

आगे चौबीशी हुई अनन्ती, वली रे होशे वार अनन्ती ।

अरिहन्त तणी कोई आदि न जाणे, इम भाखे भगवंत रे ॥

चौबीशी का मतलब है 24 तीर्थंकर भगवान । भरत और ऐरावत जैसे 5+5=10 क्षेत्रों में सदा चौबीशीयां अर्थात् 24-24 तीर्थंकर भगवान प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में होते ही रहते हैं । व्यतीत भूतकाल में अनन्त चौबीशीयां बीत चुकी है । वर्तमान चौबीशी दसों क्षेत्रों में है, तथा आगामी भविष्य काल में भी अनन्त चौबीशीयां होती ही रहेगी । इस तरह अरिहन्त भगवान शाश्वत रूप से होते ही रहते हैं । इसलिए तीर्थंकर बनने के लिए कारणीभूत तीर्थंकर नामकर्म बंधाने में सहयोगी वीशस्थानक तप भी शाश्वत संबंध है । आखिर तीर्थंकर अरिहन्त भगवान बनने का मुख्य आधार वीशस्थानक पर है । वीशस्थानक के 20 पद :-

- 1) अरिहन्त पद 2) मिद्ध पद 3) प्रवचन पद 4) आचार्य पद 5) स्थवीर पद
- 6) उपाध्याय पद 7) साधु पद 8) ज्ञान पद 9) दर्शन पद 10) विनय पद
- 11) चारित्र पद 12) ब्रह्मचर्य पद 13) क्रिया पद 14) तप पद 15) गणधर पद
- 16) जिन पद 17) संयम पद 18) अभिनव पद 19) श्रुत पद 20) तीर्थ पद ।

इन बीसों के समूहात्मक संज्ञा के रूप में वीशस्थानक संज्ञा दी गई है । ये बीसों पद जैन धर्म-जैन शासन के मुख्य, मूलभूत अंग हैं । जैन धर्म वीशपदात्मक है, और वीशस्थानक जैन धर्मात्मक है । समस्त प्रकार के तपों में वीशस्थानक तप भी शाश्वत तप है । इन बीसों या कम, या अन्त में एक पद की आराधना करके भी तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया जा सकता है ।

इन बीसों पदों की आराधना हेतु समस्त विश्व में इस अवनितल पर सर्व प्रथम कक्षा का 20 शिखरबद्ध 20 पदों की 20 दरियोंवाला वीशस्थानक यन्त्रमय महाप्रासाद - वीरालयम् की विशाल भूमि पर निर्माण हो रहा है ।

जैन श्रमण संघ के डबल M.A. Ph.D. हुए सुप्रसिद्ध विद्वान प.पू.पंत्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी गणितर्व्य महाराज की अतःस्फुरणा, दिव्य दैवी संकेत एवं दिव्य शक्ति अनुसार शिल्प शास्त्रीय प्रासाद नियमानुसार अद्भूत अनोखा बेनमून नमूना साकार हो रहा है ।

भारत देश की आर्थिक राजधानी बम्बई से N.H. 4 पर जुड़ा हुआ विद्या का धाम सांस्कृतिक शहर पुना है । पुना शहर के दक्षिण में दक्षिण भारत के प्रवेशद्वार रूप कात्रज घाट की निसर्गरम्य पर्वतमाला में प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित सर्वथा

प्रदूषण रहित शुद्ध हवा-पानीवाले एवं शान्तवातावरणवाले **MINI HILL STATION** स्वरूप वीरालयम् जैन तीर्थ की पहाड़ी भूमि की तलेटी में वीशस्थानक यन्त्रमय महाप्रासाद निर्माण हो रहा है। मुंबई से कात्रज - बायपास पर सिर्फ २ घंटे के अन्तर पर है। पुना रेल्वे स्टे. से सिर्फ २४ की.मी. तथा स्वारगेट बसस्थानक से सिर्फ १२ की.मी. है।

वीशस्थानक के इस महाप्रासाद में २० मंदिरों की रचना इस प्रकार है -

१) अरिहंत मंदिर :- इस वीशस्थानक महाप्रासाद के केन्द्र में वृत्ताकार समवसरण बना है। चारों तरफ प्रवेश द्वार वाले डॉम को ऊपर से ३ गढ़ का आकार देकर समवसरण की रचना की गई है। ऊपर के गढ़ में चौमुखजी के ४ बड़ी बड़ी प्रतिमाजी प्रतिष्ठित होगी। मरगज रत्न के कीमति पाषाण में चार विविध रंग की ४१ इंच की मूर्ति गादी भामंडल परिकरादि युक्त ८१ इंच की विशाल चारों प्रतिमाजी चौमुखजी के रूप में बिराजमान होगी। “भाव जिणा समवसरणत्था” शास्त्र पाठानुसार भावजिन के रूप में समवसरण में प्रभुजी बिराजमान होंगे। सिद्धमंदिर ३) प्रवचन मंदिर ४) आचार्य मंदिर ५) स्थवीर मंदिर ६) उपाध्याय मंदिर ७) साधु मंदिर ८) ज्ञान मंदिर ९) दर्शन मंदिर १०) विनय मंदिर ११) चारित्र मंदिर १२) ब्रह्मचर्य मंदिर १३) क्रिया मंदिर १४) तप मंदिर १५) गणधर मंदिर १६) जिन मंदिर १७) संयम मंदिर १८) अभिनवज्ञान मंदिर १९) श्रुत मंदिर २०) तीर्थ मंदिर। सभी के ऊपर ध्वजा लहराई जाएगी।

प्रत्येक मंदिर में पदानुसार विविध रंगों की मरगज रत्न की सुंदर मूर्तियां स्थापन होगी। ११ फुट उंचा गभारा तथा १४ फुट का ऊपर शिखर कुल मिलाकर २५ फुट का बड़ा विशाल एक-एक मंदिर बनेगा। गम्भारे की दिवाल पर परिकरादि के रूप में गुणों का विवरण रहेगा।

मध्यवर्ती समवसरण के केन्द्र में वीशस्थानक कमलाकार मंदिर की अद्भूत रचना होगी। बीसों पदानुसार मरगज रत्न की प्रतिमाजी बिराजमान होगी।

मुख्य प्रवेश द्वार पर बड़ा विशाल वीशस्थानक यंत्र रहेगा। नीचे के भोंयरे (भूमिगृह-तलगृह) में भी जाप ध्यान साधना कर सकेंगे।

वीशस्थानक तप करनेवाले आराधक तपस्वी इस तीर्थ में आकर वीशस्थानक मंदिर में बीसों पदों की पूजा भक्ति तथा वीशस्थानक महापूजनादि पढाकर, महोत्सवादि करके पारणा कर सकेंगे।

इस अवनितल पर आज की दूनिया में सर्व प्रथम कक्षा का एक अद्भूत-अनोखा नए प्रकार का वीशस्थानक मंदिर निर्माण हुआ है। प्रत्येक आराधक भाग्यशाली यात्रा करने पधारने का रखें। वीशस्थानक तप की पूर्णाहूति के प्रसंग पर यहां आकर यात्रा-पूजन उजमणा-महोत्वादि करके पारणा करने का रखें।

श्री वीशस्थानक यंत्रमय महाप्रासाद - वीरालयम् जैन तीर्थ फोन नं. **24137874**  
मुंबई-पुना, कात्रज बायपास, आंबेगांव (खुर्द) पो. जांभुलवाडी - पुणे - ४६ PUNE - 411046

## वीरालयम् जैन तीर्थ - कात्रज - पुना

आर्यावर्त - भारत देश के महाराष्ट्र राज्य की पुण्य भूमि संस्कार नगरी - विद्या का धाम, लघु काशी के रूप में प्रसिद्ध पुण्यपत्तन - पुना शहर है। पुना की दक्षिण दिशा में कात्रज घाट की विशाल पर्वतमाला दक्षिण भारत के प्रवेश द्वार के रूप में प्रसिद्ध है। घाट प्रदेश की पर्वतमाला की पहाड़ी भूमि पर वीरालयम् जैन तीर्थ निर्माण हो रहा है। निसर्गरम्य प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित पहाड़ी भूमि जहां शुद्ध हवा-पानी शान्त वातावरण है। खुशनुमा हवाखाने के गिरि मथक **MINI HILL STATION** स्वरूप वीरालयम् यह सेवा-शिक्षा- और साधना के त्रिवेणी संगम स्वरूप अन्तराष्ट्रीय जैन केन्द्र है। है।

वास्तु शास्त्र, शिल्पशास्त्र तथा निसर्ग के नियमों का पालन सुव्यवस्थित करते हुए सुंदर तीर्थ आकार ले रहा है।

**श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम् महाप्रासाद :-**

समवसरण यह तीर्थकर परमात्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति के प्रसंग पर केवलज्ञान कल्याणक मनाते समय देवताओं द्वारा निर्मित धर्मसभा के दृश्य समान है। सर्वज्ञ बने हुए भगवान समस्त जीवों को देशना देंगे। ऐसे समय पर देवलोक के देवी-देवता, मनुष्य गति के नर-नारी तथा तिर्यंच गति के पशु-पक्षी आदि तीन गति के जीव देशना श्रवण करने के लिए आते हैं। ये सब सैंकड़ों की संख्या में आते हैं। वे सब कहां कैसे बैठेंगे ? भगवान स्वयं कहां किस तरह बिराजमान होंगे ? इत्यादि सब बातों का पूरा ध्यान रखकर देवता ३ खंड का विशाल धर्मसभा भवन बनाते हैं, उसे समवसरण कहते हैं। समस्त विश्व में एक मात्र तीर्थकर भगवान के लिए ही ऐसा भव्य विशाल समवसरण बनता है। तीर्थकर के सिवाय जगत में अन्य किसीके लिए भी नहीं बनता है। यह सबसे विशेषता है।

चौथे आरे में समवसरण बनते थे। तीर्थकरों की अनुपस्थिति में पांचवे आरे में न तो भगवान होते हैं और न ही समवसरण बनते हैं। केवलज्ञान के कल्याणक की उजवर्णी के प्रबल निमित्त रूप ऐसे समवसरण का इतिहास हजारों वर्षों पश्चात आज भी सबकी स्मृति में ताजा बना रहे इस उत्तम भावना से समवसरण को ही मंदिर महाप्रासाद का रूप देकर प.पू. पं.श्री अरुणविजयजी म.सा. ने वीरालयम् जैन तीर्थ में श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम् महाप्रासाद निर्माण करने की अनोखी योजना बनाई है। जिसे वीरालयम् ट्रस्ट की तरफ से निर्माण किया जा रहा है। जो समुद्र तल से करीब ७०० फीट की ऊंचाई पर बन रहा है। भूमि की पवित्रता तीर्थ निर्माण के लिए काफी योग्य है।

पहाड़ी की चोटी पर करीब २००X२०० फूट के विशाल व्यास में बन रहा है। तदनुसार सुमेरपुर के शिल्पशास्त्रज्ञ सा. गंगाधरजी किस्तुरजी सोमपुरा को समझाकर

शिल्प शास्त्रीय नक्षा बनवाया। जिससे पू. गुरुदेव के ध्यानानुसार एवं दिव्य संकेतानुसार एक अद्भूत समवसरण महाप्रासाद का प्लान तैयार हुआ।

विश्व में आज की दुनिया में समस्त अवनितल पर कहीं भी नहीं है ऐसा सर्वप्रथम कक्षा का विशाल एवं भव्य समवसरण महाप्रासाद का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ है। बंसीपहाडपुर के गुलाब्री पाषाण राजस्थान की धरती से पुना तक लाया जा रहा है। एवं वृत्ताकार प्रकार का ३ गढ़ का भव्य समवसरण का कार्य प्रारम्भ हुआ है। सुयोग्य श्रेष्ठ मुहूर्त पर भूमिपूजन-खातमुहूर्त-शिलान्यास विधान हुआ। अनेक भाग्यशालीयों तथा श्री संघों ने लाभ लिया।

३ गढ़ के इस महाप्रासाद में प्रत्येक गढ़ में चारों दिशा में चार प्रवेश द्वार हैं। इस तरह कुल १२ प्रवेश द्वार, १२ चौकीयें बनेगी। सुंदर तोरण युक्त विशाल प्रवेश द्वारों से सुशोभित प्रासाद के उपर अशोक वृक्षाकार सामरण बनेगा।

५४ X ५४ फूट के विशालतम गम्भारे में गादी परिकर युक्त ३० X १४ फूट की बड़ी विशाल मूर्तियां बन रही हैं। केन्द्रस्थ गम्भारे में समवसरण के ३ गढ़ आकार का पबासण बनेगा। १०५ इंच की बड़ी भव्य ४ प्रतिमा विशाल परिकर के साथ प्रतिष्ठित होगी। विश्व में सर्वप्रथम बार ही इतनी विशाल अनोखी अद्भूत मूर्तियां बनेगी। मरगज रत्न के विविध रंगों में अनेक रंगों की रंगीन मूर्तियां बन रही हैं।

करीब १०८ फूट की ऊंचाई पर विशाल ध्वजा लहराएंगी। एक तीर्थ अभिनव रूप ले रहा है।

आनेवाले यात्रिकों के लिए ऊपर जाने का करीब ३० फूट चौड़ा रास्ता बना हुआ है। बस तथा गाड़ीयां ऊपर जा सकती हैं। पहाड़ी की तलेटी में वीशस्थानक यन्त्रमय महाप्रासाद के दर्शन करके यात्री पहाड़ी की चोटी पर पहुंचेंगे। वहां श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम् महाप्रासाद बन रहा है। इस अभिनव तीर्थ की यात्रा करने का लाभ यात्रीगण लेंगे। आइए....पधारीए.....वीरालयम् जैन तीर्थ की यात्रा करने पधारीए.....।

● वीरालयम् जैन तीर्थ ●

मुंबई-पुना, कात्रज बायपास, आंबेगांव (खुर्द) पो. जांभुलवाडी - पुणे - ४६ PUNE - 411046

Ph. No. - 24317874 / 24319057 / Mo. - UTTAM BAFNA - (0) 9326230914

## SHREE MAHAVEER RESEACH FOUNDATION VEERALAYAM - POONA

मुंबई से सिर्फ २ घंटे के अन्तर पर **N.H.4** के कात्रज बायपास पर पुना शहर से सिर्फ १०-१२ की.मी. के अन्तर पर कात्रज घाट की पर्वतमाला की पहाड़ी पर निसर्ग रम्य प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित शुद्ध हवा-पानी वाले, शान्त वातावरण युक्त सर्वथा प्रदूषण रहित खुशनुमा हवा खाने के गिरिमथक **MINI HILL STATION** स्वरूप पहाड़ी भूमि पर वीरालयम् नामक विराट संकुल आकार ले रहा है। सेवा-शिक्षा और साधना के त्रिवेणी संगम तीर्थ स्वरूप इस विश्वस्तरीय शिक्षा केन्द्र **INTERNATIONAL JAIN STUDY CENTRE** बनाने की दिशा में आगे कदम रखे जा रहे हैं।

इस अभिनव तीर्थ के मुख्य स्वप्नदृष्टा सर्जनात्मक शक्ति के सर्जक चिन्तक मनिषी जैन श्रमण संघ के डबल **M.A., Ph.D.** हुए विद्वद्गुरु **प.पू.पंन्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी म.सा.** के दिव्य संकेत एवं आयोजनानुसार अनेकविध योजनाओं का एक विराट संकुल धिरे-धिरे आकार ले रहा है। महावीर प्रभु के संक्षिप्त नाम 'वीर' शब्द के आगे 'आलय' शब्द जोड़कर वीरालयम् ऐसा नामकरण किया गया है। **SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION** के नाम से **The Bombay trust act** के अन्तर्गत १९९८ में **E-2683** नंबर से रजिस्टर कराया गया है। इसमें **80G** नियमान्तर्गत दाता को कर माफी में सुविधा प्राप्त होती है। विविध प्रकार के आयोजनों की योजना इस प्रकार है -

**RESIDENTIAL SCHOOL गुरुकुल-तपोवन :-** जीवन के प्रथम पाये से संस्कारों से सिंचन करते हुए छोटे बच्चों को धार्मिक तथा व्यावहारिक शिक्षा से सुशिक्षित करने की इस योजना के अंतर्गत निवासी पाठशाला बनाई जाएगी।

**HOSTEL छात्रावास :-** छोटे से बड़े शिक्षा पा रहे सभी विद्यार्थियों के लिए आवास-निवास-भोजनादि की उत्तम व्यवस्था करने हेतु छात्रावास बनाने की विशाल योजना है। विद्यार्थियों को शुद्ध सात्विक भोजन प्राप्त हो सके इसके लिए विशाल भोजनशाला बनेगी।

**DEEMED JAIN UNIVERSITY - S.S.C तथा H.S.C.** तक का अध्ययन गुरुकुल-तपोवन में कर लेने के पश्चात विशेष अभ्यास कराने की दिशा में विद्यार्थियों के लिए विशेष कोर्स के लिए व्यवस्था की जाएगी। प्रधान रूप से ३ विषयों का कोर्स कराया जाएगा। 1) **INDOLOGICAL COMPARETIVE PHILOSOPHICAL STUDY**

2) **ALTERNATE THERAPIES & 3) YOGA & MEDITATION** इन मुख्य ३ विषयों को लक्ष्य बनाकर ३ वर्षों में **B.A.** तथा आगे २ वर्षों में **M.A.** अर्थात् ५ वर्षों में **M.A.** हो जाएगा। इसके आगे और २ वर्षों में **RESEARCH** करते हुए **Ph.D.** कर सकेंगे। विश्व की एक नामांकित **PUNE UNIVERSITY** के साथ जुड़ी हुई हमारी इस प्रकार की **DEEMED JAIN UNIVERSITY** से अध्ययन करते हुए प्रत्येक स्नातक तत्त्वज्ञान - दर्शन शास्त्र का अच्छा प्रॉफेसर चिंतक विद्वान बनेगा। साथ ही साथ स्वयं ध्यान-योग साधना का अच्छा ज्ञाता चिकित्सक बनेगा। ऐसे स्नातक युवकों का भविष्य काफी उज्ज्वल बनेगा। भविष्य में आर्थिक दृष्टि से भी समृद्ध बने रहेंगे। इस तरह हम सेवा-शिक्षा और साधना का

त्रिवेणी संगम का लक्ष्य साधने की आशा रखते हैं। ऐसे स्नातक देश-राष्ट्र-धर्म-समाज एवं परिवार को समृद्ध बना सकेंगे।

एक विशाल संशोधन केन्द्र निर्माण करने की योजना है। प्राचीन आगमादि शास्त्रों पर संशोधन करके प्रकाशित करने का लक्ष्य है। साथ ही **JAIN ENCYCLOPEDIA** जैन विश्वकोष निर्माण करने की योजना है। अभ्यास क्रमानुसार पाठ्य पुस्तकें तैयार करना, छपवाना तथा विद्यार्थियों को अभ्यास कराने एवं दूर - दूर तक के जिज्ञासुओं को पत्राचार के पाठ्यक्रम से अभ्यास कराके उन्हें भी डीग्रियां प्राप्त करवाने का लक्ष्य है।

**RESEARCH LIBRARY संशोधन योग्य ज्ञान मंदिर :-** प्राचीन-अर्वाचीन हस्त लिखित स्व-पर धर्म-दर्शन के तथा विविध भाषाओं में उपलब्ध पुस्तक-ग्रन्थ-शास्त्रादि विपुल साहित्य के संग्रह का एक सुंदर ज्ञान मंदिर का भवन करीब २०,००० स्के.फू. का निर्माण करने की योजना है। जिसमें सेमिनार - कार्यशाला आदि के भी आयोजन होते रहेंगे। इस तरह यह संस्था **INTERNATIONAL JAIN STUDY CENTRE** बनेगा।

#### **ALTERNATE THERAPIES MEDICAL INSTITUTE & HOSPITAL -**

वर्तमान काल में विश्वभर में अनेक प्रकार की वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियां विकसी है। इनमें से निर्दोष प्रभावी पद्धतियों पर संशोधन करके उन्हें विकसित करना। **TEACHING, TRAINING & TREATMENT CENTRE** निर्माण करना, चलाता तथा जन सेवा करना। अच्छे चिकित्सक तैयार करना।

**शान्ति निकेतन :-** चतुर्विध श्री संघ के साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविकादि चारों वर्ग के वृद्ध वयस्कों की अन्तिम जीवन की सुविधा आराधना के लिए चार मकान तैयार करना। वडील सेवा सदन में इनकी सेवा करने की योजना है।

**गौशाला - पांजरपोल - चबूतरा - पक्षी गृह :-** कत्ल खाने जाते हुए गाय-बैलादि प्राणियों को बचाकर लाना, उनकी सेवा करना। गौशाला के अनेक शेड बनाकर गौमाता की रक्षा करनी। चबूतरा में कबूतरों के लिए १०८ घर बनाए हैं। इस तरह वीरालयम् जैन प्रणी रक्षा केन्द्र के अन्तर्गत जीवदया का कार्य करने की योजना है।

**तीर्थंकर उद्यान - २४** जिन के दीक्षा वृक्ष तथा केवलज्ञान प्राप्ति के अनेक वृक्षों को लगाते हुए तीर्थंकर उद्यान तैयार करने की योजना है। नक्षत्र वन बनेगा। सेंकड़ों प्रकार के औषधीय वृक्षों द्वारा यहां का पर्यावरण सुरक्षित रहेगा। तथा प्राकृतिक सौंदर्य बढ़ेगा।

**अनाथालयम् :-** अनुकंपा के क्षेत्र में मानव धर्म की योजनान्तर्गत अनाथालयम् में अनाथ बालकों का संवर्धन किया जाएगा। निराधार अपंग, विकलांग, अंध, मूक, बधिरादि बालक-बालिकाओं के लिए सुंदर आश्रम बनाने की योजना है।

**उपाश्रय :-** पू. साधु-साध्वीजीयों की साधना के लिए उपाश्रय बने हैं।

**अतिथिगृह एवं धर्मशाला :-** यात्रिकों की सुविधा हेतु यात्रिकालयम् धर्मशाला बन रही है। इस तरह अनेकविध योजनाओं से वीरालयम् जैन तीर्थ का यह विराट संकुल धिरे-धिरे आकार लेगा। रजिस्टर ट्रस्ट को **80 G** के अन्तर्गत करमाफी की सुविधा प्राप्त है। दानवीर दान दाताओं को दान देने में लाभ है। **SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION** के नाम से चेक / ड्राफ्ट देकर अवश्य आर्थिक सहयोग प्रदान करें।



**जैन श्रमण संघ के डबल M.A. Ph.D हुए सुप्रसिद्ध विद्वान  
प.पू.पंन्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य महाराज सा.  
की प्रेरणा, सदुपदेश एवं मार्गदर्शनानुसार संस्थापित संस्था -  
श्री महावीर जैन साधर्मिक कल्याण केन्द्र**

Registrar trust No. E-28001, PUNE - Date 29-1-1999

जैन शास्त्रों में साधर्मिक भक्ति की महिमा अत्यधिक गाई गई है। बात भी सही है कि... हमने जो जैन धर्म महान पुण्योदय से प्राप्त किया है, वही धर्म यदि कोई भी पाया है और आराधना करता है। लेकिन अन्य अशुभ पाप कर्मों के उदय से वर्तमान काल में आर्थिक स्थिति से कमजोर है। जिसके कारण अनेक कार्य इच्छा होने पर भी वह कर नहीं पाता है। ऐसी स्थिति में हमारा सबका पवित्र कर्तव्य है कि... ऐसे साधर्मिक परिवारों को सहयोगी बनना और उन्हें उपर उठाना। इसी उद्देश्य से तथा ऊंची भावना से पुना, मुंबई, चेन्नई, बेंगलोरदि में पू. गुरुदेव श्री **पं. अरुणविजयजी म.** की प्रेरणानुसार इस संस्था की स्थापना की गई। इस संस्था की तरफ से.

- १) साधर्मिक परिवारों को व्यापारार्थ बड़ी रकम का आर्थिक सहयोग बिना व्याज दिया जाता है।
- २) साधर्मिक परिवारों को शैक्षणिक सहयोग दिया जाता है।
- ३) साधर्मिकों की चिकित्सा हेतु वैद्यकीय आर्थिक सहयोग देकर उपचार कराया जाता है।
- ४) अक्षम साधर्मिक परिवारों को अनाज-धान्यादि दिया जाता है।
- ५) वृद्धावस्था में अशक्त परिवारों को सब प्रकार का सहयोग दिया जाता है।
- ६) युवक/युवतियों को कौशल कराने में पूर्ण सहयोग किया जाता है।
- ७) सुशिक्षितों को योग्य प्रतिष्ठानों में नोकरी रखाने आदि में सहयोग दिया जाता है।
- ८) साधर्मिकों को स्वावलंबी बनाने में आवश्यकतानुसार पूर्ण सहयोग दिया जाता है।

**श्री महावीर जैन साधर्मिक नगर :-** इस संस्था ने वीरालयम् जैन तीर्थ परिसर में गुंदोज निवासी श्रेष्ठविर्य श्रीमान् **शा. गुलाबचंदजी पसाजी गुदेशा** परिवार द्वारा भेट दी गई भूमि पर १० दुकानों तथा २८ घरों का एक सुंदर साधर्मिक नगर निर्माण किया है। आवश्यकता वाले साधर्मिक परिवारों को रहने के लिए एक-एक घर एक नया पैसा लिए बिना दिया जाता है। आज भी कई परिवार नियमित रहते हैं। हमारी भावना आगे १०८ घर बनाने की है।

**दान योजना :-** दानवीर दाता भाग्यशाली सिर्फ १,५१,१११/- रुपये की राशी का आर्थिक सहयोग देने पर संस्था घर बनाकर दाता के नाम की आरस की तक्ति लगाएगी। दाता को भी स्व इच्छानुसार किसी भी साधर्मिक परिवार को देने का अधिकार रहेगा।

इसके अतिरिक्त 51,111/-, 31,111/-, 21,111/-, 11,111/-, 9999/-, 5,555/- उपरोक्त योजनाओं में भी दाता दान देकर संस्था को सहयोग कर सकते हैं। चेक/ड्राफ्ट या कैश रुपमें राशी दे सकते हैं।

| वीरालयम् जैन तीर्थ                                                                                                  | कार्यालय | वीरालयम् जैन तीर्थ                                                                                                     |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| N.H.4. कात्रज बाय पास, मुंबई-पुणे, आंबेगाव (खुर्द)<br>जामुलबाडी, पुना - 411 046<br>24319057 / 24317874 / 9326230914 |          | A-३ ज्ञात विक्रान्त, १७- B पोद्दार स्ट्रीट,<br>एस.वी. रोड; सान्ताक्रूज (प.), मुंबई - ५४<br>Ph. No. 26136850 / 26136834 |

## आगम प्रकाशन

प.पू. पंन्यास प्रवर श्री अरुणविजयजी गणिवर्य महाराज सा. द्वारा संकलित-  
संपादित तथा मुनि श्री हेमन्तविजयजी महाराज द्वारा प्रूफ शुद्धिकरण करके  
**SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION**  
संस्था की तरफ से मूल-टीका-गुर्जरानुवाद सह प्रताकारे प्रकाशित आगम शास्त्र -  
**विपाक सूत्र :-** ४५ आगम में ११ अंग सूत्र का ११वा अंगसूत्र रूप

**उपासक दशांग सूत्र :-** ४५ आगम में ११ अंग सूत्र का ७ वा अंगसूत्र रूप

**श्री अंतगड-अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र :-** ४५ आगम में ११ अंग सूत्र का  
८वा एवं ९वा अंगसूत्र

**श्री निर्यावतिका सूत्र :-** ४५ आगम में १२ उपांग सूत्र का ५वा उपांग सूत्र

**ज्ञानार्णव - ज्ञानबिन्दुश्च महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. द्वारा विरचित**  
नव्य न्याय भाषा में प्रताकार ग्रन्थ

## आगामी प्रकाशन

**SPECIAL HAND MADE PAPER** पर लंबे काल तक टीक सके ऐसी श्याही से सुंदर मुद्रण  
हो रहा है आगम शास्त्र।

**भगवती सूत्र :-** भाग २ और ३, ४५ आगम सूत्रों में ११ अंग सूत्र में पंचमांग श्री  
व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र मूल-टीका सह प्रकाशन ।

**श्री पन्नवणा सूत्र :-** भा १, २ और ३ गुर्जरानुवाद के साथ

**जीवाभिगम सूत्र :-** भाग १ और २

**श्री सूयगडांग सूत्र :-** भाग १ और २

**श्री आचारांग सूत्र :-** भाग १ और २

प.पू. साधु - साध्वीजी तथा पदस्थो को तथा ज्ञान भंडारो को भेट दिये जा रहे है।

## SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION

वीरालयम् जैन तीर्थ

N.H.4. कात्रज बाय पास,

मुंबई-पुणे, आंबेगाव (खुर्द)

जामुलबाडी, पुना - 411 046

24319057 / 24317874 / 9326230914

वीरालयम् जैन तीर्थ

A-३ ज्ञात विक्रान्त,

१७- B पोहार् स्ट्रीट, एस.वी. रोड

सान्ताक्रुज(प.), मुंबई - ५४

Ph. No. 26136850 / 26136834



## हथूंडी तीर्थ मंडन मूलनायक श्री राता महावीरस्वामी भगवान

समग्र विश्वमें महावीर प्रभु की यह एक मात्र अद्वितीय-अलभ्य मूर्ति है। जो रेती, चूने एवं मिट्टि के संमिश्रण से स. सं. ३६० की साल में बनी हुई राता (लाल)रंग के वज्रलेपवाली १७०० वर्ष प्राचीन ऐतिहासिक अलौकिक चमत्कारिक अद्भूत महाप्रभावक भव्य प्रतिमा है। एक बार हथूंडी तीर्थ की यात्रा का लाभ अवश्य लीजिए।

**श्री हथूंडी राता महावीर तीर्थ**

पो. बिजापुर, वाया बाली, स्टे. फालना, जिला-पाली (राज.) ३०६७०७



# गुरुराज की सदा मोरी वंदना



प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय  
धर्मसूरीश्वरजी म. सा.



प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय  
भक्तिसूरीश्वरजी म. सा.



प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय  
प्रेमसूरीश्वरजी म. सा.



प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय  
सुबोधसूरीश्वरजी म. सा.



तत्त्व चिंतक-तात्त्विक-सात्विक साहित्य के सर्जक, सचित्र शैली की पुस्तकें लिखनेवाले सिद्ध हस्त लेखक, सैद्धान्तिक सत्त्वसभर सचित्र शैली के प्रवचनकार, दार्शनिक पद्धति से तर्क युक्ति पूर्वक समझानेवाले, अनेक शिबीरों द्वारा युवावर्ग को सीखानेवाले, ध्यान योग साधना शिबिर के प्रणेता, वीरालयम् के स्वप्न दृष्टा, साधर्मिकों के राहबर, श्री हथूँडी तीर्थ के जीणोद्धारकारक, श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन के आद्य प्रणेता, श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र के प्रेरणास्त्रोत, जैन श्रमण संघ के M. A., Ph.D. सुप्रसिद्ध विद्वान्,

**संशोधनात्मक महाप्रबंध के लेखक**

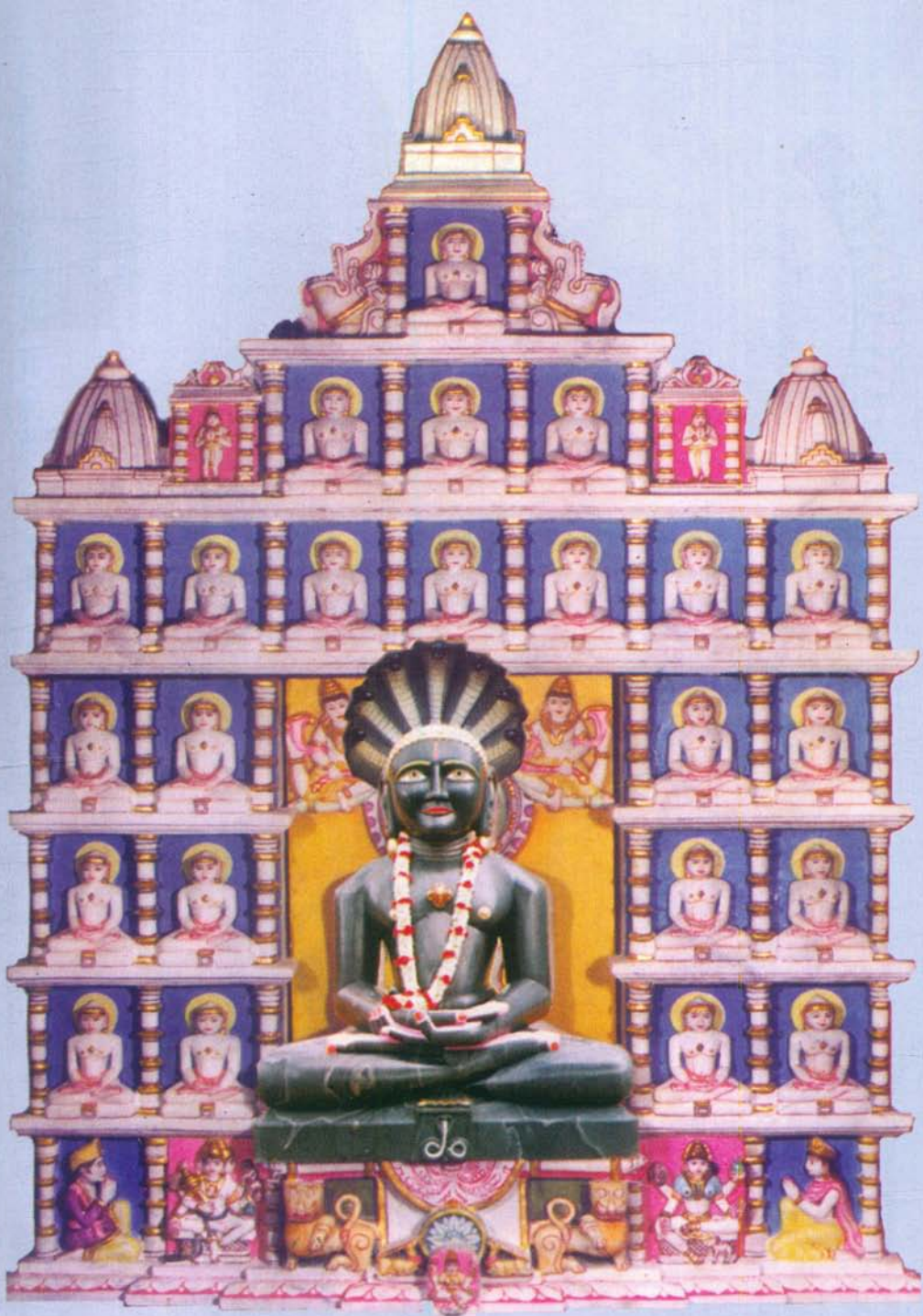
**प. पू. पंन्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य महाराज**

(राष्ट्र भाषा रत्न, साहित्य रत्न M.A., दर्शन शास्त्री B.A., जैन-न्याय दर्शनाचार्य M.A., Ph.D.)





जहां महावीर प्रभु की राता (लाल) रंग के वज्र लेपवाली समग्र विश्व की एक मात्र अलभ्य मूर्ति है ऐसे राजस्थान राज्य की मरुभूमि पर गोडवाड प्रान्त के गौरव समान श्री हथुंडी तीर्थ है। जो नदी के किनारे प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित प्रदूषण रहित-शान्त वातावरण में स्थित है। जैन श्रमण संघ के डबल M. A., Ph.D. हुए सुप्रसिद्ध विद्वान **पू. पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी म.सा.** की प्रेरणा-सदुपदेश एवं मार्गदर्शनानुसार नवनिर्मित ३ गढ, १२ चोकियां, १२ प्रवेश द्वार, अशोक वृक्षात्मक सामरण युक्त **श्री महावीर वाणी समवसरण मंदिर** बना है। अंदर आगम मंदिर व गणधर मंदिर है, चौमुखजी प्रभुजी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। भ. महावीर की देशनात्मक वाणी विविध भाषाओं में लिखि गई है। इस तीर्थ में ठहरने हेतु उत्तम धर्मशाला तथा भोजनशाला आदि की सुंदर व्यवस्था है। आइए.... पधारिए..... एक बार इस तीर्थ की यात्रा करने अवश्य पधारिए।

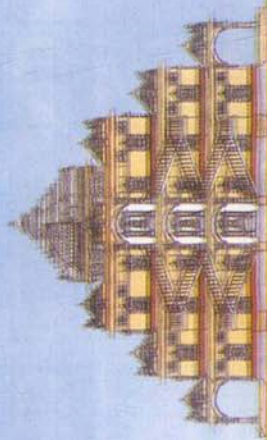


श्री पार्श्वनाथ भगवान की नौ फीट की श्यामवर्णी विशाल प्रतिमा गादी - परिकरादि सह वीरालयम् में नवनिर्माणाधीन “श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्” में बिराजमान होगी ।



श्रीराक्षस  
कात्रज, पुणे.

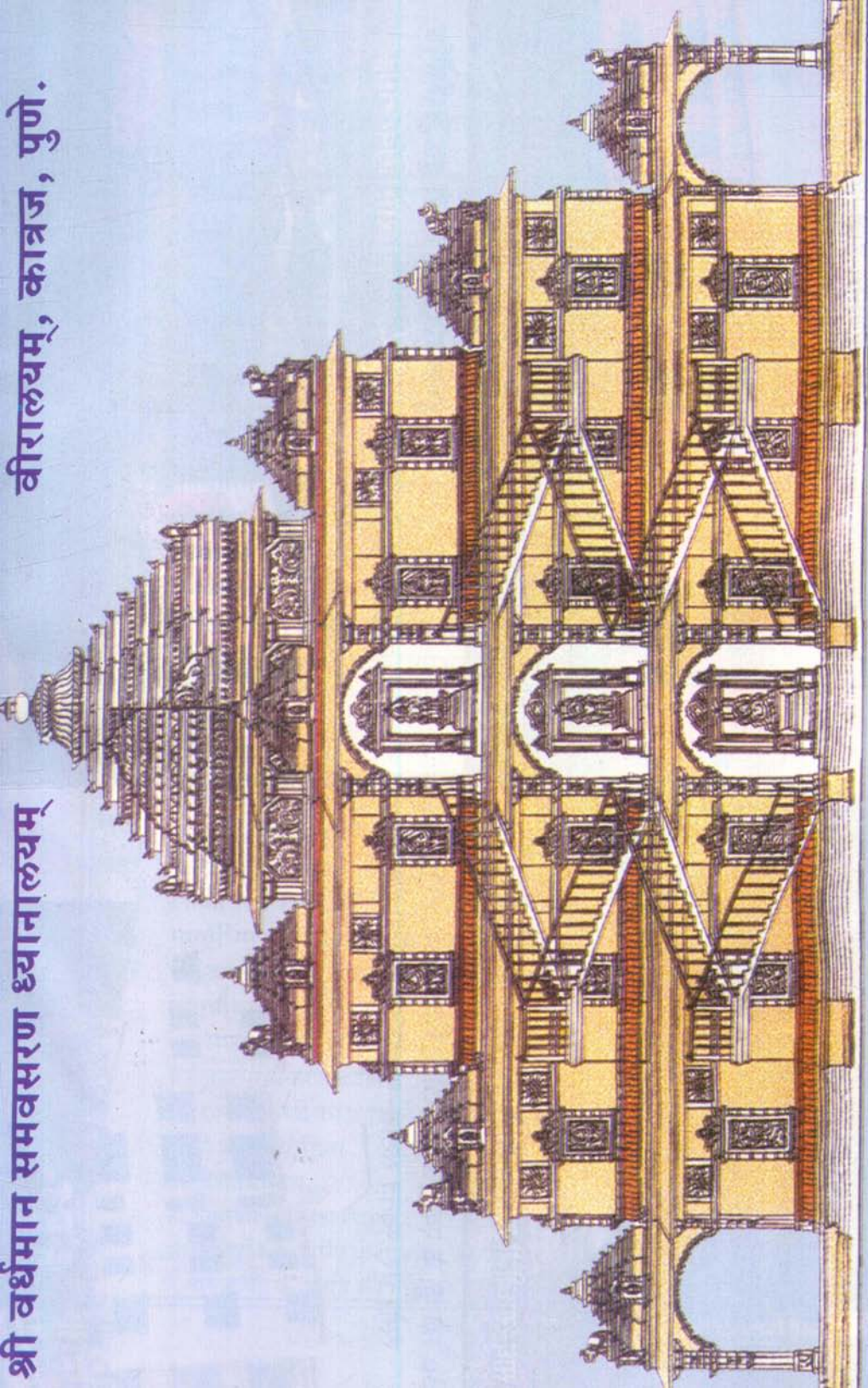
श्रीराक्षस  
कात्रज, पुणे.





श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्

वीरालयम्, कात्रज, पुणे.







साधु-साध्वीजी महाराजों की आराधना के लिए सुंदर उपाश्रय

०० स्क्वे.फू. के एक ऐसे १० ब्लॉक, जिसमें हॉल, शयनकक्ष, रसोई घर, स्वतंत्र संडास-बाथरुमादि सुविधा युक्त

सुंदर धर्मशाला



दो डायनिंग हॉल एवं दो किचन युक्त

विशाल भोजनालयम्



१० दुकान तथा २८ घर से युक्त नवनिर्मित

श्री महावीर जैन साधार्मिक नगर



# सम्यक्त्व गुणस्थान पर आरोहण

|                                               |     |
|-----------------------------------------------|-----|
| कैसा विकास साधे?.....                         | ४३६ |
| निर्धारित लक्ष्य की दिशामें विकास.....        | ४३७ |
| विकास में बाधक - मिथ्यात्व.....               | ४३८ |
| मुक्ति एवं सम्यक्त्व का अधिकारी भवी जीव.....  | ४४५ |
| सम्यक्त्व और भव्यत्व.....                     | ४५० |
| मोक्ष के लिए अयोग्य मिथ्यात्वी.....           | ४५१ |
| मिथ्यात्व, पाप और संसार परिभ्रमण.....         | ४५३ |
| मिथ्यात्व की त्रैकालिक अधिकता.....            | ४५५ |
| राग-द्वेष की निविड ग्रन्थि.....               | ४६० |
| चरमावर्त में प्रवेश.....                      | ४६२ |
| मिथ्यात्व की मन्दता-तीव्रता.....              | ४६६ |
| अपुनर्बन्धक जीव की विशेषता.....               | ४६७ |
| मार्गानुसारी जीवन के ३५ गुण.....              | ४६९ |
| लोकोत्तर धर्म की आधारशिला.....                | ४७८ |
| मार्गाभिमुख-मार्गपतित-मार्गानुसारी भाव.....   | ४८० |
| धर्म का बाल्य एवं यौवन काल.....               | ४८३ |
| योगबीज.....                                   | ४८५ |
| श्रेष्ठ सम्यक्त्व की प्राप्ति के ५ कारण.....  | ४८७ |
| धर्मसनन्मुखीकरण काल.....                      | ४९२ |
| यथाप्रवृत्तिकरण का प्रयोजन एवं प्रक्रिया..... | ४९५ |
| करण की उपयोगिता.....                          | ४९९ |
| ग्रन्थि का स्वरूप.....                        | ५०० |
| तीन करणों की आवश्यकता.....                    | ५०३ |
| सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के विकास का क्रम..... | ५०८ |
| यग दर्शन की प्राप्ति की प्रक्रिया.....        | ५०९ |

## सम्यक्त्व गुणस्थान पर आरोहण

अनन्तगुणे सम्यक्त्वी, समदर्शी, समत्वी, समता के सागर, सर्वदर्शी, सर्वगुणी, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम परमात्मा चरमतीर्थपती प्रभु महावीरस्वामी के चरणों में अनन्त वन्दना पूर्वक....

### गुणारोहण—

हम पर्वतारोहियों को देख चुके हैं। किस तरह हिमालयादि पर्वत चढ़ते हैं। पर्वतों पर चढ़ना कितना कठिन होता है? जान की बाजी लगाकर लोग हिमालय जैसे विशालकाय पर्वत पर आरोहण करते हैं। उसमें भी जब एवरेस्ट के शिखर पर आरोहण करना हो तो समझिए मौत के सामने लड़ते हुए आगे बढ़ना है। जान हथेली पर लेकर एक एक कदम आगे बढ़ना पड़ता है। प्रति पल गिरने का भय रहता है। फिर भी हिम्मतवान व्यक्ति चढ़ जाता है। कड़ियों ने तो दम तोड़ भी दिया। कई पार उतर भी गए। इसी तरह गुणों का हिमालय पर्वत हो और उस पर चढ़ना हो तो कठिन लगता है या आसान? पर्वतारोहण करना पर्वतारोहियों के लिए आसान बन सकता है परन्तु गुणरूपी पर्वतों पर चढ़ना अर्थात् गुणारोहण करना पर्वतारोहण से भी अनेक गुना कठिन है।

जिस मिथ्यात्व के बारे में हम विचार कर आए हैं वह मिथ्यात्व पर्वत के बिल्कुल सर्वथा नीचे के तलभाग पर है। तलभाग सर्वथा निम्नस्तर पर है। इसलिए मिथ्यात्वी की विचारधारा अत्यन्त निम्न कक्षा की होती है। जगत के जितने उच्च कक्षा के उच्चतम—श्रेष्ठतम कक्षा के ऊँचे जीवादि तत्त्व, परमात्मादि तत्त्वों के बारे में संसार का सबसे निम्नस्तर पर रहनेवाला मिथ्यात्वी जीव क्या सोच पाएगा? क्या विचार कर पाएगा? आत्मादि पदार्थ का स्वरूप मिथ्यात्वी के पल्ले पड़े जैसा ही नहीं है। मिथ्यात्वी की दृष्टि—मति सर्वथा विपरीत होने के कारण उसमें उस प्रकार की योग्यता पात्रता ही नहीं है। अतः वह क्या कर सकेगा? इस तरफ आत्मादि तत्त्वभूत पदार्थ बहुत ही गूढ़ हैं। गहन हैं। गहरे पानी में गोताखोरी किये बिना जैसे हीरे—मोती—रत्नादि हाथ लगनेवाले नहीं हैं ठीक वैसे ही तत्त्वरुचि का गुण जगाकर दुराग्रह—कदाग्रह एवं पूर्वग्रह की दुर्बुद्धि

का त्याग किये बिना आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्व कैसे पल्ले पड़ेंगे ? कैसे समझ में आ सकेंगे ? अतः असंभवसा लगता है ।

समुद्र तैरना तैराकी के लिए आसान है । पर्वतारोही के लिए हिमालय की चोटीरूप एवरेस्ट शिखर पर चढ़ना आसान है । लेकिन मिथ्यात्व के धरातल से सम्यक्त्व के शिखर पर चढ़ते हुए गुणारोहण करना अनेकगुना असंभव जैसा लगता है । लेकिन इसे असंभव मानकर ही बैठे रहे तो कभी भी आगे नहीं बढ़ सकेंगे । आखिर आज नहीं तो कल विकास की दिशा में आगे बढ़ना तो पड़ेगा ही ।

**कैसा विकास साधें ?—**

संसार के मंच पर लाखों—करोड़ों लोग हैं । सभी जीव अपने—अपने क्षेत्र में अभीष्ट विकास के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । कर्मवश ऐसे जीव जो आध्यात्मिक लक्ष्य ही नहीं रखते वे बेचारे संसार में ही अपना सांसारिक विकास साधने में प्रयत्नशील रहेंगे । कोई अपने परिवार का विकास साधते हैं, कोई आर्थिक विकास में संतोष मानते हैं । अपनी श्रीमन्ताई का ही उन्हें नाज है । कोई शिक्षा के क्षेत्र में विकास साधते हुए कई उपाधियाँ हासिल करते हुए आगे बढ़ते हैं । कोई उद्योगों का विकास करके उसमें ही अपना अहं संतोषते हैं । कुछ लोग राजकारण के क्षेत्र में सत्ता की बढोतरी में ही अपना विकास मानते हैं । कोई बढ़ती हुई मान—पद—प्रतिष्ठा में अपने आप को बड़ा मानते हैं । क्या सचमुच यह विकास है ? जी नहीं ।

इस प्रकार के विकासों में हमारी आत्मा जहाँ थी वहीं है, और जैसी थी वैसी ही है । आत्मा की निष्कषायता, राग—द्वेष का शमन, चिन्तन का स्तर आदि कुछ भी नहीं बढ़ा । आत्मा में किसी भी गुणों का विकास नहीं हुआ । न तो क्षमा—समता बढ़ी, और न ही नम्रता—सरलता बढ़ी । तो क्या बिना इनके राज्य की बड़ी सत्ता के पद पर वह सुशोभित होगा ? कल राष्ट्रपति के या प्रधानमंत्री के ऊँचे पद पर पहुँच कर भी व्यक्ति भ्रष्टाचार—दुराचार—व्यभिचार आदि दुर्गुणों से भ्रष्ट बनने पर अपनी इज्जत, राष्ट्र की इज्जत एवं पद की गरिमा को बड़ी गहरी चोट पहुँचाता है । विश्व के मानचित्र में वह अपना एवं अपने देश का स्थान नीचा दिखाता है ।

आप किसी भी स्थान या पद पर पहुँचिये, आप जगत में विकास के किसी भी पद पर पहुँचिए, याद रखिए, प्रत्येक पद पर क्षमा, समता, सरलता, नम्रता, अकिंचनता, सत्य, निष्ठा, श्रद्धा आदि सेकड़ों गुणों की सर्वप्रथम आवश्यकता रहती ही है । बिना इन गुणों



के मानव की पद—प्रतिष्ठा यश—कीर्ति कभी भी फैल ही नहीं सकती है। अतः इनकी मूलभूत आवश्यकता है। ये गुण हैं जो व्यक्ति को गुणवान बनाते हैं। अतः संसार में स्पष्ट कहा जाता है कि— आप कौन हैं इसका ज्यादा महत्व नहीं है, परन्तु आप कैसे हैं इसीका महत्व अनेक गुना ज्यादा है। आप कौन हैं ? इससे मात्र व्यक्ति के पद—प्रतिष्ठा—स्थानादि का ही बोध होता है जबकि कैसे हैं ? यह शब्द आपकी गुणवत्ता को ध्वनित करता है। अतः विकास मात्र सांसारिक नहीं होना चाहिए, आध्यात्मिक विकास की परम आवश्यकता है।

सांसारिक विकास मात्र बाह्य विकास है, जबकि आध्यात्मिक विकास आन्तरिक है, यही आत्मा का विकास है। आत्मा के गुणों के विकास का ही अपर नाम है आध्यात्मिक विकास। क्योंकि आत्मा गुणी द्रव्य है और क्षमा—समतादि उसके गुण हैं। गुण—गुणी का अभेद संबन्ध है। अतः अभेद उपचार से आत्मा के आध्यात्मिक विकास का ही अपर नाम गुणविकास दे सकते हैं और गुणात्मक विकास का ही अपर नाम आध्यात्मिक विकास दे सकते हैं। दोनों परस्पर अपरनाम—पर्यायवाची नाम कहे जाते हैं।

### निर्धारित लक्ष्य की दिशा में विकास—

विकास कैसा होना चाहिए ? लक्ष्य विहीन या लक्ष्य सहित ? विकास पहले होता है कि लक्ष्य का निर्धार पहले ? यदि आप लक्ष्यविहीन ही हैं तो दिशाम्रान्त हैं। गुमराह हैं। आपके सामने कोई लक्ष्य ही नहीं है, यदि किसी साध्य को स्थिर ही नहीं किया है तो आप किस दिशा में प्रयाण करेंगे ? मनोविज्ञान के मानसशास्त्र का नियम है कि— आप सर्वप्रथम लक्ष्य का निर्धार करें। यदि लक्ष्य ऊँचा, श्रेष्ठ कक्षा का है तो आपका विकास उसी दिशा में होगा। अन्यथा लक्ष्य गलत होने पर विकास के बदले विनाश भी हो सकता है। आप उन्नति के शिखर पर पहुँचने के बजाय अवनति के पाताल में भी पहुँच सकते हैं। अतः लक्ष्य पर बहुत बड़ा आधार है। अनिवार्य है।

“लक्ष्य पर आधार” की अनिवार्यता साधक यदि समझ जाएगा तो विकास में विलम्ब नहीं होगा। और विकास सही होगा। अतः साधक के विकास का आधार लक्ष्य पर है और लक्ष्य का आधार पूर्व में विकास साधे हुए वैसे महापुरुष पर है। विकास की चरम सीमा जो साध चुके हैं ऐसे महापुरुष हमारे लक्ष्य के केन्द्र में होने चाहिए। अतः ऐसे महापुरुष की प्राप्ति की शोध में रहना चाहिए। यही ऊँचा आदर्श हमें रखना चाहिए। शास्त्रों में से ऐसे आदर्शभूत महापुरुषों के चरित्र हमें ढूँढ़ लेने चाहिए। इन्हीं को सदा दृष्टि

समक्ष रखकर वैसा बनने की दिशा में भगीरथ पुरुषार्थ करना चाहिए। तभी हम वैसे निर्धारित लक्ष्य को हासिल करने में सफल हो सकेंगे। लक्ष्य एवं आदर्श के केन्द्र में गुणों को रखना चाहिए।

आदर्शभूत महापुरुष तो आलंबन मात्र है परन्तु हमारा चरम लक्ष्य तो उनके आलंबन से हमारे गुणों का विकास हमें साधना है। साधक को ही साधना करनी है। लेकिन साधना के लिए साधन की आवश्यकता रहती है। तभी साध्य को साधकर साधक भी सिद्ध बन सकता है।

### विकास में बाधक—मिथ्यात्व—

साधक जब साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों की सहायता लेकर साधना करता हुआ आगे बढ़ता है तब कुछ तत्त्व कभी अवरोधक बनते हैं, और कुछ तत्त्व कभी सहायक बनते हैं। विकास की प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक मार्ग में बाधक तत्त्व भी काफी आते हैं जो मार्ग में रोड़े डालते हैं, और विकास की गति को तोड़ देते हैं। ऐसी परिस्थिति में या तो गति धीमी हो जाती है या फिर गति सर्वथा टूट जाती है। कोई विरल मनोबल वाला ही वैसी हिम्मत जुटाकर गति को पुनः जोड़ पाता है, और प्रगति साधता है।

यदि आप आध्यात्मिक विकास की दिशा में प्रगति करना चाहते हैं तो... सबसे पहले गति में अवरोधक बनकर रोड़े डालनेवाले बाधक तत्त्व को पहचान लो वह है “मिथ्यात्व”। जैसे हाइवे पर आप तीव्र गति में भाग रहे हो उस समय गतिरोधक—रोड़े रास्ते में लगे रहते हैं जो आपकी गति को रोक देते हैं। ठीक उसी तरह मोक्षमार्ग पर प्रयाण करनेवाले साधक के मार्ग में मिथ्यात्व एक ऐसा अवरोधक—बाधक तत्त्व है जो हमारे विकास की गति—प्रगति को रोक देता है। आगे बढ़ने ही नहीं देता है।

मिथ्यात्व हमारी विकास की दिशा के लक्ष्य से ठीक विपरीत हमें ले जाता है। विकास की दिशा एवं लक्ष्य ऊपर है और मिथ्यात्व ठीक उससे उल्टी अघो दिशा में पाताल में ले जाता है। क्योंकि यह विपरीत वृत्तिवाला है। मिथ्यात्व नास्तिक विचारधारावाला है। प्रत्येक तत्त्व की जो भी बात सामने आए मिथ्यात्वी की वृत्ति निषेधात्मक होने के कारण वह सबसे पहले ना ही कहेगा। चाहे आत्मा की बात हो या परमात्मा की बात हो, या चाहे मोक्ष का विषय हो... या फिर स्वर्ग—नरक का विषय हो, या भले ही पुण्य—पाप की प्रवृत्ति का काम हो मिथ्यात्वी सबसे पहले सब में ‘ना’ ही कहेगा। आत्मा को पाप कर्म से सर्वथा मुक्त करने के लिए चलो, हम कुछ करें,

क्रियाशील—सक्रिय बनकर कुछ करने की भी बात करें, तो मिथ्यात्व सबसे पहले ना कह देगा। वह अपने स्वार्थ की बात आगे करेगा—अरे यार ! खाओ पीओ मौज करो। छोड़ो इन सब पुण्य—पाप की बातों को। ये सब निरर्थक—व्यर्थ बातें हैं। इस तरह की वृत्ति—ऐसा स्वभाव एवं बोलने की भाषा ऐसा होने के कारण इस प्रकार का मिथ्यात्व आध्यात्मिक विकास के पथ पर अग्रसर होने में बाधक बनता है। जब तक ऐसे अवरोधक को दूर नहीं कर सकेंगे तब तक हमारा विकास प्रारंभ ही नहीं हो सकेगा। अतः सर्वप्रथम पदार्थों का शुद्ध स्वरूप जैसा है वैसा देखें—जानें—पूरी तरह से समझ लें और फिर मानें... तथा अन्त में उसी तरह का आचरण करें। मोक्षार्थी मुमुक्षु के लिए यह नितान्त आवश्यक है।

विकास की दिशा में अग्रसर होने की शुभ शुरुआत ही मिथ्यात्व के नष्ट होने से और सम्यक्त्व के द्वार खुलने से होती है। यदि ये सम्यक्त्व के द्वार न खुले तो निश्चित समझिए कि हमारी आत्मा के विकास का प्रारंभ हुआ ही नहीं है। अतः इस बाधक तत्त्व को अच्छी तरह पहचान कर... आगे बढ़ने के लिए भगीरथ पुरुषार्थ करना नितान्त आवश्यक है। जब तक आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वों को मानेंगे ही नहीं तब तक हमारी बुद्धि सही—सीधी दिशा में चलेगी ही नहीं, और मिथ्यात्व आत्मादि पदार्थों के अस्तित्व को मानने ही नहीं देता है। वह तो पहले ही बुद्धि दृष्टि—दोनों बना देता है कि... कुछ है ही नहीं। कुछ मानना ही नहीं। इससे बुद्धि निषेधात्मक हो जाती है। फिर वह उस दिशा में, उन पदार्थों के बारे में सोचेगा ही नहीं। यदि आप सम्यग्दृष्टि हो तो ही आपकी बुद्धि आत्मादि पदार्थों के बारे में सोचोगे—विचारोगे—आपकी बुद्धि विधेयात्मक सकारात्मक बनेगी। ऐसी सकारात्मक बुद्धि—दृष्टि बनने के बाद आत्मादि पदार्थों के बारे में जीव सोचना शुरू करता है। सोचने विचारने की शक्ति बढ़ती है। तत्त्वरुचि जागृत होती है।

**ऐसी मिथ्यात्व की वृत्ति में जीव का अनन्त काल—**

जैसा कि पहले देख चुके हैं कि—पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों में से निगोद के एकेन्द्रिय भवों के काल से अज्ञान के कारण अनाभोगिक मिथ्यात्व जीव में रहता है। निगोद की अवस्था में वहीं बार—बार जन्म—मरण करते हुए जीव अनन्तकाल बिता देता है। जहाँ एक क्षासोच्छ्वास परिमित काल में १७१/२ भव हो जाते हैं ऐसी निगोद की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में जहाँ अनन्त काल जीव बिता देता है वहाँ सम्यक् श्रद्धा होने की कोई संभावना ही नहीं थी। एकेन्द्रिय के पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकायादि भवों में भी तथा २, ३, ४,

इन्द्रियवाले विकलेन्द्रियों के जन्मों में भी जीव अव्यक्तावस्था में मिथ्यात्व में ही फसा हुआ था। अनन्तकाल बितानेवाला यह जीव कैसे विकास प्रारंभ करे ? भले, निगोद में जीवों का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्मतम हो। जो आँखों से भी देखी नहीं जा सकती है ऐसी अवस्था में भी जीव का अस्तित्व तो है ही। अस्तित्व कहाँ नष्ट हो गया है ? नहीं। आत्मा द्रव्यरूप में अनन्त काल तक सदा रहनेवाली है। उसका अस्तित्व कदापि नष्ट नहीं होता है। सूक्ष्मतम स्थिति में रहना या विशाल—विराट स्वरूप में आना यह जीवगत विशेषता है। संकोच—विकासशील स्वभाव—गुणधर्मवाला जीव द्रव्य है। सूक्ष्मतम अवस्था में जीवात्मा का 'कद' आदि परमाणु सदृश हो जाता है। जैसे परमाणु अदृश्य—सूक्ष्मतम—अछेद्य—अभेद्य अकाद्य—अदाह्य आदि गुणवान द्रव्यस्वरूप होता है ठीक वैसे ही जीव भी अछेद्य, अभेद्य, अकाद्य अदाह्य, अविभाज्य आदि गुणधर्मवाला ही होता है। दोनों के बीच इतना ही अन्तर है कि... जीव में संकोच विकासशील स्वभाव है, गुण है। जिसके कारण अपने स्वरूप को सूक्ष्म से सूक्ष्मतम भी कर सकता है और जरूरत पड़ने पर विस्तार करते हुए.... १४ राजलोक व्यापी भी कर सकता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि... जीव असंख्यप्रदेशी द्रव्य होते हुए भी परमाणु के जैसी समकक्ष सूक्ष्मतम अपनी अवस्था बना सकता है। और ऐसी अवस्था में भी जीव के असंख्य प्रदेशों का स्वरूप—अस्तित्व बरोबर बना रहता है। एक भी प्रदेश बिखर नहीं जाता है। एक भी प्रदेश अलग नहीं होता है। असंख्यप्रदेशी पिण्डस्वरूप जीव का अस्तित्व अनादि अनन्तकालीन है। तीनों काल में जीव का अस्तित्व—प्रदेशों का स्वरूप, सदा एक समान—एक जैसा ही रहता है। अतः एक भी प्रदेश के नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता है। आप सोच भी नहीं पाओगे कि... एक छोटे से बाजरी ज्वारी जैसे अनाज के दाने में से जब अंकुर फूटता है, वह अंकुरित होता है तब अंकुरे के छोटे से कद में भी अनन्त जीव एक साथ रहते हैं। इतनी छोटी सी अवस्था में भी एक साथ अनन्त जीवों का अस्तित्व रहता है। तो एक जीव का स्वरूप कितना सूक्ष्मतम हुआ ? जिसकी इम बुद्धि की तुला पर कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। परमाणु जितनी सूक्ष्मतम अवस्था की समानता में आ जाता है। ऐसी सूक्ष्मतम—अवस्था में परमाणु जरूर स्वतंत्र रहता है। पस्तु परमाणु एक प्रदेशरूप है जबकि जीव असंख्यप्रदेशी द्रव्य है। असंख्य प्रदेश एक साथ रहते हुए भी परमाणु समकक्ष सूक्ष्मतम अवस्था धारण करने के पश्चात् भी जीव अपने ज्ञानादि सब गुणों का अस्तित्व टिका सकता है। संकोच—विकासशील स्वभाव की विशेषता के कारण पुनः विकसित कक्षा में आ सकता है। और अन्त में १४ राजलोक जितना विस्तृत व्यापक



रूप धारण कर सकता है, और पुनः अपने मूलस्वरूप में आ सकता है। परन्तु परमाणु जड़—अजीव होने के कारण और एक प्रदेशरूप ही होने के कारण तथा संकोच—विकास का गुण सर्वथा न होने के कारण तथा ज्ञानादि गुण सर्वथा न होने के कारण किसी भी प्रकार की संभावना जीवात्मा जैसी नहीं रहती है। परमाणुओं में संघात विघात की प्रक्रिया होती रहती है। जिससे स्कंधस्वरूप बनते हैं और पुनः विघात की प्रक्रिया होने से परमाणु स्वरूप बनते हैं। पुनः संघात की प्रक्रिया होने से स्कंधरूप बनते हैं। परमाणु अवस्था में भी अजीव पुद्गल रूप मूल द्रव्य का अस्तित्व सदा काल रहता है। अस्तित्व नष्ट नहीं होता है। अतः पुद्गलास्तिकाय द्रव्य कहलाता है। हाँ, स्कंध पर्याय के रूप में अस्तित्व सदा नित्य नहीं रहता है। स्कंध—देश—प्रदेश और परमाणु ये चारों अवस्था पर्यायस्वरूप हैं। अतः पर्याय परिवर्तनशील है। उत्पाद व्यय पर्यायों में होता ही रहता है। जबकि परमाणु स्वरूप में भी अजीव तत्त्व का अस्तित्व नित्य त्रैकालिक सदा ही रहता है। जीवगत विशेषता तथा अजीवगत विशेषता में यह मूलभूत अन्तर जो है वैसा ही वैसा ही यहाँ प्रस्तुत किया है। परन्तु अजीव पुद्गल द्रव्य में गुणस्थानों की वृद्धि या विकासादि की कोई प्रक्रिया नहीं होती है। जबकि जीव में गुणस्थानों के सोपानों पर आरोहण करते हुए विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। किन्तु जीवों में गुणस्थानों पर चढ़ते हुए क्रम का विकास होता है? और किन में संभव नहीं है उनका विचार यहाँ क्रमप्राप्त रूप से करते हैं।—

### भव्य—अभव्यादि जीवों के प्रकार—

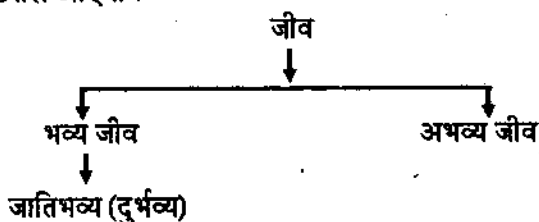
मिथ्यात्व भी यदि किसी में होगा तो जीव में ही होगा, और सम्यक्त्व भी होगा तो जीव में ही होगा। क्योंकि ये जीवगत दोष एवं गुण हैं। अतः जीव में ही रहेंगे। अजीव—पुद्गलादि में तो वैसे भी संभव ही नहीं है। जीवात्मा जो संसार में भिन्न भिन्न योनि में जन्म लेकर भिन्न भिन्न प्रकार के शरीर धारण करती है तब जन्म एवं देह के आधार पर जीवों का वर्गीकरण करके ५६३ प्रकारों—भेदों का विचार किया है। अब यहाँ पर मूल जीवात्मा ही किस प्रकार के हैं? कैसे हैं? किस स्वरूप के हैं? उसका विचार करते हैं। अतः इसमें देह आधारित दृष्टि से विचार नहीं करना है। ये जन्मादि देहजन्य भेद तो कर्मकृत हैं। अतः तथाप्रकार के कर्मों के कारण कैसा जन्म किस जीव को किस योनि में मिलता है उसके आधार पर भेदों का ज्ञान होता है।

जो कर्मकृत न होते हुए भी जीवात्मा के ही प्रकारों को सूचित करते हैं ऐसे ३ भेद मुख्य हैं। १) भव्य जीव २) अभव्य जीव और ३) जातिभव्य या दुर्भव्य। इस तरह तीन

प्रकार के भेदों में जीवों का वर्गीकरण है। योग्यता—पात्रता की दृष्टि से यहाँ पर इन तीन प्रकारों में जीवों का वर्गीकरण किया गया है, परन्तु यह विशेषरूप से याद रखिए कि ये तीनों भेद कर्मकृत नहीं हैं। निगोद से ही जीवों की इस प्रकार की अवस्था है। वैसे दिखने में सभी जीव समान रूप के ही दिखाई देंगे। परन्तु जब ... सम्यक्त्व—मोक्षादि विषयों की प्राप्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तब ही ये भेद ख्याल में आएंगे। जैसे सुवर्ण और पीतल दोनों धातुरूप में समान हैं। और पीलेपन के गुण की दृष्टि से भी समानता बरोबर है, परन्तु सुवर्णगत गुणों और पीतलगत गुणों का विचार करने से स्पष्ट भेदों का ख्याल आ जाता है। दूसरा दृष्टान्त लेने पर और ज्यादा स्पष्टीकरण हो सकता है। मूंग जो कठोल—धान्य है उसका विचार करें। खेतों में जहाँ मूंग की खेती होती है उनमें एक ही पौधे पर अनेक मूंग उगते हैं। दिखाई देने में सभी मूंग एक समान वर्णवाले होते हैं। सादृश्यता इतने ज्यादा प्रमाण में होती है कि ... देखकर भेद कर पाना असंभव है। परन्तु जैसे ही पकाने के लिए एक भगोने में पानी में अनेक मूंग डालकर ... चूल्हे की अग्नि पर चढ़ाने से परीक्षा हो सकेगी। अग्नि की उष्णता के कारण कई मूंग चढ़ जाते हैं। फूल जाते हैं। ऊपर का भाग खुल जाता है। लेकिन कुछ ऐसे कोरडे मूंग होते हैं जो सर्वथा नहीं फूलते हैं, न तो चढ़ते हैं, और न ही खुलते हैं। चाहे कितने ही घंटों तक उबलते हुए पानी में पड़े रहे, लेकिन कुछ भी नहीं होता है। यह भेद क्यों? किसने किया?

ठीक वैसे ही जीवों में भी भव्य—अभव्यादि के भेद हैं। तत्त्वार्थकार स्पष्ट कहते हैं कि... जीव-भव्याऽभव्यत्वाऽऽदीनि च ॥ २-७ ॥ जीव भव्य और अभव्यादि भेदवाले हैं। यदि आप यह पूछें कि भव्य और अभव्य होने का कारण क्या? क्यों ऐसे होते हैं? इसके उत्तर में तत्त्वार्थकार—शास्त्रकार कहते हैं कि कर्मादि का कोई कारण नहीं है। किसी भी प्रकार की कर्म की प्रकृतियों के कारण ये भेद नहीं होते हैं। जीवों के तथाप्रकार के भाव ही ऐसे हैं। शास्त्र में ५ प्रकार के भाव बताए हैं— औपशमिक—क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वभौदयिक—पारिणामिकौ च ॥ २-१ ॥ १) औपशमिक, २) क्षायिक, ३) क्षायोपशमिक, ४) औदयिक और ५) पारिणामिक ये ५ भाव हैं। ये पाँच भाव जीव के होते हैं। इनमें पाँचवाँ पारिणामिक भाव है जिसके आधार पर जीव भव्य कक्षा का भी होता है या अभव्य कक्षा का भी होता है। पारिणामिक शेष चार भावों की अपेक्षा सर्वथा अलग ही प्रकार का होता है। ये सब जीव गत भाव होते हैं। अर्थात् जीव तत्त्व इन भावोंमय होता है। पारिणामिक भाव के पीछे कोई कारण नहीं है। इस पारिणामिक भाव के कारण जीव में जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व तथा अस्तित्व, प्रमेयत्व, ज्ञेयत्व, कर्तृत्व, अरूपित्व, नित्यत्व, सप्रदेशीत्व आदि अनेक भाव प्रगट रूप से सदा काल रहते हैं।

पारिणामिक भाव जन्य इन भव्य-अभव्यादि में कभी भी, किसी भी काल में, अनन्तकाल के बाद भी कभी भी परिवर्तन होता ही नहीं है। इसे ही पारिणामिक भाव कहते हैं। अर्थात् अनन्तकाल के बाद भी या अनन्तगुने पुरुषार्थ के बावजूद भी कभी भी भवी जीव अभवी नहीं हो सकता है। या अभवी जीव भवी नहीं हो सकता है। ये कर्म जन्य ही नहीं हैं तो फिर कर्म के क्षय या क्षयोपशमादि से भी अभव्यपना नष्ट हो जाय या बदल जाय यह कदापि संभव ही नहीं है। भव्य अभव्यादि जीवों का लक्षण स्वरूप देखने पर विशेष ख्याल आएगा।



### १) भव्य जीव—

जैसे सोना और पीतल एक जैसी ही धातु होने के बावजूद भी भिन्नता है। जैसे गाय—भैंस का दूध और आकड़े वृक्ष का दूध—सभी दूध—दूध की जाति से एक जैसे समानरूप से दूध ही हैं। फिर भी सब में फरक है। गाय—भैंस—बकरी का दूध जमाया जा सकता है। उसमें से दही—छास, मक्खन—घी आदि पदार्थ तथाप्रकार की प्रक्रिया से बनते हैं। परन्तु आकड़े के दूध में घी आदि बनाने की प्रक्रिया भी संभव नहीं है और... पदार्थ भी नहीं बन सकते हैं। ठीक उसी तरह भव्य-अभव्यादि जीव एक जैसे समानरूप दिखाई देते हुए भी इनमें आसमान—जमीन का अन्तर है। प्राप्ति के लक्ष्य के आधार पर भेद का ख्याल आता है। यहाँ प्राप्ति का लक्ष्य मोक्ष—मुक्ति है। अतः मोक्ष लक्ष्य के आधार पर लक्षण बनाते हुए सूत्रकार कहते हैं— “सिद्धिगमनयोग्यत्वं भव्यस्य लक्षणम्” —सिद्धिगति—मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता जिसमें पड़ी है वह भव्य जीव है। जैसे आज के पैदा हुए छोटे से शिशु में एक दिन राष्ट्रपति—राष्ट्रपिता भी बनने की योग्यता—पात्रता पड़ी हुई है। समय आनेपर वह जरूर प्राप्त करेगा। जैसे महावीर की आत्मा में भगवान बनने की पात्रता योग्यता पड़ी हुई थी... वह नयसार के प्रथम जन्म से प्रगट हुई और २७ वे जन्म में पूर्ण हुई। इसी तरह समय, संजोग और परिस्थिति की सानुकूलता प्राप्त होने पर भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। मोक्ष पाएगा तो भवी जीव ही पा सकेगा। अभवी नहीं।

## २) अभवी-अभव्य जीव-

“सिद्धिगमनायोग्यत्वमभव्यस्य लक्षणम् ।” भवी जीव से सर्वथा विपरीत अभवी जीव है। यह कोरडे मूंग एवं पीतल, तथा आकडे के दूध के जैसा अभवी की कक्षा का जीव है। जैसे आकडे के दूध से कभी घी बन ही नहीं सकता है, कोरडा मूंग कभी भी पक ही नहीं सकता है, ठीक वैसे ही अनन्तानन्त काल बीतने पर भी अभवी जीव कभी भी मुक्त हो ही नहीं सकता है। इसका एक मात्र कारण है कि अभवी को मोक्ष के विषय में कभी भी श्रद्धा हो ही नहीं सकती है। वह मोक्ष को मानने के लिए कभी भी तैयार ही नहीं होता है। श्रद्धा का सर्वथा अभाव रहने के कारण वह जीव अभवी की कक्षा का कहलाता है। ऐसे जीव को चाहे कितनी भी अनुकूलताएं सुविधाएं प्राप्त हो भी जाय तो भी वह कभी भी वैसी श्रद्धा बनाने के लिए तैयार ही नहीं है।

## ३) जातिभव्य (दुर्भव्य) —

भव्य की ही जाति का होने के कारण इसे जातिभव्य जीव कहते हैं। या अन्य नाम दुर्भव्य का भी दिया गया है। यह जीव एकेन्द्रियादि की कक्षा से कभी बाहर ही नहीं निकलता है। आगे बढ़ ही नहीं पाता है। अतः उसके विकास की कोई संभावना रहती ही नहीं है। अनन्तकाल तक वैसी ही स्थिति बनी रहती है।

## कुमारिका-स्त्री के दृष्टान्त की उपमा—

भव्य-अभव्यादि जीवों के प्रकार को समझने के लिए कुमारिका के दृष्टान्त के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है। मान लीजिए— ३ प्रकार की कुमारिकाएं हैं।

१) पहले प्रकार की कुमारिका कन्या जिसकी शादी होती है, योग्य पति के साथ समागम का योग प्राप्त होता है और परिणाम स्वरूप वह पुत्र को प्रसूत कर मातृत्व का सौभाग्य प्राप्त करती है। ठीक इस प्रकार का भव्य जीव है। वह भी देव-गुरु-धर्म का संयोग-सत्संगादि प्राप्त करके मुक्ति रूपी फल को प्राप्त करता है।

२) दूसरी कन्या जिसकी शादी होती है और पति समागम का संयोग वर्षों तक प्राप्त होने पर भी.. वह जन्मजात बंध्या होने के कारण कभी भी मातृत्व के सौभाग्य का सुख प्राप्त कर ही नहीं सकती है। ठीक वैसा अभवी जीव होता है। चाहे अनन्तबार

देव—गुरु—धर्म का योग प्राप्त हो तो भी अभवी जीव अनन्तकाल में भी... मोक्ष का सुख कदापि प्राप्त कर ही नहीं सकता है ।

३) एक कुमारिका कन्या बचपन की बाल्यावस्था में ही संसार से विरक्त होकर दीक्षा ले लें । प्रव्रजित हो जाय । दीक्षा के बाद आजीवन पर्यन्त शुद्ध नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ही पालना है । अतः शादी—पति समागमादि किसी भी सामग्री की कोई संभावना रहती ही नहीं है । परिणामस्वरूप पुत्रप्रसूति—एवं मातृत्व के सौभाग्य का सुख वह जीवनभर कदापि प्राप्त कर ही नहीं सकती है । ठीक ऐसा जातिभव्य या दुर्भव्य जीव होता है, जो संसार के अनन्तकाल के परिभ्रमण में कभी भी देव—गुरु—धर्म का संयोग, मोक्षानुकूल सामग्री की उपलब्धि कदापि प्राप्त कर ही नहीं सकता है । इस प्रकार भवी, अभवी एवं जातिभव्य तीन प्रकार के जीवों का अस्तित्व संसार में है ।

### मुक्ति एवं सम्यक्त्व का अधिकारी भवी जीव—

उपरोक्त ३ प्रकार के जीवों में अभवी एवं जाति भव्य ये दो प्रकार के जीव तो कदापि सम्यक्त्व प्राप्त कर ही नहीं सकते हैं । क्योंकि उनका मिथ्यात्व अनादि—अनन्त—त्रैकालिक है । वे निश्चयमिथ्यात्वी हैं और मिथ्यात्व के सर्वथा संपूर्ण नाश के बिना सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है और सम्यक्त्व के बिना जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त कर ही नहीं सकता है । जातिभव्य जीव तो एकेन्द्रिय के साधारण वनस्पतिकाय की पर्याय में से कभी बाहर निकल ही नहीं सकता है । अरे ! प्रत्येक वनस्पतिकाय में भी नहीं आ सकता है । भव्य की कक्षा का होने के बावजूद भी कोई फायदा नहीं । सर्वथा निष्फल गया वह जीव । इसलिए अभव्य और जातिभव्य ये दोनों मोक्ष के अधिकारी कभी भी बन ही नहीं सकते हैं ।

शास्त्रों में कहते हैं कि— अभवी का जीव आगे बढ़कर कभी चारित्र भी ले ले, और सब परिषह—उपसर्गादि सहन करता हुआ.... केशलोचादि भी करता हुआ निरतिचार चारित्र का पालन करता हुआ, घोर उग्र तपादि करके इतनी कठिन साधना करता है कि देखनेवाला यही कह दे कि यह जीव सीधा मोक्ष में जाएगा । लेकिन सम्यक्त्व की प्राप्ति के अभाव में एवं मिथ्यात्व के कारण कभी भी मोक्ष की प्राप्ति अभवी कर ही नहीं सकते हैं । सब में उस प्रकार की योग्यता होती ही नहीं है ।

भव्यात्माएं मुक्तिगामी आत्माएं कहलाती हैं । भव्य की कक्षा का ही जीव मोक्ष में जाने का अधिकारी है । परन्तु सभी भव्य मोक्ष में चले ही जाएंगे और जिससे सारा संसार



खाली हो जाएगा.... सिर्फ अभवी—जातिभव्य ही शेष बचेगे ऐसी बात भी संभव नहीं है। हम न्याय से तर्कयुक्ती की व्याप्ति के आधार पर विचार करें—जो जो भव्य है वे सभी मोक्ष में जाएंगे ही ? या जो जो मोक्ष में गए हैं वे सभी भव्य ही हैं ? जैसे जहाँ जहाँ धुआं है वहाँ वहाँ अग्नि है ? या जहाँ जहाँ अग्नि है वहाँ वहाँ धुआ है ? यहाँ निश्चयात्मक स्वरूप का निर्णय करना है। अतः जहाँ अग्नि हो वहाँ धुआ रहे या न भी रहे—जैसे लोहे के गोले को तपाया जाय तो उसमें अग्नि है परन्तु धुआ नहीं है। परन्तु जहाँ धुआ रहता है वहाँ अग्नि अनिवार्य रूप से रहेगी ही। ठीक इसी तरह प्रस्तुत अधिकार में सोचिए—जो जो भी मोक्ष में गए हैं वे जरूर भव्य ही थे। परन्तु जितने भव्य हैं वे सभी मोक्ष में जाएंगे ही ऐसी संभावना यहाँ प्रगट नहीं है। अतः सारा संसार खाली होने की संभावना कभी भी खड़ी नहीं होती है।

संसार में कितने लकड़े हैं.... कितना सोना है। इन लकड़ों में, सोने में परमेश्वर परमात्मा की प्रतिमा बनने की योग्यता है या नहीं ? जी हाँ, पूरी है। कई काष्ठमूर्तियाँ और कई सुवर्णप्रतिमाएं भी हैं। भले ही सेंकड़ों हों। विशेषावश्यक भाष्यकार कहते हैं कि—

**भण्णइ भव्वो जोग्गो न य जोगत्तेण सिज्झई सव्वो ।**

**जह जोग्गम्मिवि दलिए सव्वत्थ न कीरए पडिमा ।**

**तह जो मोक्खो नियमा सो भव्वाणं न इयरेसि ॥**

सभी लकड़े मूर्ति नहीं बनते हैं। सेंकड़ों—लाखों मूर्तियाँ बनने के बावजूद भी आज भी लकड़ा चारों तरफ असंख्य गुना है ही। इसी तरह सोना आज भी चारों तरफ प्रचुर मात्रा में ढेर सारा पड़ा है। खदानों में भी काफी सोना पड़ा है। संसार का लाखों—करोड़ों टन सोना आभूषण—गहने के रूप में परिणमन हो चुका होगा। कई मूर्तियाँ भी बन गई हैं। लेकिन सभी सोना मूर्ति—गहने के रूप में परिणमन अभी भी नहीं हुआ है। इतना काल बीतने के बावजूद भी यही स्थिति है। ठीक इसी तरह संसार में अनन्त भव्यात्माएं हैं। परन्तु सभी मोक्ष में कहाँ चली गई ? यद्यपि भव्य का आधार ही मुक्ति पर है। मोक्ष में जाने की योग्यतावाला होने के कारण ही वह भव्य कहलाता है। बात सही है, परन्तु योग्यता होना एक अलग बात है और उस पद की प्राप्ति होना दूसरी ही बात है। इसलिए अनन्तकाल बीतने के बावजूद भी अनन्त भव्यात्माएं मोक्ष में न गई हुई संसार में आज भी शेष बची हुई हैं। और बीते हुए भूतकाल में अनन्त पुद्गल परावर्तकाल जो बीता है उसमें अनन्त भव्यात्माएं मोक्ष में चली भी गई हैं। अभव्य—जातिभव्य का तो सवाल ही नहीं खड़ा होता है। अतः शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि—

जईआइ होइ पुच्छा जिणाणभग्गंमि उत्तरं तइआ ।

इक्कस्स निगोअस्स अणंतभागोऽवि सिद्धिगओ ॥

जैन सिद्धान्त के मार्ग में आप जब भी कभी यह प्रश्न पूछेंगे कि कितने मोक्ष में गए और अभी भी संसार में कितने अवशिष्ट हैं ? यह और ऐसा प्रश्न भले आप अनन्त काल पहले पूछे या आज के वर्तमान काल में पूछिये या फिर भविष्य में भी अनन्तकाल के बाद पूछे... फिर भी आपको उत्तर सदा एक सा ही मिलेगा कि— निगोद का अनन्तवाँ भाग ही मोक्ष में गया है । यद्यपि मोक्ष में अनन्त जीव चले गए हैं और काल भी अनन्त बीत चुका है । महा—विदेह क्षेत्र की तथा सदाकाल चलनेवाले चौथे आरे की अपेक्षा के आधार पर ऐसा निश्चित नियम (*The cosmic order*) है कि... प्रत्येक ६ महीने के उत्कृष्ट काल में तो जीव निश्चित मोक्ष में जाते ही हैं । यद्यपि प्रतिदिन जा सकते हैं । अरे ! प्रतिदिन तो क्या प्रति क्षण भी जा सकते हैं । भूतकाल में भी गए ही हैं । परन्तु यदि उत्कृष्टतम अन्तर हो भी जाय तो ज्यादा से ज्यादा ६ महीने का ही अन्तर पड़ता है । इतने अन्तराल के बाद कोई न कोई मोक्ष में अनिवार्य रूप से जाते ही हैं । अतः प्रति ६ माह के अन्तराल में उत्कृष्ट, रूप से भी नियमित मोक्ष में भव्य जीव जाते ही रहें तो... सोचिए... बीते हुए अनन्त काल में कितने जीव मोक्ष में गए होंगे ? उत्तर— अनन्त जीव । और यह बात तो बीते हुए भूतकाल की हुई, आगे के भविष्यकाल का भी विचार तो करिए... भावि—भविष्यकाल जो अनन्त है और अनन्तकाल तक भी मोक्षमार्ग सदा चौथे आरेवाले शाश्वत क्षेत्र ऐसे महाविदेह क्षेत्र में से चालू ही है । अतः मोक्षगमन निरंतर चालू ही है । तो भावि के अनन्त काल में कितने जीव मोक्ष में जाएंगे ? अनन्त । भूतकाल में अनन्त और भावि में भी अनन्त इस तरह अनन्तानन्त जीव मोक्ष में जाने के पश्चात् भी अनन्त भव्यात्माएं संसारचक्र में अवशिष्ट रहेगी । इस हिसाब से—सोचिए कि संसार कितने अनन्तानन्त जीवों की खान है । मोक्ष में सिद्धशिला पर जितने अनन्त जीव हैं उसके सामने संसार में कितने गुने ज्यादा हैं ? इसका ख्याल इन शब्दों से आएगा कि... अनन्त काल के बाद और अनन्त जीवों के मोक्ष में जाने के पश्चात् भी ऐसा उत्तर देना पड़े कि... निगोद के अनन्तवाँ भाग के जीव ही मोक्ष में गए हैं । इससे संसार में जीवों की अनन्तानन्तता स्पष्ट सिद्ध होती है । तीनों काल में मुक्त हुए ऐसे अनन्त सिद्धात्माओं को वंदना करते हुए लिखते हैं कि—

जे अ अईआ सिद्धा, जे अ भविस्संति णागाए काले ।

संपइअ वड्डुभाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥

— जो अतीत—बीते हुए भूतकाल में सिद्ध हुए हैं, मोक्ष में गए हैं, जो भविष्य—अनागत काल में मोक्ष में जाएंगे, और संप्रति वर्तमान काल में आज भी जो मोक्ष में जा रहे हैं उन सब को मन—वचन—काया के त्रिविध योग से वंदना करता हूँ ।

### तीर्थक्षेत्र—सिद्धक्षेत्र—

जिनेश्वर परमात्मा के च्यवन—जन्म—दीक्षा—केवलज्ञान और निर्वाण ऐसे पाँच कल्याणक होते हैं । इन पाँचों कल्याणकों में पाँचवा अन्तिम निर्वाण कल्याणक प्रभु के मोक्षगमन की अवस्था का सूचक है । मोक्ष में जाना अर्थात् सदा के लिए शरीर का त्याग करके आत्मा का सिद्ध बनना—मुक्त बनना । अन्तिम समय में परमात्मा ने अपने देह का जिस भूमिस्थान पर से त्याग किया वह भूमिस्थान सिद्धक्षेत्र—तीर्थक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ । आदिनाथ भगवान से लेकर महावीरस्वामी भगवान तक के वर्तमान चौबीसी के २४ तीर्थंकर भगवान मुख्य ५ तीर्थभूमियों में से सिद्ध हुए हैं । मुख्यरूप से सम्प्रेतशिखरजी तीर्थक्षेत्र से २० तीर्थंकर सिद्धि गति को पाए हैं । भ. नेमिनाथ गिरनार—रैवताचल पर्वत पर से मोक्ष में गए हैं । चम्पापुरी नगरी की अपनी ही जन्मभूमि में से श्री वासुपूज्यस्वामी भगवान मोक्ष में गए हैं । पावापुरी नगरी में से दीपावली की अमावास्या की रात्रि को देह छोड़कर महावीरस्वामि ने निर्वाणपद को पाया । और प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान अष्टापद तीर्थक्षेत्र से निर्वाण पद को पाए । अष्टापद तीर्थ के हिमालय पर्वत पर कैलाश पर होने के प्रमाण ज्यादा मिलते हैं । इन पाँचों निर्वाण भूमियों से जो और जितने मोक्ष में गए उन सबसे ज्यादा आत्माएं सौराष्ट्र (गुजरात) के सुप्रसिद्ध सिद्धाचल—सिद्धक्षेत्र पालीताणा से मोक्ष में गई हैं । भले ही वर्तमान चौबीसी के एक भी तीर्थंकर भगवान यहाँ से मोक्ष नहीं पाए हैं परन्तु अन्य गणधर पुंडरीक स्वामी आदि से लगाकर अनन्त साधु—साध्वीजी मोक्ष पाए हैं । मुख्यरूप से पुंडरीक स्वामीजी, द्राविड—वारिखिल्लजी, नमि—विनमि पाण्डवादि का मोक्षगमन करोड़ों की संख्या में हुआ है । मोक्ष पाए हैं । अन्य नारदजी रामचन्द्रजी आदि की संख्या लाखों के साथ में मोक्ष पाने की है । अतः स्पष्ट कहा जाता है कि ... “कांकरे कांकरे अनन्ता सिद्धा” की कहावत सुप्रसिद्ध ही है । इसलिए इस सिद्धाचल—सिद्धक्षेत्र के लिए कहा जाता है कि—“पापी अभवी न नजरे देखे, हिंसक पण उद्धरिये” सिद्धाचल—सिद्धक्षेत्र को पापी और अभवी जीव अपनी नजरों से देख भी नहीं पाते हैं । यहाँ दर्शनार्थ ओते ही नहीं हैं । इससे यह

स्पष्ट होता है कि... जो जो जीव इस सिद्धाचल—सिद्धक्षेत्र के दर्शनार्थ आते हैं वे भवि जीव कहलाते हैं। भव्यत्व की छाप प्राप्त करते हैं।

शायद आप सोचेंगे कि— क्यों इस सिद्धक्षेत्र के लिए ही ऐसा कहा गया है ? क्यों अन्य तीर्थों के लिए ऐसा नहीं कहा गया ? इसका सबसे सीधा उत्तर यह है कि यह सिद्धाचल अनन्त सिद्धों का धाम है। अनन्त आत्माएं यहाँ से सिद्ध हुई हैं। अतः तीर्थक्षेत्र सिद्धक्षेत्र के बहाने सिद्धात्माओं के सिद्ध बनने की प्रक्रिया को मानने के साथ भव्यपने का सीधा संबंध है। सिद्धक्षेत्र सिद्धशिला सिद्धत्व की प्राप्ति की प्रक्रिया—मोक्ष को मानने के साथ भव्यत्व का सीधा संबंध है। ठीक इसके विपरीत मोक्ष को न मानने के साथ अभव्यात्मा का संबंध है। सिद्धक्षेत्र मोक्ष के विषय को लेकर, अनन्तात्माओं की मुक्ति को लेकर महान है। अतः सिद्धाचलादि सिद्धक्षेत्र को मानने के बहाने मोक्ष को मानना, श्रद्धा रखना आदि के कारण भव्यत्व की छाप का आधार है। अतः सिद्धाचल अर्थात् मात्र तीर्थभूमि के व्यावहारिक बाह्य संबंध मात्र से ही मतलब नहीं है अपितु मुख्य रूप से... सिद्धों को मोक्ष को मानने की प्रक्रिया के साथ भव्यपने का सीधा आधारभूत संबंध है। शायद आप कहेंगे कि सम्प्रेतशिखरजी को ऐसा स्वरूप क्यों नहीं दिया ? इसका सीधा उत्तर है सिद्धों की संख्या का। सिद्धाचल पर अनन्त की संख्या में सिद्ध हुए हैं। भले ही तीर्थकरों का सिद्ध होना सिद्धाचल पर नहीं है। फिर भी तीर्थकर सिवाय के अन्य अनन्त की संख्या में हैं। तीर्थकरों का तो वैसे भी सिद्ध होना अनिवार्य ही होता है। परन्तु तीर्थकरेतर अन्य किसी का भी मोक्ष में जाना अनिवार्य नहीं होता है। ऐसे आचार्य—उपाध्याय—साधु एवं साध्वीजी सब का मोक्षगमन तो अनिवार्य रूप से निश्चित नहीं होता है। अतः ऐसे सिद्ध होनेवाले और सिद्ध हुए सिद्धात्मा को मानने के आधार पर सम्यक्त्व का आधार है। तथा इनमें सिद्ध होनेवालों में भी पुरुष साधुओं की अपेक्षा स्त्री साध्वियों की संख्या काफी ज्यादा है। आपको आश्चर्य तो यह जानकर होगा कि.... चौबीस ही तीर्थकर भगवन्तों के साधु जितने मोक्ष में गए हैं उनमें साध्वियाँ जो मोक्ष में गई हैं उनकी संख्या दुगुनी है। आज भी जैनों में जो एक सम्प्रदाय दिगम्बर मत का है वह तो स्त्रीमुक्ति मानने के लिए तैयार ही नहीं है। यदि न मानें तो तीर्थकर परमात्मा के धर्मसंघ में साध्वियाँ थी, उन्होंने सारी साधना की, चारित्र पालकर निर्जरा कर कर्मक्षय करके मोक्ष में गई, इसमें क्या आपत्ति है ? लेकिन अपने मत के कदाग्रह के कारण ही मात्र ऐसी दुर्मती बना ली है। और कोई शास्त्रीय—सैद्धान्तिक कारण लगता ही नहीं है।

भव्यत्वपने की छाप का आधार मात्र मोक्ष को मानना इतना ही नहीं सबकी मुक्ति के साथ साथ अपनी मुक्ति भी अनिवार्य रूप से मानने पर है। मोक्ष के ही ये अंगभूत तत्त्व हैं। अतः सबके साथ मोक्षविषयक श्रद्धा के आधार पर भव्यत्व आधारित है।

### सम्यक्त्व और भव्यत्व—

“भव्यत्व” यह कर्मोदयजन्य नहीं अपितु पारिणामिक भाव से नित्य ही आत्मा के साथ रहता है संसारी अवस्था में। फिर भी यह भव्यत्व अनादि—सान्त है। क्योंकि सिद्ध होने के बाद जब सिद्ध कहे जाते हैं तब कोई भवी—आदि नहीं कहेगा। कुमारिका कन्या जब शादी के बाद माँ बन जाती है फिर कन्यापन कहाँ गया? अब वह अवस्थाविशेष से कन्या नहीं अपितु माँ कहलाती है। कन्यापन गया या नहीं? का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है... परन्तु कन्यापने के दिन बदल गए, अवस्था विशेष के बदल जाने की स्थिति जैसा है। अब मातृत्व का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ठीक इसी तरह भव्य जब सिद्ध बन जाता है फिर भव्यत्व सिद्ध की स्थिति में मिल गया। विलीन हो गया। भव्यत्व का अलग—स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता है।

भव्यत्वपने को पाने के लिए आपको कोई पुरुषार्थ करना नहीं है। इसी तरह अभव्यत्वपना भी पारिणामिक भाव के कारण सदा अभवी भी वैसा ही रहता है। यह अभवीपना अनादि—अनन्तकालीन स्थितिवाला है, क्योंकि अभवी कभी भी सिद्ध बनेवाला ही नहीं है। इसलिए अभव्य और जातिभव्य दोनों का अभव्यपना और जातिभव्यपना ये दोनों अनादि—अनन्तकालीन स्थितिवाले हैं। इनमें कभी भी परिवर्तन संभव ही नहीं है, क्योंकि ये दोनों न तो मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और न ही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। सम्यक्त्व एक मात्र भव्यात्मा ही प्राप्त कर सकती है। इसलिए जो जो भवि है वह अवश्य मोक्ष में जाएगा ही, ऐसा नहीं कह सकते हैं। परन्तु जो जो मोक्ष में जाते हैं वे सभी भव्य जरूर कहलाते हैं। इसका हम पहले विचार कर चुके हैं। प्रस्तुत अनुसंधान में सम्यक्त्व के साथ विचारणा करें। कि जो जो भवी है वह वह सम्यक्त्वी है? या जो जो सम्यक्त्वी है वह भवी है? इस व्याप्ति के साथ अनिवार्य रूप से सम्यक्त्वी—भवी के साथ जरूर अविनाभाव संबंध है। सम्यक्त्व जब भी होगा तब भवी आत्मा को ही होगा। भवी के सिवाय अभवी को कभी भी सम्यक्त्व हुआ नहीं और होता भी नहीं है और कदापि होगा भी नहीं। अतः सम्यक्त्वी जरूर भवी कहलाएगा लेकिन भवी सभी सम्यक्त्वी नहीं कहलाएंगे। क्योंकि अनन्त भवी हैं। सभी कहाँ सम्यक्त्व पा चुके हैं? या सभी कहाँ पा



जाएंगे ? नहीं, कभी नहीं । कई भवी ऐसे भी होंगे जो अनन्त काल के बाद भी सम्यक्त्व नहीं पाएंगे । वे वैसे ही कोरे रह जाएंगे । इसी कारण वे संसार में सदा बने रहेंगे ।

इसलिए मोक्ष पाने के लिए मात्र भव्यपना होना पर्याप्त नहीं है । भव्यपना होना ही चाहिए ... प्राथमिक आवश्यकता जरूर है, परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक्त्व प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है । बिना सम्यक्त्व के मोक्ष कभी भी प्राप्त होनेवाला ही नहीं है । भव्यत्व प्राप्त किया नहीं जाता है । इसके लिए कोई पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही नहीं है । क्योंकि यह पारिणामिक भाव से अनादिसिद्ध है । परन्तु सम्यक्त्व वैसा नहीं है । यह तो पुरुषार्थ साध्य है । अपूर्व शक्ति की प्रगट करनेरूप अत्यन्त पुरुषार्थ से जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर पाएगा । अन्यथा नहीं । और वह भी सिर्फ भव्यात्मा ही इसमें सफलता प्राप्त कर पाती है । अभवी जीव अनन्तकाल में भी सम्यक्त्व प्राप्त कर ही नहीं सकता है ।

इसलिए सम्यक्त्व के साथ मोक्ष की व्याप्ति अनिवार्य रूप से बैठती है । जो जो सम्यक्त्वी होता है वह वह अनिवार्य रूप से मोक्षगामी ही होता है । और जो जो मोक्षगामी या मोक्ष में गए हुए मुक्त जीव हैं वे सभी सम्यक्त्वी ही होते हैं । सम्यक्त्वधारी ही होते हैं । बिना सम्यक्त्व के कोई भी कभी भी मोक्ष में जा ही नहीं सकते हैं । भूतकाल के अनन्तकाल में कोई भी नहीं गया और भविष्य में कभी भी कोई नहीं जाएगा । इस नियम की अनिवार्यता समझकर मोक्षार्थी मुमुक्षु को सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना ही चाहिए ।

### मोक्ष के लिए अयोग्य-मिथ्यात्वी—

मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव मिथ्यात्वी कहलाता है । मिथ्यात्व जरूर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म प्रकृति है । इस कर्म प्रकृति के उदय में आने के कारण मिथ्यात्व उदय में आता है । इस मिथ्यात्व कर्म के आवरणरूपी बादल उदय में आने के कारण जीव की परिणति वैसी मिथ्या—विपरीत हो जाती है । इसके कारण जीव मिथ्यात्वी बनता है । यह कर्मजन्य है । याद रखिए, जो जो भी कर्मजन्य होता है, कर्मकृत हो उसे कर्मक्षय से बदला जा सकता है । परन्तु अभव्य—भव्यपना कर्मजन्य नहीं पारिणामिक भाव के कारण सदा है, नित्य है । अतः उसे कदापि नहीं बदला जा सकता है ।

मिच्छन्तमभवाणं, तमणाड्मणंतयं, मुणेयत्वं ।

भव्वाणं तु अणाड्, सपज्जवसियं तु मिच्छन्तं (सम्पत्ते) ॥

अभ्यव्यपने के साथ मिथ्यात्व का संबंध अनादि—अनन्तकालीन है। ठीक इसी तरह जातिभ्य जीवों के साथ भी मिथ्यात्व का संबंध अनादि—अनन्तकालीन है।

जी हों, भव्य जीव के साथ भी मिथ्यात्व का संबंध अनादिकालीन जरूर है। जब से भव्य जीव का अस्तित्व संसार में है तब से वह मिथ्यात्वग्रस्त ही है। क्योंकि कर्मसंयुक्त ही होता है। संसारी जीव जब से संसार में है तब से कर्मग्रस्त ही है। कभी भी किसी भी क्षण वह कर्मरहित था ही नहीं। यदि सर्वथा कर्मरहित होता तो उसी दिन उसकी मुक्ति हो जाती। वह मुक्त गिना जाता। तो क्या मुक्तात्मा को फिर से कर्म लगे? यह कैसे कहा जा सकता है? इसलिए संसार की प्रथम निगोदावस्था से ही जीव कर्मसंयुक्त ही माना गया है। जैसे सुवर्ण खदान में प्रथम क्षण से ही मिट्टी—रेती से मिश्रित ही माना गया है। वैसा होता ही है। इसी तरह जीव भी। जब निगोद की सर्वप्रथम अवस्था से ही जीव कर्मग्रस्त है तब उस कर्म में मुख्य कौन सी प्रकृति थी? इसके उत्तर में स्पष्ट है कि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म से वह जीव अनिवार्य रूप से कर्मग्रस्त था। निगोद में भी मिथ्यात्व लिपटा हुआ था। इसलिए भव्य जीव अनादि मिथ्यात्वयुक्त है। लेकिन अभवी की तरह अनादि—अनन्त नहीं है। अनादि—सान्त है। भवी का मिथ्यात्व एक न एक दिन सम्यक्त्व की प्राप्ति से नष्ट होनेवाला है।

### भवी-अभवी में सादृश्यता—

जैसे मूंग के रूप में सभी मूंग एक जैसे समान ही दिखाई देते हैं वैसे ही भवी—अभवी जीव सभी एक समान—एक जैसे ही होते हैं। एक जैसे ही दिखाई देते हैं। इसमें कोई फरक नहीं लगता है। जब तक भवी जीव सम्यक्त्व नहीं पाया है गाढ़ मिथ्यात्वग्रस्त होता है तब तक वह अभवी के जैसा ही होता है। यहाँ भव्य—अभव्य की दृष्टि से समानता नहीं है परन्तु मिथ्यात्व में समानता पूरी है। दोनों का मिथ्यात्व कर्म के उदय के कारण है। कर्मजन्य समानता होने के कारण उसके उदय में आने से प्रवृत्ति भी समानरूप ही रहेगी। मिथ्यात्व के उदय में रहने से दोनों मिथ्यात्वी मिथ्या—विपरीत भाषा—विचारधारा तथा कायिक प्रवृत्ति आदि समानरूप में ही रखेंगे—करेंगे। आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वभूत विषयों में नास्तिकता की बुद्धि दोनों की एक जैसी ही बनेगी। मन वचन काया—तीनों की प्रवृत्ति एक जैसी समान ही रहेगी। मन से सोचना—विचारना, वचन से भाषा प्रयोग करना, और काया से शारीरिक चेष्टाएं प्रवृत्तियाँ करना। संसार में जीवों के

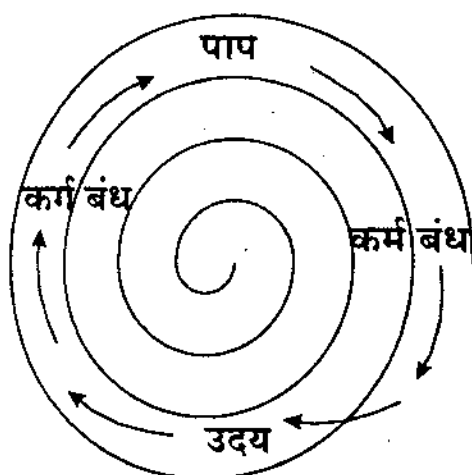


पास ये तीन साधन उपलब्ध हैं। चौथे क्रम पर इन्द्रियाँ गिनी जाती हैं। उनकी गणना काया में ही हो जाती है। इन सबसे क्री जाती सभी प्रवृत्तियाँ मिथ्यात्वग्रस्त ही होगी। आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वभूत विषयों के बारे में उनको सोचना कि आत्मादि कुछ है ही नहीं आदि समान विचारधारा रहती है। दूसरों को सुनाने—समझाने के लिए बोलने की नास्तिकता की भाषा भी समान ही

रहती है। अब विचार—वाणी दोनों मिथ्यात्वग्रस्त हो तो वर्तन—व्यवहार कैसा होगा? सब पापप्रवृत्तिग्रस्त ही रहेगा। ऐसा मिथ्यात्वी जीव पुण्य—पाप—धर्म—अधर्म आदि तत्त्वों को मानता ही नहीं है। उनमें कुछ भेद भी नहीं मानता है। इसीलिए किसी भी प्रकार का पाप करने में उसे लज्जा या संकोच रहता ही नहीं है। वह सर्वथा निर्लज्ज निर्भोक रहता है। किसी भी प्रकार का पाप करने के लिए तैयार रहता है।

### मिथ्यात्व, पाप और संसार परिभ्रमण—

मिथ्यात्व और सभी पापों के बीच गाढ़ संबंध है। मिथ्यात्वी जब कुछ भी मानने के लिए ही तैयार नहीं है तो फिर पापादि को छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है? हिंसा—झूठ—चोरी—दुराचार—व्यभिचार, अति परिग्रह, क्रोधादि कषाय आदि सभी पापों के बारे में उसके दिल में करने की इच्छा बनी रहती है। पापभीरुता का गुण उसमें न रहने के कारण पाप करने की तीव्र इच्छा रहती है। पाप करने में भी मजा—सुख मानकर वह चलता है। इस प्रकार सुख की लालसा से भी पाप की प्रवृत्ति करने के कारण नए कर्म काफी भारी मात्रा में उपार्जन करता ही रहता है। इस पाप प्रवृत्ति से पुनः कर्म का बंध होता है। इस कर्म के उदय से पुनः वैसी पाप करने की ही वृत्ति बनती है। फिर पाप करता है—फिर कर्म बांधता है फिर कर्म का उदय होता है, फिर उस कर्म के उदय के कारण वापिस पाप करता है, फिर कर्म बांधता है फिर पाप की प्रवृत्ति—फिर कर्म—बंध—उदय। इस पाप—कर्म—बंध और उदय के कारण संसार चक्र में परिभ्रमण बहुत ही लम्बे काल तक



चलता ही रहता है यह बड़ा भारी विषचक्र है। जैसे किसी मशीन की गति चलती ही रहती है स्वयंसंचालित होने के कारण। जब तक विद्युत संबंध है तब तक उसकी गति में रुकावट नहीं आती है, निरंतर—अखंडित रूप से चलती ही रहती है। ठीक इसी तरह मिथ्यात्वी जीव का भी संसार चक्र में परिभ्रमण निरंतर—अखंडित चलता ही रहता है। रुकता ही नहीं है।

### अचरम अनन्त पुद्गल परावर्त काल—

मिथ्यात्व रूपी विद्युत संपर्क से बंधी हुई मिथ्यात्वी की मशीन का भवभ्रमणरूपी पहिया निरंतर—अखण्ड रूप से चलता ही रहता है। मिथ्यात्व की उपस्थिति के कारण संसार चक्र की अनादि—अनन्तता सिद्ध होती है। भूतकाल में भी मिथ्यात्वियों के कारण यह संसार अनन्तकाल का रहा है और भविष्य में भी मिथ्यात्व के कारण ही संसार का अस्तित्व अनन्तकाल तक बरोबर बना ही रहेगा। संसार की अनादि—अनन्तता का आधार मिथ्यात्व पर है जब तक मिथ्यात्व रूपी महामारी का यह संक्रामक रोग नेस्तनाबूद नहीं होता है तब तक संसार के अस्तित्व का अन्त कभी भी संभव ही नहीं है। भूतकाल में अनन्तकाल बीत गया। इतने अनन्तकाल में तो संसार का अन्त नहीं आया तो फिर भविष्य में आगे भी अनन्तकाल ही बीतनेवाला है। जो अभी अवशिष्ट है, भविष्य में से प्रतिक्षण—प्रतिदिन काल वर्तमान में आकर भूत के गर्त में जाकर समा रहा है। इसमें भविष्य काल कभी समाप्त होनेवाला नहीं है, क्योंकि अनन्त है। और भूतकाल कभी बढ़नेवाला नहीं है क्योंकि वह भी अनन्त है। इस तरह संसार की अनादि—अनन्तता मिथ्यात्वी जीवों के कारण है। ये भी अनन्त की संख्या में हैं। इसलिए अन्त का सवाल ही कहाँ खड़ा होता है?

अनन्तकाल के बाद भी यदि आप यह प्रश्न पूछेंगे कि ... अभी भी संसार में मिथ्यात्वी कितने बचे हैं ? तब भी “अनन्त” की संख्या का ही उत्तर मिलेगा । भूतकाल में बीते अनन्तकाल में अनन्त तीर्थकर.... अरे ! .... अनन्त चौबीसीयाँ बीत चुकी हैं । इतने अनन्त तीर्थकरों ने एक ही काम किया है— संसारी जीवों में से मिथ्यात्व दूर करने का । इतने भगीरथ प्रयास के बाद भी संसार में आज भी मिथ्यात्वियों की निन्नानवें प्रतिशत संख्या है, और सृष्टि के छोटे—बड़े सभी जीवों के अस्तित्व की दृष्टि से संख्या में गणना करने बैठें तो “अनन्त” की संख्या का ही उत्तर आज भी मिलेगा । जब एक आत्मा—प्याज में अनन्त जीव हैं तो फिर सवाल ही कहाँ रहा ? सोचिए । शायद आप कहेंगे— मात्र मनुष्यों का ही विचार करिए । ठीक है । चलिए वह भी गणना कर लीजिए ।

वर्तमान विश्व की ६०० करोड़ की जनसंख्या में कितने फीसदी मिथ्यात्वी और कितने फीसदी शुद्ध सम्यक्त्वी जीव मिलेंगे ? अरे ! औरों की बात तो दूर रही परन्तु एक मात्र जैनों में ही गिन लीजिए तो भी सभी सम्यक्त्वी मिलनेवाले नहीं हैं । अरे ! सभी की तो बात ही कहाँ है, १ प्रतिशत भी सम्यक्त्वी मिलेंगे कि नहीं ? यह प्रश्न खड़ा होगा । समस्त दुनिया के ९९% प्रतिशत लोग मिथ्यात्वी, और उसके १% कितने होंगे ? सोचिए । अरे समस्त जैनों की जनगणना लीजिए । मान लो वह भी १—२ करोड़ की हो तो उनमें भी १% शुद्ध सम्यक्दृष्टि कहाँ हैं ? मिथ्यात्व का पलड़ा सदा भारी रहता है ।

भगवान महावीर का आयुष्य काल ७२ वर्ष का था । ३० वर्ष गृहस्थाश्रम में बीते + १२ ॥ वर्ष साधना में बीते । कुल ४२ ॥ वर्ष का काल तो बीत गया । अब शेष ३० वर्ष का काल बचा । भगवान ने ३० वर्ष तक अथाग पुरुषार्थ करके जगत को उपदेश देकर मिथ्यात्व के अन्धकार को दूर करने के लिए देशना दी लेकिन सभी जीव कहाँ सम्यक्त्व पा गए ? अरे ! सभी जीव भगवान महावीर के संपर्क में भी कहाँ आ पाए हैं ? भ. महावीर के जाने के बावजूद आज भी प्रतिशत संख्या में मिथ्यात्व का प्रमाण अभी भी कम नहीं है ।

### मिथ्यात्व की त्रैकालिक अधिकता—

शायद ही आप इस बात पर यकीन करेंगे के तीनों काल में सदा ही मिथ्यात्व की प्रमाण में अधिकता रही है । मिथ्यात्वग्रस्त ऐसे मिथ्यात्वी जीवों की संख्या तीनों काल में

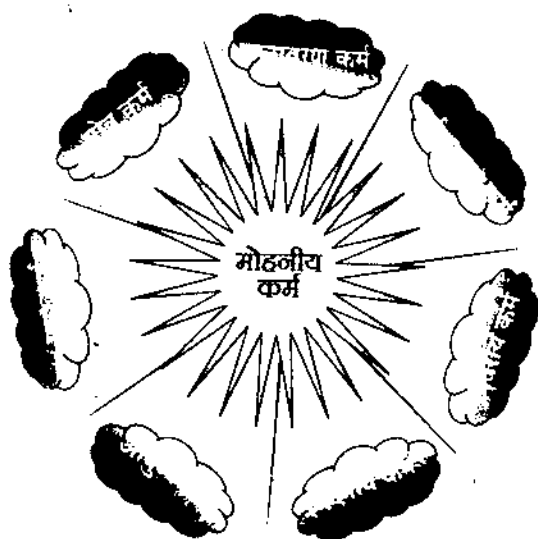
सदा ही ज्यादा रही है। भूतकाल में तथा वर्तमान में भी मिथ्यात्वी जीवों की संख्या बहुमती के रूप में ९९% रही है। आज वर्तमान में भी यही स्थिति स्पष्ट दिखाई दे रही है। और भविष्य में भी प्रमाण में सम्यक्त्वियों की तुलना में मिथ्यात्वी जीवों की संख्या काफी ज्यादा ही रहेगी। कभी भी कदापि सम्यक्त्वी जीवों की संख्या मिथ्यात्वियों से ज्यादा हुई भी नहीं है और कभी होगी भी नहीं। इसलिए संसार मिथ्यात्वियों की प्रचुरता का है। अधिकता का है।

अब आप सोच लीजिए। क्या करना है? क्या मिथ्यात्वी ही रहना है? मिथ्यात्वियों की ही संगत में उनके जैसा ही बना रहना है? जी नहीं... कभी भी ऐसा मत सोचिए। भले ही यह संसार मिथ्यात्वियों का हो। मिथ्यात्वी के लिए संसार है और संसार के लिए मिथ्यात्वी हैं। ये दोनों एक दूसरे के लिए हैं और एक दूसरे के कारण हैं। सम्यक्त्वी का तो कभी भी संसार में मन लगता ही नहीं है। उसका लक्ष्य मोक्ष की तरफ है अतः वह सदा मोक्ष की प्राप्ति की दिशा में कैसे आगे बढ़े? बस रात-दिन इसी के बारे में सोचता रहता है। प्रयत्नशील भी रहता है। मिथ्यात्वियों का बनाया हुआ पापों की भरमार का यह संसार... अरे.... रे! ऐसा नरकागार दुःखमय पापों से भरपूर यह संसार कभी भी किसी भी परिस्थिति में सम्यक्त्वी जीव को रुचिकर लग ही नहीं सकता है। वह प्रतिक्षण चिन्तित है इस संसार से... बस, छूटना ही चाहता है।

इसलिए आप सारी दुनिया का विचार करने की अपेक्षा सबसे पहले अपना विचार करो कि मैं इस संसार से कैसे छूटूँ? मैं इस मिथ्यात्व के बंधन में से छुटकारा कैसे पाऊँ? सारी दुनिया के सभी जीवों को सम्यक्त्वी बनाना चाहते हैं, उनका कल्याण करना चाहते हैं... तो सबसे पहले आपको स्वयं को मिथ्यात्व के विषचक्र में से बाहर निकलना ही पड़ेगा। इस वमल में से आप बाहर निकलोगे तभी ये विचार भी आएंगे। वरना मिथ्यात्व के घर में बैठे-बैठे जगत के सर्व जीवों के कल्याण के विचार भी आने संभव नहीं है। इसलिए मिथ्यात्व का स्वरूप अच्छी तरह पहचान लीजिए... इसे खूब अच्छी तरह समझ भी लीजिए... इस मिथ्यात्व से कितना भारी नुकसान होता है? आत्मा का अधःपतन भी कितना भारी होता है? यह सब आप अच्छी तरह समझ लीजिए.... फिर इसकी भयंकरता जानकर इसकी चुंगल में से बच निकलने के लिए अपूर्व पुरुषार्थ करिए।



## मिथ्यात्व के कारण उत्कृष्ट बंधस्थिति—



जैन दर्शन में अद्भुत अनौखा कर्मविज्ञान दर्शाया है। कर्मशास्त्र इसे समझने के लिए मूलभूत खजाना है। जगत के किसी भी धर्म या दर्शन ने नहीं बताया ऐसा अद्भुत “कर्मविज्ञान” जैन धर्म ने बताया है। यह सर्वज्ञों की अनमोल देन है।

कर्मशास्त्र में ८ प्रकार के कर्म बताए हैं। उस आठ प्रकार के कर्मों में— चित्र में दर्शाए अनुसार... सबके केन्द्र में मोहनीय कर्म रहता है। यही कारक कर्म में सब प्रकार की पापादि की प्रवृत्ति मन—वचन—काया से यही मोहनीय कर्म कराता है। इसलिए शेष ७ कर्मों के बंधन के लिए आश्रय रूप में भी मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति ही कारणभूत बनती है। अर्थात् मोहनीय कर्म की विविध प्रवृत्तियाँ करके अन्य सभी सातों कर्म बांधे जाते हैं। अतः सातों कर्मों के केन्द्र में एक मात्र मोहनीय कर्म है। अतः सातों कर्मों का आधारभूत यह मोहनीय कर्म है। यही सब कर्मों की जड़ है। बीज कारण है। यदि एक मोहनीय कर्म न हो तो शेष कर्मों को कहीं से पोषण नहीं मिल पाएगा। परिणामस्वरूप सभी शाखाएं सूख जाएगी।

४ प्रकार के बंधों में स्थितिबंध भी एक बंध है। जिसमें बंधे हुए कर्म की काल अवधि निर्धारित होती है। आठों कर्मों की

उत्कृष्ट—जघन्य भिन्न भिन्न प्रकार की बंधस्थिति तत्त्वार्थ सूत्रकार ने निम्न प्रकार की बताई है ।

- १) <sup>१</sup>ज्ञानावरणीय कर्म की ३० कोडा कोडी सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति
- २) दर्शनावरणीय कर्म की ३० कोडा कोडी सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति
- ३) वेदनीय कर्म की ३० कोडा कोडी सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति
- ४) अंतराय कर्म की ३० कोडा कोडी सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति
- ५) <sup>२</sup>मोहनीय कर्म की ७० कोडा कोडी सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति
- ६) <sup>३</sup>नाम कर्म की २० कोडा कोडी सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति
- ७) गोत्र कर्म की २० कोडा कोडी सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति
- ८) <sup>४</sup>आर्य्य कर्म की ३३ सागरोपम उत्कृष्ट बंधस्थिति

उपरोक्त आठों कर्मों की उत्कृष्टतम बंधस्थितियाँ दर्शाई गई हैं । किसी भी कर्म की उतनी बड़ी लम्बी उत्कृष्ट प्रकार की बंधस्थितियाँ कैसे बंधती हैं ? आखिर तो जीव किसी न किसी प्रकार की आश्रवस्वरूप अशुभ पाप की प्रवृत्तियाँ करता है तभी जाकर कर्म की भारी प्रकृतियों का बंध होता है । इनमें ऐसी कैसी पाप की प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनके कारण इतनी भारी और इतनी लम्बी उत्कृष्ट बंध—स्थितियाँ बंधती हैं ? वह कौन है ? कैसा है ? मोहनीय कर्म में चढ़ते क्रम से तीव्रता लानेवाली एक से एक ज्यादा भारी तीव्र कर्म प्रकृतियाँ हैं । नोकषाय मोहनीय में ज्यादा तीव्रता नहीं है क्योंकि ये सहायक कषाय हैं । मूल कषाय तो क्रोध—मान—माया—लोभ हैं । इनकी सहायता करनेवाले इनको भडकाने में जगाने में ज्यादा सहायता करनेवाले हास्यादि सहायक ६ + ३ = नौ नोकषाय हैं । अतः स्वाभाविक ही है कि इन नोकषायों से जितनी बंधस्थिति बंधेगी उससे तो हजार गुनी ज्यादा लम्बी स्थिति मूल क्रोधादि कषायों की ही होगी ।

- 
१. आदितस्ति सुणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ ८-१५ ॥
  २. सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ ८-१६ ॥
  ३. नामगोत्रयोविंशति ॥ ८-१७ ॥
  ४. त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥ ८-१८ ॥

इन मूल क्रोधादि कषायों में भी हल्के क्रोधादि और तीव्र क्रोधादि सब भिन्न—भिन्न प्रकार के होते ही हैं। उनमें भी ज्यादा तीव्रता कैसे, कहाँ से आती है ? एक क्रोधादि कषाय माँ अपने बच्चे पर करती है और वही माँ घर के नोकर पर भी क्रोध करती है। उस समय उसके क्रोध में कितनी ज्यादा तीव्रता होती है ? पड़ोसन के साथ जब एक स्त्री झगड़ने जाती है तब उस क्रोधादि कषायों में कितनी ज्यादा तीव्रता होती है ? इन सबसे ज्यादा जब मिथ्यात्व की वृत्ति होती है और उसमें जब क्रोधादि कषाय बढ़ता है तब उसकी तीव्रता बड़ी भारी होती है। मिथ्यात्व की तीव्रता के साथ जब कषायों में भी तीव्रता आती है तब बन्ध की स्थिति अत्यन्त ज्यादा उत्कृष्ट कक्षा की होती है। अतः मोहनीय कर्म की इतनी लम्बी ७० कोड़ा—कोड़ी सागरापम की उत्कृष्ट स्थिति बंधाने में मुख्य कारणभूत मिथ्यात्व बनता है। यदि मिथ्यात्व को मोहनीय कर्म में से निकाल दें तो .... मोहनीय कर्म की इतनी लम्बी उत्कृष्ट स्थिति बंधानेवाला और कोई कर्म नहीं बचेगा।

### मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति—सभी कर्मों के आश्रवभूत कारण—

मोहनीय कर्म में मुख्यता—मिथ्यात्व तथा कषायों की है। साथ ही हास्यादि नोकषाय एवं विषय वासना संबंधी वेदमोहनीय कर्म भी हैं। इनमें कषायों की क्रोधादि की प्रवृत्ति के कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, नीचगोत्र, वेदनीय, अशुभ पाप कर्मों का भी बंध होता है। आत्मा में कर्मण वर्गणा के परमाणुओं के आना—आगमन को आश्रव कहते हैं। विशेष रूप से जिस प्रकार की हम मन—वचन—काया से पाप प्रवृत्ति करते हैं और उससे जिन कर्मों का बंध होता है उसे आश्रव कहते हैं। जैसे दूध में शक्कर का आना यह आश्रव है और शक्कर का दूध में घुलकर एकरस बन जाना बंध है वैसे शुभाशुभ प्रवृत्ति से कर्मण वर्गणा के परमाणुओं का आत्मा में आगमन आश्रव है, और उनका आत्मा के साथ एकरसीभाव हो जाना बंध है।

कषाय भाव में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि की प्रवृत्ति करना, हास्य—रति आदि की प्रवृत्ति करना, वेदमोहनीय में स्त्री—पुरुष की वासनाजन्य कामवासना की प्रवृत्ति तथा मिथ्यात्वादि की प्रवृत्ति। इन सब प्रवृत्तियों को जितने ज्यादा हम मन—वचन—काया से करते हैं इनके कारण ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय कर्मों का बंध ज्यादा होता है। इसी तरह अन्तराय कर्म के बंध में भी मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियाँ आश्रवरूप कारण बनती हैं। नाम कर्म की अशुभ पाप प्रवृत्तियों का बंध भी मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों से होता है। नीचगोत्र कर्म के आश्रव में भी मोहनीय कर्म की ही प्रवृत्तियाँ कारणभूत बनती हैं। तथा

अशाता वेदनीय कर्म के आश्रव में भी मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति कारण बनती है। आयुष्य कर्म में भी आयुष्य की बंधस्थिति में मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियाँ कारण बनती हैं। उदा. तिर्यच गति का आयुष्य बंधने में माया कषाय कारण बनता है। गति यह नाम कर्म का विभाग है। उसमें माया आदि कषाय के कारण तिर्यच गति का बंध होता है। रौद्रध्यानपूर्वक अनन्तानुबंधी क्रोधादि कषायों के कारण नरक गति का बंध होता है। इस तरह मोहनीय कर्म के घर की प्रवृत्तियाँ हैं और उनके कारण जीव नाम—गोत्रादि अन्य सातों कर्म बांधता है। संसार की सब प्रवृत्तियों का मुख्य रूप से समावेश एक मात्र मोहनीय कर्म में हो जाता है। अतः इसे ही कर्मों का राजा कहा जाता है। सब कर्मों का मूलभूत कारणरूप है। मात्र मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियाँ अन्य सभी कर्मों का आश्रवभूत कारण बनती हैं। इसलिए मोहनीय कर्म का साम्राज्य बड़ा भारी है। इसकी प्रवृत्तियों से बचने पर अन्य कर्मों के बंधन से भी बचा जा सकता है।

### राग-द्वेष की निबिड ग्रन्थि—

संसार में एक भी जीव ऐसा नहीं है जो राग-द्वेष से ग्रस्त न हो। जैसे संसार में एक भी मछली ऐसी नहीं है जो पानी के बिना बाहर रह सके। प्रत्येक छोटी—बड़ी सभी मछली अनिवार्य रूप से पानी के साथ संबंधित है। जुड़ी हुई है। ठीक वैसे ही प्रत्येक संसारी जीव राग-द्वेष के साथ जुड़ा हुआ है। प्रमाण कम हो या ज्यादा हो लेकिन प्रत्येक छोटा—बड़ा सभी जीव कम—ज्यादा प्रमाण में राग-द्वेष के आधीन ही है। तभी यह संसारी कहलाता है और संसारी है इसलिए राग-द्वेष ग्रस्त हैं। अनादिकालीन इन राग-द्वेष के साथ जीव का संबंध है। हमारे परिणाम—जीवों के अध्यवसाय ही राग-द्वेष की वृत्तिवाले हो गए हैं।

राग-द्वेष की तीव्रता के परिणाम की स्थिति यहाँ पर ग्रन्थि शब्द से द्योतित की गई है। जीवात्माएं ऐसी राग-द्वेष की गांठ से बंधी हुई रहती हैं। व्यवहारिक उदाहरण से इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। हम कपड़े सीते हैं उस समय रील के धागे में यदि गांठ आ गई तो धागा सूई में आगे नहीं बढ़ेगा। रस्सी में भी गांठ आ सकती है या रस्सी में बड़ी भारी गांठ लगाकर हाथी, ऊँट, घोड़े को भी बांधा जा सकता है। इतने बड़े भारी शक्तिशाली प्राणियों को भी एक रस्सी में गांठ लगाकर बांधा जा सकता है। अतः गांठ की मजबूती कितनी भारी रहती है।

गन्ने और बांस में भी आप देखिए . . . थोड़े थोड़े अन्तराल में जहाँ सन्धिस्थान—पर्वस्थान आता है उसे “गांठ” कहते हैं। सामान्यरूप में भी गन्ने को चबाते समय या रस चूसते समय गांठ के बड़े भारी कठीन भाग को चबाना या उसमें से रस चूसना बहुत मुश्किल होता है। ये ग्रन्थि प्रदेश कहलाते हैं। सामान्य रूप से भी देखा जाय कि रेशम का धागा हो और उसमें गांठ पड़ी हो . . . उसमें भी ऊपर से कसकर और २—४ गांठें लगा दी जाय . . . फिर उसपर तेल डाला जाय तो खोलना कितना मुश्किल हो जाय ? अरे ! मुश्किल ही क्या असंभवसा लगेगा। थोड़ा सोचिए . . . यह तो धागे में गांठ है। परन्तु आत्मा के राग—द्वेष के अध्यवसाय में जब गांठ पड़ती है तब वह बड़ी भारी निबिड गांठ होती है। दुर्भेद्य कहलाती है। शास्त्रकार महर्षी विशेषावश्यक भाष्य में कहते हैं कि—

गंठित्तु सुदुब्भेओ, कक्खण्डघणरूढगूढ गंठिव्व ।

जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागहोसपरिणामो ॥ १२०० ॥

बड़ी भारी मजबूत, कर्कश, घन, गाढ़, रूढ़, गांठ जो दुर्भेद्य होती है। खोलनी असंभवसी लगती है। इसी तरह जीवों के तीव्र राग—द्वेष के अत्यन्त कलुषित कर्म—परिणामों की बनी हुई गांठ—कितनी गाढ़—मजबूत होती होगी ? सोचिए . . . उसे दुर्भेद्य कहा है। उसे खोलना . . . अर्थात् तथाप्रकार के तीव्र राग—द्वेषों को कम करना। अपने परिणामों को नम्र—सरल—कषायरहित करने की पूरी कोशिश करनी चाहिए।

बैलगाड़ी के पहियों की धूरि पर जो कीट लगी हुई रहती है, यदि वह कपड़े पर लग जाय तो . . . घिसने पर शायद कपड़ा फट जाय परन्तु . . . दाग निकलना असंभवसा लगता है। ठीक ऐसा ही आत्मा के राग—द्वेष युक्त मलीन परिणाम जो कषाययुक्त होकर दीर्घकालीन गांठ रूप बन जाते हैं। कपड़ा फटने की तरह व्यक्ति मर भी जाय तो भी कषायों की तीव्रता में जो भी कुछ राग—द्वेष की प्रवृत्ति की है उसकी क्षमायाचना करने से वह सर्वथा इनकार कर देता है। संसार में आज भी कई जीव ऐसे हैं जो किसी भी परिस्थिति में क्षमायाचना करने के लिए तैयार ही नहीं होते हैं। चाहे मरना पड़े तो कबूल है, परन्तु अपनी जिद्द को छोड़ने के लिए किसी भी तरह तैयार नहीं होते हैं। यही कषाय की भारी गांठ . . . होती है। हमारे आध्यात्मिक जीवन के विकास में ऐसी गांठ प्रतिबंधक—अवरोधक बनती है। सामान्य कषाय वैसे भी किसी के जीवन का विकास रूंध देते हैं तो फिर भयंकर कषाय की गांठ का तो पूछना ही क्या ? जीवन विकास का एक भी सोपान वह चढ़ने ही नहीं देगा। आध्यात्मिक विकास की दिशा में राजमार्ग पर आगे बढ़ते ही

रहने की प्रतिज्ञा जो कर चुके हैं ऐसे उत्तम भाग्यशालियों को इस राग—द्वेष की निबिड ग्रंथी के अवरोधक को अच्छी तरह पहचान लेना चाहिए। समझकर ऐसे रोडे बीच में से दूर करके भी अपनी कूच—प्रगति को न रोकते हुए आगे बढ़ते ही रहना चाहिए।

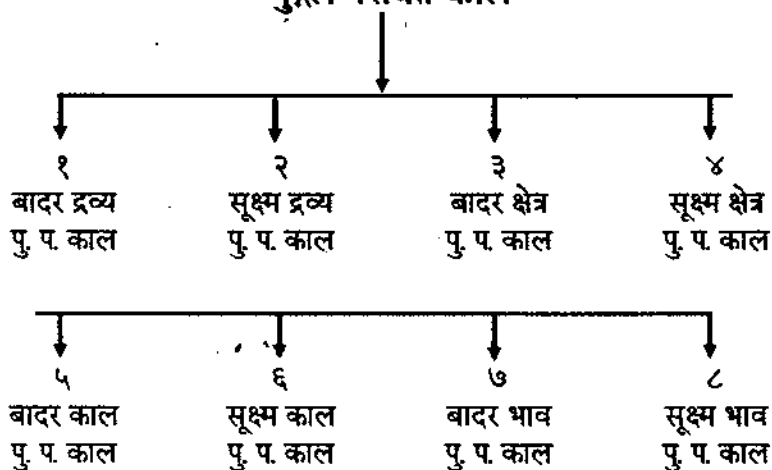
**चरमावर्त में प्रवेश—**

अचरमावर्त के अनन्त पुद्गल परावर्त काल में जीव ने अनन्त जन्म—मरण बिताये। उन अनन्त जन्मों में मिथ्यात्व की प्राधान्यता रही। मिथ्यात्व के भारी उदय के कारण भारी



पापों के करने की प्रवृत्ति रही। उसके कारण भारी कर्मों को जीव बांधता रहा। और भारी कर्म बांधकर भवपरंपरा बढ़ाता रहा। परिणामस्वरूप संसार में घूमता रहा। भवभ्रमण करते करते अनन्त काल बिताया। अनन्त भव बिताए। अन्त ही नहीं आया। इतने अनन्त काल की गणना करने के लिए... पुद्गल परावर्त काल का प्रमाण शास्त्रकारों ने ८ भेदों में बताया है—

### पुद्गल परावर्त काल





इन ८ भेदों के पुद्गल परावर्त काल जीव ने अनन्त बिता दिये हैं। ये द्रव्य—क्षेत्र—काल और भाव भेद में मुख्य ४ प्रकार के हैं। बादर तो सूक्ष्म को समझने की भूमिका आधाररूप हैं। संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए जीव ने इतने अनन्त पुद्गल परावर्त काल बिता दिये हैं कि जिसकी गणना करना भी संभव नहीं है। जीवविचार में—

एवमणोरपारे संसारे सायरंमि भीमंमि।

पत्तो—अणंतखुत्तो, जीवेहि अपत्त—धम्मेहि॥

जिसका कभी पार न पा सके ऐसे 'अणोरपारे' भयंकर संसाररूपी समुद्र में जीव अनन्तबार गिरा है। पतन हुआ है। क्यों गिरा? क्यों पतन हुआ? इसका एक ही स्पष्ट कारण बताते हुए कहते हैं कि— धर्म प्राप्त न करने के कारण। धर्म की प्रथम भूमिका श्रद्धा—सम्यग् दर्शन की जब तक प्राप्ति ही नहीं हुई तब तक मिथ्यात्व के कारण जीवों को भटकना ही पड़ा। अनन्तकाल तक भटकना पड़ा। परिभ्रमण की इस स्थिति में मिथ्यात्व का तथा रागद्वेष का नशा इतना भयंकर था कि... उस नशे की धुन में—मस्ती में जीव को कभी सम्यग् धर्म का ख्याल ही नहीं आया। इसी कारण परिभ्रमण अनन्त भवों के रूप में चलता ही रहा।

आवर्त से अर्थ है जिसके दो किनारे मिलते ही न हो... इस तरह गोल—गोल घूमते ही रहना। जैसे तैली का बैल घाणी पर घूमता ही रहता है। उस बैल के सामने कोई लक्ष्य नहीं है। कहाँ तक घूमना? कितना घूमना है? इत्यादि किसी भी प्रकार का कोई लक्ष्य नहीं है। सर्वथा लक्ष्यविहीन जीवन है। ठीक ऐसा ही मिथ्यात्वी जीव है। अनन्त पुद्गल परावर्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। लेकिन सर्वथा लक्ष्यविहीन जीवन है। यही अचरमावर्त का काल था। इसमें जीव भवाभिनंदी—पुद्गलानंदी बना रहा। पुद्गल का रागी, पौद्गलिक पदार्थों की लालसा बनी रही। दैहिक सांसारिक सुखों की प्राप्ति तथा तदनुरूप साधन—सामग्री, सुखभोगों के योग्य पदार्थों की प्राप्ति की मनोकामना बनी रही। परन्तु वे दरिद्रों के मनोरथों की तरह मन में ही समा जाती थी, क्योंकि मिथ्यात्व के कारण विपरीत वृत्ति पड़ी हुई थी। मिथ्यात्व सब प्रकार के पापों को तीव्रता के साथ कराता था जिससे भारी कर्मों का बंध होता था और उनके कारण भारी दुःख भुगतना पड़ता था। तथा वैसे दुःखों को भुगतने के लिए... उसे दुःख की दुर्गतियों में जाना पड़ता था। नरकगति में बड़े—बड़े लम्बे काल के आयुष्य प्राप्त होते हैं। लम्बे काल तक दुःख भुगतने में उसका

काल बीतता था। सुख की आकांक्षा सुख प्राप्ति की इच्छा होने के बावजूद भी अपनी करणी के फलस्वरूप दुःख ही दुःख सामने आता था। पाप की प्रवृत्ति करने से भी सुख मिलता है ऐसी भी उसकी विपरीत धारणा पड़ी हुई थी। अतः पाप की प्रवृत्ति करने में मजा आती है ऐसी उसकी धारणा बनी हुई है। जो सर्वथा विपरीत है। सही सत्य तो यह है कि—“दुःखं पापात्—सुखं धर्मात्” पाप की प्रवृत्ति करने से दुःख ही दुःख प्राप्त होता है और पुण्यरूप धर्म की शुभ प्रवृत्ति करने से सुख प्राप्त होता है। यह सदाकालीन त्रैकालिक सत्य है, परन्तु इसे भी मिथ्यात्व से ग्रस्त मिथ्यात्वी जीव विपरीत वृत्ति के कारण उल्टा ही मानता है— नहीं... नहीं... पाप करने से भी सुख मिलता है। धर्म निरर्थक है।

जब तक जीव अन्तिम = चरम पुद्गल परावर्त में नहीं प्रवेशते हैं तब तक वे अचरमावर्त में गिने जाते हैं। जिनको मोक्ष पाने में सिर्फ १ पुद्गल परावर्त काल ही शेष रहा हो वे ही जीव चरमावर्त में प्रवेश कर सकते हैं। अभव्य और जातिभव्य की कक्षा के जीव तो कभी भी मोक्ष पानेवाले ही नहीं हैं। अतः उनके लिए चरमावर्त में प्रवेश का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। एक मात्र भव्य जीव ही और वह भी १ पुद्गल परावर्त काल मुक्ति के लिए शेष बचा हो वही जीव चरमावर्तकाल में प्रवेश करता है। जैसे बद्धकोष्ठताग्रस्त उदर में मलावरोध की तीव्रता रहने से मधुर पक्वान्न भी अरुचिकर लगते हैं ठीक वैसे ही अचरमावर्ती मिथ्यात्वी जीव को मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण मोक्षाभिलाषा या मोक्ष प्राप्ति की रुचि ही नहीं जगती है। और वहाँ वह ऐसा कोई प्रबल पुरुषार्थ भी नहीं करता है, या वहाँ कोई ऐसा पुण्योदय भी नहीं बढ़ता है जिसके कारण भी भवी जीव चरमावर्त काल में आ सके। बस एक मात्र तथाप्रकार का भव्यत्व काम करता है जिसके कारण भव्यात्मा चरमावर्त में प्रवेश करता है।

सहजभावमल— मल शब्द आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा पर लगे मलीन कर्म के अर्थ में प्रयुक्त है। सहजरूप से अनादि काल से आत्मा पर पड़े हुए... राग—द्वेष के निबिड परिणाम ही बड़े खराब होते हैं। सहज स्वाभाविक रूप से आत्मा पर लगे हुए कर्म और उनके कारण बनी हुई वैसी प्रवृत्ति। यह अचरमावर्त काल में चलता ही रहा। ऐसे अचरमावर्ती—सहजभावमलवाले जीव को पहचानने के लिए पू. हरिभद्रसूरि महाराज ने योगदृष्टि समुच्चय ग्रन्थ में तीन लक्षण बताए हैं जिनसे ऐसे जीवों को पहचाना जा सकता है। १) दुःखी जीवों को देखकर भी दया का अंश भी न जगे। २) गुणों से परिपूर्ण महान

आत्माओं पर भी द्वेष जगे... दुर्भाव प्रगटे । ३) सर्वत्र जो भी कोई उचित कर्तव्य—कार्य हो वहाँ भी वे जीव भेद—भाव की दृष्टि से विपरीत आचरण करते हो ।

छोटे बच्चे जैसे गोल—गोल घूमते हैं उस समय सब कुछ विपरीत दिशा में घूमता हुआ दिखाई देता है । और घूम लेने के पश्चात् भी उसकी भ्रमणा—भ्रान्ति बनी हुई रहती है । ठीक वैसे ही उपादेय तत्त्व में हेय = त्याज्य बुद्धि और हेय = त्याज्य में उपादेय की बुद्धि ऐसी विपरीत विचारधारा वह जीव रखता है ।

लेकिन चरमावर्त में प्रवेश कर चुकनेवाले जीव का लक्ष्य सर्वथा बदल जाता है । अतः उसके लक्षण अचरमावर्ती जीव के लक्षण से सर्वथा विपरीत ही होंगे । १) किसी भी दीन—दुःखी को देखकर अपार करुणा दिल में दया के रूप में उभर आए । २) गुणों से परिपूर्ण गुणवान महात्मा पर द्वेष या दुर्भाव सर्वथा न जगे । सद्भाव जगे । ३) और उचित कर्तव्य—कार्य के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना उचित आचरण ही करने की वृत्ति बनती है । चरमावर्त में प्रवेश हो जाने के पश्चात् हेय—हेयरूप लगता है । और उपादेय—उपादेयरूप लगता है । हिंसादि पाप हेय और अहिंसा क्षमादि उपादेयरूप लगने लगते हैं ।

### मिथ्यात्व की मन्दता—तीव्रता—

अनादि—अनन्तकालीन अचरमावर्त काल में सहजभावमलयुक्त ऐसा मिथ्यात्वी जीव संयोगवशात्—निमित्त—योग ऊँचे अच्छे मिलने के कारण अपने मिथ्यात्व की जो विपरीत वृत्ति—मति पड़ी हुई है जिसके कारण अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, और तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि है । इसमें कुछ मन्दता आती है । ये परिणाम कुछ मन्द होते हैं । लेकिन चलती हुई गाड़ी में जैसे गती में तीव्रता आती है, कुछ देर तीव्र—तेज गति से चलती है और फिर कुछ मन्दता आ जाती है । फिर तीव्र गति बनती है । फिर मन्दता आती है । इस तरह अचरमावर्ती जीव अपनी मिथ्यात्व की वृत्ति में भी ऐसी ही स्थिति अनुभवता है । कभी कभी मिथ्यात्व की वृत्ति इतनी उग्र बन जाती है कि वह पुनः ७० कोड़ी कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति का कर्म बांध लेता है, फिर मिथ्यात्व मन्द पड़ता है, फिर तीव्रता आती है और उत्कृष्ट स्थिति बांध लेता है । ऐसी प्रक्रिया चलती रहती है ।

चरमावर्त के काल में प्रवेश करनेवाले जीव की तीव्र मिथ्यात्व की स्थिति सर्वथा कम हो जाय ऐसे ३ प्रकार के जीवों का स्वरूप बताया है । १) द्विर्बधक जीव २) सकृत्

बंधक जीव ३) अपुनर्बंधक जीव । उग्र मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण ७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति बांधनेवाला जीव अब संसार में सिर्फ दो ही बार ऐसी उत्कृष्ट स्थिति बांधनेवाला हो उस जीव को द्विर्बंधक जीव कहा है । ऐसा जीव अब बार बार ७० कोड़ा कोड़ी सा. की उत्कृष्ट स्थिति का बंध नहीं करेगा । सिर्फ दो बार ही करेगा । इससे भी आगे बढ़कर जो जीव कुछ जागृति लाकर समझता है वह जीव दो बार भी उत्कृष्ट स्थिति का बंध न करता हुआ सिर्फ एक बार ही बांधे उसे ज्ञानियोने सकृत् बंधक जीव कहा है । यह केवलज्ञानियों की दृष्टि से संभव है । एक बार भी ऐसी ७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति के मोहनीय कर्म को बांध लेनेवाला जीव भी इस कर्म की स्थिति को समझ जाय, जागृत हो जाय.... कुछ सावधान बनकर आगे बढ़ता हुआ अपने मिथ्यात्व को मन्द करता हुआ अब एक बार भी मिथ्यात्व की उग्र तीव्र स्थिति न बनाए, और वैसी उत्कृष्ट स्थिति न बांधे ऐसे जीव को ज्ञानियों ने अपुनर्बंधक जीव कहा है । अब इसका मिथ्यात्व कम—मन्द हो चुका है । अब इतनी तीव्रता नहीं रही है । अतः मन्द मिथ्यात्वी जीव अपनी तीव्रता—उग्रता घटाकर थोड़ा शांत होकर बैठता है । यद्यपि मिथ्यात्व की उपस्थिति जरूर है और उसके कारण कर्म बंध भी जरूर होगा, परन्तु... अब उत्कृष्ट स्थिति का बंध नहीं होगा । यह केवलज्ञानियों के ज्ञान योग से देखी गई जीव की विकास दशा है । इस तरह जीव अपनी विकास कक्षा में से पसार हो रहा है । ऐसे जीव की अनादिकालीन निबिड राग—द्वेष में मन्दता आने के कारण, सहजभावमल हास होने के कारण परिणामों में मिथ्यात्व की मन्दता का भी अंश तक बढ़ता जाता है । जैसे कोठार में पड़े धान्य उगते नहीं हैं, क्योंकि उनको किसी भी प्रकार का सहयोगी कारण—निमित्त कारण प्राप्त ही नहीं होता है । हवा—पानी—प्रकाश—जमीन—खाद आदि सहयोगी कारण प्राप्त होंगे तभी जाकर वह बीज पनपता है । इसी तरह जीव जो मिथ्यात्वियों—पापकर्मियों के संसर्ग में रहता है वह जीव सांसर्गिक दोषों का भोग बन कर वैसा बनता है । अतः संसार में अपना विकास साधने की इच्छावाले जीवों को सर्वप्रथम ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि.... किसी भी परिस्थिति में अधर्मियों, मिथ्यात्वियों पापकर्मियों, हिंसकों आदि अपना अहित अधःपतन की संभावना जिसेसे लगे ऐसे लोगों के संसर्ग में रहना भी नहीं चाहिए, और ऐसों के संबंध में—संपर्क में—संसर्ग में आना भी नहीं चाहिए । आखिर संसार में रहते हैं शादी—सगाई के प्रसंग पर योग्यात्माओं का निमित्त दूढ़ना चाहिए । नौकरी—व्यापार—भागीदारी—मकानमालिक—आदि संसार के सभी प्रसंगों—निमित्तों पर योग्य विचार करके उचितता का पूरा ख्याल रखकर ही ऐसा संसर्ग रखना—करना चाहिए । जैसे धान्य हवा—पानी—प्रकाश—जमीन—खाद आदि सबका सुंदर योग प्राप्त होने पर अंकुरित होकर पूर्ण वृक्ष बनता है । उसी तरह लोगों के अच्छे

धर्मिष्ठ संस्कारी—सम्भ के घर शादी—सगाई, नौकरी—भागीदारी आदि संबंध करने पर संसर्ग में रहने पर... सत्संग के कारण मिथ्यात्वादि की तीव्रता—उग्रता की स्थिति की नोबत भी न आए। जिससे वृत्ति शान्त बनी रहे। धर्म के प्रसंग, आराधना—अनुष्ठानों के संसर्ग में बार—बार आने से वह जीव बहुत कुछ लाभ पा सकता है। अपना भी विकास साध सकता है। मिथ्यात्वादि भावों की अत्यन्त मन्दता आ जाती है। सर्वप्रथम विकास के श्रीगणेश में मिथ्यात्व की अत्यन्त मन्दता—मन्दतम स्थिति ही सहायक बनेगी। उपयोगी सिद्ध होगी।

### अपुनर्बन्धक जीव की विशेषता—

यहाँ से जीव की आध्यात्मिक विकास यात्रा की शुभ शुरुआत होती है। मन्द मिथ्यात्वी बने हुए जीव कुछ शान्त होकर... आगे प्रगति शुरू करते हैं। ऐसे जीव १) राग—द्वेष की तीव्रता नहीं लाएंगे जिससे फिर उत्कृष्ट बंध स्थिति में जाना पड़े। पाप तो करेंगे... पाप तो होते ही रहेंगे लेकिन... उसमें भी कारक तत्व राग—द्वेष में तीव्रता नहीं आएगी। मन्दता रहेगी। २) पापमय जो यह संसार है इसकी प्रशंसा, सम्मान, या आदर भाव से इसकी अनुमोदना, आकांक्षा, प्राप्ति की तीव्रता नहीं करेगा। तथा उचित कर्तव्य करने योग्य जो भी कुछ होगा उसका आचरण जरूर करेगा। कर्तव्यपरायणता का लक्ष्य रहेगा। संसार को भोगता जरूर है, भोगेच्छा तृष्णा सब पड़ी है परन्तु तीव्रता का अभाव रहेगा। अनुचित प्रवृत्तियों का सेवन—आचरण नहीं करेगा। न्यायप्रिय, सत्यप्रिय लक्ष्यवाला बनता है।

जैसा अचरमावर्ती जीव भवाभिनन्दी—पुद्गलानुरागी देहासक्त—देहरागी पापप्रिय रहता था वैसा चरमावर्तवर्ती अपुनर्बन्धक जीव नहीं होता है। वह भवाभिनन्दी नहीं होता है। पुद्गलानुरागी देहानुरागी या पापप्रिय भी नहीं होता है। पू. हरिभद्रसूरि म. ऐसे जीवों के बारे में कहते हैं कि— ये क्षीणप्राय कर्मवाले, विशुद्ध आशयवाले, भावसम्मानवाले होते हैं। भवाभिनन्दिता के अभाव में उनमें क्षुद्रता, लोभ की तीव्रता, दीनता, मात्सर्य, भय, शठता, अज्ञान आदि प्रायः सर्वथा नहींवत् अल्पतम होते हैं। औदार्य, दाक्षिण्य, पाप—जुगुप्सा, निर्मल बोध, जनप्रियतादि काफी अच्छी मात्रा में रहती है।

क्षुद्रता, लोभ, दीनता, मत्सर, भय, शठता अज्ञान आदि ये भवाभिनन्दिता के प्रमुख लक्षण हैं। अर्थात् भवाभिनन्दिता रहने पर ये लक्षण प्रगट रूप से स्पष्ट दिखाई देते हैं। इन लक्षणों को देखकर यह जीव भवाभिनन्दी—संसार का रागी है यह स्पष्ट समझा जा सकता है, और इस भवाभिनन्दिता में से जीव जैसे ही बाहर निकलकर—अपुनर्बंधक बनता है तब ये क्षुद्रतादि सभी दूषण दूर हो जाते हैं और इनकी जगह पर गुण स्थान ले लेते हैं। फिर औदार्य, दाक्षिण्य, पाप—जुगुप्सा, लोभ की न्यूनता, भय की न्यूनता, सरलता, कुछ ज्ञानदशा आदि गुण जागृत होते हैं। तीव्र राग—द्वेष की वृत्ति से जो पाप न करें उसे अपुनर्बंधक कहते हैं।

### आदिधार्मिक—अपुनर्बंधक—

पावं न तिव्वभावा, कुणइ ण बहु मन्नइ भवं धोरं ।

उच्चिअट्ठिइ च सेवइ सव्वत्थवि अपुणबंधोत्ति ॥

पंचा. ३/४ ॥

—पंचाशक प्रकरण में कहते हैं कि— अपुनर्बंधक जीव के अति उत्कट मिथ्यात्व के परिणामों का क्षयोपशम हो जाने से उस प्रकार की कर्म की उत्कृष्ट बंधस्थिति न बांधने के कारण हिंसादि पाप कर्मों को करने के तीव्र परिणाम—अति संक्लिष्ट परिणाम न होने के कारण आत्मा निर्मल—शुद्ध होती है। मोहनीय कर्म के उदय के कारण सामान्य पापप्रवृत्ति तो रहती ही है। दुःखों की खान समान भयंकर दुःखदायी संसार की रुचि प्राप्ति की तमन्ना परिभ्रमण की तीव्रेच्छा नहीं रहती है। स्वपर धर्म, देव, गुरुओं, माता, पिता, भाई, बहन आदि गुरुजनों के प्रति उचित आदर सम्मान की भावनावाला बनकर वह रहता है। शिष्टाचार का पालन करनेवाला रहता है। जैसे मोर के अण्डे को रंगों से रंगने की आवश्यकता ही नहीं है, वे स्वाभाविक रूप से ही तथाप्रकार के वर्णादिवाले बनते ही हैं, वैसे ही ऐसे अपुनर्बंधक जीवों को सिखाने—समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सहज—स्वाभाविक रूप से ही उनमें गुण प्रकट होते हैं। मोक्षमार्ग का अनुसरण करवानेवाला मार्गानुसारीपना उसमें प्रकट होता है। इसके अनुरूप वह जीवन बनाता है।

स आदिधार्मिकश्चित्तस्तत्तन्त्रानुसारतः ।

इह तु, स्वागमापेक्षं, लक्षणं परिगृह्यते ॥

धर्मसंग्रह ग्रन्थकर्ता तथा योगबिन्दु में भी अपुनर्बंधक जीव को आदिधार्मिक नाम दिया है। चरमावर्तकाल प्राप्त करके जीव ने सर्वप्रथम ही धर्म का प्रारंभ किया है। अतः

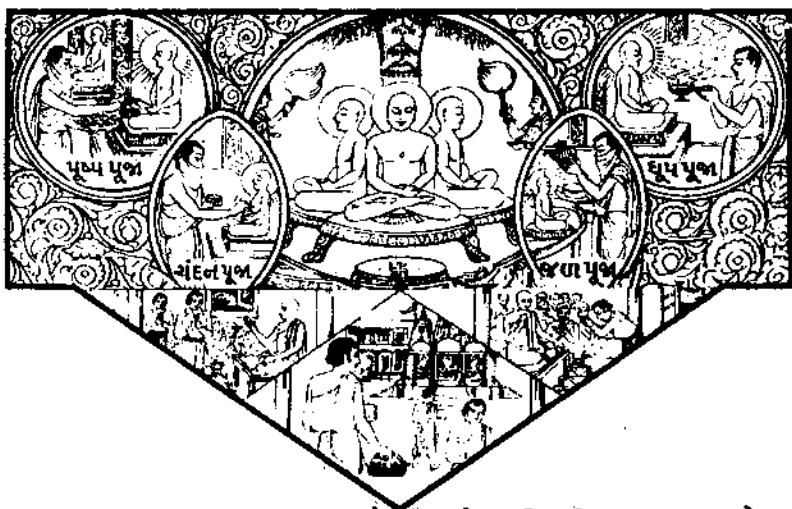
आदिधार्मिक कहलाता है। संप्रदाय—धर्म की दृष्टि से भले ही उसका जन्म जिस—किसी भी धर्म में संप्रदाय में हुआ हो वह जीव वहाँ रहकर भी अपने अपने धर्म में भी धर्म की शुरुआत करता है। जिसमें सर्वप्रथम पापरुचि कम होती है। देव—गुरु—धर्म के प्रति सद्भाव समभाव आदि उत्पन्न होते हैं। मन शान्त बनता है। कषायों की मन्दता जागृत होती है। हिन्दु—बौद्धादि धर्मों में जन्मा हुआ भी अपने—अपने धर्मक्षेत्र में रहकर भी पापप्रवृत्ति से बचकर रहने की सदा कोशिश करता है। जागृति के भाव में जीता है। सावधानी से वर्तता है। वह उस स्थिति में अपुनर्बन्धक बनता है। सर्वज्ञ प्रभु के शासन में भी और बाहरी अन्य धर्मों में भी आदिधार्मिक समान रूप से होता है। वैसे भी मिथ्यात्व तो अभी भी मौजूद है। परन्तु अत्यन्त मन्द है। इतना उग्र नहीं है कि अब पुनः पहले की तरह उत्कृष्ट ७० कोडाकोड़ी सागरोपम की स्थिति बंधाए। जी नहीं। कषायों की तीव्रता—उत्कटता मिलने पर ही मिथ्यात्व की स्थिति अति उत्कट बनती है। अन्यथा यदि कषाय शान्त हो जाय तो मिथ्यात्व भी मन्द हो जाता है।

“ललित विस्तरा” ग्रन्थ में पू. हरिभद्रसूरि म. विशेष रूप से बताते हैं कि... अपुनर्बन्धक को चाहिए कि वह सर्वप्रथम पापमित्रों की सोबत छोड़ दें और कल्याणमित्रों की संगत करें। औचित्य व्यवहार का उत्ल्लंघन न करें। लोकमार्ग का अनुसरण करें। माता—पिता—वडीलजन—गुरुजन आदि का पूरा सन्मान करें, उनकी आज्ञा का पालन करें, ज्ञानादि धर्म की प्रवृत्ति करें। तीर्थकर परमात्मा की विधिवत् दर्शन—पूजा—भक्ति करें। गुरुशुश्रूषा धर्मश्रवण नित्य करें। मृत्यु को दृष्टि समक्ष रखकर सुयोग्य वर्तन—व्यवहार रखें। मन्त्र—जापादि करके वृत्तियों को शान्त रखें। कषायों में उत्तेजना न लाए। आवेश—आवेग से बचकर रहें। सदाचार का पालन करें। महापुरुषों के मार्ग पर चलें। इत्यादि अनेक प्रकार की शुभ प्रवृत्ति करते रहने से चरमावर्त के प्रारम्भ में ही जो जीव आदिधार्मिक—अपुनर्बन्धक बना है उसके लिए विकास का मार्ग खुल जाता है।

### मार्गानुसारी जीवन के ३५ गुण—

मार्ग का अनुसरण—अनुकरण करना इसे मार्गानुसारी कहते हैं। कौनसा मार्ग? कैसा मार्ग? संसार के लोक व्यवहार में भी लोक अपने से आगे बढ़े हुए का अनुसरण करते हैं। उसके बताए हुए अनुभव के आधार पर चलते हैं। वैसे ही यहाँ पर आध्यात्मिक विकास का मार्ग है। वह मोक्ष का मार्ग है।





मोक्ष चरमफल की प्राप्ति का नाम है। इस मोक्ष की प्राप्ति तक आत्मा को आगे बढ़ानेवाला, आगे ले जानेवाले मार्ग को मोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ मार्ग शब्द मात्र रास्ता अर्थ में नहीं है। मार्ग को ही धर्म कहा है। आगे बढ़ाने, ले जाने अर्थ में मार्ग शब्द है। परन्तु मार्ग शब्द के आगे मोक्ष शब्द जुड़ा हुआ है अतः धर्म के अर्थ में व्यवहार होगा। ऐसे मोक्ष की प्राप्ति करानेवाले मार्ग का अनुसरण करने की शुरुआत पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर ही हो जाती है। वहीं ऐसी प्रवृत्ति और गुणादि का सुयोग्य व्यवहार—आचरणादि करता है। वैसा शुद्ध धर्मों बना नहीं है परन्तु वैसे बनने की दिशा में अनुसरण करता है। अतः मार्गानुसारी कहलाता है।

बच्चा शादी के योग्य बनने में १८—२० वर्ष का काल लेता है। तब योग्यता आती है। छोटे बच्चे को आज ही ५० लाख की पूँजीवाली दुकान की जिम्मेदारी सुपूर्द नहीं की जा सकती। योग्यता—पात्रता वैसी बनने के बाद ही यह सब कुछ सम्भव हो सकता है। अतः वैसी योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ठीक उसी तरह जिनेश्वर परमात्मा के सम्यग् धर्म का आचरण करने के लिए वैसा योग्य पात्र बनने के लिए प्रथम मार्गानुसारीपने के गुणों का विकास हमारे जीवन में होना आवश्यक है। ऐसे मार्गानुसारी के ३५ गुणों का विश्लेषण महापुरुषों ने योगशास्त्र, धर्मसंग्रह, धर्मपरीक्षादि अनेक ग्रन्थों में किया है।

मार्गानुसारी जीवन में अभी तक कोई पूजा—पाठ, सामायिक, माला जाप, आर्यबिल—उपवास आदि किसी प्रकार के ऊँचे धर्म की कोई बात ही नहीं की है। यहाँ तो ३५ ऐसे गुण बताएँ हैं जो सभी धर्मों के सर्वसामान्य जीवों के लिए काम के हैं।

आवश्यक हैं। क्योंकि मिथ्यात्व की मंदता के आधार पर ऐसे गुणों का विकास करना है और ऐसा जीवन बनाना है जो उसकी योग्यता—पात्रता परिपक्व कर सके। ऐसे सामान्य स्वरूप की बात यहाँ रखी है। (पृष्ठ क्र. देखिए।)

### पाँच उचित व्यवहार—

१) उचित विवाह—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गांधर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच इन ८ प्रकार के विवाहों में से अनुचित का सर्वथा त्याग करके समान कुलाचार, शील और अन्य गोत्रियों, समानधर्मी—भाषी के साथ ही विवाह करना।

२) उचित घर—गृहस्थी को रहने योग्य अच्छे पड़ोसी सहित समान जाति—धर्मियों के मोहल्ले में, राजमार्ग पर, धर्मस्थान समीप पूर्ण हवा, पानी, प्रकाशयुक्त अनेक द्वार रहित ऐसा उचित घर होना चाहिए।

३) उचित देश—धर्म के अनुरूप ऐसा आर्य देश, आर्य प्रजा, भोगभूमि नहीं, मात्र अर्थ—काम की प्रधानतावाला नहीं, परन्तु धर्मप्रधान देश, पूण्यभूमि, उपद्रव रहित ऐसे देश—राज्य में रहना ही उचित है।

४) उचित वेशभूषा—स्वगोत्र—देश—खानदानी—कुल को शोभे वैसा वेश धर्म की पहचान करावे, स्वजाति के अनुरूप, शोभा इज्जत बढ़ावे, वैसे उचित वेश पहनें। उद्भट और मुफलिस वेश न पहनें। अपने शरीर की, अंगोपांगों की मर्यादा पूरी ढके वैसी ही उचित वेशभूषा होनी चाहिए।

५) परिमित (उचित) व्यय—आयोचित व्यय करें। आय से ज्यादा करने पर दिवाला निकलेगा। अति व्यय भी न करें, अल्पव्यय भी न करें, उचित व्यय ही करें। कृपण बनकर मात्र संचय ही न करें। शुभमार्ग पर व्यय करें।

### पाँच औचित्य पालन—

६) प्रसिद्ध देशाचार पालन—शिष्ट पुरुषों को मान्य काफी लम्बे काल से रूढ़ ऐसे सुप्रसिद्ध देशाचार का पालन करना चाहिए। जिस देश में रहे उसके विपरीत आचरण न करें। लोकविरुद्ध का त्याग करें। लौकिक व्यवहार का योग्य आचरण करें।

७) अदेशकाल—आचरण—जिस देश में जो आचरण अनुचित है तथा जिस काल में जो आचरण सर्वथा अनुचित है उसका आचरण न करें। देशोचित और कालोचित आचरण करने का ही लक्ष रखें।

**मार्गानुसारी जीवनयोग्य ३५ गुण**

| द्रव्य प्रधान (बाह्य)       |                      |                            | भाव प्रधान (आन्तर) |                    |  |
|-----------------------------|----------------------|----------------------------|--------------------|--------------------|--|
| व्यवहार प्रधान              |                      | जीवन प्रधान                | आचार प्रधान        | गुण प्रधान         |  |
| उचित व्यवहार                | औचित्य पालन          | १) लोकप्रियता              | १) धर्मश्रवण       | १) कृतज्ञता        |  |
| १) उचित विवाह               | १) प्रसिद्ध देशाचार  | २) बलाबलविवेक              | २) अरिषड्वर्गत्याग | २) समर्पण          |  |
| २) उचित घर                  | पालन                 | ३) सत्संग                  | ३) इन्द्रिय जय     | ३) न्याय—नीतिमत्ता |  |
| ३) उचित देश                 | २) अदेशकाल आचरण      | ४) निन्द्य प्रवृत्ति त्याग | ४) माता-पितादि     | ४) पापभीरुता       |  |
| ४) उचित वेषभूषा             | ३) अजीर्ण भोजन त्याग | ५) शिष्टाचार प्रशंसा       | गुरुजन सम्मान      | ५) दया-दान         |  |
| ५) परिमित व्यय              | ४) काले परिमित भोजन  | ६) बुद्धिशालीपना           | ५) पोष्य पोषण      | ६) विशेषज्ञता      |  |
|                             | ५) त्रिवर्ग आबाधा    | ७) दीर्घदर्शिता            | ६) अतिथि सत्कार    | ७) लज्जालुता       |  |
|                             |                      | ८) कदाग्रहत्याग            |                    | ८) परोपकारिता      |  |
|                             |                      |                            |                    | ९) सौम्यता         |  |
|                             |                      |                            |                    | १०) निदात्याग      |  |
|                             |                      |                            |                    | ११) गुणपक्षपात     |  |
| ५                           | ५                    | ८                          | ६                  | ११                 |  |
| ५ + ५ + ८ + ६ + ११ = ३५ गुण |                      |                            |                    |                    |  |

८) अजीर्ण भोजन त्याग—“शरीरं खलु आद्यं धर्मसाधनं”— शरीर यह प्रथम धर्म का साधन है इसे अच्छी तरह समझते हुए धर्मयोग्य शरीर को बनाते हुए स्वास्थ्य के नियमों का ख्याल रखते हुए अजीर्ण में भोजन का सर्वथा त्याग करना चाहिए। आमाजीर्णादि ६ प्रकार के अजीर्णों को भलीभांति समझकर, सर्व रोगों के मूल कारणभूत अजीर्ण में न भोजन का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

९) काले परिमित भोजन— हितकारी—मितकारी—सीमित—परिमित भोजन ही करना आरोग्यप्रद है। अल्पाहारी दीर्घजीवी निरोगी बनता है। तथा धर्म के अनुरूप मांसाहार, विषाहार—अभक्ष्य आहार का सर्वथा त्याग करके सत्यगुणवर्धक ऐसा सात्विक भोजन ही करें। उचित समय पर ही भोजन करें। रात्रि आदि अयोग्य काल में न करें। शुद्धिपूर्वक आसनपर बैठकर विधिवत् भोजन करें। रास्तेपर सर्वथा न करें।

१०) त्रिवर्ग अबाधा— धर्म, अर्थ और काम ये तीन वर्ग हैं। इन तीनों को बाधा न पहुँचे इस तरह व्यवहार—वर्तन करना चाहिए। धर्मारोधना, धर्माचरण को बाधा न पहुँचे, अर्थ—धनोपार्जन का एवं उचित विधेय कार्यों को पूर्ण कर सके उस तरह बाधा न पहुँचे वैसा व्यवहार—आचार रखें।

**जीवनप्रधान—**

११) लोकप्रियता— मार्गानुसारी साधक को अपने नम्रता—सरलता—परोपकारिता आदि गुणों का विकास करते हुए मृदु—प्रियभाषी बनते हुए, परदुःखनिवारक बनते हुए विशेष रूप से जनवल्लभ—लोकप्रिय बनना चाहिए।

१२) बलाबल विवेक— संसार में किसी से भी व्यवहार करते समय अपनी कार्य शक्ति—विवेक आदि का विचार करके ही कार्य करना उचित है। अपने सामर्थ्य के बाहर करने में नुकसान की संभावना है। सक्षम हो तो ही करो और असमर्थ हो तो शान्त रहो। विवेक जरूरी है।

१३) सत्संग— सदा ही संतो—महात्माओं, कल्याण मित्रों, उत्तम पुरुषों का सत्संग करना चाहिए। संगत अच्छी रहने पर आचार—विचार में अच्छापन आने की, आगे विकास की, पतन से बचने की संभावना अच्छी रहती है। संत—समागम से डाकू साधु बन जाता है। शैतान इन्सान बन सकता है।

१४) निन्द्य प्रवृत्ति त्याग— जगत में सर्वमान्य निन्दनीय हल्के पाप के कार्य परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, मदिरा सेवन, जुआं खेलना, माता—पिता—राजा—गुरुद्रोह, मांसभक्षण, हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि अनेक ऐसी निन्द्य प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग करना चाहिए। कुल—धर्म को कलंक लगानेवाले निन्दनीय हल्के कामों का त्याग करना।

१५) शिष्टाचार प्रशंसा— गुणप्रशंसा गुणाकर्षिणी है। अतः शिष्ट अर्थात् सभ्य—सज्जन पुरुष जो आचार में—विचार में व्यवहार—वाणी—वर्तन तथा गुणों में भी शिष्ट—सज्जन है उनके शिष्टाचार की प्रशंसा करनी चाहिए। विश्वासघातादि न करना। बिना कृत्रिमता के सभ्य—शिष्टपुरुषों के प्रशंसक बनना।

१६) बुद्धिशालीपना—प्रज्ञावान— तर्क—वितर्कादि बुद्धि के आठ गुणों से युक्त बनना। अपनी प्रज्ञा को बढ़ाकर पूरी तरह उपयोग करना, युक्तियाँ लगाना, किसी की समस्याओं का समाधान करना। सत्य की निष्ठा रखना। ज्ञान—विज्ञान की विशेषताओं का चिन्तनादि करके तत्त्वभूत पदार्थों को स्वयं समझना और अन्यो को समझाना चाहिए। अज्ञान निवृत्ति करना।

१७) दीर्घदर्शिता— बड़े वडील वर्ग के उत्तम पुरुषों से अनुभव प्राप्त करके स्वयं दीर्घदर्शी बनना। मुसीबतों में भी लम्बे भविष्य का सोचना। लम्बे भविष्य का हिताहित सोचकर फिर निर्णय लेना। भावि में इसके प्रत्याघात क्या आ सकते हैं? ऐसा समझकर वर्तमान में ही वैसा सुधार करना। सर्वथा संकुचित वृत्ति रखकर न चलना। विशाल दृष्टि रखना। व्यापक बुद्धि दौड़ाना। स्वकेन्द्रित स्वार्थवृत्ति न रखना।

१८) कदाग्रह त्याग— अज्ञानतावश या फिर मिथ्यावृत्ति के कारण किसी भी बात में किसी के भी सामने आभिनिवेशिक भाव—कदाग्रह न रखें। पूर्वग्रह के कारण बुद्धि एक ही जगह फस जाती है। रुक जाती है। फिर आगे विकास नहीं होता है। कदाग्रहवृत्ति जल्दी मिथ्यात्व की तरफ घसीटकर ले जाती है। ज्ञान के द्वार, सत्य का रास्ता खुल्ला रखकर कदाग्रहही कभी भी नहीं बनना।

**आचार प्रधान—**

१९) धर्मश्रवण— धर्म का स्वरूप ज्ञानात्मक—क्रियात्मक उभयस्वरूप है। धर्म सर्वज्ञ की वाणी—आज्ञा स्वरूप है। उसमें आत्मा से लेकर मोक्षतक के सभी तत्त्वों का

चरम सत्य प्रकट है। अतः नित्य धर्मश्रवण, उपदेश, प्रवचन, श्रवण रुचिवाले ही बनना चाहिए। धर्मश्रवण नित्य ही ज्ञानवर्धक है। मन को शान्त करने में सहायक है।

२०) अरिषड्वर्गत्याग— काम, क्रोध, माया, लोभ, मद, हर्षादि प्रमुख आंतरिक विषय—कषायरूप ६ अरि = शत्रुओं का प्रयत्नपूर्वक भी त्याग करना चाहिए। ये वैसे भी अपनी इज्जत घटानेवाले हैं। ये कातिल जहर समान हैं। कुल—रूप—बल—ऐश्वर्य—ज्ञान—विद्या—तप—जाति आदि आठों प्रकार के मद—मान के सेवन से पुनः पतन होता है। अतः अरिषड्वर्ग के सेवन से अधःपतन—नुकसानादि काफी ज्यादा प्रमाण में होता है। अतः इनका त्याग ही श्रेयस्कर—हितकारी है।

२१) इन्द्रियजय— यह संसार पांचों इन्द्रियों के २३ विषयों से परिपूर्ण है। विषय भोग की लालसा कम करते हुए.... इन्द्रियों के ऐन्द्रिय सुखों से ऊपर उठने की कोशिश करनी चाहिए। इन्द्रियों के गुलाम—आधीन बनकर रहने में अपकीर्ति—आदि कई प्रकार के नुकसानों की संभावना ज्यादा है। यह समझकर अतिशय इन्द्रिय सुखों में आसक्त न बनकर इन्द्रियजयी बनना चाहिए।

२२) माता—पितादि गुरुजन सन्मान— माता—पिता—स्नेही—स्वजन के वडीलवर्ग, धर्मोपदेशक गुरुवर्ग, आदि सब मेरे अनन्त उपकारी हैं यह समझकर उनके प्रति विनय—विवेक से नम्रतापूर्वक व्यवहार करना। उनका सत्कार, सन्मान तथा सेवा करना तथा इस तरह से उन्हें सन्तुष्ट करके आशीर्वाद प्राप्त करना। सदा ही इस लक्ष्य के लिए उत्सुक रहना।

२३) पोष्य—पोषण— यथोचित विनियोग—आजीविका की समतुला बरोबर सुव्यवस्थित बैठानी चाहिए। तथा साथ ही अपने ऊपर जिनके जीवन निर्वाह की जिम्मेदारी है उनका पोषण अवश्य करें। सक्षम को सही कार्य में नियुक्त करें। आश्रितों को बेकारी से बचाकर कार्यरत रखना। उचित निष्पाप व्यापार की दिशा बताना। इसी तरह स्वाश्रित, विधवा, बहन के परिवार का पोषण भी आदर—प्रेम पूर्वक करना। अपने आश्रितों पर लापट्ठावाही न करें। उनकी आवश्यकताएं पूर्ण करनी चाहिए।

२४) अतिथि सत्कार— देव—गुरु—अतिथिजन की सेवा करनी चाहिए। सत्कार—सन्मान करना। अतिथि गुरु भगवन्तों के आगमन पर अपार हर्ष—आनन्द व्यक्त

करना। उठना, सामने जाना, भेजने जाना, सद्भाव, अहोभाव और पूज्यभावपूर्वक सेवा—शुश्रूषा—नम्रतापूर्वक करना। इसी तरह कोई भी अतिथि के आगमन पर उन्हें भोजनादि द्वारा तृप्त करना। उनकी भी आवश्यकताएं पूर्ण करना। पूरा आगत—स्वागत करना।

### गुणप्रधान—

२५) कृतज्ञतागुण— जीवन में गुणों का विकास करना चाहिए। कृतज्ञता एक गुण है। हमारे ऊपर जिन्होंने भी उपकार किया हो उनके उपकार को भूलें नहीं, सदा याद रखें और उपकार का ऋण चुकाने का पूरा लक्ष रखें। एक नारियल—श्रीफल भी बचपन में पानी सींचनेवाले को अवसर आने पर अपना मीठा पानी देता है। वैसे ही उपकारी के ऋण चुकाने के लिए सदा तरसना चाहिए। उनके उपकार को सदा मानते हुए नम्रतापूर्वक कृतज्ञता का भाव व्यक्त करना।

२६) समर्पण— समर्पित होने के लिए या समर्पण करने की पूरी तैयारी रखनी चाहिए। समर्पण भाव शर्तरहित ही होना चाहिए। याद रखिए, पूर्ण समर्पण भाव में पूर्ण नम्रता व्यक्त होती है। सर्वथा समर्पित होनेवाला अब कुछ पाता है। अतः इस गुण को विकसित करना चाहिए।

२७) न्याय—नीतिमत्ता— न्याय—नीतिमत्ता यह सत्य की खान है। अनेक गुणों का आधारभूत गुण है। भावि में जो लोकोत्तर धर्म प्राप्त करना है उसकी आधारशिला समान है। एक मात्र व्यापार क्षेत्र में ही नहीं अपितु प्रत्येक क्षेत्र में लेन—देन आदि के व्यवहार में पूर्णरूप से न्याय एवं नैतिकतापूर्वक आचरण करना। निरर्थक किसी को ठगना, लूटना या विश्वासघात करना बड़ा अपराध है। भेलसेलादि न करना। इस गुण के न विकसित होने से समाज में अप्रतिष्ठा—अपकीर्ति—बदनामी बढ़ती है। अतः जीवन के सर्व क्षेत्र में न्याय—नीतिमत्ता बढ़ानी ही चाहिए। ऐसी नीति बनाकर न्यायोपार्जित द्रव्य ही प्राप्त करना चाहिए। वही सुख—शान्ति निश्चितता देनेवाला बनता है।

२८) पापभीरुता—, सबसे श्रेष्ठ और सबसे बड़ा, अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है पापभीरुता। इसके आने से अन्य कई गुण अपने आप आते हैं। किसी भी पाप के करने के पहले भय निर्माण होना चाहिए। अरे, मैं पाप करता तो हूँ परन्तु इसका कितना भारी

फल मुझे भुगतना पड़ेगा। इस तरह पाप की भारी सजा, फल को दृष्टिसमक्ष रखकर वर्तमान में पाप न करने के लिए मानसिक भय पैदा करना संसार में भले किसी से न डरे लेकिन पाप से तो जरूर डरे। व्यक्ति जिससे डरता है उसी से दूर रहता है। बचता है।

२९) दया-दानप्रिय— किसी के दुःख को देखकर अपना दिल पिघलना ही चाहिए। उसे दया कहते हैं। और जब दयाभाव प्रगट हो जाता है तो किसी के दुःख को दूर करने के लिए पूर्ण रूप से सहयोग करना वह दान कहलाता है। प्राणी मात्र के प्रति वैसा दयाभाव रखना चाहिए। करुणा भावना के रूप में बढ़नी चाहिए और दान आचार क्षेत्र में सदा बढ़ना चाहिए। दान का जन्मस्थान है दया—करुणा। दयालु—करुणालु।

३०) विशेषज्ञता— बुद्धि के आठ गुणों का विकास करके स्वयं ज्ञान—विज्ञान के सर्व क्षेत्र में विशेषज्ञ बनना चाहिए। सामान्यरूप से भी पदार्थों तत्वों को अल्पस्वरूप में जाना जाता है। जबकि विशेषरूप से जानने की इच्छा होनी चाहिए। विशेषज्ञ बननेवाला वस्तुतत्त्व की गहराई में जाता है। लोक व्यवहार में भी यदि किसी की बात को सुनकर जल्दी से उग्र बन जाय या क्रोध करले तो अनर्थ हो जाता है। अतः विशेषज्ञ बनकर पूर्ण उचित न्याय करें।

३१) लज्जालुता— लज्जा यह जन्मजात गुण है। शर्मिंदा होना। यह मात्र स्त्री का ही गुण है ऐसा नहीं। पुरुष में भी होना ही चाहिए। स्त्री की आँखों में शर्म रहनी चाहिए। लौकिक सामाजिक व्यवहार में लज्जा रहनी चाहिए। पुरुष के जीवन में मर्यादा का पालन होना ही चाहिए। परस्त्री आदि के प्रति लज्जाशीलता का स्वभाव रहना चाहिए। इस लज्जाशीलता के कारण कषायों से बचा जा सकता है।

३२) परोपकारपरायण— परोपकारपटुता होनी चाहिए। दया—करुणा का भाव लाकर—बढ़ाकर दूसरों के दुःख में सहभागी बनने की भावना से, कुछ कर मिटने की भावना से परोपकार करने की वृत्ति रहनी चाहिए। पर व्यक्ति पर परोपकार करने का लक्ष रहना चाहिए। यदि सभी जीव परोपकारी बनकर सब पर परोपकार करने में तत्पर बन जाय तो संसार में दुःख का नाम निशान ही न रहे।

३३) सौम्यता— स्वभाव में क्रूरता—कठोरता—निष्ठुरता न लाकर सौम्यता लानी चाहिए। क्रूरतादि हिंसा कारक है। व्यक्ति को हिंसक क्रूर बना देते हैं। निष्ठुरता—क्रूरता



दया—दान की घातक है। अतः सर्वप्रथम स्वभाव से सौम्य बनना चाहिए। सौम्यता चेहरे पर भी झलकती है। सौम्य व्यक्ति को सभी चाहते हैं। वह सर्वप्रिय—लोकप्रिय बनता है। स्व—पर उभय को लाभ करानेवाला बनता है।

३४) निंदात्याग—पराई निंदा—कुथली पर प्रपंच आदि का सर्वथा त्याग करना चाहिए। परनिंदा करने की कुटेव से स्वयं लोक में निंद्य व्यक्ति बनता है। लोग उससे दूर रहना पसंद करेंगे और उसके प्रति शंकाशील बनकर कोई विश्वास नहीं करेगा। इसलिए परनिंदक अविश्वसनीय बनता है। परनिंदा करके स्वयं नीचगोत्र कर्म बांधकर कई जन्मों तक नीच कुल में जन्म लेगा। अतः ईर्ष्या—द्वेष—अदेखाई का त्याग करके परनिंदा से बचें।

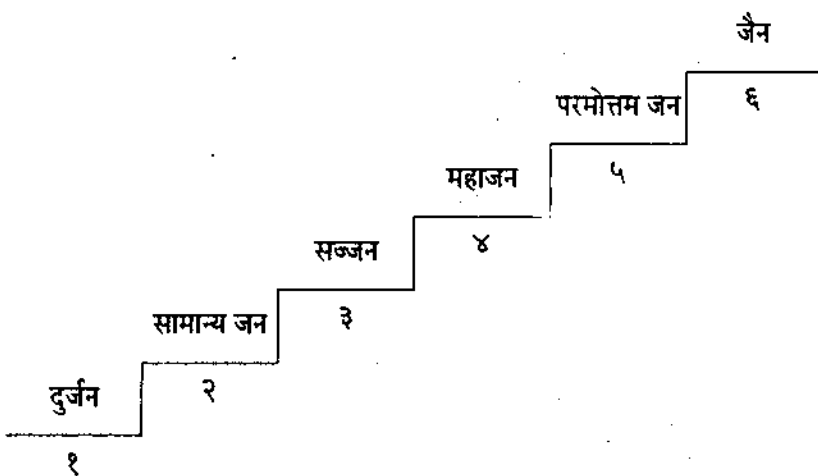
३५) गुणपक्षपात—गुणानुराग—स्वयं जिसको गुणवान बनना है उसको सर्वप्रथम दूसरों के गुणों को सतत देखते हुए गुणानुरागी बनना जरूरी है। सगे स्नेही स्वजन के साथ भी कलहादि के प्रसंग में भी गुणों की तरफ पक्षपात करना चाहिए। गुणवान महापुरुषों की कदर करते हुए उन्हें ज्यादा इज्जत देनी चाहिए। गुणानुरागी लोहचुम्बक की तरह गुणाकर्षी होता है। अन्यो में देखे हुए गुणों को खींचकर अपने में लाता है। गुणग्राही बनने से ईर्ष्या—द्वेष—मत्सर—वृत्ति घटती है। किसी के भी छोटे—बड़े गुण को देखकर प्रसन्न होना चाहिए। जिससे वे गुण अपने में आते हैं। स्वयं गुणों का भण्डार बनता है। गुणीयल मृत्यु के बाद भी जनमानस के स्मृतिपटल पर सदा बना रहता है। गुण—गुणी पूजे जाते हैं।

### लोकोत्तर धर्म की आधारशिला—

जिनेश्वर परमात्मा सर्वज्ञ प्रभु प्रणीत लोकोत्तर कक्षा का सर्वोत्तम आर्हत् धर्म प्राप्त करने के लिए “मार्गानुसारीपने” का यह लौकिक धर्म उसकी आधारशिला है। मिथ्यात्व काफी मंद पड़ जाता है तब जाकर इस प्रकार के लौकिक कक्षा के मार्गानुसारीपने की प्राप्ति होती है। ये ३५ गुण ऐसे गुण हैं कि हिन्दू—बौद्ध—मुस्लिम—ख्रिस्ती किसी में भी पाए जा सकते हैं। आप देखेंगे कि इन ३५ गुणों में एक भी बात जैन धर्म की अभी तक नहीं आई है। न तो पूजा—पाठ की या न ही आर्यबिल—उपवास की, या न ही सामायिक—प्रतिक्रमण की, या न ही किसी भी प्रकार के व्रत—पचक्खाण की। किसी भी प्रकार की एक भी जैन धर्म का ओप लगे, या ओप लगा हुआ दिखाई दे ऐसी बात ही नहीं

आई है। यह व्रत—नियम—पञ्चक्खाण आदि की बातें तो सर्वोच्च कक्षा की सर्वश्रेष्ठ धर्म की सर्वोत्तम बातें हैं। परन्तु इनकी शोभा बढ़ाने के लिए इस विशेषता को लाने के लिए ... मन्द मिथ्यात्व की स्थिति में मार्गानुसारी के ३५ गुणों का होना आवश्यक है। इससे पात्रता—योग्यता बढ़ती है। ये ३५ गुण एक सामान्य सज्जन—शिष्ट—सभ्य पुरुष के लिए होने शोभास्पद हैं। पूरे आवश्यक हैं। जिनके होने से आगे का लोकोत्तर भी शोभायमान होता है। लोकोत्तर धर्म को स्थिर रूप से स्थायी होने के लिए आधारभूत विशेषता है।

मार्गानुसारी के इन ३५ गुणों की भूमिका न बनने पर भी यदि आगे का लोकोत्तर कक्षा का जैन धर्म मिल भी जाय तो वह इतनी शोभा नहीं देता है। आगे भविष्य में जैन धर्म की भी निंदा—बदनामी होने की पूरी संभावना है। मान लो कि यदि ... व्यक्ति में न्याय—नीतिमत्ता, सज्जनता ही नहीं है, और कल वह व्रत—पञ्चक्खाण लेकर जैन धर्म पालता है तो बदनामी के खतरे ज्यादा रहते हैं। अतः ये मार्गानुसारी के ३५ गुण जो व्यवहारिक हैं, लौकिक कक्षा के हैं, ये आधारशिला समान हैं। इनसे पात्रता—योग्यता निर्माण करनी चाहिए। ताकि भविष्य में स्वीकार किये गए जैन धर्म के १२ व्रतादि अच्छी तरह पल सकें। ये मार्गानुसारी के ३५ गुणों की प्राप्ति तो प्रथम मिथ्यात्व के गुणस्थान पर मिथ्यात्व की मन्दता के कारण है। जबकि जैन धर्म की प्राप्ति तो चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान पर पहुँचने के बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद से प्रारंभ होती है।



इस क्रम में देखिए— सर्वप्रथम प्राथमिक कक्षा में जीव दुर्जन की भूमिका में पड़ा हुआ है। उसकी दुर्जनता कम होने पर सामान्य जन के रूप में गिना जाता है। “जनता”। ऐसे सामान्य जनों का समूह जो है उसे जनता की संज्ञा दी जाती है। जब मिथ्यात्व की मन्दता के कारण मार्गानुसारी के कुछ गुण व्यवहारिक रूप से भी आचरण में आने लगते हैं तब वह सज्जन बनता है। ऐसी सज्जनता की कक्षा में से एक कदम और जब आगे बढ़ता है तब वह महाजन बनता है। महाजन एक न्यायाधीश के समान पूर्ण न्याय—नीतिमत्तावाला होता है। मार्गानुसारी के सभी ३५ गुण महाजन में दिखाई देते हैं। आगे के सोपानों पर चढ़ता हुआ एक कदम और जब आगे बढ़ता है तब वह परमोत्तम जन बनता है। सबसे ऊँची कक्षा का.... परम उत्कृष्ट कक्षा का जन बनता है। यहाँ तक मिथ्यात्व जिस तरह मन्द—मन्दतर—मन्दतम होता गया वैसे वैसे वह एक—एक कदम आगे बढ़ता गया। यहाँ तक पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की ही स्थिति है। ऐसी पूर्वभूमिका मिथ्यात्वी बना सकता है। अतः मिथ्यात्व को भी गुणस्थान का दर्जा दिया गया है। कुछ तो सामान्य गुणों को लेकर ही बैठा है। विशिष्ट कक्षा के विशेष की बात तो बाद में है। सज्जनता या महाजनपद प्राप्त करना बहुत आसान है लेकिन “जैनत्वपना” प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसकी प्रक्रिया समझने की दिशा में ही हम आगे बढ़ते हैं।

### मार्गाभिमुख—मार्गपतित—मार्गानुसारी भाव—

शास्त्रकार महर्षि पू. हरिभद्रसूरि म., धर्मसंग्रह के कर्ता मानविजय म., आदि महापुरुषों ने योगदृष्टि समुच्चयादि ग्रन्थों में . . . अपुनर्बन्धक अवस्था में ही “आदि—धार्मिक” अवस्था बताई है। उग्र कषायों की वृत्ति शान्त होकर मिथ्यात्व तथा कषाय सर्वथा मन्द होने के कारण अब चरमावर्तवर्ती जीव पुनः ७० कोडाकोडी सागरोपम की मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधता है। अतः अपुनर्बन्धक कहलाता है। उसी अवस्था में वह जीव आदिधार्मिक कहा जाता है। जैसे ३—४ साल के बच्चे को सर्वप्रथम स्कूल में प्रविष्ट किया जाता है। अभी वह बच्चा सर्वप्रथम पाटी—पेन हाथ में पकड़ना भी नहीं जानता है फिर भी कुछ लिखने की तमन्ना है। वह पाटी पर पेन से कुछ भी घसीट देता है। न तो कुछ अक्षर का आकार बना है और न ही कुछ उसे अक्षर बोध होता है ऐसी अवस्था को भी सामान्य से ओघसंज्ञा से बच्चा स्कूल में पढ़ रहा है। स्कूल में है ऐसा ही भाषा का व्यवहार करते हैं।

ठीक इसी तरह मिथ्यात्व की मन्दता के कारण अपुनर्बन्धक अवस्था में जीव आदि धार्मिक बन जाता है। आदि का अर्थ है पाटी—पेन पकड़नेवाले छोटे से बच्चे के जैसा आदि—प्रारंभिक काल—शुरुआत का समय। ऐसा आदिधार्मिक मात्र जैन ही हो सकता है ऐसी कोई बात ही नहीं है। किसी भी धर्म का कोई भी हो सकता है। जो जिस धर्म में है... पला है उस पर उस धर्म के संस्कारों का सिंचन रहेगा। अतः वैसे संस्कारोंवाला वह उस धर्म का धर्मो गिना जा सकता है। बौद्धधर्मो उसे “बोधिसत्व”वाला कहते हैं। अन्य दर्शनवाले “शिष्ट” कहते हैं। सांख्य दर्शनवाले उसे “निवृत्तप्रकृत्यधिकार” कहते हैं। उसे ही जैन शास्त्रों में अपुनर्बन्धक आदि धार्मिक कहा है। अन्यधर्मियों पर उनके संस्कार होंगे। परन्तु जो जीव जैनधर्म में जन्म लेकर जैन के संस्कारों से सुवासित हुआ है उस कक्षा के आदिधार्मिक के बारे में ललितविस्तरा ग्रन्थ में पू. हरिभद्रसूरि म. तो क्रमशः उसके विकास के संस्कारों से ओतप्रोत कई प्रकार के लक्षण दिखाते हैं— १) पापमित्रों का त्यागी होना चाहिए। २) कल्याण मित्रों का संगी। ३) औचित्य सेवी, ४) लोकाचार का अनुसरण करनेवाले, ५) माता—पिता—गुरु आदि का सन्मान करनेवाला, उनकी आज्ञा पालन वाला, ६) वादरुचि, ७) जिनपूजाभक्तिकारक, ८) साधु—कुसाधु का विवेकी, ९) शास्त्रश्रवण की रुचिवाला, १०) प्रयत्नपूर्वक शास्त्रचिन्तन करनेवाला, ११) यथासंभव शास्त्रानुसारी वर्तन भी करता हो, १२) धैर्यवान्, १३) भावि परिणाम का विचारके दीर्घदर्शी, १४) मृत्यु को समक्ष रखकर परलोकहितार्थ कुछ करनेवाला, १५) गुरुजनसेवाकारी, १६) जाप—दर्शन—ध्यानादि करनेवाला, १७) योगादि की साधनारुचि, १८) ज्ञानादि योग सिद्धि में तत्पर, १९) जिनप्रतिमा भजनेवाला, २०) जिनागम लिखानेवाला, २१) नवकार मंत्र का जापादि करनेवाला, २२) चउसरण अंगीकारकारक, २३) दुष्कृतगर्हा, सुकृत अनुमोदनाकारक, २४) अधिष्ठायकादि देव देवियों की पूजा—भक्तिकारक, २५) सदाचार श्रवणकारक, २६) उदार गुणधारक, २७) उत्तमपुरुषों के आचारों का अनुसरण करनेवाला इत्यादि कई लक्षण बताए हैं। ऐसे लक्षणों से युक्त जैन परंपरा के संस्कारों से सिंचित इस प्रकार की वृत्ति—प्रवृत्तिवाला जीव अपुनर्बन्धक—आदिधार्मिक कहलाता है।

चरमावर्तवर्ती जीवों को शुक्लपाक्षिक कहा है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट बंधस्थिति का जो गाढतम अंधकार रूप कृष्णपक्ष दूर हो गया है अतः शुक्लपाक्षिक जीव कहलाता है। और अनेक गुणों के उदय से गुणों का प्रकाश कुछ प्रगटाकर शुक्लपाक्षिक की कक्षा प्राप्त की है। ऐसे आदिधार्मिक जीव की प्रवृत्तियाँ अधिकांश उत्तम होती है। पूर्वकाल की तुलना में ज्यादा उत्तम कही जाती है। हाँ, ठीक है कुछ अनुचित विचित्र प्रवृत्तियाँ भी

होगी, परन्तु वे उस प्रकारकी तीव्रतावाली नहीं होगी... जैसी पूर्वकाल में थी। अतः पुनः मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थिति कराने जैसी नहीं होगी।

आज दिन तक संसार की ८४ लाख जीवयोनियों में परिभ्रमण के काल में उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ कर्म की अनन्तबार जीव बांध चुका है वैसी अब चरमावर्त में आकर अपुनर्बंधक बनकर दुंबारा कभी भी नहीं बांधेगा ऐसा आदिधार्मिक बना है जीव। अपुनर्बंधक भाव में भी जैसे जैसे मनःसंक्लेश के भाव घटते जाएंगे वैसे वैसे उच्च—उच्च प्रकार की कक्षा प्राप्त होती ही जाएगी।

जैसे साँप सदा वक्रगति से टेढ़ा—मेढ़ा ही चलता है लेकिन अपने बिल में प्रवेश करते समय तो सीधा होकर ही प्रवेश करता है, उसी तरह मन जो हमेशा टेढ़ा—मेढ़ा वक्र चाल ही चलता है मोहनीय कर्म के कारण... अब चरमावर्त में प्रवेश रूप बिल में प्रवेश करके सीधा सरल हो जाता है। याद रखना मिथ्यात्व का घर माया है। जब तक माया कषाय की तीव्रता है तब तक जीव में सीधी सरलता नहीं आती है। और जब चित्त की वैसी सीधी—सरल स्थिति बन जाती है जो कर्म के क्षयोपशम से बनी है सरलता के कारण सीधे बने जीव में उत्तरोत्तर अनेक गुणों की वृद्धि का जो स्वरूप है उसे यहाँ मार्ग कहा है। और ऐसे मार्ग के अभिमुख—सन्मुख जो हुआ है वह मार्गाभिमुख कहलाता है। ऐसे क्षयोपशमरूप मार्ग में प्रवेश करने की योग्यतावाला जीव... मार्गाभिमुख कहलाता है। ऐसे क्षयोपशमभाव की जिसमें शुरुआत हो चुकी है ऐसा उत्तरोत्तर गुणवृद्धिवाला जीव मार्गपतित—मार्गपर चलनेवाला कहा जाता है। इस तरह क्षयोपशम बढ़ते बढ़ते जिस जीव में अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण समाप्त होने की तैयारी हो उस जीव को मार्गानुसारी कहा है।

ललितविस्तारा ग्रन्थ के आधार पर अपुनर्बंधक जीव मार्गानुसारी है। इसलिए उसकी ही प्रवृत्ति उत्तम है। वही आदिधार्मिक है। अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण में प्रवर्तमान जीव को मार्गानुसारी कहा है। वही विभिन्न अवस्थाओं में मार्गाभिमुख, मार्गपतित, मार्गानुसारी आदि धार्मिक—अपुनर्बंधक कहा जाता है। श्री धर्मसंग्रह ग्रन्थ के आधारपर चरमावर्तकालवर्ती जीव प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान की विकासयात्रा को क्रमशः चार नाम अवस्थानुसार इस तरह दिये जा सकते हैं।

- १) अपुनर्बंधकभाव— पुनः ७० कोडा कोडी सागरोपम की मिथ्यात्व—  
मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति न बांधने वाला।

- २) मार्गाभिमुखभाव— पूर्वोक्त क्षयोपशमरूप मार्ग के सम्मुख जाना
- ३) मार्गपतितभाव— पूर्वोक्त क्षयोपशमवाला—गुणवृद्धिवाला जीव
- ४) मार्गानुसारी जीव— अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण में प्रवर्तमान जीव ।

इन सब आदिधार्मिक जीवों में मिथ्यात्वभाव होते हुए भी “माध्यस्थ्य” इतना सुंदर पडा हुआ है कि जिसके कारण जीव को धर्मदिशना का अधिकारी कहा है । धर्मदिशना के लिए सर्वथा अयोग्य तो मिथ्यात्वी है ऐसे जीव कदाग्रह—दुराग्रहग्रस्त होते हैं ।

मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान में भी योग की दृष्टि प्रगट होती है । अतः वह दृष्टि उनके लिए भी गुणप्रापक बनती है । अतः उनमें भी सत्यान्वेषक बुद्धि तथा तटस्थ—निष्पक्षपात का भाव होता है । चाहे वह जैन हो या अजैन कुलोत्पन्न हो । जैसे गन्ने का रस कितना मीठा होता है, उसे भी उबाल कर आधा ही रखा जाय तो मीठेपन की मात्रा और दुगुनी हो जाती है, और ज्यादा उबाल—उबालकर पाव भाग ही मात्र रखा हो तो मीठापन चौगुना बन जाता है और .... अन्त में गुड ही बना दिया जाय तो मीठापन कितना गुना ज्यादा बढ़ जाता है । ठीक उसी तरह योगदृष्टियाँ आठ हैं । उत्तरोत्तर गुणवाली— मित्रा, तारा, बला, दीप्रा इन चार प्रकार की योगदृष्टियाँ क्रमशः प्रगट होती हैं । (जिनका वर्णन पहले किया है) अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव भी मिथ्यात्व की मन्दता के कारण प्रगटे हुए माध्यस्थ्यवृत्ति तत्त्वजिज्ञासादि गुणों के कारण धर्मश्रवण के लिए योग्य गिना जाता है । फिर उससे भी ज्यादा विशेष गुणवान ऐसा दुराग्रहरहित जीव तो विशेष योग्य पात्र गिना जाएगा । आदि धार्मिक जीव उनके मंद मिथ्यात्व के प्रगट हुए उनके कितने गुणों के कारण धर्मदिशनादि श्रवणार्थ योग्यता—पात्रता प्राप्त करता है ।

मार्गाभिमुख और मार्गपतित ये दोनों अवस्थाएं अपुनर्बन्धक भाव आने के पश्चात् ही आती हैं । यह एक मत है । दूसरे मत में पहले भी बताई गई है । योगबिन्दु—पंचसूत्र—पंचाशक में सामान्य दो मत के विचार दिखाई देते हैं ।

**धर्म का बाल्य एवं यौवन काल—**

अचरमो परिअट्टेसुं, कालो भवबालकालमो भणिओ ।  
 चरमो अ धम्मजुवण, कालो तह चित्तभेओत्तिं ॥  
 ता बीअपुव्वकालो, पेओ भवबालकाल एवेह ।  
 इयरो उ धम्मजुवण—कालो विहिर्लिंगगमुत्ति ॥

“श्रीविशिका” ग्रन्थ की चरमावर्तविशिका के उपरोक्त श्लोकों में कह रहे हैं कि—अचरमपुद्गल परावर्त जो अनन्त काल भवभ्रमण का = संसार का कारण होने से संसारवर्धक बाल्यकाल कहा है। जब तक योगबीजों की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक के काल को बाल्यकाल कहा जाता है। तथा योगबीज की प्राप्ति के बाद के काल को धर्म का यौवनकाल कहा जाता है। अर्थात् अब अचरम काल से जीव चरम पुद्गल परावर्त काल में प्रवेश पा जाता है। वह धर्मसाधना का काल होने से उसको धर्म का यौवनकाल कहा जाता है। जीवों का भव्यत्व यहाँ पर काल—कर्म—भवितव्यतादि भिन्न—भिन्न कारणों के योग से तथाभव्यत्व रूप बनता है। इसी कारण की विचित्रता होने से जीवों के लिए मोक्षप्राप्ति हेतु चरमावर्तकाल भी भिन्न—भिन्न प्रकार का होता है। अतः चरमावर्त में भी धर्म बीज—योग बीज की प्राप्ति के पहले के काल को बाल्यकाल या संसार काल ही समझना चाहिए और धर्मबीज—योगबीज की प्राप्ति के काल के पश्चात् के काल को धर्म का यौवनकाल समझना चाहिए। ऐसा भेद ऐसे जीव विशेषों के आचार और स्वभाव पर से समझ में आता है।

अपुनर्बन्धक और इससे ऊपर के सम्यग् दृष्टि आत्माओं को अध्यात्म योग की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इसके लिए आवश्यक ऐसी योग की पूर्व सेवा का अभ्यास करना जरूरी है। योग की पूर्व सेवा के रूप में ४ हेतु मुख्य हैं— १) देव, गुरु आदि का पूजन, २) सदाचार, ३) तप, ४) और मुक्ति के प्रति अद्वेष।

१) गुरुवन्दन—पूजन—शुश्रूषा— मातापिता प्रथम गुरु हैं। विद्यादाता शिक्षक गुरु हैं। तथा धर्मगुरु धर्म प्राप्त करानेवाले हैं। इनको वंदन, त्रिकाल—तीनों काल वंदन, नमस्कार, उनकी सेवा—शुश्रूषा करनी चाहिए। उनकी निंदा—टीका कभी नहीं करनी चाहिए। आहार—दानादि विशेष रूप से उनकी भत्ती करनी चाहिए। इस तरह अनेक तरीकों से उनकी सेवा—शुश्रूषा—भक्ति—आज्ञापालन—धर्मवचनश्रवणादि करना चाहिए।

२) देवदर्शन—पूजन— अपने आराध्य देव उपास्य वीतरागी तीर्थंकर परमात्मा के नित्य त्रिकाल दर्शन—पूजन करना चाहिए। आदरभाव—पूज्यभावपूर्वक—देवाधिदेव की नित्य पूजाभक्ति विशेष रूप से करनी चाहिए। प्रभु की गुणस्तुति आदि विशेष करनी चाहिए। आदि पद से आचार्य—उपाध्याय—साधु—भगवंत—व्रतधारी सुश्रावक वर्ग आदि सब की बहुमान—सन्मानपूर्वक भक्ति करनी चाहिए। सदाचार—संसार के लोक व्यवहार में दीन—हीन पर उपकार करना चाहिए। लोकनिंदा का भय रखना,

सर्वनिंदात्याग—कृतज्ञता दाक्षिण्य, सदाचारी की प्रशंसा, संपत्ति में भी उचित वर्तन—व्यवहार अवसरोचित हित—मितभाषा प्रयोग, कुलाचार से विरुद्ध वर्तन का अभाव, वचनपालन, व्रतचुस्तता, अयोग्य धन व्यय न करना, प्रमाद का त्याग करना, लोक विरुद्ध—लोकनिंद्य कार्य का त्याग करना, प्रामाणिकपना दिखाना, अकार्य—अयोग्य कार्य का त्याग करना, नम्रतादि गुणों का गुणपूर्वक वर्तन—व्यवहार इत्यादि अनेक प्रकार के सुयोग्य वर्तन करने से सदाचारी कहा जाएगा ।

३) तप— सुयोग्य तप करना चाहिए । तपश्चर्या में भूतकाल के अनेक महापुरुषों के साथ जुड़ी हुई घटनाओं आदि के साथ जुड़ी हुई नामावली आदि से तप के अनेक प्रकार होते हैं । विविध तप के प्रकारों का आदरभावपूर्वक आराधन करना । उसमें विशेष रूप से ऐहिक सुखों की आकांक्षा रखे बिना नवकार महामंत्र आदि का विशेष सद्भावपूर्वक आराधन करना ।

४) मुक्ति अद्वेष— भवाभिनंदी जीवों को संसार की तीव्र आशंसा—आसक्ती होने से, संसार के सुखों की तीव्र लालसा रहने से मुक्ति के प्रति पूरा द्वेष रहता है । इसी कारण ऐसे जीवों की तप—जप—पूजादि धर्मक्रिया संसार की वृद्धि करानेवाली बन जाती है । मुक्ति का सर्वथा भाव या राग तो दूर रहा लेकिन मुक्ति पदार्थ का अद्वेष भी तप—जप—पूजादि क्रिया के धर्मानुष्ठानों की सफलता में सहयोगी बनता है । परन्तु तप—जप—पूजादि सद् अनुष्ठानों का तीव्र भाव—राग होना जरूरी है । इतना भी मुक्ति के प्रति अद्वेष, और तपादि के प्रति रागादि का भाव अभवी जीव को कभी भी नहीं आता है । अतः अभवी जीव तप—जपादि सब धर्मानुष्ठान करें तो भी वे संसारवर्धक ही बनते हैं ।

**योगबीज—**

योग की पूर्व सेवा से योग बीजों का स्पष्ट वपन होता है । पू. हरिभद्रसूरि जी महाराज ने ललित विस्तार ग्रंथ में योग के बीजों के बारे में काफी सुंदर वर्णन किया है । योगदृष्टि समुच्चय में—

जिनेशु कुशलं चित्तं, तन्नमस्कार एव च ।

प्रणामादि च संशुद्धं, योगबीजमुत्तमम् ॥ २३, ... ३२ ॥



१) जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति में पूरी तरह से मन लगाना। उन्हें नमस्कार—प्रणामादि शुद्ध—कुशल मन से करना यह सबसे उत्तम योग—बीज है। यहाँ पर कुशल मन, संशुद्ध आदि का जो प्रयोग ग्रंथकर्ता ने किया है उससे वे स्पष्ट करना चाहते हैं कि . . . आहारादि संज्ञाओं की अपेक्षारहित, क्रोधादि संज्ञाओं से भी रहित, तथा इहलोक—परलोक की आकांक्षारहित शुद्ध मानसिकी प्रीतिपूर्वक के कुशल चित्त से जिनेश्वर प्रभु को नमस्कार—प्रणाम—दर्शन—पूजनादि करना योग का उत्तम बीज है। आचार्य—उपाध्याय—साधु भगवन्तादि के प्रति भी कुशल चित्तपूर्वक की सेवा—शुश्रूषा—भक्ति आदि रखना। इस तरह ६ श्लोकों में और कई योगबीज के साधन बताए हैं। द्रव्य अभिग्रहों का रुचिपूर्ण पालन, सिद्धान्त—शास्त्रभक्ति, शास्त्रपूजा, जिनवाणी श्रवण, शास्त्रार्पण, वांचन, विधिपूर्वक ज्ञानप्राप्ति, स्वाध्यायदि करना, अर्थचिन्तन, भावनाओं का चिन्तन, दीन—दुःखी, अनाथों के प्रति यथासंभव दुःखनिवारक उपायों का करना, दया दान करना, अनुकम्पाभाव, गुणवान महापुरुषों के प्रति मात्सर्यवृत्ति का त्याग, औचित्य का पूर्ण पालन करना, इत्यादि अनेक प्रकार की ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप उत्तम योगों की प्राप्ति के लिए आधारभूत योग के बीज हैं।

जिस तरह सुयोग्य भूमि में बोए गए बीज अंकुरित होते हैं ठीक उसी तरह योग के उपरोक्त बीज अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त ऐसे आदिधार्मिक जीवों में अच्छी तरह अंकुरित होते हैं, बढ़ते हैं। धर्म की निर्मल अनुमोदना—प्रशंसा करना यह धर्मबीज—योगबीज के बोने जैसा काम है। उन धर्मों की प्राप्ति करने की चिन्ता करना ये बीज के अंकुरित होने के समान है। धर्मकथा का श्रवण करना यह बीज से बढे हुए कंद के समान है। धर्माचरण करना यह पुष्प की दंडी के समान है। और अन्त में सर्व कर्म की निवृत्ति यह फल समान है।

उपदेश पद ग्रन्थ की २२४ वीं गाथा में कहा है कि अच्छी बारिश होने पर भी बीज बोए बिना अनाज होता नहीं है। इसी तरह “जिनेषु कुशलं चिते” इत्यादि योगबीज बोए बिना तीर्थंकर परमात्माओं की उपस्थिति में भी आत्मा में धर्मवृक्ष कभी भी नहीं उग सकता है। योगदृष्टिसमुच्चय में कहते हैं कि— योगबीज बोने के बाद मुक्तिपद की अवश्य प्राप्ति होती ही है, क्योंकि उपरोक्त योगबीज वन्ध्याबीज नहीं है। ये अवश्य फलद्रूप बीज है। योगबीज के बारे में पू. देवचन्द्रजी म. फरमाते हैं कि— “बाधक परिणति सवि टले, साधक

सिद्धि कहाय रे”... जगतारक प्रभु विनवुं “अर्थात् योगबीज प्राप्त होने के पश्चात् बाधक भाव सब दूर हो जाते हैं और साधक भावों का प्रसार होने लगता है। इन योगबीजों में सर्वप्रथम बीज के रूप में “श्री वीतराग परमात्मा की भक्ति” बताकर सर्वोत्कृष्ट विशेषता सूचित की है। उसमें भी प्राथमिक अवस्था में द्रव्यभक्ति की प्राधान्यता रहती है। भाव भक्ति यहाँ गौण रहती है।

बीज कथा का प्रेम—शुद्ध श्रद्धा—योग के बीजों की कथा सुनते ही अत्यन्त उत्तलसित मन हो जाय, उत्साह बढ़े, सत्य है ऐसी श्रद्धा जगे, यह भी योगबीज है। इसीलिए योगबीजवाले योगी जब जब तत्त्व श्रवण करते हैं तब तब उनको आनन्द आता है। रोम—रोम खड़े हो जाते हैं। अंतरात्मा झूम उठती है। आ... हा... कितने अद्भुत अनोखे तत्त्व हैं... वाह.... वाह.... सर्वज्ञ प्रभु ने कितनी ऊँची महत्व की सही बात कही है। यद्यपि यहाँ सम्यग् दर्शन के घर की रुचि नहीं है परन्तु इस रुचि को खींच लावे ऐसी “तत्त्वरुचि” जरूर है। बीजकथा सुनते ही योग के वे बीज अत्यन्त उपादेय-आचरने योग्य लगे, रुचि जगे, उसपर आदर सद्भाव जगना चाहिए।

### श्रेष्ठ सम्यक्त्व की प्राप्ति के ५ कारण—

विशिष्ट सम्यक्त्व की प्राप्तिरूप जो बोधिलाभ उसकी प्राप्ति के लिए १) तथाभव्यत्व, २) काल, ३) नियति (भवितव्यता), ४) कर्म, और ५) पुरुषार्थ इन पाँच भावों का योग होने से संभावना बढ़ती है।

### १) तथाभव्यत्व—

योग्यता चेह विज्ञेया, बीजसिद्ध्यापेक्षया।

आत्मनः सहजा चित्रा, तथाभव्यत्वमित्यतः ॥ २७८ योगबिन्दु ॥

आत्मा का मोक्षगमन योग्य जो सहज स्वभाव उसे भव्यपना कहते हैं। जैसे एक बीज में वृक्ष बनने की पूरी योग्यता पड़ी हुई है। मात्र सहयोगी सभी कारणों की प्राप्ति होनी चाहिए। हवा—पानी—प्रकाश—जमीन—खादादि सहयोगी के मिलते बीज एक दिन—विराट वृक्ष बनता है। ठीक उसी तरह योग्य तथाप्रकार की मोक्षगमनयोग्य योग्यता—भव्यता—युक्त जीव को सहयोगी कारणों की अनुकूलतारूप देव—गुरु—धर्मादि

की प्राप्ति होने पर वह भी विराट वृक्ष की तरह मुक्ति फल को प्राप्त कर सकता है। आत्मा का विशिष्ट प्रकार का अकृत्रिम स्वभावविशेष ही तथाभव्यत्व कहलाता है। भव्यत्व अर्थात् आत्मा में रही हुई मोक्षप्राप्ति की स्वाभाविक योग्यता। यह आत्मा का मूलभूत सहज तत्त्व है, अतः यह अनतिकालीन है। भव्यत्व को जब काल—नियति—पूर्वकृत कर्म, और पुरुषार्थ आदि सहयोगियों का योग मिल जाने पर भव्यत्व के बदले तथाभव्यत्व कहा जाता है। इन कालादि सहयोगी कारणों के कारण जीव में पूर्वोक्त धर्मबीजों की सिद्धि होती है। इन धर्मबीजों की प्राप्ति से कालादि सहकारी कारणों की विचित्रता के कारण मूलभूत भव्यत्व की अनेक कक्षाएं बन जाती हैं। इस तरह सभी भव्यों के साथ होता है। जैसे किसी जीव को किस प्रकार के कालादि सहयोगियों का साथ मिलता है, और किसी जीव को किस प्रकार के कालादि सहयोगियों का साथ मिलता है, उनमें तरतमता भेद के आधार पर तथाभव्यत्व की अनेक प्रकार की कक्षाएं बनती हैं। अतः इन कालादि सहयोगियों की योग्यायोग्य न्यूनाधिक प्राप्ति के आधार पर भव्यत्व भी भिन्न—भिन्न अनेक प्रकार का बनता है। इसीलिए उसे तथाभव्यत्व कहा जाता है। जिस तरह एक ही प्रकार के दूध में शक्कर—बादाम—पिस्ता—इलायची आदि कई प्रकार के मसाले—औषधियाँ आदि कम—ज्यादा प्रमाण में मिलने से उस दूध के स्वाद, पोषक तत्त्व, शक्ति आदि में कई भेद पड़ते हैं, इस भेद के कारण वह दूध अनेक प्रकार का गिना जाता है, ठीक उसी तरह भव्यजीव के भव्यत्व में भिन्न—भिन्न प्रकार के कालादि सहयोगी कारण न्यूनाधिक योग्यायोग्य प्रमाण में मिलने से अलग—अलग जीवों के आधार पर .... मोक्षप्राप्तिरूप कार्यसिद्धि में योग्यतारूप भव्यत्व भी भिन्न—भिन्न प्रकार का बनता है। वही एकसमान, एकरूप न होने से “तथाभव्यत्व” कहा जाता है। अतः भव्यत्व सभी मोक्षगामी जीवों का एक जैसा—एक समान होते हुए भी तथाभव्यत्व सबका भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। जैसे कोठार में पड़े हुए सभी धान्य एक जैसे ही होते हुए भी सब में उगने की योग्यता भी समान रूप से पड़ी हुई होते हुए भी हवा—पानी—जमीन—खाद—प्रकाशादि सहयोगिकारणों की जब प्राप्ति होगी ... जितने प्रमाण में प्राप्ति होगी, तब उतने प्रमाण में वैसे उगेंगे। सभी धान्यों को एक साथ आज ही पानी आदि सभी सहयोगी कारणों की प्राप्ति होने की संभवना हो या न भी हो, या प्रत्येक ४—६ महीने के बाद हो, या १—२ वर्ष के अन्तराल में हो, या एक धान्यबीज वर्षाऋतु में बोया गया जिसको पानी आदि सब पर्याप्त मात्रा में मिला और दूसरे को ग्रीष्मऋतु में बोया गया और उसको अनुकूल सहयोगिकारण पानी आदि पर्याप्त न मिला परन्तु प्रतिकूल तेज घृषादि के कारण ज्यादा

तीव्र रूप में मिलने पर इस ग्रीष्मऋतु के धान्यबीज वर्षाऋतु के धान्य बीजों के जैसे नहीं उग पाए। अतः वर्षाऋतु के धान्यबीजों का तथाभव्यत्व, ग्रीष्मऋतु के धान्यबीजों के तथाभव्यत्व से सर्वथा भिन्न प्रकार का होगा। ठीक इसी तरह मोक्षगामी सभी भव्य जीवों का तथाभव्यत्व भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। किसी जीवविशेष को तीर्थकर परमात्मा का योग, समवसरण में देशना श्रवण करने का अवसरादि रूप सहयोग प्राप्त होगा और किसी जीव को गुरुओं का योग प्राप्त होता है। और किसी जीव के अनार्यभूमि में रहने के कारण देव—गुरु का कोई योग प्राप्त नहीं होता है, किसी जीव को ४ थे आरे का योग प्राप्त होता है जब स्वयं तीर्थकर परमात्मा विद्यमान होते हैं, और किसी जीव को पाँचवे आरे का योग प्राप्त होता है, जब तीर्थकरादि का योग सर्वथा प्राप्त ही नहीं होता है, और किसी जीव को छठे आरे का योग प्राप्त होता है जब किसी भी प्रकार के धर्मादि की कोई संभावना ही नहीं रहती है। इस तरह के कालादि सहयोगी कारणों की प्राप्ति की सानुकूलता—प्रतिकूलतादि, तथा न्यूनाधिकतादि, योग्यायोग्यता की प्राप्ति के आधार पर जीवों के तथाभव्यत्व की परिपक्वता में तरतमता रूप भेद अवश्य दिखाई देता है।

जिस तरह से खिचड़ी का तपेला, छाणे की अग्नि पर रखा जाय या कोयले की अग्नि पर रखा जाय, या गेस की अग्नि पर रखा जाय, या तेज स्टव की अग्नि पर रखा जाय, उस अग्नि के प्रमाण, तीव्रता, मन्दता के आधार पर खिचड़ी बनने में कम—ज्यादा समय लगेगा। ठीक उसी तरह भव्य जीवों की भव्यता एकसमान एकरूप होते हुए भी तथाभव्यत्व सभी जीवों का भिन्न—भिन्न सहयोगी कारणों की प्राप्ति के आधार पर होता है। इसलिए तथाभव्यत्व “परिपक्व” करने का कहा गया है, परिपक्व करने का सीधा अर्थ है सहयोगी कारणों की प्राप्ति पर वैसा बनाना। तैयार करना—परिपक्व करना कहलाता है।

जीवात्मा अनादि काल से अनन्त काल तक जिन—जिन जीवन क्रमों में से पसार होती है वे आत्मा की तथाभव्यता है। सभी जीवों की तथाभव्यता भिन्न—भिन्न होने के कारण सभी भिन्न—भिन्न विशेषता तथा व्यक्तित्व संभवित होता है। यदि ऐसा न मानें तो सभी जीवों की एक ही साथ एक ही प्रकार की परिस्थिति होती। लेकिन वैसी नहीं होती है अतः सभी की तथाभव्यता भिन्न—भिन्न प्रकार की होती है। सभी भव्यात्माओं में गुणों आदि की समानता एकरूप एक समान होने पर भी अपनी अपनी विशेषताएं भिन्न—भिन्न होती हैं। ये सभी व्यक्तिगत विशेषताएं अपनी स्वतंत्र तथाभव्यतारूप होती हैं। उदा तीर्थकरपने का गुण सभी तीर्थकर भगवंतों में सर्वसामान्यरूप से एकसमान होने पर भी

कोई तीर्थकर किसी कालादि के संयोग विशेष में ही तीर्थकर बनते हैं। सिद्ध भी बनते हैं। जबकि दूसरे तीर्थकर अन्य काल—क्षेत्रादि में निश्चित समय में ही होते हैं, जैसे भगवान् आदिनाथ तीसरे आरे में ५०० धनुष्य की कायावाले और ८४ लाख पूर्व की आयुष्य स्थितिवाले थे। जबकि भगवान् महावीर प्रभु ४ थे आरे के अन्त में ७ हाथ की कायावाले और सिर्फ ७२ वर्ष के ही आयुवाले हुए, तथा सीमंघर स्वामी आदि महाविदेह में हुए। तथा आदिनाथादि कब के पहले ही मोक्ष में जा चुके हैं और सीमंघरस्वामी आदि अभी भी मोक्ष में जाने शेष हैं। किसी तीर्थकर के जीव ने १ पद से तीर्थकर नामकर्म उपार्जन किया और किसी तीर्थकर ने वीशस्थानक के बीसो पदों की आराधना करके तीर्थकर नामकर्म उपार्जन किया। ये सब भिन्न—भिन्न विशेषता द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव आदि कारणों पर आधारित सब की तथाभव्यता भिन्न—भिन्न प्रकार की हैं। यदि सबकी तथाभव्यता भिन्न—भिन्न प्रकार की विशिष्ट न मानों तो सभी जीव एक ही जगह से एक ही साथ एक ही काल मोक्ष में चले जाएंगे ऐसा होगा, लेकिन ऐसा होता नहीं है, यही तथाभव्यता का प्रमाण है। यही सिद्ध करता है कि सभी जीवों की तथाभव्यता भिन्न भिन्न प्रकार की है। इसीलिए सब को आत्मविकास में द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावरूप निमित्त भी अलग—अलग प्राप्त होते हैं। तथाभव्यत्व के स्वाभाविक क्रम से उन उन जीवों को सम्यग् दर्शनादि प्राप्त होता है। इसी प्रकार उन—उन जीवों के तमाम गुण—अपुनर्बन्धकपना, मार्गानुसारिता, सम्यग् दर्शन की प्राप्ति, देशविरति, सर्वविरति, सयोगी केवलीपना, सिद्धत्व आदि भी तथाभव्यता के अनुरार ही प्राप्त होते हैं। किसी किसी जीव की तथाभव्यता ही ऐसी विशिष्ट कक्षा की होती है कि... बाह्य निमित्तों के योग—संयोग के बिना भी गुणादि प्रकट होते हैं। और किसी किसी जीवविशेष की तथाभव्यता ऐसी होती है कि उनको बाह्य निमित्तों के योग—संयोग से ही वैसे सम्यग् दर्शनादि गुण प्रकट होते हैं। जैसे कई रोग बाह्य उपचार आदि से ही मिटते हैं और कई रोग अपने आप ही मिट भी जाते हैं।

## २) काल—

जिस तरह ग्रीष्म ऋतु में ही आम पकते हैं, पतझड़ ऋतु में पत्ते गिरते हैं। वसन्त ऋतु वनस्पतियों पर नए फलादि के आगमन में कारण बनती है। इसी तरह प्रस्तुत प्रकरण के अनुसंधान में भव्यत्वरूप वृक्ष को मोक्षरूपी फलवाला बनानेवाला चरमावर्तकाल सुयोग्य काल है। उसमें भी चरमावर्तकाल में से भी कोई विशिष्ट उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी काल या फिर उसमें भी मोक्षप्राप्ति में उपयोगी ऐसा दुःषम—सुषम के चौथे आरे का काल, विशेष

उपयोगी सिद्ध होता है। जब भव्यत्व के साथ मोक्षगमन योग्य ऐसे सुयोग्य काल का योग मिलता है तब वह “तथाभव्यत्व” होकर मोक्षरूप फल प्रदान करता है।

### ३) नियति या भवितव्यता—

भव्यत्व और काल का योग हो जाने पर भी न्यूनाधिकता के बिना भी नियत प्रवृत्ति करानेवाली “नियति” भवितव्यतारूप तीसरा कारण भी सहयोगी बनकर साथ जुड़ता है। इस भवितव्यता के कालादि योग के साथ मिलकर तथाभव्यतारूप भवितव्यता का जो और जैसा स्वरूप हो उसके अनुरूप ही उस आत्मा का प्रयत्न विशेष होगा और उसी से उस आत्मा का मोक्षगमन होगा।

### ४) पूर्वकृत कर्म—

भूतकाल या पूर्वकाल या पूर्व भवों के उपार्जित जिन कर्मों के रस—स्थिति आदि की अशुभता घटती जाय और जिन कर्मों के उदय से शुभ आशय, शुभ अध्यवसायों का अनुभव होता जाय और जिस कर्म को भोगते हुए.... शुभ—कर्म का बंध होता ही जाय वैसा पूर्वकृत कर्म... अर्थात् अशुभ कर्मों की क्षीणता और शुभ कर्मों की वृद्धि हो वैसे कर्मों का योग होता रहे, इससे भी जीव का भव्यत्व तथाभव्यत्व के रूप में परिणत होकर मोक्षफल देता है। इस तरह तथाभव्यत्व की परिपक्वता में पूर्वकृत शुभकर्म का योग भी सहयोगी कारण बनता है।

### ५) पुरुषार्थ—

पाँच समवायि कारणों में पाँचवा कारण पुरुषार्थ है। एकमात्र कर्म के आश्रित होकर ही बैठा नहीं जाता है। पुरुषार्थ का भी विशेष योग बढना ही चाहिए। विशिष्ट प्रकार के पुण्यकर्मवाला, महाशुभ आशयवाला, विशिष्ट तत्त्वों को समझने की शक्तिवाला और श्रवण किये हुए जीवादि नौ तत्त्वों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने में कुशल ऐसा पुरुष(आत्मा)विशेष.... अर्थात् पूर्वोक्त कालादि—कर्मादि चारों प्रकार के समवायिकारणों का योग होने से जिसका शुद्ध स्वरूप कुछ अंश में प्रकट हुआ हो ऐसा पुरुषविशेष से शुद्ध पुरुषार्थ होना संभव है। इस तरह पुरुष अर्थात् ऐसा आत्मा के पुरुषार्थ उद्यम का योग होने से तथाभव्यत्व के परिपाक से मोक्ष संभव बनता है।

इस तरह १) तथाभव्यत्व २) तथाप्रकार का धर्मसाधक काल, ३) तथाप्रकार की मोक्षप्रापक भवितव्यता, ४) अशुभ कर्म का हास और शुभ कर्म की पुष्टिरूप कर्म का योग तथा ५) विशुद्ध पुरुषार्थ ये पाँचों संयुक्त रूप से वरबोधि—श्रेष्ठ सम्यक्त्व की प्राप्ति में कारणभूत है ।

### वरबोधि का स्वरूप और फल—

वरबोधि अर्थात् भवोदधितारक ऐसा श्रेष्ठ सम्यग् दर्शन . . . और उसका लाभ किसे कहते हैं ? . . . जिसमें जीव—अजीव, पुण्य—पाप, आश्रव—संवर, निर्जरा—बंध और मोक्ष, दृष्टादृष्ट पदार्थों का तत्त्वभूत तात्त्विक स्वरूप की स्पष्ट श्रद्धा प्रकट हो उसे वरबोधि का लाभ कहते हैं । अर्थात् वरबोधिलाभ शुद्ध श्रद्धा रूप है । ऐसा उसका स्वरूप है । ऐसी श्रद्धा की प्राप्ति के आधार पर . . . फलस्वरूप में— १) राग—द्वेष के तीव्र परिणामों की मंदता, २) फिर से सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का अबंध, ३) दुर्गति का अभाव, ४) वरबोधि की शुद्धि से आगे देशविरति—सर्वविरति—चारित्र की प्राप्ति, ५) रागादि भावों का क्षय, और ३) अन्त में मोक्ष . . . ये सब वरबोधि के उत्तरोत्तर विशुद्ध फल हैं ।

### धर्मसन्मुखीकरण काल—

ऐसा तथाभव्यत्व परिपक्ववाला जीव चरमावर्त में प्रवेश करके शुद्ध अध्यवसायों की तरफ अग्रसर होता है । जैसे शैशवकाल के बाद . . . किशोरावस्था का काल आता है और उसके पश्चात यौवन काल आता है वैसे ही चरमावर्त में प्रवेश करने के बाद आगे बढ़ते हुए जीव के लिए भी धर्म का यौवनकाल आता है । अब जीव भवाभिनंदिता से ऊपर उठकर मोक्षाभिलाषी बनता है । अब जीव अपनी अनादिकालीन भवाभिनंदिता को छोड़कर . . . ओघदृष्टि से बाहर निकलकर योगदृष्टि में पहुँचता है । प्रथम मित्रा एवं तारा दृष्टि में स्वल्पमात्र बोधज्ञान प्राप्त करता है । धर्मश्रवण करने की उसकी जिज्ञासा जागृत होती है । मन में उद्भूत धर्मश्रवण एवं दुःख निवृत्तिरूप शुभभाव रूप धर्मश्रवण करने की जिज्ञासारूप अभिलाषा के काल को धर्मसन्मुखीकरण काल कहा है । अनादि—अनन्त काल से जो जीव गाढ मिथ्यात्व के उदय में कभी भी धर्मसन्मुख हुआ ही नहीं था सदा ही जो अधर्मसन्मुख ही रहा था अब वह . . . प्रथमबार धर्मसन्मुख बना है । यह उसका इस दिशा में प्रथम सोपान है । अनादि—अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव भवाभिनंदिपने में से बाहर निकलकर मोक्षाभिलाषी प्रथम बार हुआ । जिससे मुक्ति

के लिए, या आत्मा की सर्वोत्कृष्ट शक्ति, या स्वरूप के आविर्भाव के लिए पहले की अपेक्षा परिणामों की वृद्धि—विशुद्धि निर्माण होती है। उससे जीव चरमावर्तकाल में ही “मार्गानुसारी” बनकर गुणों को लाने की कोशिश करता है। यह इच्छा जीव को मार्गसन्मुखी बनाती है। यहाँ मार्ग शब्द का अर्थ धर्म लिया है। वास्तव में जीव पूर्ण धर्मों नहीं बनता है, परन्तु धर्मों बनने की योग्यता पात्रता निर्माण करता है। जो वास्तविक धर्म के लिए भूमिकास्वरूप है। इससे धर्ममार्ग को अनुसरने की योग्यता प्राप्त करता है। यह धर्मसन्मुखीकरण का योग्य काल है।

### यथाप्रवृत्तिकरण—

करण शब्द यहाँ पर आत्मा की शक्ति, लब्धिविशेष अर्थ में है। मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान से जीव जब बाहर निकलकर छलांग लगाकर चौथे गुणस्थान पर पहुँचकर सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब उसे यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण—अनिवृत्तिकरण आदि करणों को करते हुए पसार होना पड़ता है। इन करणों को करना अर्थात् आत्मा को वैसी शक्ति का स्फुरण करते हुए आगे बढ़ना पड़ता है। इन करणों में सर्वप्रथम करण यथाप्रवृत्तिकरण है। यथा + प्रवृत्ति + करण इन तीन शब्दों के संयोजन से एक पूरा शब्द बना है यथाप्रवृत्तिकरण। यथा अर्थात् जैसी प्रवृत्ति अर्थात् क्रियात्मक व्यवहार। अर्थात् भूतकाल—पूर्वकाल में जीव जैसी कर्म क्षय की प्रवृत्ति अकामनिर्जरावश होकर भी करता था, वैसी ही कर्म खपाने की यथार्थप्रवृत्ति—प्रवृत्तिविशेषरूप से करता हुआ कर्मक्षय के लिए आगे बढ़ना इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। अनादि काल से संसार में जीव कर्म बांधता भोगता और खपाता ही रहता है। विशेष रूप से अब कर्मक्षय करने की दिशा में प्रबल शक्ति स्फुरायमान करता हुआ जीव आगे आगे बढ़ता है। परवश—पराधीन होकर .. अनिच्छा होते हुए भी भूख—प्यास—धूप—तेज—गरमी—ठंडी दुःखादि सहन करने पड़ते हैं। उसमें जिन कर्मों की निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा कहलाती है। घोड़े—बैल—हाथी—ऊँट... गाय—भैंसादि जानवर भी अपनी शक्ति के बाहर माल खींचना, गाड़ी को गले में बांधकर दौड़ाना, खेती करना, अपनी शक्ति से काफी ज्यादा माल उठाना, इच्छा न होते हुए भी अपने दूधादि देना इत्यादि अनेक प्रवृत्तियों में मार खाना और भूख—प्यास—धूप—तेज गरमी—ठंडी तथा चाबूकें आदि सहन करना ... इच्छा न होते हुए भी पराधीनतावश, परवशरूप में भी सहन करने आदि निमित्त से कर्मों का कटना, कम होना, क्षय—क्षयोपशम होना यह अकाम निर्जरा कहलाती है। ऐसी अकाम निर्जरा करता



हुआ जीव कई कर्मों की स्थितियाँ कम करता है। यद्यपि यह स्वेच्छा एवं समझपूर्वक नहीं होता है फिर भी कर्मस्थितियाँ घटती हैं।

उदाहरण के लिए समझिए कि... जैसे घूण नामक कीड़ा जो लकड़ों में रहता है और लकड़ा काटता हुआ एक किनारे से दूसरे किनारे तक आता—जाता है, उस समय न जानते, न समझते हुए भी उस लकड़े पर कुछ अक्षरों की आकृतियाँ बन जाती हैं। दीमक जिस तरह लकड़े को काटती हुई—कुतरती हुई आगे बढ़ती है, इसमें कुछ आकृति बन जाती है, जो हमें अक्षररूप भासमान होती है, इसे घूणाक्षर न्याय कहते हैं। घूण—कीड़े को—दीमक को यह खबर नहीं है कि मैं क्या कर रही हूँ? फिर भी अ—इ—उ—ओ आदि अक्षरों की आकृतियाँ बन जाती हैं। ठीक इसी तरह जीव यह नहीं जानता है कि मुझे कर्मनिर्जरा करनी है, फिर भी नासमझ अन्जान में भी जिन कर्मों की अकाम निर्जरा होती है और कर्म बंध की स्थिति घटती है, उसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

### यथाप्रवृत्तिकरण का प्रयोजन—

किसी कपड़े पर घी या तेल आदि का दाग पड़ने के बाद यदि उस पर धूल चिपक जाय तो फिर वह दाग स्पष्ट दिखाई नहीं देता है। परन्तु यदि धूल को दूर की जाय तो दाग दिखने लगता है। इसी तरह आत्मारूपी कपड़े पर राग—द्वेष की निबिड ग्रंथि गांठ रूप दाग लगा हुआ है। यह दाग स्पष्ट रूप से दृष्टि पथ में आए इसके लिए उसको आच्छादित करनेवाली कर्मों की दीर्घ स्थितिरूप कर्मरज (धूल) दूर करनी चाहिए। इस कार्य को करने की शक्ति यथाप्रवृत्तिकरण में है। शुभ अध्यवसाय की सहायता से कर्मस्थिति का लाभव करके आत्मा अन्तस्थ ग्रन्थिस्थान को देख सकती है। इस राग—द्वेष की अनादि की ग्रन्थि का भेदन करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करके आत्मा का विकास करता हुआ जीव ग्रन्थिप्रदेश तक पहुँचे और इस तरह अपनी प्रबल आत्मशक्ति को स्फुरायमान करे यह यथाप्रवृत्तिकरण का प्रयोजन है। यह आगे के कार्यों के लिए कारणरूप है।

### यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया—

जैसे अनाज भरने की कोठी में अनाज भरा हुआ हो... और प्रतिदिन उसमें से अनाज निकालकर उपयोग करते ही रहे, परन्तु उसमें पुनः नए की पूर्ति न की जाय तो एक दिन तो वह कोठी खाली हो ही जाएगी। इसी तरह आत्मारूपी कोठी में अनाजरूपी कर्मों

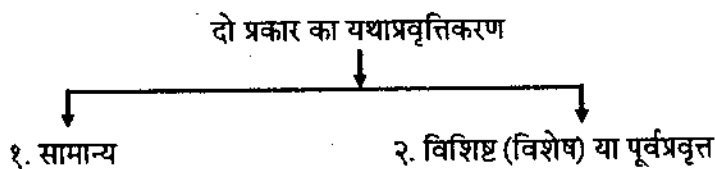
का ढेर भरा पड़ा है। अनाभोग—अकामनिर्जरा द्वारा अधिक मात्रा में कर्मों की निर्जरा करता हुआ खपाता हुआ और प्रमाण में थोड़े नए कर्म भी बांधता हो तो क्या कालान्तर में भी उस राग—द्वेष की निबिड ग्रन्थि का भेदन करने के लिए ग्रन्थि प्रदेश के समीप नहीं आ सकता है? जरूर आ सकता है। क्या ऐसे कर्मों की स्थिति जीव घटा नहीं सकता है? अवश्य घटा सकता है।

इस धान्य के दृष्टान्त से, या घूणाक्षर न्याय के दृष्टान्त की तरह जीव कर्मों की स्थिति—बलादि घटाता है। मिथ्यात्व को मन्द बनाता है। इसमें जो आत्मा का अनाभोग अर्थात् बुद्धिपूर्वक का स्वेच्छा का नहीं ऐसा जो परिणाम कारणरूप है उसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

### नदीगोलपाषाण न्याय का दृष्टान्त—

इसी यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया का स्वरूप समझने के लिए... तीसरा एक और दृष्टान्त शास्त्रकारों ने दिया है जिससे भी यथाप्रवृत्तिकरण अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक पहाड़ी की घाटी में कोई गिरता हुआ झरना... पाषाणशिलाओं पर पड़ता है। शिलाएं टूटती भी हैं, कुछ पत्थरों को प्रवाह का पानी अपने साथ घसीट कर आगे बहाकर ले भी जाता है। आगे नदी अपने तेज प्रवाह के साथ बहती हुई उस पाषाण को घसीटती घसीटती कहाँ से कहाँ ले जाती है। पानी निम्नप्रदेशशायी है। ढलान की नीची दिशा के प्रदेश में प्रवाहरूप से तेज बहते हुए पानी के साथ घसीटा जाता पत्थर घिस—घिसकर गोल भी बन जाता है। छोटा भी बन जाता है। नदी के तट में पड़े हुए ऐसे गोल—मटोल चिकने पत्थर कई बार बड़े ही मनमोहक लगते हैं। इस दृष्टान्त की तरह यह भव्यात्मा भी चार गति रूप संसार चक्र में कर्मसंयोगवशात् घसीटा—धूमता जाता है। एक गति से दूसरी गति, दूसरी से तीसरी गति में जाता जाता ८४ लाख जीव योनियों में दुःख की थपेड़े खाता हुआ घूमता ही रहता है। इतने दुःख, नरक गति की अपार भयंकर वेदना, तिर्य्यच गति के भयंकर दुःख, असहाय दारुण विपाक कर्मों को सहन करता—करता जीव अनाभोग रूप घर्षण द्वारा धर्मप्रवृत्तिरूप योग्य घाट में आता है। यथायोग्य संयोगों के मिलने से कषायों की मंदता के योग से कर्मस्थिति कम करता है। लाघव करता है। जैसे पाषाण गोल बनता है वैसे जीव भी कर्मक्षययोग्य बनता है। और धीरे धीरे चरमावर्त में आगे बढ़ता हुआ सम्यक्त्व पाने की दिशा में आगे बढ़ता हुआ ग्रन्थिदेश के समीप आता है।

इस तरह नदीगोलपाषाणन्याय या घूणाक्षरन्याय की तरह जीव यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया करने योग्य बन जाता है ।



ऐसा यथाप्रवृत्तिकरण दो प्रकार का होता है । १) सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण जिसे अभव्य जीव भी कर सकते हैं । और २) दूसरा विशेष—विशिष्ट कक्षा का यथाप्रवृत्तिकरण जिसे शास्त्रों में पूर्वप्रवृत्तयथाप्रवृत्तिकरण कहा है । जिस करण के बाद निश्चित रूप से अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति होती ही है ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण को दूसरे प्रकार का पूर्वप्रवृत्तयथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं । अर्थात् इस दूसरे प्रकार का पूर्वप्रवृत्त-यथाप्रवृत्तिकरण करनेवाला भव्यजीव निश्चित ही ग्रन्थिभेद करके अन्य करणों को करता हुआ आगे बढ़कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है । सही अर्थ में देखा जाय तो ऐसा यथाप्रवृत्तिकरण आत्मोन्नति या आत्मविकास की दिशा में आगे बढ़नेवाले जीव के लिए यह सर्वप्रथम पहला मील का पत्थर है । प्रथम प्रयास है । प्रथम सोपान है । इस पर आए बिना जीव आध्यात्मिक विकास का कार्य प्रारंभ कर ही नहीं सकता है । आत्मा के विकास का श्रीगणेश ही नहीं होता है । इसीलिए सर्वप्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करना ही चाहिए ।

यद्यपि अभव्य जीव जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए योग्य पात्र भी नहीं है, मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा मात्र भी नहीं है ऐसा अयोग्य अभवी जीव यथाप्रवृत्तिकरण कर भी ले तो भी वह कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता है । अर्थात् ग्रन्थिभेद करके सम्यक्त्व नहीं पा सकता है । एकमात्र भव्यात्मा जो मोक्ष प्राप्त करने की योग्यतावाला जीव है वह यथाप्रवृत्तिकरण करके आगे बढ़ता है । यदि आगे के अपूर्वकरण आदि करण न करें तो पूर्व में किया हुआ यथाप्रवृत्तिकरण भी निष्फल चला जाता है । जीव ने अनन्तकाल में ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण तो अनन्तबार कर लिए परन्तु ग्रन्थिभेद न कर सकने के कारण जीव वापिस भी चले जाते हैं और पुनः कर्मबंध की उत्कृष्ट स्थितियाँ बांधने लग जाते हैं । मिथ्यात्व पुनः गाढ़ बन जाता है । यहाँ तीन प्रकार के व्यक्तियों का दृष्टान्त समझना उपयोगी सिद्ध होगा ।

## तीन मित्रों का दृष्टान्त—

जड़ वा तिण्णि मणूसा, जंतडविपहं सहावगमपेणं ।  
 वेलाइक्कमभीआ, तुरंति पत्ता य दो चोरा ॥ १ ॥

दट्टुं मगतडत्थे, तत्थेगो मग्गओ पडिनि यत्तो ।  
 बीओ गहिओ तइओ, समइक्कंतो पुरं पत्तो ॥ २ ॥

अडवी भवो मणूसा, जीवा कम्मट्ठिई प्हो दीहो ।  
 गंठी अ भयट्ठाणं, रागदोसा य दो चोरा ॥ ३ ॥

भग्गो ठिइपरिवुड्डी, गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ ।  
 सम्पत्तपुरं एवं, जोइज्जा तिन्नि करणाइं ॥ ४ ॥

पू. श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण महाराज विशेषावश्यक भाष्य में ३ मित्रों के दृष्टान्त के विषय में कहते हैं कि... तीन मित्र मिलकर धनोपार्जन—व्यापार हेतु अन्यदेश जा रहे थे। रास्ते के जंगल में उन्हें तीन चोर मिल गए। सदा जंगल में ही रहनेवाले ये चोर लूटेरे किसी भी पथिक को लूटने—मारने का ही काम करते थे। इन मित्रों में से पहला मित्र अटवी में आगे बढ़ा.... और जैसे ही इन चोर लूटेरों का राक्षसी—भयंकर रूप देखा... वह देखते ही प्रथम मित्र धबराकर वहाँ से नौ—दो—ग्यारह हो गया। सीधा ही पलायन हो गया।

फिर दूसरा मित्र आगे बढ़ा। वह उन लूटेरों का राक्षसी—भयंकर रूप देखकर उन्हीं की शरण में वहीं बैठ गया। वापिस जाने का नाम लेने के लिए भी तैयार नहीं था। तीसरा मित्र बढ़ा ही हिम्मतवाला था। वह भी आगे बढ़ा और लूटेरे—चोरों का भयंकर विकराल रूप देखकर भी डरा नहीं। धबराया नहीं। और निश्चय कर लेता है कि... जब वैसे भी मरना ही है तो क्यों न अन्तिम श्वास तक लड़ूँ? मार के ही मरूँगा। इस दृढ़ विचारों से वह उन चोरों के साथ घमासान युद्ध खेलता रहा। जान हथेली में लेकर युद्ध खेलता रहा। अपनी संपूर्ण शक्ति—बुद्धि लगाकर लड़ते हुए आखिर तीसरे मित्र ने उन चोरों पर विजय पाई और उन्हें हराकर आगे बढ़ा। मार्ग के अवरोधक लूटेरों के मर जाने से तथा विजय प्राप्त करने के विजयोत्सास के आनन्द—उत्साह में आगे बढ़ा।

इस दृष्टान्त के उपनय में प्रस्तुत यथाप्रवृत्तिकरण का विषय समझिए। जो भयंकर अटवी है वैसे यह संसार है। मार्ग यह मोक्ष मार्ग है। जो आत्मा को मोक्ष तक पहुँचाता है। परन्तु बीच में अवरोधक राग—द्वेष रूपी लूटेरे चोर मिलें। इन राग—द्वेष की इतनी मजबूत गांठ थी कि इसे अभेद्य मानकर प्रथम मित्र जैसा भव्य या अभव्य की कक्षा का

जीव जो सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण करके आता है वह तुरंत नौ—दो—ग्यारह हो जाता है । भाग जाता है । ऐसा सामान्य कक्षा का यथाप्रवृत्तिकरण कई बार जीव कर लेता है । अभव्य तो सबसे ज्यादा डरपोक होता है । वह तो राग—द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि भेदने में अपने आप को सर्वथा असमर्थ समझकर सीधा ही पलायन हो जाता है ।

दूसरे मित्र के जैसा भव्य जीव भी अटवी में ग्रन्थि प्रदेश नजदीक आता है और ग्रन्थि की अभेद्यता देखकर जैसे मानों शरण स्वीकार कर वहीं ग्रन्थिप्रदेश में ही रह जाता है । आशा है कि कभी न कभी तो इस मजबूत राग—द्वेष की अभेद्य ग्रन्थि को भेदकर ही रहूँगा । परन्तु तीसरे मित्र के जैसा अपना तथाभव्यत्व परिपक्व किया हुआ है ऐसा भव्य जीव ग्रन्थिप्रदेश रूप अटवी में आता है और राग—द्वेष की ग्रन्थिरूप राक्षसी लूटेरों को देखकर भी डरता नहीं है । बिल्कुल ही धबराता नहीं है और सामान्य की अपेक्षा भी विशिष्ट कक्षा का पूर्वप्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरण करता है । अपनी आत्मशक्ति को पूर्वरूप से प्रवृत्त करता है । इतनी ज्यादा आत्मशक्ति का प्रयोग करता है जिसका पहले कभी भी उपयोग किया ही नहीं था । ऐसी अपूर्व शक्ति का विस्फोट करते हुए वह उत्तम भव्य जीव लूटेरों के साथ संघर्ष में प्राणों की बाजी लगा देने वाले तीसरे मित्र की तरह वह भव्यात्मा संघर्ष की पराकाष्ठा में पहुँचकर भी अन्त में विजय प्राप्त करता है । और अनादि—अनन्त काल से राग—द्वेष की यह अभेद्य ग्रन्थि को भेदने का—तोड़ने का बड़ा भगीरथ कार्य करता है, तथा विजय पाकर अर्थात् सम्यग् दर्शन पाकर ही आगे बढ़ता है । इस विजय का परमानन्द वह अनुभव करता है । यह है यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया । आशा है दृष्टान्त से यह आसानी से समझ में आ सकती है ।

**चीटियों का दूसरा दृष्टान्त—**

खिड़साभाविअगमणं, क्षाणूसरणं तओ समुप्ययणं ।

ठाणं क्षाणुसिरे वा, औसरणं वा मुङ्गणं ॥ १ ॥

खिड़गमणं पिव पढमं, क्षाणूसरणं व करणमप्युखं ।

उप्ययणं पिव ततो, जीवाणं करणमनिअट्टी ॥ २ ॥

क्षाणूख गंठिदेसो, गंठियसत्तस्स तत्थवत्थाणं ।

ओयरणं पिव ततो, पुणोवि कम्मट्ठिइविवट्ठी ॥ ३ ॥

चीटियाँ स्वाभाविक गति से पृथ्वीतल पर इधर—उधर घूमती ही रहती है । जिनको चौथी इन्द्रिय आँख है ही नहीं ऐसी तीन इन्द्रियवाली चीटियाँ जो देख ही नहीं पाती है

फिर भी सतत—गमनागमन की क्रिया करती ही रहती है। चलने फिरने की इस क्रिया में कई चींटियाँ वृक्ष के तने पर भी चढ़ जाती हैं, कई दिवाल के सहारे किल्ले पर भी चढ़ जाती हैं, कई पंखवाली चींटियाँ उड़ भी जाती हैं। कई चींटियाँ किल्ले पर चढ़कर नीचे की जमीन पर इधर—उधर घूमती ही रहती हैं। घूमना—चढ़ना—उतरना—आना—जाना स्वाभाविक चलता ही रहता है।

चींटियों की स्वाभाविक गति की तरह जीवों का सहज स्वभाव यथाप्रवृत्तिकरणरूप होता है। किले पर चढ़ने के जैसा अपूर्वकरण होता है। और उड़ने के जैसा अनिवृत्तिकरण होता है। इस तरह कई जीव सहज स्वाभाविक यथाप्रवृत्तिकरण करते हुए किल्ले अर्थात् ग्रन्थिप्रदेश के समीप आते हैं। दूसरे जीव किल्ले पर चढ़नेवाली चींटियों की तरह अपूर्वकरण करके ग्रन्थिभेद करके पार भी उतर जाते हैं। सम्यक्त्व पा भी जाते हैं। तथा किल्लों पर न चढ़कर कई जीव नीचे आस—पास घूमती—फिरती चींटियों की तरह ग्रन्थिप्रदेश में ही पड़े रहते हैं। शरणार्थी बनकर रह जाते हैं। असामर्थ्य व्यक्त करते हैं। पहले तीन मित्रों का दृष्टान्त दिया था वह और दूसरे चींटियों के दृष्टान्त से इन करणों को उपमा से समझा जा सकता है। चींटियों के जैसे तथाप्रकार के जीव इस संसार में होते हैं जो यथाप्रवृत्तिकरणादि करण करते हैं।

### करण की उपयोगिता—

यथाप्रवृत्तिकरण शब्द में प्रयुक्त “करण” शब्द आत्मबल, आत्मिक अध्यवसाय, आत्मशक्ति अर्थ में है। सामान्य की कक्षा के यथाप्रवृत्तिकरण में सामान्य शक्ति स्फुरायमान होती है। जबकि विशिष्ट कक्षा का यथाप्रवृत्तिकरण उसे कहते हैं जिसमें विशिष्ट कक्षा की शक्ति प्रकट होती है। इसे पूर्वप्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरण भी कहते हैं। यह ग्रन्थिभेद करके अपूर्वकरण आदि आगे के करण कराके रहता है। अन्य करणों की अपेक्षा यह पूर्व में (पहले) प्रवर्तता है अतः पूर्वप्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरण नामकरण सार्थक है।

जिनमें मोक्ष में जाने की कोई योग्यता—पात्रता ही नहीं होती है ऐसे अभव्य जीव भी सहज स्वाभाविक प्रक्रिया से सामान्य कक्षा का यथाप्रवृत्तिकरण तो वे भी कर लेते हैं। लेकिन वे कभी भी ग्रन्थिभेद नहीं कर सकते हैं। भव्य जीव भी सामान्य कक्षा के यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया करते हैं। उनमें ग्रन्थिभेद करने का सामर्थ्य पूरा है परन्तु जब तक तथाभव्यत्व उनका परिपक्व न हो जाय वहाँ तक वे भी सामान्य की कक्षा में ही रह

जाते हैं। परन्तु जिनका तथाभव्यत्व परिपक्व हो चुका है ऐसे भव्यात्मा पूर्वप्रवृत्त विशिष्ट प्रकार के यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया के बल पर ग्रन्थिभेद करके आगे बढ़ जाते हैं। आखिर आत्मोन्नति साधने के सोपानों का श्रीगणेश तो यहीं से होता है। यह यथाप्रवृत्तिकरण ही प्रथम सोपान है। तभी आगे के द्वार खुलते हैं। सामान्य कक्षा के यथाप्रवृत्तिकरण का उत्कृष्ट काल असंख्यात समय परिमित है। जबकि विशिष्ट—पूर्वप्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरण का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। अभव्य जीवों के या भव्यों के भी सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा विशिष्ट की कक्षा के यथाप्रवृत्तिकरण को करने के लिए प्रतिसमय अनन्तगुनी अध्यवसायों की विशुद्ध की आवश्यकता रहती है तभी जीव आगे बढ़ पाता है। अभवी जीवों के पास राग—द्वेष की निबीड ग्रन्थि का भेद करने के लिए कारणभूत विशिष्ट प्रकार के अध्यवसायों की कमी—न्यूनता है। अतः वे इस युद्ध को जीत नहीं सकते हैं परन्तु भव्य जीव इसमें सफलता प्राप्त कर सकता है।

सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण करनेवाला वह जीव होता है जिसने अन्तः कोड़ा कोड़ी की स्थिती अभी तक नहीं की है, तथा अनन्तगुनी अध्यवसायों की विशुद्धि भी नहीं है। ठीक इससे विपरीत विशिष्ट कक्षा का यथाप्रवृत्तिकरण करनेवाले का तथाभव्यत्व परिपक्व हो चुका है, और अन्तः कोड़ा कोड़ी सागरोपम की कर्मस्थिति कर चुका हो तथा अनन्तगुनी अध्यवसाय की विशुद्धि रखता हो वह ग्रन्थिभेद शीघ्र करता है।

### ग्रन्थि का स्वरूप—

गंठित्ति सुदुब्बेओ, कक्खण्डवणरूढगूढगंठिव्व ।

जीवस्स कम्मस्सणिओ क्षणरागद्वोस्स परिणायो

॥ ११९५ ॥

— ग्रन्थि का सामान्य अर्थ होता है “गांठ”। प्रस्तुत में ग्रन्थि शब्द से राग—द्वेष रूप आत्मा का कर्मजनित अतिशय मलिन परिणामविशेष समझना है। यह ग्रन्थि कुछ और नहीं परन्तु अनन्तानुबन्धी क्रोध—मान—माया—लोभ रूप चारों कषायों की चौकट है। अपूर्वकरण के बिना इसको परास्त करना असंभव है। क्योंकि यह गांठ अत्यन्त कठोर और मजबूत है। जैसे बांस (बाम्बू), तथा गन्ने के तने में बीच बीच में गांठ (सन्धिस्थान) होती है, खाते—काटते समय अन्य भाग की अपेक्षा यह ज्यादा कठिन—अभेद्य होता है। ठीक इसी तरह आत्मा के कर्मजनित गांठ राग—द्वेष के परिणामरूप—अनन्तानुबन्धी कषायादि के कारण बनी हुई राग—द्वेष की गांठ ... अनादि—अनन्तकाल से आत्मा के

साथ बंधी हुई है। इसे भेदन—तोड़ना बड़ा मुश्किल काम है। परन्तु इस अवरोध को जब तक दूर नहीं करेंगे तब तक आध्यात्मिक विकास के श्रीगणेश ही संभव नहीं है।

ग्रन्थिदेश में आए हुए जीवों का वर्तन विविध प्रकार का होता है। यथाप्रवृत्तिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आत्मा को ग्रन्थिभेदन करने के प्रदंश के समीप लाती है। अतः गांठ तोड़ने के पहले की प्रक्रिया है यथाप्रवृत्तिकरण। इस तरह सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया करते हुए अभव्य जीव अनन्तबार इस ग्रन्थिप्रदेश के समीप आ जाता है। परन्तु अभव्य जीव इस ग्रन्थि का भेदन नहीं कर सकते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अभव्यों के पास सामग्री की विकलता है। राग—द्वेष कषायों को हटाने में कारणभूत ऐसे विशिष्ट अध्यवसायों आध्यात्मिक परिणामों की न्यूनता—कमी है उसके पास। इसी कारण अभवी जीव ग्रन्थि को न भेदने के कारण संख्येय—असंख्येय काल तक भी ग्रन्थिदेश में शरणार्थी की तरह पड़ा रह जाता है, परन्तु भेद नहीं सकता है।

जैसे रेशम के धागे पर मजबूत ८—१० गांठें लगाई गई हो और उसपर एरण्डी का तेल डाला हो और उसके बाद सर्वथा नाखून काटे हुए गृहस्थ को उस गांठ को खोलने के लिए कहा जाय तो कितना मुश्किल लगता है? ठीक इसी तरह अनादि अनन्त काल से अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की तीव्रता से राग—द्वेष के उत्कट परिणामों से आत्मा में राग—द्वेष की गांठ पड़ जाती है।

अंतिम कोडाकोडीए सव्यकम्पाणमाउवज्जाणं ।

पलिया संखिज्जइमे भागे खीणे भवइ गंठी ॥ ११९४ ॥

भिन्नम्मि तम्मि लाभो सम्मत्ताइण भोक्खहेऊणं ।

सो य दुलभो परित्सम—चित्तविद्यायाइविग्गेहिं ॥ ११९६ ॥

— विशेषावश्यक भाष्य महाशास्त्र में कहते हैं कि— आयुष्यकर्म के सिवाय अन्य सातों ज्ञानावरणीयादि कर्मों की अन्तिम १ कोडा कोडी सागरोपम प्रमाणस्थिति में से पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का क्षय होने पर जीव ग्रन्थिप्रदेश को प्राप्त करता है। इस ग्रन्थिप्रदेश में लाने में सहायक प्रक्रिया यथाप्रवृत्तिकरण की है। ऐसे भयंकर राग—द्वेष की निबिड गाढ़ गांठ को भेदने के लिए जीव को अभूतपूर्व शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। जो जीव अपूर्व शक्ति का प्रयोग करके विजय पाकर आगे बढ़ जाय वह सम्यक्त्व का अनोखा साम्राज्य प्राप्त कर सकता है। लेकिन सभी जीव समान शक्तिवाले नहीं होते हैं। कई जीव इस निबिड ग्रन्थि का भेदन करने को दुर्भेद्य—असंभव मानकर



छोड़कर पुनः लौट भी जाते हैं। ऐसी राग—द्वेष की इस निबिड ग्रन्थि का यदि भेदन हो जाय, उसे यदि तोड़ दिया जाय फिर तो आत्मा को मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व की प्राप्ति का अद्भुत लाभ होता है। और सचमुच आध्यात्मिक विकास के मार्ग में यही सबसे दुर्लभ—महा भगीरथ कार्य है। चित्त विघात परिश्रम आदि विघ्नों के कारण यह महाकार्य दुर्लभ बन जाता है।

जा गंठी ता पढमं, गंठी समइच्छओ भवे बीअं ।

अनियट्टिकरणं पुण, संमत्तपुरक्खडे जीवे ॥ १२०३ ॥

१) इस भयंकर ग्रन्थिस्थान पर्यन्त आगमन के पूर्व प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करना पड़ता है।

२) ग्रन्थिभेद करते समय अपूर्वकरण नामक दूसरा करण होता है। इसमें ग्रन्थिभेद करके अर्थात् राग—द्वेष की गांठ का छेदन—भेदन करके जीव सम्यक्त्वाभिमुख होता है।

३) इसके पश्चात् अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय रूप तीसरा अनिवृत्तिकरण करके जीव तुरन्त सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है।

ग्रन्थि के विषय में दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि— कोई बैलगाड़ी चलती हो और हम यदि पास में से गुजर रहे हो उस समय बैलगाड़ी के पहिए की कीट रूप मल (काला तेल जैसा) यदि हमारे कपड़े पर लग जाए तो ऐसा गाढ़ दाग पड़ता है कि धोने पर निकलना संभव नहीं रहता है। यहाँ तक कि हजार उपाय करने पर भी वह दाग नहीं निकलता है और कपड़ा फट जाने पर भी नहीं छूटता है ऐसी स्थिति स्पष्ट देखी गई है। इस काले दाग पर यदि धूल चूना आदि डालकर ढक दिया जाय, या दबा दिया जाय तो कब तक ढका हुआ रख सकते हैं? थोड़ी देर के लिए छिपाया जा सकता है, परन्तु सदा के लिए नहीं। आखिर कभी न कभी तो निकालना ही श्रेयस्कर है। ऐसे गाढ़ मजबूत कीट दाग के जैसी स्थिति राग—द्वेष की गांठ की है। यह भी कर्म के मैल एवं दाग के समान आत्मा पर लगे हुए कर्मों का मैल जो भयंकर गाढरूप चिपका हुआ है, उसका भी दाग आत्मा पर लग जाता है। वह अत्यन्त गाढ़ निबिड राग—द्वेष की ग्रन्थिरूप बन जाता है। यह महामिथ्यात्व मोहनीयकर्म के जैसा भयंकर कर्म है। और यही मोक्ष की तरफ के विकास के मार्ग में अवरोधक—बाधक बनता है। आखिर कभी न कभी तो इस निबिड ग्रन्थिप्रदेश के समीप आकर इस ग्रन्थि का भेद करके आगे बढ़ना ही चाहिए—

## तीन करणों की आवश्यकता—

करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टियमेव भव्वाणं ।

इयरेसि पढमं चिय भन्नइ करणं ति परिणामो ॥ १२०१ ॥

मोक्ष की प्राप्ति यह चरमफल है । जबकि तीन प्रकार के करण करना मोक्षप्राप्ति हेतु सर्वप्रथम कर्तव्य है । अनादिकालीन गाढ मिथ्यात्व में से मिथ्यात्व की मात्रा कम करती हुई आत्मा मंद, मंदतर, मंदतम मिथ्यात्व की स्थिति में आकर तथाभव्यत्व परिपक्व होने से मोक्ष प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होती हुई, प्रथमावस्था में १) यथाप्रवृत्तिकरण, २) अपूर्वकरण, ३) अनिवृत्तिकरण, नाम के तीन करण करना चाहिए । किये जाते हैं । यह श्लोक में “करणं ति परिणामो” — करण अर्थात् आत्मा का परिणाम विशेष । परिणाम को ही आत्मा का अध्यवसाय भी कहा जाता है । भाव भी प्रचलित भाषा में है । शक्तिविशेष भी कहते हैं ।

अनादिकालीन आत्मा पर लगे हुए भारी कर्मों की गांठ भेदने के लिए ग्रन्थिप्रदेश समीप में आने की प्रक्रिया को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं । इसमें उत्कृष्ट कर्मबंध की स्थितियों का घात करता हुआ जीव अन्तःकोडा कोडी सागरोपम की करके ग्रन्थिप्रदेश के समीप लाने का काम करता है । इसके पश्चात् २) आत्मा की अभूतपूर्व शक्ति का प्रयोग करके स्थितिघात, रसघात आदि करने की प्रक्रिया को दूसरा करण “अपूर्वकरण” कहते हैं । ३) इसके बाद तीसरा करण जीव करता है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने तक परिणाम पुनः गिर न जाए अर्थात् निवृत्ति न हो जाय ऐसे आत्मा के अध्यवसाय विशेष को “अनिवृत्तिकरण” कहते हैं ।

उपरोक्त तीनों ही प्रकार के आत्मिक अध्यवसायरूप परिणाम नामक करण क्रमशः अधिक—अधिक विशुद्ध—विशुद्धतर—विशुद्धतम कक्षा के होते हैं । इन तीन करणों में से अभव्य जीव मात्र पहला यथाप्रवृत्तिकरण ही कर पाता है । वह कदापि उसमें आगे नहीं बढ़ सकता है । जबकि भव्यात्माओं के लिए तीनों करण आगे बढ़ने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं । केवल उपयोगी ही नहीं अपितु अत्यन्त आवश्यक हैं । बिना इन तीन करणों को किये कोई भी भव्य जीव सम्यक्त्व पा नहीं सकता । अतः तीन करण करके सम्यक्त्व पाकर आगे बढ़ें । तीनों करण कहाँ किये जाते हैं इसका स्थाननिर्देश करते हुए कहते हैं कि— १) ग्रन्थिप्रदेश तक आने के पहले यथाप्रवृत्तिकरण, २) ग्रन्थिभेद करते समय अपूर्वकरण, और ३) दूसरे के पश्चात् तुरंत तीसरा अनिवृत्तिकरण करके जीव सम्यक्त्व

प्राप्त कर लेता है। इन तीन करणों में प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण का विवेचन आगे कर आए हैं। अब शेष दो के बारे में विचार करें।

### कर्मबंध की उत्कृष्ट स्थितियाँ

जैन कर्मशास्त्रों में ८ कर्मों के आत्मा के साथ ४ प्रकार के बंधों में “स्थिति बंध” भी बताया गया है। एक बार आत्मा के साथ कर्म एकरस हो जाने के बाद अर्थात् बंध जाने के बाद कितने काल तक वह कर्म आत्मा के साथ ही चिपका हुआ रहेगा? इस प्रक्रिया को स्थितिबंध कहा है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के सूत्रों में कालमान इस प्रकार है—

आदितस्ति सृणामन्तरायस्य च विंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ ८—१५ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ ८—१६ ॥

नामगोत्रयोर्विंशतः ॥ ८—१७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ॥ ८—१८ ॥

|                  |                        |
|------------------|------------------------|
| ज्ञानावरणीय कर्म | - ३० कोडा कोडी सागरोपम |
| दर्शनावरणीय कर्म | - ३० कोडा कोडी सागरोपम |
| वेदनीय कर्म      | - ३० कोडा कोडी सागरोपम |
| मोहनीय कर्म      | - ७० कोडा कोडी सागरोपम |
| आयुष्य कर्म      | - ३३ सागरोपम           |
| नाम कर्म         | - २० कोडा कोडी सागरोपम |
| गोत्र कर्म       | - २० कोडा कोडी सागरोपम |
| अंतराय कर्म      | - ३० कोडा कोडी सागरोपम |

इस तरह आठों कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ शास्त्रों में बताई हैं। यदि एक बार किसी भी भयंकर पाप की प्रवृत्ति से जो भी कर्म उत्कृष्ट स्थितिकाल का बंध हो तो इतने—इतने सागरोपमों का बंधता है। अर्थात् इतने लम्बे सागरोपमों के दीर्घकाल तक (अरबों—खरबों से भी ज्यादा वर्षों के काल तक) कर्म आत्मा पर चिपके रहते हैं। इनका अबाधाकाल होने पर उदय शुरू हो जाता है। जिसके उदय से सुख—दुःख जो भी मिलना है मिलता रहता है। किये हुए शुभ कर्म = पुण्य के उदय से सबकुछ सानुकूल सुखरूप

मिलता है। और ठीक इससे विपरीत किये हुए अशुभ कर्म = पाप के उदय से सर्वथा प्रतिकूल—दुःख ही दुःख मिलता है। जैसे कर्म वैसे फल इस तरह इस नियमानुसार संसार के संसारी जीव सुख—दुःख के संयोग—वियोग में जीवन खेलते रहते हैं। समुद्र की लहरों की ज्वार—भाटे की तरह जीवन सुख—दुःख से चलता रहता है।

पूर्व में पाप की प्रवृत्ति करते जाना... और उस किये हुए पापों के आधार पर... कर्म बांधते जाना, फिर उन कर्मों के उदय में वैसी परिस्थिति—मति आदि बनना। और पुनः पाप की प्रवृत्ति करने की ही इच्छा होना... पाप करते करते पुनः वैसे भारी अशुभ कर्म बांधना—पुनः उन कर्मों के उदय से वैसी मति आदि बनना... और उसके कारण पुनः पापादि करना ऐसा यह पाप और कर्म का विषचक्र चलता ही रहता है। बस, इसी तरह संसार अनन्त काल तक चलता ही रहता है। अनन्त भव बीत जाते हैं इसमें। मिथ्यात्व मोहनीय आदि की बड़ी लम्बी तीव्र कर्मप्रकृतियाँ बंधती ही जाती हैं। कषायादि की मन्दता हो तो कर्म की दीर्घ स्थितियाँ नहीं बंधती हैं। परन्तु एक तरफ तीव्र गाढ़ मिथ्यात्व का आधार बना हुआ हो और इसके साथ कषायादि भावों की भी तीव्रता हो तो बड़ी लम्बी दीर्घ कर्मस्थितियों का बंध होता है। परन्तु यदि मिथ्यात्व की उपस्थिति ही न हो और कषायों की भी मन्दता हो तो जीव इतनी भावी दीर्घ बंधस्थिति नहीं बांधता है। आखिर जीवविशेष की परिणति पर है। इसलिए जिस जीव की जैसी परिणति—अध्यवसाय धारा रहती है उसके आधार पर वह जीव वैसी कर्मस्थिति बांधता है और संसार में सुखी या दुःखी होता है। आज दिन तक के अनन्त कालीन इस संसार चक्र के परिभ्रमण काल में जीव ने अनन्तबार भारी—भारी कर्म बांधे और उसकी सजा भी भुगती—बड़ा भारी दुःख भी सहन किया। फिर भी मिथ्यात्व की विपरीत धारा की उसकी मति ही न बदली। अतः वह जीवविशेष दीर्घ कर्मबंध की स्थितियों से बच ही न सका। इस तरह अनन्तकाल तक उसका संसार परिभ्रमण चलता ही रहा।

**अन्तः कोड़ाकोड़ी की स्थिति करना—**

प्रत्येक कर्म जो भी जीव ने जैसा भी उपार्जन किया है उस जीव को वैसा भुगतना तो पड़ेगा ही। चाहे वह हँसकर भोगे या चाहे रो—रोकर भोगे आखिर भुगतना ही पड़ेगा। प्रत्येक बांधा हुआ कर्म अपने नियत समय पर... उदय में तो आता ही है और वह कर्म सुख—दुःख देकर कालावधि पूर्ण होने पर... आत्मा से वियोग पाकर बिखर जाता है। इस तरह कर्म का नियम ही है कि वह बंध के बाद उदय में आता है और सुख—दुःखादि

देकर कालावधि की समाप्ति के बाद आत्मा के प्रदेशों से सदा के लिए बिखर जाता है। लेकिन पीछे जो कर्म की माला—श्रेणी खड़ी है उनमें से क्रमशः एक के बाद दूसरा—दूसरे के बाद तीसरा उदय में आता ही रहता है। इसी कारण अनन्त काल तक संसार चलता ही रहता है।

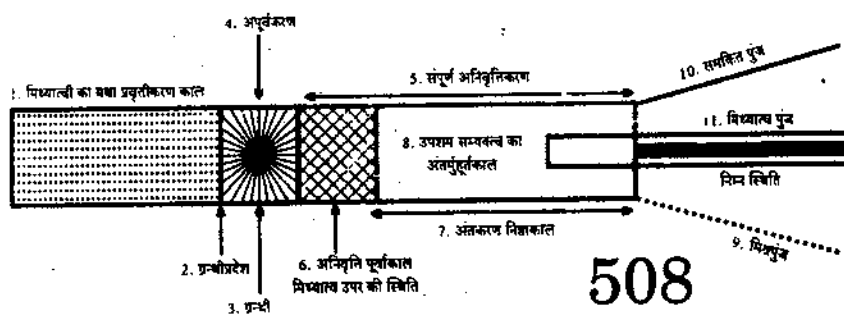
कर्म के स्वाभाविक उदय की अपेक्षा भी विशेष उदीरणादि द्वारा भी जीव भारी अकाम निर्जरादि करता हुआ प्रबल कर्मों की स्थिति क्षीण करता है। पहले जैसा कि हम देख आए हैं कि ... नदीगोलपाषाण न्याय, या घूनाक्षरन्याय से भी प्रवृत्ति करता हुआ जीव .... या चींटियों आदि की तरह प्रवृत्ति करता हुआ अनिच्छा होते हुए भी अत्यन्त ज्यादा दुःखों को भारी मात्रा में सहन करने से जीव तीव्र कर्मों को खपाता है। क्षीण करता है। इससे कर्म की बंधस्थितियाँ जो बहुत लम्बी ... बड़ी दीर्घ थी वे काफी ज्यादा मात्रा में घटकर कम हो जाती हैं। भले ही मिथ्यात्व सत्ता में पड़ा हुआ हो लेकिन दबकर ... पड़ा हो, शान्त रह जाय और जीव अपुनर्बंधक आदिधार्मिक की पूर्व भूमिका में आ जाय और मिथ्यात्व तथा कषायों सर्वथा मन्द—मन्दतर स्थिति में रहे तो ऐसी प्रवृत्ति में जीव पुनः नई लम्बी—दीर्घकालीन उत्कृष्ट स्थिति के कर्म नहीं बांधता है। और अकामनिर्जरादि द्वारा पूर्व की बंधस्थितियाँ काफी ज्यादा प्रमाण में क्षीण करता है। इस तरह कर्म की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ क्षीण होती हैं। जीव न्यून स्थिति के अंदर आ जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त करने के पहले किसी भी स्थिति में जीव को यह प्रक्रिया करनी अनिवार्य है। सभी कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ सब क्षीण करते हुए अन्तःकोडाकोडी के अन्दर लाना अनिवार्य है।

इन सातों कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ क्षीण करके घटा करके... एक कोडा कोडी सागरोपम के अन्दर की करनी चाहिए। उसे कहते हैं अन्तःकोडाकोडी की स्थिति करना। थोड़ा यहाँ सोचिए... जिस मोहनीय कर्म की ७० कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट बंधस्थिति है उसमें से ६९ कोडाकोडी सागरोपम की बंधस्थिति क्षीण करके खपा करके ... शेष मात्र एक कोडा कोडी सागरोपम की ही रखना। मिथ्यात्व सत्ता में पड़ा हुआ होते हुए भी यह काम उसी मिथ्यात्वी जीव को ही करना है। इस तरह आयुष्य के सिवाय सातों कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ क्षीण करके अंतः कोडा कोडी सागरोपम की करने के पश्चात् ... अर्थात् शेष सातों कर्मों की अन्तः कोडा कोडी सागरोपम की करने के पश्चात् ही जीव अपुनर्बंधक—आदिधार्मिक बनता है। बस उसके पश्चात् पुनः वैसी उत्कृष्ट बंधस्थिति नहीं बांधता है। इस तरह यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया में उपरोक्त बंधस्थितियाँ क्षीण करने का

देकर कालावधि की समाप्ति के बाद आत्मा के प्रदेशों से सदा के लिए बिखर जाता है। लेकिन पीछे जो कर्म की माला—श्रेणी खड़ी है उनमें से क्रमशः एक के बाद दूसरा—दूसरे के बाद तीसरा उदय में आता ही रहता है। इसी कारण अनन्त काल तक संसार चलता ही रहता है।

कर्म के स्वाभाविक उदय की अपेक्षा भी विशेष उदीरणादि द्वारा भी जीव भारी अकाम निर्जरादि करता हुआ प्रबल कर्मों की स्थिति क्षीण करता है। पहले जैसा कि हम देख आए हैं कि... नदीगोलपाषाण न्याय, या घूणाक्षरन्याय से भी प्रवृत्ति करता हुआ जीव.... या चींटियों आदि की तरह प्रवृत्ति करता हुआ अनिच्छा होते हुए भी अत्यन्त ज्यादा दुःखों को भारी मात्रा में सहन करने से जीव तीव्र कर्मों को खपाता है। क्षीण करता है। इससे कर्म की बंधस्थितियाँ जो बहुत लम्बी... बड़ी दीर्घ थी वे काफी ज्यादा मात्रा में घटकर कम हो जाती हैं। भले ही मिथ्यात्व सत्ता में पड़ा हुआ हो लेकिन दबकर... पड़ा हो, शान्त रह जाय और जीव अपुनर्बंधक आदिधार्मिक की पूर्व भूमिका में आ जाय और मिथ्यात्व तथा कषायों सर्वथा मन्द—मन्दतर स्थिति में रहे तो ऐसी प्रवृत्ति में जीव पुनः नई लम्बी—दीर्घकालीन उत्कृष्ट स्थिति के कर्म नहीं बांधता है। और अकामनिर्जरादि द्वारा पूर्व की बंधस्थितियाँ काफी ज्यादा प्रमाण में क्षीण करता है। इस तरह कर्म की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ क्षीण होती हैं। जीव न्यून स्थिति के अंदर आ जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त करने के पहले किसी भी स्थिति में जीव को यह प्रक्रिया करनी अनिवार्य है। सभी कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ सब क्षीण करते हुए अन्तःकोडाकोडी के अन्दर लाना अनिवार्य है।

इन सातों कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ क्षीण करके घटा करके... एक कोडा कोडी सागरोपम के अन्दर की करनी चाहिए। उसे कहते हैं अन्तःकोडाकोडी की स्थिति करना। थोड़ा यहाँ सोचिए... जिस मोहनीय कर्म की ७० कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट बंधस्थिति है उसमें से ६९ कोडाकोडी सागरोपम की बंधस्थिति क्षीण करके खपा करके... शेष मात्र एक कोडा कोडी सागरोपम की ही रखना। मिथ्यात्व सत्ता में पड़ा हुआ होते हुए भी यह काम उसी मिथ्यात्वी जीव को ही करना है। इस तरह आयुष्य के सिवाय सातों कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियाँ क्षीण करके अंतः कोडा कोडी सागरोपम की करने के पश्चात्... अर्थात् शेष सातों कर्मों की अन्तः कोडा कोडी सागरोपम की करने के पश्चात् ही जीव अपुनर्बंधक—आदिधार्मिक बनता है। बस उसके पश्चात् पुनः वैसी उत्कृष्ट बंधस्थिति नहीं बांधता है। इस तरह यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया में उपरोक्त बंधस्थितियाँ क्षीण करने का



508

भगीरथ कार्य करके जीव राग—द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि को भेदने के लिए तैयार होता है। बलवान बनता है। शक्तिशाली बनता है। और अपूर्वकरण करने के लिए कटिबद्ध बनता है।

### सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के विकास का क्रम—

प्राथमिक विकास की कक्षा में आत्मा को कहाँ से उठाई गई है वह अब तक के विवेचन से ख्याल आ गया होगा। सम्यग् दर्शन की प्राप्ति की दिशा में विकास करने के लिए जीव को कई अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। अनादि—अनन्तकालीन अचरमावर्त के काल में ओघसंज्ञा में जीव जब भवाभिनन्दि की अवस्था में पड़ा था, अपना काल बिता रहा था... उस अवस्था से आगे की अवस्थाओं का विचार करते हुए कितनी अवस्थाएं पार करके जीव सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकता है यह निम्न सोपानों से समझा जा सकता है।

इस तरह विकास के सोपान हैं। अनादि अनन्तकालीन अचरमावर्त में तीव्र मिथ्यात्व की वृत्तियों में जीव भवाभिनन्दि की कक्षा में ओघ संज्ञा में पड़ा हुआ था। वहाँ से आगे विकास के सोपानों की सीढ़ी पर चढ़ना जीव प्रारंभ करता है। सर्वप्रथम जीव को तीव्र मिथ्यात्व को मन्द मन्दतर करना चाहिए। तथाभव्यत्व परिपक्व हो जाने पर जीव चरमावर्त में प्रवेश करता है। फिर चौथे सोपान पर आगे बढ़ता हुआ... विशुद्धि करता है। इस विशुद्धि से अपनी योग्यता—प्राप्ति निर्माण करने की भूमिका निर्माण करता है। इस तरह क्रमशः आगे विकास करता हुआ जीव अपुनर्बन्धक—आदिधार्मिक बनता है। ललितविस्तरा टीका में आदिधार्मिक के लक्षण जो दिये हैं वैसा बनता है। अब दुबारा

वापिस कभी भी किसी भी कर्म की उत्कृष्ट बंधस्थिति नहीं बांधेगा, क्योंकि मिथ्यात्वादि की वैसी तीव्रता नहीं है। फिर क्रमशः छट्टे सोपान पर चढ़ता हुआ जीव भूतकाल की सातों कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थितियाँ बांधी हुई पड़ी हैं उसको क्षीण करने का काम करता है। और सात कर्मों की स्थितियाँ उत्कृष्ट की कक्षा से घटाकर... क्षीण करते हुए एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम के अन्दर अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम की करता है। उसके पश्चात् विशुद्ध कक्षा का पूर्वप्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरण करता है। यदि सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण करे तो वह एक के अंक की संख्या के बिना के शून्यों के जैसी स्थिति है। ऐसे विशुद्ध पूर्वप्रवृत्त यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया सातवें क्रम पर करके ८ वे क्रम के सोपान से अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और अंतरकरण नामक तीन करण करके अन्त में उपशम सम्यग् दर्शन प्राप्त करता है। यह प्रक्रिया इस निम्न चित्र से ज्यादा स्पष्ट की जा सकती है।

### सम्यग् दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया—

#### चित्र की विशेष समझ—

१) जीव का अनादि मिथ्यात्व दशा का काल “मिथ्यात्व” गुणस्थानक कहलाता है। इस प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानक पर जीव “नदीगोलपाषाणन्याय” की तरह यथाप्रवृत्तिकरण की प्रवृत्ति करके कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियों को घटाकर अन्तः कोड़ा कोड़ी सागरोपम में भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून जितनी स्थिति घटाने का काम यहाँ करता है।

२) राग—द्वेष के तीव्र उदयरूप ग्रन्थिप्रदेश के समीप जीव अनेक बार आता है, परन्तु ग्रन्थि (गांठ) से डरकर वापिस चला जाता है या वहीं रुक जाता है।

३) ग्रन्थी (गांठ) अथवा मिथ्यात्व के उदयवाला तीव्र राग—द्वेष का काल।

४) एक ही अन्तर्मुहूर्त काल में कोई जीव “अपूर्वकरण” रूप आत्मा के निर्मल विशुद्ध अध्यवसाय से राग—द्वेष के अधीन न होते हुए ग्रन्थि (गांठ) का छेदन—भेदन करता है वह “अपूर्वकरण” काल कहलाता है।

५—६) अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त का पूर्व अन्तर्मुहूर्त काल। (क्रियाकाल) इस काल को पसार करता हुआ भविष्य के अन्तर्मुहूर्त काल में उदय में आनेवाले मिथ्यात्व के दलिकों में से कुछ वर्तमानकालीन अन्तर्मुहूर्त में खींच लाता है और कुछ भविष्यद् अन्तर्मुहूर्त में डाल देता है। इस प्रकार बीच का अंतर्मुहूर्त मिथ्यात्व दलिकों से रहित बना देता है। यहाँ पर मिथ्यात्व की सतत लम्बी स्थिति के दो भाग करने से बीच में जो अन्तर



पड़ता है उसे “अन्तरकरण” कहते हैं। अनिवृत्तिकरण काल के क्रियाकाल के अन्तर्मुहूर्त को अनिवृत्तिकरण तथा निष्ठाकाल के अन्तर्मुहूर्त को अन्तरकरण मानते हैं। दोनों का संयुक्तकाल भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है। उसे सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

७) अन्तरकरण—अनिवृत्तिकरण के ही इस अन्तरकरण रूप निष्ठाकाल में मिथ्यात्व दलित नहीं रहने से यहाँपर प्रथम समय में ही उपशम समकित प्राप्त करता है। इसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। कोई—कोई जीव चौथे से भी ज्यादा गुणस्थान भी अन्तरकरण में ही प्राप्त कर लेता है।

८) अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त की अन्तिम ६ आवलिकारूप सास्वादन का काल। कोई मन्द परिणामी जीव उपशम—समकित में ही यहाँ पर अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर मलिन परिणामवाला हो जाय, और ६ आवलिका पूर्ण होने पर अवश्य ही मिथ्यात्व का उदय हो जाता है।

९) अन्तरकरण के समय में ही भावी मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है उसमें से (अर्धशुद्ध किया हुआ) मिश्र पुंज।

१०) सम्पूर्ण शुद्ध किया हुआ समकित पुंज।

११) अशुद्ध रहा हुआ मिथ्यात्व पुंज।

इस तरह चित्र में दिए हुए नम्बर के साथ यहाँ विशेष विस्तृत परिचय देते हुए स्पष्टीकरण किया गया है। प्रयत्न करने पर स्पष्ट समझ में आ सकता है।

### दूसरा करण—अपूर्वकरण—

अपूर्व “न पूर्वमिति अपूर्वम्” पूर्व अर्थात् पहले कभी भी नहीं किया है, ऐसा आत्मिक अध्यवसाय रूप शक्ति का प्रयोग करना, इसे अपूर्वकरण कहते हैं अर्थात् अनादिकाल के अनन्त पुद्गल परावर्तकाल तक के संसार परिभ्रमण में जिसका प्रयोग जीव ने पूर्व में कभी भी नहीं किया था, ऐसे शुभ प्रशस्त आत्मिक अध्यवसायरूप शक्ति का अभूतपूर्व प्रयोग करके राग-द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि का छेदन-भेदन करना यह अपूर्वकरण कहलाता है। यह अपूर्वकरण पहले यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा ज्यादा शुद्धतर—विशुद्ध कक्षा का है।

पूर्वप्रवृत्तिविशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण करनेवाला भव्य जीव ही इस अपूर्वकरण को कर सकता है। यह अपूर्वकरण यथाप्रवृत्तिकरण का कार्य हुआ, जबकि यह आगे के तीसरे अनिवृत्तिकरण का कारण होता है। एकेन्द्रिय से चरित्रन्द्रिय तक के चींटी, मकोड़े, मक्खी,

मच्छर आदि विकलेन्द्रिय जीवों तक के लघु जीव इसके अधिकारी ही नहीं हैं। पंचेन्द्रिय जीव उसमें भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही इसे करनेवाले अधिकारी बनते हैं। उसमें भी सभी पंचेन्द्रिय नहीं लेकिन मात्र वे ही, जिसका मोक्ष प्राप्ति का समय अर्द्ध पुद्गल परावर्तकाल ही शेष रहा हो, ऐसा तथाभव्यत्व जिसका परिपक्व हुआ है, ऐसा भव्य जीव ही अपूर्वकरण करने का सच्चा अधिकारी होता है।

राग-द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि का भेदन करने में ऐसा भव्य जीव इस अपूर्वकरण का उपयोग शस्त्र के रूप में करता है। अतः ग्रन्थिभेद यह अपूर्वकरण की क्रिया का फल है। अनादिकालीन अनन्त पुद्गल परावर्तकाल में बीते अनन्त भवों में, जीव ने ऐसा जो कभी नहीं किया था, वह ग्रन्थिभेद का कार्य अपूर्वकरण क्रिया से आज प्रथम बार ही किया है।

इस अपूर्वकरण में पाँच वस्तुएँ अपूर्व प्रकार की होती हैं—

- १) अपूर्व स्थितिघात
- २) अपूर्व रसघात।
- ३) अपूर्व गुणश्रेणी।
- ४) अपूर्व गुणसंक्रमण।
- ५) अपूर्व स्थितिबंध।

१) जैसा कि जीव ने पूर्व में कभी भी नहीं किया है, ऐसा कर्म बन्ध की स्थितियों का घात इसमें करता है। यथाप्रवृत्तिकरण करके जीव कर्म बंध की उत्कृष्ट स्थितियों का घात करके उनकी अंतः कोड़ा कोड़ी सागरोपम की स्थिति करता है। उसमें अपूर्वकरण से, और कम करके, शुरु अध्यवसाय से संख्यात भाग जितनी ही काल—स्थिति रह जाती है, इसे अपूर्व स्थितिघात कहते हैं।

२) अशुभ कर्मों में रहे हुए उग्र रस को मंद बनानेरूप रसघात का कार्य अपूर्व रसघात कहलाता है।

३) गुण अर्थात् असंख्य गुणाकार और श्रेणी, अर्थात् कर्म दल की रचना करने, रूप क्रम या पंक्ति। स्थितिघात में बताए हुए, स्थिति में से प्रति समय जिन कर्म दलिकों को नीचे उतारता है, उन्हें उदय समय से लेकर अंतर्मुहूर्त तक के स्थिति, स्थानों, असंख्य गुण के क्रम से सुव्यवस्थित करता है। ऐसी कर्मदलिक रचना को अपूर्व गुणश्रेणी कहते हैं।

४) असंख्यात गुण असंख्यात गुण चढ़ते क्रम में अशुभ कर्मदलिकों का नये बंधाते हुए शुभ कर्मों में संक्रमण करना, अर्थात् अशुभ को शुभ में परावर्तित करना। प्रति समय असंख्य गुण बनता जाय, उसे अपूर्व गुणसंक्रमण कहते हैं। यहाँ आयुष्य के अतिरिक्त सात कर्मों का गुणसंक्रमण होता है।

५) अपूर्व स्थिति बंध में अन्तर्मुहूर्त में नए कर्मबंध की कालस्थिति पत्योपम के संख्यातवे भाग जितनी न्यूनतम होती है। अध्यवसाय की विशुद्धि पर कर्मबंध स्थिति अल्प होती है।

सारांश यह है कि अपूर्वकरण के समय शुभ अध्यवसाय प्रति समय चढ़ते क्रम के होते हैं। अतः समय-समय पर उपरोक्त पाँचों ही अपूर्वकरण चढ़ते क्रम से होते हैं।

इस तरह के उपरोक्त पाँचों ही अपूर्व स्थिति घातादि जो अनादि भूतकाल में कभी भी नहीं हुए थे, और आज अपूर्व अर्थात् अभूतपूर्व रूप से होते हैं। अतः यह अपूर्वकरण कहलाता है। यह वीर्योत्प्लासरूप अपूर्वकरण अंतर्मुहूर्त ही रहता है।

पहले किया गया यथाप्रवृत्तिकरण नामक प्रथम करण अंकरहित शून्य जैसा है, जबकि अपूर्वकरण होते ही शून्य के पूर्व में १ से ९ तक अंक लग जाते हैं। इससे सभी शून्यों की कीमत हजार लाख आदि बड़ी से बड़ी संख्या बन जाती है। वैसे ही यदि अपूर्वकरण न हो तो मात्र यथाप्रवृत्तिकरण की कीमत शून्य जैसी होती है। लेकिन अपूर्वकरण होते ही दोनों की कीमत अनेक गुणा बढ़ जाती है। यद्यपि यथाप्रवृत्तिकरण में आत्मा की निर्मलता के विकास का प्रारम्भ अवश्य होता है, लेकिन विशेष प्रकार की निर्मलता, विमलता तो अपूर्वकरण में ही होती है।

**अनिवृत्तिकरण—**

अप्पुत्वेणं तिपुंजं मिच्छन्तं कुण्ड कोइवोवमया ।

अनियट्टीकरणेण उ सो सम्महंसणं लहइ ॥

जीव अपूर्वकरण के द्वारा कोदरा आदि धान्य के समान मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है परन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति तो अनिवृत्तिकरण के बाद होती है।

अ + निवृत्ति = अनिवृत्ति। अर्थात् जो निवृत्त न हो, वह अनिवृत्त।

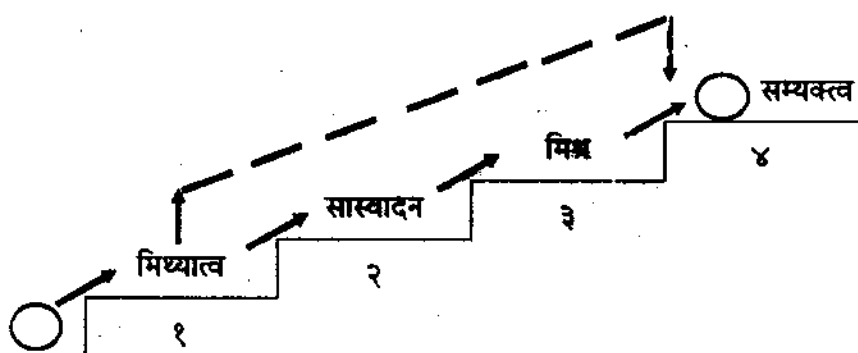
अनिवृत्ति + करण = अनिवृत्तिकरण।

आत्मा का ऐसा विशुद्ध अध्यवसायविशेषरूप करण जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति किए बिना जीव निवृत्त नहीं होता है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अपूर्वकरण से जीव ग्रन्थिभेद करके आगे बढ़ता है, और अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व प्राप्त करके स्थिर होता है। अतः सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना, पुनः पीछे न हटने की प्रतिज्ञारूप आत्मा के विशुद्ध अध्यवसायरूप संकल्प अनिवृत्तिकरण है। यह अपूर्वकरण का कार्य है। इसका समय अंतर्मुहूर्त प्रमाण काल है। यह चरम अर्थात् अन्तिम करण है। इसमें जीव कार्य करता है।

मिथ्यात्व के दो भाग करके अन्तःकरण करता है। इसमें से छोटे पुंजरूप मिथ्यात्व मोहनीय कर्म दलिकों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय करता है, उसी क्षण उसे उपशम नामक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसका नाम अन्तःकरण है। इस तरह अनिवृत्तिकरण के बल पर अन्तःकरण करते हुए जब निष्ठाकाल का अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब सर्वप्रथम मिथ्यात्व अटकता है, क्योंकि पहले ही मिथ्यात्व के दलिकों को वहाँ से नष्ट कर दिया है। अतः यहाँ मिथ्यात्व के उपशम से उपशम भाव द्वारा उत्पन्न होता हुआ, सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ का अनुदय अर्थात् उपशम होता है। और उपशम भाव द्वारा उत्पन्न होता हुआ सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। जब जीव अनिवृत्तिकरण करता है, तब अनादि के अज्ञान का अन्त आता है। अनादिकाल का अज्ञान दूर होते ही सम्यग् परिणति रूप सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इसमें संसार परिणति का अन्त आता है। जिस तरह दाबानल जलता-जलता ऊखर भूमिप्रदेश में आते ही, शान्त हो जाता है वैसे ही अनादि संसार का अज्ञान एवं मिथ्यात्व अनिवृत्तिकरण के अन्तःकरण के फलरूप शुद्ध-सम्यक्त्व प्राप्ति के पास आते ही दूर हो जाता है।

उपरोक्त यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण — तीनों करण के माध्यम से जीव अपनी विकास यात्रा का शुभारम्भ करता हुआ, प्रथम सोपान चढ़ता है, यद्यपि यह सारा कार्य मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थानक में होता है। इसके बाद जीव सीधा सम्यक्त्व के चौथे गुणस्थानक पर जाता है।

अनादि मिथ्यात्व को तोड़कर, व निबिड़ राग—द्वेष की ग्रन्थि को भेद कर, जीव जब प्रथम बार सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, तब उसे कितना आनन्द होता है, यह अवर्णनीय है।



यह गुणस्थान—आरोहण का क्रम है। जीवात्मा सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए इस क्रम से आगे बढ़ती है। सर्वप्रथम पहले मिथ्यात्व नामक गुणस्थानक पर जीव यथाप्रवृत्तिकरण आदि करण करता है और अशुद्ध पुंजों को शुद्ध करके आगे बढ़ता है। सम्यक्त्व प्राप्ति की सही दिशा में आगे बढ़ने के लिए राग—द्वेष की ग्रन्थि का भेदन, अपूर्वकरण की प्रक्रिया द्वारा, करके प्रथम मिथ्यात्व नामक गुणस्थान की जेल से मुक्त होकर, सीधा ही चौथे अविरत सम्यक्दृष्टि नामक गुणस्थान पर पहुँचता है। सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव चौथे गुणस्थान पर आरूढ़ हो जाता है। यद्यपि यह गुणस्थान अविरत है, फिर भी यहाँ सम्यक् श्रद्धा की कक्षा पूर्ण है। जीव की सच्ची श्रद्धा में कोई कमी नहीं है। अनन्त काल के परिभ्रमण में जीव ने ऐसी सिद्धि, जो पहले कभी भी प्राप्त नहीं की थी, उस सिद्धि को प्राप्त करता है। सर्व प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त करने का जीव को अवर्णनीय आनन्द होता है।

॥ सर्वेऽपि सन्तु सम्यग्दर्शिनः ॥

अध्याय ९ का प्रवेश द्वार

## सम्यक्त्व प्राप्ति का अद्भूत आनन्द

|                                                                    |     |
|--------------------------------------------------------------------|-----|
| सम्यक्त्व प्राप्ति के दो प्रकार.....                               | ५१७ |
| सम्यक्त्व का महा फल.....                                           | ५१९ |
| सम्यक्त्व की व्याख्या एवं स्वरूप.....                              | ५२४ |
| यथार्थ सत्य स्वरूप सम्यक्त्व.....                                  | ५२५ |
| देव-गुरु-धर्म का सही स्वरूप.....                                   | ५३० |
| भ्रममूलक व्याख्या और अर्थ.....                                     | ५३१ |
| सम्यक्त्व के विविध प्रकार.....                                     | ५३२ |
| निश्चय सम्यक्त्व.....                                              | ५३४ |
| दशविध सम्यक्त्व.....                                               | ५३९ |
| समकित के ६७ बोल.....                                               | ५४१ |
| सम्यग् दर्शन में जानना और मानना.....                               | ५४२ |
| सम्यग् एवं श्रद्धा उभय की उपयोगिता.....                            | ५४४ |
| सत्य असत्य की चतुर्भंगी.....                                       | ५४६ |
| आठ दृष्टि का स्वरूप.....                                           | ५४८ |
| ८ योग दृष्टियों में १४ गुणस्थानकों का समावेश.....                  | ५५५ |
| अष्टांग योग के साथ ८ दृष्टियों में जीव का विकास.....               | ५५६ |
| आठ दोष.....                                                        | ५५९ |
| ८ दोषों के त्याग के आधार पर ८ दृष्टियों के विकास की प्रक्रिया..... | ५६१ |
| तीन योगों का स्वरूप.....                                           | ५६२ |
| अंध श्रद्धा और सम्यग् श्रद्धा.....                                 | ५६६ |
| ऐसो पंच नमुस्कारो.....                                             | ५६८ |
| व्यक्तिगत समकित देने की दुकान.....                                 | ५६९ |
| सम्यक्त्वधारी महापुरुषों के दृष्टांत.....                          | ५७१ |

## सम्यक्त्व प्राप्ति का अद्भुत आनन्द

तथा च भिन्ने दुर्भेदे कर्मग्रन्थिमहाबले ।

तीक्ष्णेन भाववज्रेण बहुसंक्लेशकारिणी ॥

योगबिन्दु में कहते हैं कि अपूर्वकरण रूप तीक्ष्ण भाव वज्र द्वारा दुर्भेद्य महाकष्ट से विदारणीय ऐसी राग—द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि को भेदकर, जीव जब आगे बढ़ता है तब उसे अत्यन्त आनन्द होता है । वह आनन्द वास्तव में अनुपम, अद्भुत एवं अभूतपूर्व होता है । वह आनन्द अवर्णनीय होता है ।

स्वाभाविक है कि अनादिकाल के महामिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषाय आदि में जीव ने जो वास्तविक आनन्द कभी भी प्राप्त नहीं किया, ऐसा आनन्द आज सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह अनुभव कर रहा है । तेज गरमी की ऋतु में जब सूर्य के प्रखर ताप से भयंकर गरमी पड़ रही हो, और ऐसे में निर्जन वन में चलता हुआ कोई मुसाफिर गर्मी व पसीने से आक्रान्त हो चुका हो और उसे एका एक निबिड़ वृक्ष की छाया मिल जावे, साथ ही पानी भी मिल जावे, तो उसे कितना आनन्द होगा ? यदि उसकी सेवा में और वृद्धि होती जावे तो उसके आनन्द में भी वृद्धि होती जावेगी । ठीक इसी तरह अनादिकालीन संसाररूप जो वन अटवी है, उसमें ऋतु परिवर्तन की तरह जन्म—मरण के दुःख होते ही रहे, और उसमें मिथ्यात्व और कषाय के ताप से तृप्त हुए तृष्णा रूपी तृषा से पीड़ित ऐसे भव्य जीव रूपी मुसाफिर को, अनिवृत्तिकरण रूपी शीतल वृक्ष की छाया मिलते ही, वह सम्यक्त्व रूपी शीतलता की प्राप्ति से अनहद आनन्द प्राप्त करता है । यह प्रथम बार ही उसे प्राप्त होने के कारण अवर्णनीय होता है । इसी बात को योगबिन्दु में एक अलग दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है ।

आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।

सदृष्याध्यभिभवे यद्वद् व्याधितस्य महौषधात् ॥

—ग्रन्थि भेद किए हुए को, सम्यक्त्व प्राप्त होते ही, प्रशस्त भाववंत महात्मा को, तात्त्विक आनन्द—प्रमोद प्राप्त होता है ।

उदाहरण के लिए समझ लीजिए कि महाकुष्ठ रोग की व्याधि से त्रस्त, व्याकुल हुए, रोगी को शीतोपचार आदि किसी औषधि विशेष से अचानक चमत्कार की तरह रोग शान्त होते ही, रोगी को जैसा आनन्द होता है, वैसा ही अनादि संसार के मिथ्यात्व रोग के तीनों करण रूप महौषधि से मिथ्यात्व की निवृत्तिपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव को पारमार्थिक परम आनन्द होता है ।

आत्मा के अपूर्व वीर्योत्सास के प्रताप से ग्रन्थि भेद होकर, मिथ्यात्व तिमिर दूर होते ही, सम्यक्त्व रूप सूर्योदय से प्रकाश फैल जाता है । वह आनन्द अनुपम ही होता है ।

उपरोक्त दृष्टान्त भी उपमा देने में स्थूल—कक्षा के होने से छोटे पड़ते हैं । अतः हरिभद्रसूरी हमें एक बहुत अच्छा दृष्टान्त देते हैं ।

**जात्यन्धस्य यथा पुंस-शृङ्खलाभे शुभोदये ।**

**सदृशनं तथैवाऽस्य ग्रन्थिभेदेऽपदे जगुः ॥**

जन्म से ही अन्ध, ऐसे जन्मान्ध पुरुष को जिसने जीवन में कभी भी रूप, रंग, प्रकाश आदि की दुनिया देखी ही न हो, और योगानुयोग, अचानक किसी दैवी चमत्कारवश आँखें खुल जाने पर सब कुछ दिखाई देते समय जो आनन्द की अनुभूति होती है, वह अपूर्व, अनुपम होती है । ठीक इसी तरह अनन्त पुद्गल परावर्तकाल में, अनन्त जन्म तक, अनादि मिथ्यात्व के कारण, जिसके सम्यग् दर्शन रूप नयनयुगल नष्ट हो चुके थे, जो वर्षों से सत्य तत्त्व को देख ही नहीं सका था, ऐसे भवाभिनन्दि जीव को योगानुयोग तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर, अपूर्वकरणादि तीनों करण की सहायता से, ग्रन्थि भेद होने पर, सम्यग् दृष्टि रूपी जो नेत्रोन्मिलन होता है, उससे मिथ्यात्व तिमिर नाश रूपी, जो यथार्थ सत्य तत्त्व का जो श्रद्धान् होता है, उसका आनन्द जन्मान्ध की अपेक्षा भी अनेक गुना ज्यादा होता है । ऐसे अनेक दृष्टान्त शास्त्रों में बताए गए हैं ।

एक अन्य दृष्टान्त ऐसा भी है कि सशक्त शक्तिमान् योद्धा भी भयंकर संग्राम में युद्ध करते—करते अन्त में हारने की स्थिति में, घोर निराशा के सागर में डूब जाता है । ऐसे में योगानुयोग अन्तिम क्षण में तीर के सही निशाने पर लगने से, शत्रु राजा की मृत्यु होते ही, उसे युद्ध में विजय रूपी जो आनन्द का अनुभव होता है, उससे भी अनेक गुना ज्यादा आनन्द, भव्य जीव को संसार संग्राम में मोहनीय कर्म की प्रकृति रूपी सेना के साथ युद्ध करते करते हारने के अन्तिम क्षण में अपूर्वकरण आदि योगों से राग—द्वेष की ग्रन्थि का



भेद करके, मानो दुश्मन के दुर्भेद्य किले को भेदकर विजय प्राप्त करता है। उसी तरह ग्रन्थि भेद करने रूप दर्शन मोहनीय एवं अनन्तानुबन्धी कषाय आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का भेद करके, सम्यक्त्व प्राप्ति के विजय से जो आनन्द होता है, वह जीवन का प्रथम आनन्द होता है।

इस प्रकार के कई दृष्टान्त शास्त्रों में दिये गये हैं। यद्यपि ये दृष्टान्त से सर्व आंशिक तुलना भी नहीं कर सकते हैं, फिर भी उस आनन्द को समझने के लिए अनुमान जन्य स्थिति का परिचय करा सकते हैं। स्वाभाविक है कि अनादिकाल से जिस जीव ने जिस सम्यक्त्व को कभी प्राप्त नहीं किया था, उसे उस प्रकार के सम्यक्त्व को प्राप्त करके, सदा के लिए संसार से मुक्त होकर, मैं मोक्ष में एक दिन निश्चित ही जाऊँगा, इस प्रकार के दृढ़ संकल्प से उसे अभूतपूर्व आनन्द होता है।

सर्वप्रथम जीव कौन सा सम्यक्त्व प्राप्त करता है? इसके बारे में शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्ति आदि तीन करणों के द्वारा सर्वप्रथम औपशमिक प्रकार का सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

कोई जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी प्राप्त करता है। सिद्धान्तकारों का मत है कि मिथ्यात्व गुणस्थानक से जीव सीधे चौथे, अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थानक पर आता है। यद्यपि चौथे गुणस्थानक पर व्रत, विरति, पञ्चक्खाण न होते हुए भी उसकी श्रद्धा सम्यग् होती है।

**सम्यक्त्व प्राप्ति के दो प्रकार—**

“तन्निर्गर्गादधिगमाद् वा” (१/३)

निर्गर्गाद्वाऽधिगतो, जायते तच्च पंचथा।

मिथ्यात्वपरिहाण्यैव, पञ्चलक्षणलक्षितम्॥

(धर्मसंग्रह—२२)

सम्यक्त्व प्राप्ति

निर्गम से

अधिगम से

निर्गम = अर्थात् बिना किसी निमित्त के, स्वाभाविक, सहज रूप से।

निर्गम से— तीर्थंकर भगवान्, गुरुउपदेश आदि किसी भी प्रकार का निमित्त न प्राप्त होते हुए भी जो जीव स्वयं सहज, स्वाभाविक भाव से तथाभव्यत्वादि प्राप्त करके

यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण आदि करण करता हुआ, अंतरंग विशुद्धि एवं अध्यवसाय शुद्धि के आधार पर नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक प्रक्रिया से सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अंतरंग और बाह्य दो निमित्तों से होती है। अतः निसर्ग यह अंतरंग निमित्त है, और अधिगम यह बाह्य निमित्तजन्य है।

निसर्ग और अधिगम ये दोनों सम्यक्त्व के प्रकार नहीं हैं, लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया के मात्र दो मार्ग हैं। जीवविशेष की योग्यताविशेष, परिपक्व होने पर, किसी देव—गुरु आदि के उपदेश के अभाव में भी, वह नैसर्गिक रूप से अंतरंग विशुद्धि के आधार पर, तीनों करण करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं।

(२) अधिगम से सम्यक्त्व—अधिगम अर्थात् तीर्थंकर, गुरु आदि के उपदेशरूप बाह्य निमित्त।

इसमें देव—गुरु के उपदेश, धर्मोपदेश, जिनप्रतिमा दर्शन—पूजन, जिनागम, प्रवचन श्रवण, आदि बाह्य निमित्तों की प्रधानता रहती है। इन प्रेरक निमित्तों से जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता हो, उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं। ऐसा सम्यक्त्व चाहे बाह्य निमित्त से हो या बिना बाह्य निमित्त के हो, दोनों ही प्रकार में प्रधान (मुख्य) अंतरंग निमित्त है।

अंतरंग निमित्त की शुद्धता के बिना, बाह्य निमित्तादि मिलने पर भी, सम्यक्त्व नहीं होता है। इसलिए अंतरंग निमित्त की शुद्धता परम आवश्यक है। बाह्य निमित्त रूप देव—गुरु धर्मोपदेश आदि की प्राप्ति भी अंतरंग निमित्त को शुद्ध या जागृत करने में सहायक बनती है। इस तरह अनादि मिथ्या दृष्टि जीव बाह्य निमित्त के सद्भाव या अभाव में, निसर्ग या अधिगम दोनों ही मार्ग से सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दोनों ही तरह से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है। बाह्य निमित्त द्वारा जो अंतरंग निमित्त प्रकट होता है, उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं। लेकिन दोनों में ही जीव का भव्यत्व परिपक्व होना मुख्य आधार है।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि का कार्य ही उपरोक्त— १. निसर्ग, २. अधिगम द्वारा होता है। अतः सम्यक्त्व की प्राप्ति निसर्ग और अधिगम दो प्रकार से होती है। जब जंगल में लगा हुआ दावानल बढ़ते—बढ़ते, ऊँखर भूमि तक पहुँचते ही, अपने आप (स्वयमेव) शान्त हो जाता है, तब दावानल की शान्ति में कोई बाह्य निमित्त नहीं है।

ठीक इसी तरह अनादि मिथ्यादृष्टि जीव में जो मिथ्यात्व अनादिकाल से चला आ रहा है, वह मिथ्यात्व तथा भव्यत्व परिपक्व होने पर यथाप्रवृत्ति आदि तीनों करण करते हुए, ग्रन्थि भेद करके जो सहज स्वाभाविक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे बाह्य निमित्त भाव रूप नैसर्गिक—निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं। लेकिन जंगल का वही दावानल यदि किसी के द्वारा पानी, रेत, धूल आदि डालकर बुझा दिया जावे, ठीक इसी तरह किसी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व को देव—गुरु धर्मोपदेश की वाणी रूपी पानी से शान्त कर दिया जाय और मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम या क्षयोपशम से जो औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे बाह्यनिमित्त सिद्धावरूप अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं।

### सम्यक्त्व प्राप्ति का महाफल—

अनन्त पुद्गल परावर्तकाल के परिभ्रमण में अनादिकाल के इस संसार में मिथ्यादृष्टि जीव ने जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया था, तब तक उसका संसार असीमित एवं अनन्त था, लेकिन जब जीव ने यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करणों के महापुरुषार्थ से सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त किया, तभी से मानो उसके भव संसार में सूर्योदय हुआ हो। सम्यक्त्व रूपी सूर्योदय से उसके जीवन में मानो ज्ञान का प्रकाश फैला हो। अब उसके सामने देव—गुरु—धर्म तथा जीवादि तत्त्व सही अर्थ में दिखाई देने लगे। जैसे छोटे बालक को पाठशाला में प्रवेश कराते और नाम लिखाते समय, माता—पिता आदि बालक के भविष्य के प्रति आशान्वित होते हैं कि हमारा बालक एक दिन पढ़ लिखकर डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, प्रोफेसर आदि बनेगा। वे ऐसे भावी सपने बालक के विद्यालय में प्रवेश के प्रथम दिवस से ही देखने लगते हैं। खेत में बीज बोते समय ही किसान उत्तम फसल और उससे प्राप्त होने वाले भावी फल की प्राप्ति का विचार करके, मन में अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। ठीक इसी तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति के बीज रूप है। जिस तरह बीज के बिना वृक्ष की कल्पना करना असंभव है, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना मोक्ष प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होना, याने भव्य जीव के संसार रूपी खेत में मोक्ष रूपी बीज का वपन (बोया जाना) है। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि सम्यक्त्व प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति की पूर्व भूमिका है। प्राथमिक कक्षा में सम्यक्त्व प्राप्ति रूपी नामांकन से जीव भावी में मोक्ष प्राप्ति रूप सिद्धावस्था की उपाधि प्राप्त करता है; या इस तरह कहिए कि मोक्ष रूपी रस्सी का प्रथम सिरा (किनारा) सम्यक्त्व है, तो आगे बढ़ती हुई उसी रस्सी का अन्तिम सिरा मोक्ष का है।

मोक्ष रूपी किसी सीढ़ी का प्रथम सोपान सम्यक्त्व है तो अन्तिम सोपान मोक्ष है । अतः मोक्ष की मंजिल पानेवालों को सम्यक्त्व के प्रथम सोपान पर चढ़ने से ही अपनी मोक्ष—यात्रा प्रारम्भ करनी पड़ती है । अतः ज्ञानी महापुरुषों ने कहा है कि—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः । (१-१)

इस सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र को मोक्ष मार्ग बताया है । इस मार्ग का प्रारम्भ सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है और अन्त मोक्ष प्राप्ति में है अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मिलकर मोक्ष का मार्ग बनता है ।

नाणं च दंसणं चैव चरित्तं च तवो तथा ।

एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गइं ॥ (उत्तरा—३)

ज्ञान—दर्शन—चारित्र, तप का सम्यग् मार्ग प्राप्त करके जीव मोक्ष रूपी सद्गति प्राप्त करता है ।

ऐसा सम्यक्त्व प्रथम बार प्राप्त होते ही सबसे बड़ा लाभ यह है कि उस जीव का मोक्ष उसी समय निश्चित हो जाता है । ऐसा निश्चित हो जाता है कि यह जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा । इसमें कोई सन्देह नहीं; भले ही काल का अन्तर हो । इसलिए सम्यक्त्व और मोक्षमार्ग के बीच अविनाभाव (परस्पर—पूरक) सम्बन्ध जोड़कर यह कह सकते हैं कि जो—जो सम्यक्त्व पाएगा, वह मोक्ष में अवश्य जाएगा, तथा जो मोक्ष में जाएगा वह अवश्यमेव सम्यक्त्व प्राप्त किया हुआ होगा । यह सम्बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसे दिन होगा तो सूर्य होगा ही, जहाँ सूर्य है वहाँ दिन अवश्यमेव होगा । इस कथन को हम इस रूप में कह सकते हैं कि दोनों एक दूसरे के साथ ही होते हैं ।

अतः सूर्य होने पर दिन और दिन होने पर सूर्य निश्चित ही होगा । ठीक इसी तरह सम्यक्त्वी का मोक्ष अवश्य होगा । और जिसे मोक्ष प्राप्त होगा वह सम्यक्त्वी निश्चित होगा । अतः सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्ति का लाइसेंस या सर्टीफिकेट (प्रमाण-पत्र) है ।

अब रहा प्रश्न बीच में सिर्फ काल (समय) का । सम्यक्त्व पाने के कितने समय बाद जीव मोक्ष पाएगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—

अन्तोमुहुत्तमित्तं पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्पत्तं ।

तेसिं अवहु पुग्गल परियट्ठो चैव संसारो ॥ (नवतत्त्व—५३)

ऐसा सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी = ४८ मिनट) मात्र काल भी जिसे स्पर्श या प्राप्त हुआ हो, वह जीव अवश्य ही अर्धपुद्गल परावर्त परिमित काल में मोक्ष प्राप्त करता

है; अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद अर्धपुद्गलपरावर्तकाल ही संसार शेष रहता है। जब तक जीव ने सम्यक्त्व नहीं पाया था, तब तक जीव ने अनन्त पुद्गल परावर्तकाल का संसार बिताया था। ऐसे अनन्त के सामने अब मात्र अर्धपुद्गल परावर्तकाल ही शेष बचा है। यह कितने आनन्द की बात है! एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी दोनों मिलकर एक कालचक्र बनता है, और अनन्त कालचक्र का एक पुद्गल परावर्तकाल बनता है। ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल का संसार जीव ने सम्यक्त्व के अभाव में, मिथ्यादशा में बिताया है। अब सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद वह काल अनन्त का न रहकर सिर्फ अर्धपुद्गलपरावर्त ही शेष रहा है।

इसे ऐसे समझिये कि मानो एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु का मात्र कुछ कंकड़ शेष रहता है। या अगाध महासमुद्र सूखकर एक लघु खड्डा पानी रह जाता है। यहाँ कुछ कंकड़ और एक लघु खड्डा पानी सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद शेष रहा, अल्पकाल को समझाने के लिए रूपक अर्थ में है, दृष्टान्त रूप है।

मानो कोई मुसाफिर महासमुद्र को तैरकर यात्रा करता हो, वह वर्षों तक तैरते-तैरते थककर क्लांत हो चुका हो, और उसे किनारा सामने दिखाई देते ही, शेष रहे अल्प अन्तर को देखकर वह जितना प्रसन्न होता है, उसी तरह संसार यात्रा का मुसाफिर, मिथ्यादृष्टि भव्य जीव, मिथ्यात्व के महासमुद्र में अनन्त पुद्गल परावर्तकाल तक परिभ्रमण करके, थककर क्लांत होने पर तथाभव्यत्व के परिपक्व से यथा—प्रवृत्तिकरण आदि तीनों करण करके ग्रन्थि भेद से सम्यक्त्व प्राप्त करके, जब मोक्षमार्ग पर आकर सामने देखता है, तब समुद्र यात्री को किनारा दिखाई देने के समान, सम्यक्त्वी जीव को मोक्ष की क्षितिज सामने दिखाई देती है। इस अनन्त दुःख रूप संसार से मुक्त होकर अवश्य ही मैं मोक्ष में जाऊँगा। इस आभास मात्र से उसे कितना आनन्द प्राप्त होता होगा? यह अकल्पनीय होकर अवर्णनीय है।

इस तरह अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल की तुलना में शेष बचा हुआ मात्र अर्ध पुद्गल परावर्तकाल का अन्तिम संसार सम्यक्त्वी जीव के लिए बहुत अल्पकाल अवाधि है।

अतः वह अनुपम आनन्द एवं सुखानुभूति करता है। भले ही अर्धपुद्गलपरावर्त काल में असंख्य भव भी हो, फिर भी सम्यक्त्वी जीव को अनुपम आनन्द है क्योंकि अनन्त के सामने अब काल या भव की यह संख्या मात्र संख्यात् या असंख्यात् रूप में ही अवशिष्ट रही है। यह बड़ी खुशी की बात है क्योंकि भूतकाल में बीते हुए अनन्त काल के सामने

अवशेष या अवशिष्ट काल या भव की संख्या मात्र अनन्तवें भाग की ही शेष है, यह जानकर जीव को अत्यन्त खुशी होती है। अतः आगामी अर्धपुद्गलपरावर्त काल में संख्यात् या असंख्यात् वर्ष या भव भी बिताने पड़े तो भी वे अनन्त नहीं हैं, और मोक्ष निश्चित एवं सामने है, यह जानकर सम्यक्त्वी जीव का आनन्द अद्भुत एवं अनुपम है। शास्त्रकार महर्षि यहाँ तक कहते हैं कि—

सम्मदिद्वि जीवो, गच्छइ नियमा विमाणवासिसु ।

जइ न विगयसम्भतो, अहवा न बद्धउओ पुर्व्वि ।

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तयंमि सहहणा ।

सहहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥ (धर्मसंग्रह—२—३)

— सम्यग्दृष्टि जीव ने यदि सम्यक्त्व प्राप्ति के पहले, परभव का आयुष्य न बांधा हो और सम्यक्त्व का वपन न हुआ हो तो (अर्थात् सम्यक्त्वावस्था में यदि आयुष्य कर्म बांधे तो) निश्चित रूप से वैमानिक देवगति में ही जाता है। वैमानिक देवगति यह अन्य सभी गति की अपेक्षा उच्च सुख की श्रेष्ठ गति है।

दूध में शक्कर या सोने में सुगन्ध मिलाने के समान, यदि सम्यग् दर्शन के साथ—साथ द्रव्य—क्षेत्र—काल व भाव आश्रयादि, जब जब जितना शुभ धर्मानुष्ठान करना शक्य (संभव) हो, उतना यदि साथ करता जाय, जिसमें विशेष ज्ञान, चारित्र, तपादि की साधना हो, उसे करता रहे, और अशक्य के प्रति यथाशक्ति करने की सहहणा—श्रद्धा पूरी बनाए रखे, और सम्यक्त्वपूर्वक आगे की साधना एवं भावना बनाये रखनेवाला ऐसा श्रद्धावान् सम्यक्त्वी जीव अवश्य ही अल्पकाल या भवों में अजर—अमर पद मोक्ष को प्राप्त करता है। यह सम्यक्त्व प्राप्ति का महाफल है।

**सम्यक्त्व प्राप्ति से ही भव संख्या का निर्णय—**

शास्त्रों में ऐसा नियम बताया गया है जब से जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है तभी से उसके भवों की गणना की जाती है। जब मोक्ष प्राप्त करता है, तब तक के भवों की गिनती की जाती है। तात्पर्य यह कि सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष गमन तक के भवों की गणना प्रधान रूप से होती है। यही गणना संभव है। लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व का काल जो अनादि मिथ्यात्व का था, उस काल की गणना एवं उस मिथ्यात्व के काल में हुए भवों की गिनती करना कदापि सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि अनादि मिथ्यादशा में काल भी अनन्त बीता और भव भी अनन्त बीते हैं। एक तरफ तो दोनों की संख्या अनन्त की

है और दूसरी तरफ से अनादि है। अतः ऐसे अनादि, अनन्त संसार काल एवं भवगणना की संख्या में गणना करना असंभव सा है। साथ ही निरर्थक भी है। इसलिए शास्त्र का यह नियम सही है कि भवों की गणना सम्यक्त्व प्राप्ति से की जाय और मोक्षगमन तक के अन्तिम भव तक के भवों की गणना की जाती है। इसी नियम के आधार पर चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के २७ भवों का होना आगम में वर्णित है, यद्यपि भगवान् महावीर स्वामी के अनन्त भव संसार में हुए हैं, न कि केवल २७ भव। सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व—काल में भगवान् महावीर की आत्मा भी अनन्त पुद्गल परावर्तकाल के अनादि अनन्त संसार में चार गति एवं पांच जाति के ८४ लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करती हुई अनन्त भव कर चुकी थी। ये अनन्त भव (जन्म) अनादि मिथ्यात्व की कक्षा में हुए थे। अतः इनकी गणना व्यर्थ होने से नहीं की गई है। लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्षगमन तक के भवों की गणना की गई है, वह २७ भवों की है।

भगवान् महावीर की आत्मा ने प्रथम भव—नयसार के रूप में पूर्व में बताई हुई प्रक्रिया से सम्यक्त्व प्राप्त किया था। उन्होंने अधिगम मार्ग से साधु—मुनि महाराज के उपदेश से सम्यक्त्व पाया था।

नयसार के रूप में प्रथम भव में जो सम्यक्त्व के बीज बोए गए थे, वे ही अंकुरित पल्लवित होते हुए आगामी भवों में फलदायी बने। अतः २७ वें भव में वे मोक्ष में गए।

इसी तरह प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की आत्मा धनसार्थवाह के प्रथम भव में अधिगम विधि से धर्मघोष सूरि आचार्य भगवान् के दिए गए धर्मोपदेश श्रवण से सर्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं। सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण ही इसे प्रथम भव माना गया है। इसके बाद की संसार यात्रा में १३ भव करके वे ऋषभदेव प्रभु बनकर मोक्ष में गए। इस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्षगमन तक की उनकी भवसंख्या १३ है।

मरुभूति के रूप में प्रथम जन्म में अधिगम भेद से गुरु—उपदेश द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करके, भव भ्रमण को सीमित करते हुए, १० वें भव में भगवान् पार्श्वनाथ बनकर मोक्ष में गए।

इस तरह व इसी नियम के आधार पर भी तीर्थंकरों की एवं मोक्ष में गई अन्य सिद्ध आत्माओं की भव संख्या की गणना की जाती है। सम्यक्त्व की अनुपस्थिति में अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में जितने भव बीतते हैं, उनकी गणना नहीं की जाती है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व कितना महत्वपूर्ण है, एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति कितनी उपयोगी एवं अनिवार्य है। यह समझकर जैसे भी हो सम्यक्त्व प्राप्त करना ही चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह सम्यक्त्व कैसा होता है ? इसका स्वरूप कैसा होता है ? सम्यक्त्व किसे कहते हैं ? सम्यक्त्व की व्याख्या क्या है ? सम्यक्त्व प्राप्ति की रीति एवं प्रक्रिया को हम पहले देख चुके हैं । अतः यहाँ पर सम्यक्त्व की व्याख्या एवं स्वरूप का विवेचन किया जाता है ।

**सम्यक्त्व की व्याख्या एवं स्वरूप—**

तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वातिजी महाराज ने सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग् दर्शनम् ॥ १-२ ॥**

तत्त्व + अर्थ = श्रद्धानं = सम्यग्दर्शन तत्त्वरूप जो पदार्थ हैं, उनकी दृढ़ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं । तत्त्व जो जीवादि पदार्थ हैं उनके यथार्थ स्वरूप की जानकारी एवं मानने की वास्तविक श्रद्धा को सम्यग् दर्शन कहते हैं । अर्थात् तत्त्वभूत जीवादि पदार्थों की परिणाम जन्य तात्त्विक श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

जीवादि तत्त्व कौन से हैं ? यह बताने के लिए आगे के चौथे सूत्र में कहते हैं कि—

**जीवाजीवाश्रव बंधसंवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ॥ १-४ ॥**

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि तत्त्व हैं । पूर्वधर महापुरुष उमास्वाति महाराज ने इस सूत्र की रचना में पुण्य और पाप को आश्रव तत्त्व के अन्तर्गत गिनकर तत्त्वों की संख्या सात रखी है, क्योंकि शुभाश्रव को पुण्य कहते हैं व अशुभ आश्रव को ही पाप कहते हैं । इसलिए पुण्य और पाप को आश्रव के शुभाशुभ भेद गिनकर तत्त्वों की संख्या सात कही जा सकती है, और जब पुण्य—पाप की व्याख्या स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में करते हैं तब तत्त्वों की संख्या नौ मानी जाती है, जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र आगम में दर्शाया है—

**जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्य पावाऽसवो तहा ।**

**संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥** (उत्तरा—१४)

— जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये नौ तत्त्व हैं । इसी के जैसी, परन्तु क्रम भेद दर्शाती हुई, गाथा नवतत्त्व प्रकरण में इस प्रकार है—

**जीवाजीवा पुण्णं पावाऽसव संवरो य निज्जरणा ।**

**बन्धो मुक्खो य तहा, नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥** (नवतत्त्व—१)



१. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आश्रय, ६. संवर, ७. बंध, ८. निर्जरा, ९. मोक्ष आदि नौ तत्त्व जानने जैसे हैं। समस्त जगत् में ये ही मूलभूत नौ तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त संसार में किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है। अतः तत्त्वों की संख्या न्यूनाधिक न रखते हुए निश्चित ही रखी गई है। इन्हीं तत्त्वों के साथ जुड़ने वाले भिन्न-भिन्न नामों से हम तत्त्वों का स्वरूप कुछ सादृश्य नामकरण से भी जान सकते हैं, जैसे— जीव (चेतन), अजीव (जड़), आत्मा—परमात्मा, कर्म—धर्म, पुण्य—पाप, स्वर्ग—नरक, लोक—अलोक, इहलोक—परलोक, पूर्वजन्म—पुनर्जन्म, आश्रय, संवर बंध, क्षय, मोक्ष आदि मूलभूत मुख्य तत्त्व हैं। लोक व्यवहार के दृश्यमान पदार्थों को ही पदार्थ मात्र मानकर नहीं चलना है, परन्तु ऐसे तत्त्वभूत, तात्त्विक पदार्थों को मानकर चलने से एवं उनकी यथार्थ श्रद्धा रखने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसा कि नवतत्त्वकार कहते हैं कि—

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्पत्तं ।

भावेण सहहंतो, अयाणमाणेवि सम्पत्तं ॥ ५१ ॥

जीवादि नौ पदार्थों को जो सम्यग् रूप से जानता है, उसे सम्यक्त्वी कहते हैं। इन नौ तत्त्वों का ज्ञान तीर्थकर प्ररूपित कथन (जिनवाणी) के अनुसार एवं अनुरूप यथार्थ ही होना चाहिए। उसी को श्रद्धारूप सम्यक्त्व कहते हैं। श्लोक की दूसरी पंक्ति में जो बात कही गई है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म के कारण यदि तत्त्वभूत पदार्थों का ज्ञान कोई विशेष कक्षा का न भी पाया हो, परन्तु सुगुरुयोग से श्रवणादि द्वारा समझकर उन तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा रखना भी सम्यक्त्व कहलाता है; अर्थात् भाव से श्रद्धा रखता हुआ भी सम्यक्त्वी कहलाता है। इस तरह यहाँ पर तत्त्वभूत नौ पदार्थों का यथार्थ सम्यग् ज्ञान एवं उनकी भावपूर्वक दृढ़ श्रद्धा इन दोनों को सम्यक्त्व के जनक बताए हैं। इसी बात को उत्तराध्ययन सूत्र आगम के प्रस्तुत श्लोक से आधार मिलता है—

तहियाणं तु भावाणं, सम्भावे उवएसणं ।

भावेण सहहंतस्स, सम्पत्तं तं विद्याहिं ॥

यथार्थ सत्य स्वरूप सम्यक्त्व—

सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सम्यग् अर्थात् सही, सत्य यथार्थ एवं वास्तविक आदि। तत्त्वभूत पदार्थ के वास्तविक सत्य को स्वीकारना ही सम्यक्त्व कहलाता है। अर्थात् जगत् का कोई भी पदार्थ, अपने स्वरूप में जो जैसा है, उसे उसी स्वरूप में, ठीक वैसा ही मानना, इसे सम्यक्त्व कहते हैं।

**यद् यथा तद् तथैव इति श्रद्धा एवं ज्ञानं सम्यक्त्वं उच्यते ।**

अर्थात् जो तत्त्वभूत पदार्थ अपने स्वरूप में जैसा है उसे उसी स्वरूप में ठीक वैसा ही मानना एवं जानना सम्यक्त्व कहलाता है । इसी व्याख्या को चाहे सम्यक्त्व की व्याख्या कहो, चाहे सत्य की व्याख्या कहो—दोनों बात एक ही है । क्योंकि सत्य को ही सम्यक्त्व कहते हैं । ठीक इसके विपरीत मानना या जानना मिथ्यात्व कहा जाएगा । मिथ्यात्व असत्य एवं अज्ञान रूप होता है । जबकि सम्यक्त्व सत्य एवं सम्यग् ज्ञान रूप होता है । अतः सम्यक्त्व में सत्य का आग्रह होता है और यथार्थता एवं वास्तविकता की दृष्टि होती है जबकि मिथ्यात्व में ठीक इससे विपरीत असत्य का आग्रह होता है । साथ ही अज्ञानतावश कदाग्रह, दुराग्रह की वृत्ति होती है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान का चरम सत्य स्वरूप कहाँ से प्राप्त किया जाय ? प्रत्येक व्यक्ति अपनी बात सच्ची ही कहता है, अतः किसकी बात सच्ची मानें ? “मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः” इस कथन के अनुसार—“जितनी व्यक्ति उतनी मति” या “जितने मुंह उतनी बात” वाला ऐसा संसार का स्वरूप है । कोई भी व्यक्ति, मत, पंथ, गच्छ, समुदाय या धर्म अपनी बात को असत्य कहने को तैयार नहीं है । अतः किसे सत्य मानें ? और किसका मत सत्य मानें ? यह हमारे सामने एक विकट प्रश्न है ।

एक ओर शास्त्र—सिद्धान्त यह कहता है कि चरम सत्य का स्वरूप एक ही होता है । सत्य कभी भी दो रूपों में नहीं होता है । सत्य कभी भी अस्थिर या विनाशी, नाशवंत एवं क्षणिक नहीं होता है । सत्य तो सदा ही स्थिर, नित्य, ध्रुव, अविनाशी व शाश्वत होता है । ऐसे सत्य को कहाँ से प्राप्त करें ? हमें सत्य के सच्चे स्वरूप के दर्शन कहाँ से होंगे ? किसकी बात पर हम आँख मूंदकर पूर्ण विश्वास रखें ? किनकी बात को पूर्ण सत्य मानें और यह समझें कि इसमें अंशभर भी असत्य की संभावना ही नहीं है । जिसमें रंजमात्र भी शंका न हो ऐसी बात किसकी हो सकती है ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि—“सच्चं खु भयवं” अर्थात् सत्य ही भगवान है । भगवान ही पूर्ण सत्य स्वरूप है और भगवान का कहा हुआ ही चरम सत्य है । इस सत्य और भगवान में अविनाभाव (एकात्म) सम्बन्ध है । तर्क बुद्धि से सोचने पर तर्क का आकार इस प्रकार का हो सकता है कि—जो—जो सत्य हैं वह भगवान ने कहा है ? या जो—जो भगवान ने कहा है वह सत्य है ? या जितना सत्य है, उतना भगवान ने कहा है ? सत्य बड़ा है या भगवान ? भगवान से सत्य की उत्पत्ति हुई है या सत्य से भगवान की उत्पत्ति हुई है ? ऐसे कई प्रश्नों का सारांश यह है कि सत्य सर्वज्ञ कथित एवं सर्वज्ञोपदिष्ट है ।

सर्व प्रथम भगवान के विषय में ही सही (सत्य) निर्णय कर लें ताकि सत्य का मूल आधार स्पष्ट हो जावे । इसे भी तर्क की कसौटी पर कस कर देखें—

जो—जो सर्वज्ञ हैं वे भगवान हैं या जो—जो भगवान हैं वे सर्वज्ञ हैं ? जो जो वीतरागी अरिहंत हैं वे भगवान हैं या जो—जो भगवान हैं वे वीतरागी अरिहंत हैं ? सत्य की इस कसौटी पर बात स्पष्ट दिखाई दे रही है कि जो—जो सर्वज्ञ, पूर्ण ज्ञानी, सम्पूर्ण ज्ञानी, अनन्तज्ञानी या केवलज्ञानी हैं, वे ही भगवान हैं । उन्हें ही भगवान के रूप में स्वीकारना चाहिये । यही सत्य है । लेकिन अपने मन से बन बैठे भगवान तो इस संसार में अनेक हैं । सभी सर्वज्ञ नहीं हैं । आज तो अल्पज्ञ, अज्ञानी, विपरीतज्ञानी भी भगवान बन बैठे हैं । अतः उन्हें भगवान कैसे मानें ? इसी तरह जो राग—द्वेष वाले हैं, काम—क्रोधादि आत्म शत्रु रूप कर्म अरियों से युक्त हैं, ग्रस्त हैं, उन्हें भगवान कैसे मानें ? अतः जो अरिहंत वीतरागी हैं वे अवश्य भगवान कहे जा सकते हैं परन्तु जो स्वयं अपने आप भगवान बन बैठे हों, जो रागद्वेष युक्त हों, जो काम—क्रोधादि दोषग्रस्त हों, जो भोग लीला प्रधान जीवन जीनेवाले हों, जो कंचन—कामिनी एवं वैभव—विलास वाले हों, उन्हें भगवान कैसे कहा जा सकता है ?

भगवान शब्द वाच्य १४ अर्थों में से किसी भिन्न अर्थ में या भिन्नार्थ में वे भले ही अपने आपको भगवान मानें या उन्हें कोई भगवान कहे, लेकिन वे सच्चे अर्थ में भगवान कहलाने योग्य नहीं हैं । अतः भगवान को पहचानने के लिए एवं उनकी परीक्षा के लिए सिर्फ दो ही शब्द पर्याप्त हैं—एक उनका वीतराग होना (२) सर्वज्ञ होना । जैसे सोने की परीक्षा कसौटी पर कस कर करते हैं ठीक इसी तरह “वीतराग” व “सर्वज्ञ” होने सम्बन्धी इन दो शब्दों की कसौटी पर कसके भगवान के सच्चे स्वरूप को जान सकते हैं । यही बात निम्न श्लोक में कही गई है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, ज्ञातारं विश्वतत्त्वानाम् ।

भेत्तारं कर्म भूभूतां, वन्देऽहं तद्गुणलब्धये ॥

जो मोक्षमार्ग के उपदेशक हो, जो समस्त विश्व के तत्त्वों के ज्ञाता—सर्वज्ञ हो, तथा सर्वकर्मभूभूत अर्थात् कर्म के पहाड़ों को भेदनेवाले विजेता अर्थात् वीतराग हो ऐसे भगवान के उन गुणों को प्राप्त करने के लिए, मैं उन्हें वन्दन करता हूँ । सोचिये ! इस स्तुति में भगवान के गुण बताकर, उन्हें वन्दन किया गया है । अतः इन गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे गुण वाले ही भगवान होते हैं । भगवान और इन सर्वज्ञ वीतरागादि गुणों में परस्पर अविनाभाव एवं अन्योन्याश्रयभाव सम्बन्ध है । ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं ।

राग—द्वेष सहित एवं सर्वज्ञता रहित स्वरूप को भगवान कभी नहीं कह सकते हैं । भगवान वीतरागता एवं सर्वज्ञता रहित नहीं हो सकते हैं । भगवान बनने के लिये ये गुण आवश्यक होते हैं । परन्तु इन गुणों को प्राप्त किये बिना या इस अवस्था पर पहुँचे बिना ही यदि कोई रागी—द्वेषी, अल्पज्ञ, विपरीतज्ञ ही अपने आपको भगवान कहने लगे या राग—द्वेष, भोग—विलास करनेवाले भी भगवान बन जावे अथवा उन्हें भगवान मानकर उनके अनुयायी बनकर यदि कोई उनके पीछे पागल होता है, तो समझिये कि—“स्वयं नष्टा परान्नाशयति” वे खुद भी नष्ट हो चुके हैं और अन्यो का भी नाश करेंगे । “विनाशकाले विपरीतबुद्धिः” की तरह नाश—विनाश काल में उनकी मति विपरीत हुई कि उन्होंने रागी—द्वेषी—भोग विलास वाले अल्पज्ञ को भगवान माना । वे स्वयं तो असत्य मिथ्यात्व एवं अज्ञान के खड्डे में गिरे ही लेकिन अपने कदाग्रह—दुराग्रह के खड्डे में दूसरों को भी गिराया, फंसाया । इस तरह “स्वयं नष्टा परान्नाशयति” जैसी परिस्थिति निर्माण कर दी ।

अतः सम्यक्त्व का मुख्य आधार जो भगवान पर है उन्हें सर्वप्रथम सर्वज्ञ वीतरागी अवस्थावाले मानना ही अनिवार्य है और ऐसे सर्वज्ञ वीतरागी को ही भगवान मानना ही शुद्ध सच्चा सम्यक्त्व कहलाएगा ।

“आप्तस्तु यथार्थवक्ता” इस सूत्र से पूज्य तार्किक शिरोमणि वादिदेवसूरी महाराज ने “प्रमाणनयतत्त्वालोक” ग्रन्थ में यथार्थ वक्ता को ही आप्त महापुरुष कहा है । लौकिक आप्त पुरुष जो संसार के व्यवहार में भी है, जबकि इनसे श्रेष्ठ सर्वोच्च कक्षा के लोकोत्तर आप्त महापुरुष जो वीतरागी सर्वज्ञ हैं, उनके वचन में श्रद्धा रखना ही सम्यक् श्रद्धा है ।

इस तरह स्पष्ट सत्य स्वरूप ऐसा है कि जो वीतरागी होते हैं वे ही भगवान होते हैं, परन्तु अल्पज्ञ रागी—द्वेषी भोग—लीलावाले भगवान नहीं कहलाते हैं । इसलिये वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा (भगवान) ने जो—जो कहा है वही सत्य है और वास्तव में जो सत्य है उसे परमात्मा ने ही कहा है, क्योंकि वीतरागता के गुण के कारण, राग—द्वेष, काम—क्रोधादि कारणों का परिहार हो जाने के कारण अब असत्य बोलने या कहने का उसके पास कोई कारण ही शेष नहीं बचा है । क्रोध—लोभ—भय, हास्यादि ये ही असत्य बोलने के प्रमुख कारण हैं जबकि सर्वज्ञ वीतरागी भगवान जो “अष्टादशदोषवर्जितो जिनः” अठारह दोष या सर्व दोष रहित जिन भगवान कहलाते हैं उनमें काम, क्रोध, लोभ, भय, हास्यादि किसी भी दोष की जब संभावना ही नहीं है तो फिर वे असत्य क्यों व किस कारण बोलेंगे ? हमारे सामने तो काम, क्रोध, लोभ, भय, हास्यादि अनेक कारण उपस्थित रहते हैं, इसलिए हम असत्य बोलते रहते हैं, परन्तु वीतराग परमात्मा जो सर्व दोष रहित है, जिनमें उपरोक्त

दोषभूत क्रोध, लोभ, भय व हास्यादि कारण ही नहीं है तो वे असत्य बोल ही कैसे सकते हैं ? कारण के बिना कारण कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ऐसा सर्वथा असंभव ही है । अतः यह स्वीकारना निर्विवाद है कि जो—जो भगवान ने कहा है वह पूर्ण सत्य है । साथ ही जो—जो सत्य है वह भगवान ने ही कहा है ।

सर्वज्ञ वीतरागी भगवान के सिवाय सत्य का चरमस्वरूप बतानेवाला जगत में और कोई है ही नहीं । जैसे सूर्य के कारण दिन और दिन के कारण सूर्य, अन्योन्याश्रित कारणरूप हैं, ठीक वैसे ही भगवान के कारण सत्य और सत्य के कारण भगवान ये भी अन्योन्याश्रित कारण रूप होने से दोनों ही जन्य—जनक कारणरूप हैं । सत्य का कारण भगवान और भगवान का कारण सत्य । इसलिये जो सर्वज्ञ वीतरागी भगवान हैं, वे ही चरम सत्य का स्वरूप बता सकते हैं । इसलिये आगम शास्त्र में सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि—“जं जं जिणेहिं भासियाइं तमेव निःसंकं सच्चं ।” —“तमेव सच्चं निःसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ।” जो—जो सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान ने कहा है वही शंका रहित सत्य है, ऐसा मानना स्वीकारना ही सम्यक्त्व है । सर्वज्ञ जो अनन्तज्ञानी, केवलज्ञानी है, जिन्होंने समस्त लोक—अलोक रूप सारा संसार जाना है, देखा है । अनन्त पदार्थों के अनन्त गुण—पर्यायों का सम्पूर्ण ज्ञान जिन्हें है, वे जो तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादित कर गये हैं, वही चरम सत्य है व भविष्य में भी होगा । अतः ऐसे चरम सत्य रूप तत्त्वार्थ तत्त्वभूत पदार्थ में जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में वैसा ही देखना, जानना एवं मानना उसमें अंश मात्र भी शंका न रखना, यही सम्यक्त्व की उत्तम व्याख्या है । जिनेश्वर प्रतिपादित तत्त्व में यथार्थ बुद्धि रखनी, वास्तविक सच्चे ज्ञान के प्रति श्रद्धा रखनी, यही सम्यक्त्व है । इससे बढ़कर श्रेष्ठतम व्याख्या क्या हो सकती है ? इस प्रकार सम्यक्त्वी सत्य का ज्ञान प्राप्ति, सत्य का आग्रही एवं सत्यान्वेषी होता है । वह प्रत्येक वस्तु एवं तत्त्वभूत पदार्थ को यथार्थ, वास्तविक स्वरूप में देखता, जानता व मानता है । ऐसे सम्यक्त्वी की दृष्टि भी सम्यक् (सच्ची), ज्ञान जानकारी सम्यक् (सच्चा), और उभय रूप से मानना श्रद्धा भी सम्यग् (सच्ची) होती है । अतः वह सच्चा सम्यक्त्वी होता है ।

अतः देखने, जानने और मानने की तीन रीतियों से जिसने अपनी वृत्ति सम्यक् बनाई है वह सच्चा सम्यक्त्वी है । ऐसा सम्यक्त्वी जो सम्यग् ज्ञानी है, जो प्ररूपणा प्रतिपादन करेगा, उसमें भी सत्य, पानी पर तैल की तरह तैरता हुआ, स्पष्ट दिखाई देता है, सम्यक्त्वी का सम्यग् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा किसी से छिपी नहीं रह सकती है । वह जीवादि सभी

तत्त्व को तथा देव—गुरु—धर्मादि के स्वरूप को उसी अर्थ एवं स्वरूप में देखेगा, जानेगा व मानेगा, जिस स्वरूप में जीवादि तत्त्व या देव—गुरु—धर्मादि हैं। तत्त्व पदार्थ के यथार्थ वास्तविक स्वरूप से सम्यक्त्वी के देखने, जानने, मानने एवं कहने में विषमता कभी भी नहीं आएगी। हमेशा सुसंगतता एवं सुसंवादिता ही रहेगी, क्योंकि तत्त्व—पदार्थ का जैसा वास्तव में स्वरूप है, उसे सम्यक्त्वी तनिक भी परिवर्तन किए बिना वैसा यथार्थ ही मानता है, जानता है और देखता है। अतः कथन भी वैसा यथार्थ वास्तविक ही करेगा। विपरीत प्ररूपणा मिथ्यात्वी कर सकता है, सम्यक्त्वी कदापि नहीं कर सकता है।

**देव—गुरु—धर्म का सही स्वरूप—**

या देवे देवता बुद्धिः गुरौ च गुरुतामतिः ।

धर्मे धर्म धीर्यस्य सम्यक्त्वं तदुदीरितम् ॥

वास्तव में जो देव—देवाधिदेव भगवान है, उनमें ही भगवानपने की, देवपने की बुद्धि रखें तथा वास्तव में सही अर्थ में जो कंचन—कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रतधारी, संसार के त्यागी साधु—मुनि महात्मा है, उनमें ही गुरुपने की बुद्धि रखें तथा जो सर्वज्ञ कथित (सर्वज्ञोपदिष्ट) धर्म है, उसमें ही धर्म बुद्धि रखें उसे सम्यक्त्वी कहते हैं।

भगवान का जो सर्वज्ञ—वीतरागी स्वरूप पहले कहा जा चुका है, उसी में भगवानपने की सम्यग् बुद्धि रखनी, उसी तरह गुरु से भी जो सच्चे गुरु है उनमें ही गुरुपने की यथार्थ सम्यग् बुद्धि रखनी, अर्थात् जो सर्वज्ञ, वीतरागी भगवान के बताये हुए मार्ग पर चलते हैं उन्हें ही गुरुबुद्धि से गुरुपने के रूप में मानना यही सच्ची सम्यक् मान्यता है। ठीक इसी तरह धर्म भी कौनसा ? और कैसा मानें ? इस विषय में भी मात्र ऐसे लोकोत्तर आप्त महापुरुष जो सर्वज्ञ वीतरागी भगवान हैं, उन्हीं के द्वारा कहे गए सर्वज्ञोपदिष्ट मार्ग को धर्म मानना इसी में सम्यक्त्व है।

इस तरह सम्यक्त्व की समझ—सम्पूर्ण दृष्टि, वृत्ति आदि सत्य की तरफ होती है। वह प्रत्येक बात में सत्य स्वरूप को ही जानने, देखने, मानने का आग्रह रखता है। अतः सम्यक्त्वी, सत्यान्वेषी, सत्य का आग्रही होता है। ऐसे सम्यक्त्व में जीवादि नौ तत्त्व हैं, उन्हें भी उसी रूप—स्वरूप में मानना—स्वीकारना होता है।

ऐसा नहीं होता कि पदार्थ का स्वरूप कुछ और ही है और उसे जानने में हम कुछ और ही जान रहे हैं या विपरीत जान रहे हैं। तो वह सम्यक्त्व न होकर मिथ्यास्वरूप होगा।

## भ्रम मूलक व्याख्या और अर्थ—

संसार में ऐसे कई मिथ्यामति जीव हैं जो अपने बुद्धिबल एवं कुतर्क तथा कुयुक्तियों के आधार पर संसार के मूलभूत जो सही तत्त्वादि पदार्थ हैं उनको अपने ढंग से, अपनी पद्धति की व्याख्या से समझाते हैं। तत्त्वों के नाम तो वे ही रखेंगे। जीव, अजीव, पुण्य—पाप—मोक्ष आदि नाम तो वही होंगे परन्तु अर्थ एवं व्याख्या अपने ढंग की मनमानी तरीके से करेंगे। जैसे आत्मा के बारे में कई कहते हैं—‘देहात्मा’ अर्थात् वे देह और आत्मा को एक ही मानते हैं। उनके अनुसार देह ही आत्मा है। वे यह मानने को कदापि तैयार नहीं होते हैं कि आत्मा शरीर से अलग है। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसी प्रकार संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। कोई—कोई ऐसे भी हैं जो मन को ही आत्मा मानते हैं। कोई प्राण को आत्मा मानते हैं। कोई ब्रह्म को आत्मा मानते हैं। वे अन्य जीव में आत्मा नहीं मानते हैं।

संसार में कोई कहते हैं कि एक ही आत्मा है। दूसरे कहते हैं कि आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। कुछ आत्मा मानकर, उसे क्षणिक विनाशी मानते हैं; तो कोई उसे कूटस्थ—नित्य, एकान्त—नित्य या एकान्त—अनित्य ही मानते हैं। लेकिन “उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त” यथार्थ स्वरूप में नहीं मानते हैं। कोई आत्मा को भी जड़ रूप में मानते हैं; तो कोई आत्मा को भी पंचमहाभूतजन्य मानते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश आदि पाँच महाभूतों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई आत्मा को मानते हैं; तो कोई *Chemical Compound* याने रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न हुई आत्मा मानते हैं; तो कोई आत्मा को अनादि, अनन्त, असंख्य प्रदेशी नहीं मानते हैं; तो कोई आत्मा को ज्ञान—दर्शनादि गुणवान नहीं मानते हैं; तो कोई ऐसे भी हैं जो आत्मा को शून्य रूप मानते हैं। कुछ कहते हैं, आत्मा है ही नहीं; तो कोई आत्मा शब्द के भिन्न—भिन्न अर्थ लगाते हैं। इस तरह यह तो केवल आत्मा के बारे में विवाद या मतमतान्तर की बात हुई। एक आत्मतत्त्व के बारे में लोगों की सैकड़ों तरह की भिन्न—भिन्न मान्यताएँ हैं। ठीक इसी तरह आत्मा, परमात्मा, जीव, अजीव, पुण्य—पाप, सुख—दुःख, धर्म—कर्म, स्वर्ग—नरक, लोक—परलोक, इहलोक—अलोक, पूर्वजन्म—पुनर्जन्म, आश्रव—संवर, बंध—मोक्षादि अनेक तत्त्वों के विषय में जो यथार्थ वास्तविक स्वरूप एवं अर्थ है, वैसा न मानते हुए, न कहते हुए, वे अपनी मन घडन्त व्याख्या एवं अर्थ करके जगत के भोले—भाले जीवों को माछीमार की तरह अपनी जाल में फंसाते हैं। अपने पक्ष में या मत में खींचते हैं। यह सारी स्थिति मिथ्यादशारूप—मिथ्यात्व की प्रवृत्ति है। इसमें कई कोरी स्लेट या कोरे

कागज जैसे जीव ध्रुमवश मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। वे अज्ञान मूलक मिथ्यात्व की दिशा में चले जाते हैं। परिणास्वरूप सच्चे सम्यग् ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। इसलिये— 'तमेव सच्चं निःसंकं जं जिणेहिं एवेइयं।' की व्याख्या अवश्य स्वीकारनी चाहिये। "वही सत्य, निःशंक (शंका रहित) है जो सर्वज्ञ वीतरागी जिनेश्वर भगवान ने प्रतिपादित किया है।" जो सर्वथा सत्य है उसी पर श्रद्धा रखनी चाहिए। इसी को सच्ची सम्यग् श्रद्धा मानेंगे। इसी आधार पर आत्मा से मोक्ष तक के सभी तत्त्वों का ज्ञान भी सम्यग् ही करना चाहिये। सोने में सुगन्ध की तरह ज्ञान और श्रद्धा (दर्शन व ज्ञान) सम्यग् होने पर यदि आचरण याने चारित्र भी सम्यग् बन जाय, चारित्र इनके साथ मिल जाय तो, इस तरह दर्शन-ज्ञान व चारित्र तीनों इकट्ठे हो जाए तो वह मोक्ष मार्ग बन जाता है। इसीलिए कहा है— "सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" ऐसे मोक्षमार्ग को प्राप्त करके जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति में सम्यक्त्व की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इस प्रकार के सम्यक्त्व को समझने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने सम्यक्त्व को अनेक प्रकार से दर्शाया है।

**सम्यक्त्व के विविध प्रकार—**

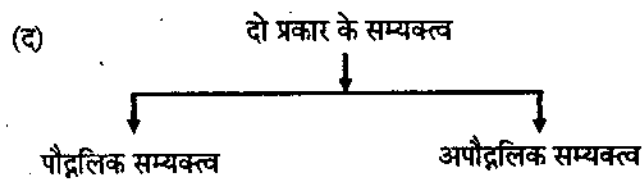
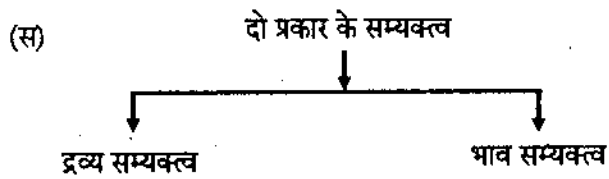
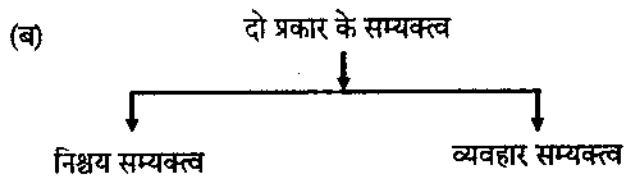
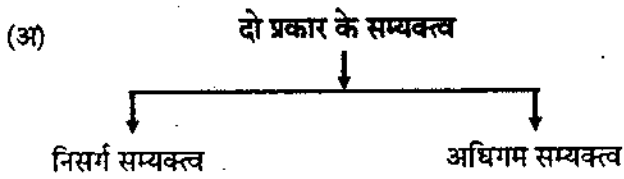
एगविह दुविह तिविहं, चउहा पंचविहं दसविहं सम्मं ।  
 दव्वाइ कारयाई, उवसमभेएहिं वा सम्मं ॥  
 एगविह सम्मरूई, निसग्गहिग्गमेहि भवे तयं दुविहं ।  
 तिविहं सं खइआई, अहवावि हु कारगाईअं ॥  
 खइगाई सासणजुअं, चउहा वेअग जुअं तु पंचविहं ।  
 तं मिच्छचरमपुग्गल-वेअणओ दसविहं एअं ॥

प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में सम्यक्त्व को विविध प्रकारों से समझाने के लिए संख्या के आधार पर कई प्रकार बनाकर बताए हैं, जिसमें एक प्रकार से, दो प्रकार से, तीन भेद से, चार भेद से, पाँच भेद से और दस भेद से, इस तरह विविध प्रकारों से सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है। अतः इनका क्रमशः विचार करना लाभदायक होगा।

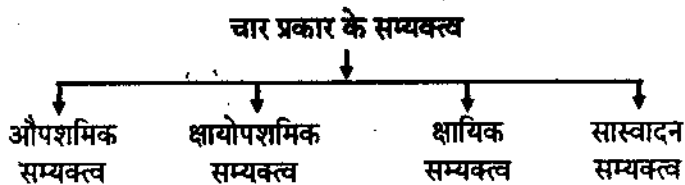
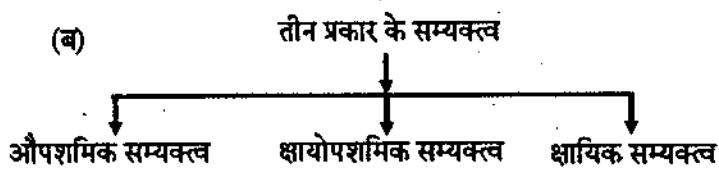
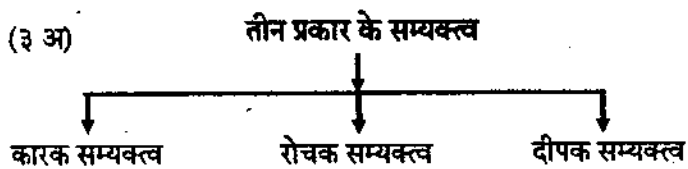
(१) एक प्रकार से सम्यक्त्व— "एगविह सम्मरूई" सम्यक्त्व रूचि को एक प्रकार का सम्यक्त्व कहते हैं या "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" तत्त्वार्थ में श्रद्धा रखना।

(२) दो प्रकार से सम्यक्त्व भिन्न-भिन्न तरीकों से अलग-अलग रूप से होता है।

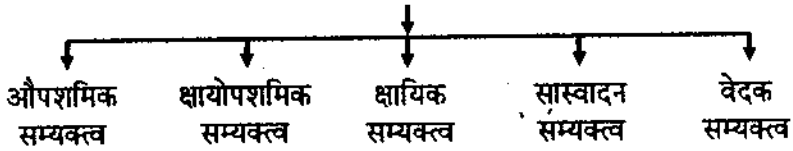




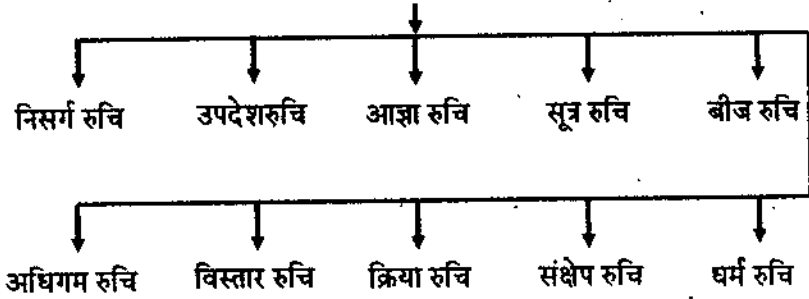
इस तरह चार प्रकार (अ, ब, स, द) से चार प्रकार के भेद किये गये हैं ।



### पांच प्रकार के सम्यक्त्व



### दस प्रकार के सम्यक्त्व



इस तरह भिन्न-भिन्न तरीकों से सम्यक्त्व का स्वरूप समझने के लिए संख्या निमित्तक भेद बताए हैं। इनका स्वरूप संक्षिप्त रूप से समझने के लिए कुछ विचार करना यहाँ आवश्यक है।

१. एक प्रकार से— जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिः शुद्धसम्यक्त्वमुच्यते।

सर्वज्ञ वीतरागी जिनेश्वर भगवंतों ने बताए हुए, जीव-अजीवादि तत्त्वों में अज्ञानशंका, भ्रमशंका, एवं मिथ्याज्ञानादि रहित निर्मलरुचि अर्थात् श्रद्धा रूप आत्म परिणाम विशेष को सम्यक्त्व कहते हैं। जिन कथित तत्त्वों में यथार्थपने की बुद्धि या वास्तविक श्रद्धारूप भाव या तथापि शुद्ध तत्त्वों की श्रद्धा (तत्त्वार्थश्रद्धानं) को बिना किसी भेद के एक प्रकार का शुद्ध सम्यक्त्व कहते हैं।

२. निसर्ग और अधिगम इन दो तरीकों से जो सम्यक्त्व उपार्जन किया जाता है, उसे इन दो प्रकार में गिना गया है।

निष्ठय सम्यक्त्व—

निष्ठयओ सम्पत्तं, नाणाइमयप्प शुद्ध परिणामो।

इयरं पुण तुह समये, भणियं सम्पत्तं हेउहिं ॥

ज्ञान—दर्शन—चारित्रमय आत्मा का जो शुद्ध परिणाम अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की एकता रूप जो आत्म परिणाम विशेष होता है उसे ही निश्चय नय की दृष्टि से सम्यक्त्व कहते हैं। आत्मा और आत्मा के ज्ञान—दर्शनादि गुण भिन्न—भिन्न नहीं हैं परन्तु अभेद भाव से एक ही है। अभेद परिणाम से परिणत आत्मा तद्गुण रूप कहलाती है। जैसा जाना वैसा ही त्याग भाव हो और श्रद्धा भी तदनुरूप हो ऐसे उपयोगी की आत्मा वही ज्ञान, वही दर्शन, वही चारित्र रूप है। ऐसी रत्नत्रयात्मक आत्मा, अभेद भाव से देह में रही हुई है। रत्नत्रयी के शुद्ध उपयोग में वर्तती हुई आत्मा का ही निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। ऐसा निश्चय सम्यक्त्व सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक के पूर्व कहीं नहीं होता है।

### व्यवहार सम्यक्त्व—

उपरोक्त निश्चय सम्यक्त्व में हेतुभूत सम्यक्त्व के ६७ भेदों का ज्ञान, श्रद्धा व क्रिया रूप से यथाशक्ति पालन करने को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। मुनिदर्शन, जिनभक्ति महोत्सव, जिन दर्शन पूजन, तीर्थयात्रा, रथयात्रा आदि शुद्ध हेतुओं से उत्पन्न होते श्रद्धारूप सम्यक्त्व को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। ये हेतु सहायक निमित्त हैं।

१. द्रव्य सम्यक्त्व— जिनेश्वर कथित तत्त्वों में जीव की सामान्य रुचि को द्रव्य सम्यक्त्व कहते हैं, अर्थात् सर्वज्ञोपदिष्ट जीवादि तत्त्वों में परमार्थ जाने बिना ही वे ही सत्य हैं “ऐसी श्रद्धा” रखनेवाले जीवों के सम्यक्त्व को द्रव्य सम्यक्त्व कहते हैं।

२. भाव सम्यक्त्व— उपरोक्त सामान्य श्रद्धा रूप जो द्रव्य सम्यक्त्व है उसी में विशेष बुद्धि से जानना अर्थात् सर्वज्ञोपदिष्ट जीव—अजीव, मोक्षादि तत्त्वों को जानने के उपाय रूप, नय, निक्षेप, स्याद्वाद, प्रमाण आदि शैली पूर्वक सभी तत्त्वभूत पदार्थों को विशेष ज्ञान से परमार्थ जाननेवाले की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व कहते हैं। संक्षेप में सामान्य रुचि यह द्रव्य सम्यक्त्व है। यहाँ पर द्रव्य कारण है और भाव कार्य है। इसलिये भाव सम्यक्त्व के कारण रूप द्रव्य सम्यक्त्व कहा गया है और इसका विशेष रूप से विस्तार रुचि भाव सम्यक्त्व है।

पौद्गलिक सम्यक्त्व— मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गल परमाणु के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को पौद्गलिक सम्यक्त्व कहा गया है। इसमें इन पुद्गलों का उपशम क्षयोपशम प्रधान रूप से होता है। ऐसे क्षायोपशमिक, वेदक, सास्वादन, मिश्र प्रकार के सम्यक्त्व पौद्गलिक सम्यक्त्व में गिने जाते हैं, जबकि क्षायिक और

औपशमिक सम्यक्त्व ये दोनों आत्मा के घर के होने से अपौद्गलिक विभाग में गिने जाते हैं। अतः इन्हें “अपौद्गलिक सम्यक्त्व” कहते हैं।

### त्रिधा सम्यक्त्व—

१. कारक सम्यक्त्व—सर्वज्ञ भगवान ने जैसा “अनुष्ठान—मार्ग” या चारित्र क्रिया रूप जो मार्ग प्रतिपादित किया है उस मार्ग पर चलनेवाले शुद्ध क्रियाशील जीव के श्रद्धाभाव को कारक सम्यक्त्व कहते हैं, अर्थात् सूत्रानुसारिणी शुद्ध क्रिया कारक सम्यक्त्व के रूप में है। ऐसी क्रिया से स्व—आत्मा को और देखने वाली पर—आत्मा को भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अतः यथार्थ तत्त्व श्रद्धान् पूर्वक आगमोक्त शैली अनुसार तप—जप—व्रतादि क्रिया करनेवाले विशुद्ध चारित्रवान् इस कारक सम्यक्त्व के अधिकारी हैं।

२. रोचक सम्यक्त्व—सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के वचन में पूर्ण श्रद्धा रखें, उसमें पूर्ण रुचि भी हो एवं जिनोक्त धर्म की तप—जप—विधि—क्रिया आदि करने की तीव्र रुचि हो, परन्तु बहुल कर्मी जीव होने के कारण वैसी क्रियाएँ कर न सके, किन्तु रुचि रूप जो श्रद्धा रहती है, उस सम्यग् क्रिया के रुचिरूप भाव को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं। लेकिन इसमें प्रवृत्ति वैसी नहीं कर पाता है। ऐसा रोचक सम्यक्त्व अविरत सम्यग् दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानक वाले को होता है। जैसे—श्रेणिक महाराजा आदि को था।

३. दीपक सम्यक्त्व—स्वयं मिथ्यादृष्टि या अभवी जीव हो, फिर भी अपनी उपदेश शक्ति द्वारा अन्य जीवों को सम्यक्त्व भाव उत्पन्न कराने में निमित्त बनता है, दूसरों की यथार्थ श्रद्धा की रुचि जगाने में सहायक बनता है, तथा अन्य जीवों पर जीवाजीवादि तत्त्वों को समझाते हुए, यथार्थ प्रकाश डाल सके, ऐसे मिथ्यात्वी या अभवी जीवों का सम्यक्त्व दीपक सम्यक्त्व कहलाता है। जिस तरह स्वयं दीपक के तले अन्धेरा होता है और वह दूर तक प्रकाश पहुँचा कर वस्तुओं को प्रदर्शित करता है, ठीक उसी तरह का कार्य मिथ्यात्वी-अभवी जीव करते हैं। अर्थात् वे खुद सम्यक्त्वी न होते हुए भी, स्वयं मिथ्यात्वी होते हुए भी अपनी बुद्धि, शक्ति एवं उपदेश से अन्य भव्य जीवों में सम्यक्त्व जगा सकते हैं। यहाँ पर व्यवहार नय के कार्य कारण भाव का अभेद मानकर मिथ्यात्वी अभव्य जीवों में उपदेश प्रधान होने से दीपक रूप सम्यक्त्वी कहलाते हैं। वस्तुतः वे मिथ्यात्वी हैं या अभवी भी हैं जैसे अंगारमर्दकाचार्य स्वयं अभव्य जीव होते हुए भी उपदेशक रूप से ऐसे दीपक सम्यक्त्वी कहे जाते थे।

३-४-५ प्रकार के सम्यक्त्व में मात्र थोड़ा सा ही अन्तर है। तीसरे प्रकार के सम्यक्त्व में मात्र चौथा सास्वादन मिलाने से चौथा प्रकार होता है, और चौथे प्रकार के सम्यक्त्व में पाँचवा वेदक सम्यक्त्व मिलाने से पाँचवा प्रकार बनता है। इस प्रकार १. क्षायिक, २. क्षायोपशमिक, ३. औपशमिक, ४. सास्वादन ५. वेदक इस तरह पाँच प्रकार के सम्यक्त्व बताए गए हैं।

### १. क्षायिक सम्यक्त्व—

खीणे दंसणमोहे, तिविहंमि वि भवनिआण भूअंमि ।

निपच्चवायमउलं सम्पत्तं खाइयं होइ ॥

मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय तीनों प्रकार के दर्शन मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण रूप से क्षय और साथ ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषाय; इस तरह कुल सातों कर्म प्रकृतियों के दर्शन सप्तक का सम्पूर्ण रूप से सर्वथा क्षय हो जाने पर प्राप्त होता हुआ, स्वाभाविक तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व आत्म परिणाम विशेष को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। चूँकि यह सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह क्षायिक सम्यक्त्व अप्रतिपाती है। अर्थात् उत्पन्न होने के बाद कभी भी नष्ट न होता हुआ अनन्तकाल तक रहता है। अतः इसे आदि अनन्त भी कहते हैं। क्षायिक भाव से उत्पन्न होने वाला यह सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।

### २. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—

मिच्छन्त जमुइन्नं तं खीणं अणुइययं च उवसंतं ।

मीसीभाव परिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥

क्षय + उपशम = क्षायोपशम। क्षायोपशमत्व भाव क्षायोपशमिक अर्थात् उदय में आये हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिकों का सर्वथा मूल सत्ता में से क्षय करना और उदय में नहीं आये हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म दलिकों का दबा देने रूप उपशमन कर रखना। ऐसे क्षय और उपशम भाव से, क्षय के साथ उपशम रूप क्षायोपशम भाव से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

३. औपशमिक सम्यक्त्व— मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कर्मप्रकृति की अनुदय अवस्था अर्थात् उपशम होने से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। पूर्व में जिनका काफी विवेचन किया गया

है ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण तथा अन्तःकरण आदि करणों के द्वारा अनादि मिथ्या दृष्टि जीव को अपूर्वकरण से निबिड़ राग—द्वेष की ग्रन्थि का भेदन करने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त में जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण होता है। चारों ही गति में पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को तीनों करण एवं ग्रन्थि भेद आदि से यह सम्यक्त्व प्रकट होता है तथा उपशम श्रेणि में चढ़ते हुए जीवों को होता है।

४. सास्वादन सम्यक्त्व—स + आस्वादन = सास्वादन। आस्वादनेन सह वर्तते इति सास्वादनम्। अर्थात् कुछ स्वाद—आस्वादन के साथ रहे उसे सास्वादन कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के चौथे गुणस्थानक से पतित होते हुए, सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानक पर जो सम्यक्त्व का आस्वादन मात्र रहता है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्ववन्त कोई सम्यक्त्वी जीव अन्तःकरण के अन्त में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः आवलिका का समय शेष रहने पर, अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने पर, सम्यक्त्व से पतित होता हुआ अर्थात् सम्यक्त्व का वमन करने से जब गिरता है, तब कुछ सम्यक्त्व का स्वाद मात्र अंश शेष रहता है। उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

जैसे कोई पाक—दूध, रबड़ी का भोजन करता है और तुरन्त भोजन का वमन होने पर जो आंशिक स्वाद रहता है, ठीक वैसे ही उपशम सम्यक्त्व के वमन होने पर, जो कुछ स्वाद रूप अंश रहता है—उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच का काल ६ आवलिक प्रमाण सास्वादन सम्यक्त्व होता है।

५. वेदक सम्यक्त्व—क्षपक श्रेणि को प्राप्त करने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी जीव को अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारों कषाय एवं मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के पुंज इन ६ के सम्पूर्ण क्षय होने के बाद सम्यक्त्व मोहनीय के शुद्ध पुंज का क्षय करते समय जब सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गल का क्षय करने का अवसर आता है, तब अन्तिम ग्रास का जो वेदन हो रहा हो, उस समय के सम्यक्त्व को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके बाद अर्थात् अन्तिम ग्रास के क्षय होने पर दर्शन सप्तक का सम्पूर्ण अन्त—क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त समय में जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

जीवसमासवृत्ति में मलधारी हेमचन्द्रसूरि म. ने लिखा है कि—

“वेद्यते— अनुभूयते शुद्ध सम्यक्त्व पुंज पुद्गल अस्मिन्नीति, वेदकम्।”

अर्थात् शुद्ध सम्यक्त्व के पुद्गल पुंज जिसमें वेदन—अनुभव होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपरोक्त पाँच प्रकार के सम्यक्त्वों का संक्षेप में विवेचन किया गया है। विशेष रुचि वाले महानुभावों को अन्य शास्त्र आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिये।

**दशविध सम्यक्त्व—**

“रुचिः जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यग् श्रद्धानुमुच्यते।”

योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य म. कहते हैं कि, जिनेश्वर भगवान द्वारा कहे हुए तत्त्वों में रुचि निर्माण होना इसे सम्यक्त्व या सम्यग् (सच्ची) श्रद्धा कहते हैं। “तत्त्वरुचि” सम्यग्दर्शन का कारणभूत प्रबल निमित्त बताया गया है। सिद्धचक्र महापूजन के अनुष्ठान में—“तत्त्वरुचिरूपाय श्री सम्यग्दर्शनाय स्वाहा।” “तत्त्वरुचि” रूप सम्यग् दर्शन को मंगल रूप मानकर पूजन करते हुए नमस्कार किया गया है। अतः सारांश यह है कि सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए “तत्त्वरुचि” जागृत करना परम आवश्यक है। शास्त्रकार महापुरुषों ने सम्यक्त्व कारक ऐसी १० प्रकार की भिन्न—भिन्न रुचियाँ दशविध सम्यक्त्व के अन्तर्गत बताई हैं। वे इस प्रकार हैं—

निसर्गगुण स रूढ़ि, आणरूढ़ सुत्त—बीअ रूढ़मेव।

अधिगम—वित्थाररूढ़ि, किरिआ संखेवधम्मरूढ़ि ॥

(१) निसर्गरुचि— निसर्ग अर्थात् नैसर्गिक याने स्वाभाविक भाव से जिनेश्वर—सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररूपित जीवादि तत्त्वों के प्रति स्वाभाविक अभिलाषा या रुचि होना। बिना किसी के उपदेश से जाति—स्मरणज्ञान से या अपनी प्रतिभाशाली मति से जीवादि तत्त्वों के प्रति रुचि जागृत होना, या दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से मात्र व्यवहार रूप से नहीं परंतु यथार्थ रूप से सत् वस्तु को ही वस्तु रूप मानने का जो शुभ भाव व इससे जीवादि तत्त्व के प्रति यथार्थ श्रद्धा रूप रुचि को निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(२) उपदेशरुचि— गुरु, सर्वज्ञ केवली के उपदेश द्वारा जीवादि तत्त्वों में सत् भूतार्थ रूप, यथार्थपने की रुचि (बुद्धि) को उपदेश रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। अर्थात् उपदेश श्रवण से होनेवाले बोध की रुचि को उपदेशरुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(३) **आज्ञारुचि**— विवक्षित अर्थ बोध के बिना भी जिनेश्वर भगवान की आज्ञा को ही सत्य मानकर कदाग्रह के बिना तत्त्वों में अभिरुचि रखना, आज्ञारुचि कहलाती है। बीतरागी आप्त पुरुष की आज्ञा मात्र से अनुष्ठान करने की रुचि या आचार्य, उपाध्याय, साधु भगवंत, गुरु की आज्ञा से अनुष्ठान आचरने में जो रुचि-उत्पन्न होती है उसे आज्ञारुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसी माषतुष मुनि में थी।

(४) **सूत्ररुचि**— आचारांग सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि अंग—उपांग—सूत्र, आदि आगम ग्रन्थों का पुनः पुनः अध्ययन, अध्यापन पुनरावर्तन करने से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा जीवादि तत्त्वों में यथार्थपने की विशेष श्रद्धा जो उत्पन्न हो, उसे सूत्र रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसा कि गोविन्दाचार्य को थी।

(५) **बीजरुचि**— जीवादि किसी एक पदार्थ की श्रद्धा से उसके अनुसंधान रूप अनेक पदों में तथा उसके अर्थ में उत्तरोत्तर विस्तार होता जाय, उसे बीज रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसे पानी में गिरा हुआ तेल बिन्दु विस्तरता हुआ, चारों तरफ फैल जाता है या एक बीज बोने से जैसे अनेक बीजों का निर्माण होता है वैसे ही अनेक तत्त्वों के बीज रूप या कारणभूत किसी एक तत्त्व की श्रद्धा होने पर वह विस्तरित होती हुई अनेक तत्त्वों की श्रद्धा निर्माण करें, उसे बीजरुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(६) **अधिगमरुचि**— अधिगम अर्थात् ज्ञान। सर्व आगमों के अभ्यास से अर्थ ज्ञान जो प्राप्त किया हो और उस ज्ञान से सर्व आगम शास्त्रों के अर्थ पर सर्वथा सही है ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो उसे अधिगमरुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(७) **विस्ताररुचि**— प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, प्रत्यभिज्ञा एवं आगम आदि सर्व प्रमाण, नय और निक्षेप आदि पूर्वक जो सर्व द्रव्यों का और सर्व गुण पदार्थों का ज्ञान होता है और उससे उत्पन्न हुई अत्यन्त विशुद्ध श्रद्धा को विस्ताररुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(८) **क्रियारुचि**— ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार आदि पाँच आचार का पालन करने की रुचि एवं विनय, वैयावच्च आदि अनुष्ठान रूप क्रिया करने की रुचि को क्रियारुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(९) **संक्षेपरुचि**— जिसे पर-दर्शन का ज्ञान नहीं है और जिन वचन रूप स्व-दर्शन से भी अच्छी तरह परिचय नहीं है, अर्थात् जिसने किसी तत्त्व का सही ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, ऐसे जीव को मात्र मोक्ष प्राप्ति की रुचि हो उसे संक्षेप रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसा कि “चिलाती पुत्र” के जीवन में हुआ। जिसे सम्यग् धर्म का एवं तत्त्वादि



का कुछ भी ज्ञान नहीं था, फिर भी उपशम—संवर—विवेक रूप पदत्रय के श्रवण मात्र से ही जो मोक्ष रुचि जागृत हुई उसे संक्षेपरुचि कहते हैं ।

(१०) धर्मरुचि—मात्र “धर्म” शब्द सुनने से ही जिसे धर्म के प्रति आदर, सम्मान, प्रेम या प्रीति उत्पन्न हो और धर्म पर से वाच्य ऐसे यथार्थ धर्म तत्त्व के प्रति जो सही कक्षा या रुचि उत्पन्न हो, उसे धर्म रुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

इस प्रकार सम्यक्त्व द्योतक दस प्रकार की भिन्न—भिन्न रुचियाँ हैं, जो सम्यग् श्रद्धाकारक हैं । संक्षेप में साधक की सम्यग् श्रद्धा का विश्लेषण करने पर प्रमुख तीन विषयों पर उसकी श्रद्धा का आधार दिखाई देता है, अतः इन तीन विषयों को इस तरह स्पष्ट किया है—

**अरिहंतो, महदेवो, जावज्जिवं सुसाहुणो गुरुणो ।**

**जिणपन्नंतं तत्तं, इअ सम्पत्तं मए गहिअं ॥**

अरिहंत ही मेरे देव—भगवान हैं, सुसाधु मुनिराज ही मेरे गुरु हैं, एवं सर्वज्ञ जिनोपदिष्ट तत्त्व ही मैं यावत्—जीवन (आजीवन) पर्यंत स्वीकार करता हूँ । यहाँ जिनोपदिष्ट तत्त्व से धर्म तत्त्व लिया गया है । इस तरह देव—गुरु—धर्म रूप तत्त्व की यथार्थता को सम्यग् श्रद्धा पूर्वक स्वीकारने वाला साधक यह कहता है कि ऐसा सम्यक्त्व—सम्यग् दर्शन या सम्यग् श्रद्धा मैंने स्वीकार की है । इसे ही भावना रूप बनाकर साधक प्रतिदिन इसका बार बार स्मरण करता है ।

**समकित के ६७ बोल—**

पूज्य उपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने सम्यग् दर्शन प्राप्त किए हुए सम्यग् दृष्टि साधक के स्वरूप का विवेचन करते हुए ६७ बोल मुख्य रूप से बताए हैं । अर्थात् सम्यक्त्वी कैसा होना चाहिये ? उसके लक्षण क्या हैं ? वैसे ही सम्यक्त्वी की शोभा किस में है ? इस तरह सद्वहणा—जयणा—भावना, विनयादि कितने भेद—प्रभेद से युक्त सम्यक्त्वी का स्वरूप कैसा होता है ? यह प्रदर्शित किया है । उपाध्यायजी ने इस विषय में “समकितना ६७ बोल” की सज्झाय नामक स्वतन्त्र पुस्तक रूप में रचना की है । यद्यपि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप से अध्ययन करने योग्य है तथापि यहाँ पर स्थान एवं विस्तार भय से संक्षेप में उन ६७ बोलों के नाम मात्र का उल्लेख करते हैं—

तीन शुद्धि— मन, वचन, काया ।

तीन लिंग— सुश्रुषा, राग, वैयावच्च ।

पाँच लक्षण— शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य, अनुकंपा ।

पाँच दूषण— शंका, आकांक्षा, वितिगिच्छ, प्रशंसा और संस्तव ।

पाँच भूषण— स्थैर्य, प्रभावना, भक्ति, कुशलता और तीर्थ सेवा ।

आठ प्रभावक— प्रवचनी, धर्म कथनी, वादी, निमित्तभावी, तपस्वी, विद्यासम्पन्न, सिद्ध और कवि ।

छः आगार— रायाभियोगेण, गयाभियोगेण, बलाभियोगेण, देवाभियोगेण, गुरुनिग्रह, वृत्तिकान्तार ।

चार सद्वहणा—तत्त्वज्ञान का परिचय, तत्त्वज्ञानी की सेवा, व्यापन्नदर्शनी वर्जन, कुलिंगी संग वर्जन ।

छः जयणा— कुदेव या कुचैत्य के साथ ६ प्रकार का व्यवहार न करना, वंदन, नमन, दान, प्रदान, आलाप, संलाप ।

छः स्थान— अस्ति, नित्य, कर्ता, भोक्ता, मुक्ति, उपाय ।

दश विनय— निर्मलता के लिए इन दस का विनय करना— अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचनी, दर्शन ।

उपरोक्त सम्यक्त्व के ६७ अधिष्ठान स्थान हैं । इनको पहचानना और इनका आचरण करना लाभदायी है । इससे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होती है, या प्राप्त सम्यक्त्व निर्मल होता है । इन ६७ अधिष्ठान स्थानों को सम्यक्त्व के ६७ भेद या प्रकार के रूप में भी समझे जाते हैं । ऐसा सम्यक्त्व प्राप्त जीव सम्यक्त्वी एवं सम्यग् दृष्टि बन जाता है । इसके कारण प्रत्येक क्षेत्र में वह यथार्थ एवं वास्तविक ज्ञान की बुद्धि से देखता है, जानता है और उसे मानता है ।

सम्यग् दर्शन में “जानना और मानना”—

सम्यग् ज्ञान से जीव जानता है और सम्यग् दर्शन से जीव मानता है । इसलिए यदि सम्यग् ज्ञान है तो उसकी जानकारी भी सम्यग् एवं सच्ची होगी । ठीक इसके विपरीत यदि ज्ञान मिथ्या या विपरीत या भ्रमपूर्ण या संदेहास्पद या संशयात्मक होता है तो उसकी

जानकारी एवं श्रद्धा भी वैसी ही विपरीत होगी। अतः सही श्रद्धा के लिए ज्ञान भी सही होना अत्यन्त आवश्यक है। दर्शन अर्थात् श्रद्धा यदि सम्यग् (सच्ची) होगी तो जीव की तत्त्वों के विषय में मान्यता अर्थात् मानने की वृत्ति भी सम्यग् होगी। अतः जानना और मानना यद्यपि स्वतन्त्र और भिन्न-भिन्न है, तथापि यदि वे सहयोगी एवं सहभागी बनकर साथ रहेंगे तो दुगुना चौगुना लाभ होगा। नहीं तो यथेच्छ लाभ नहीं भी होता है। तर्क बुद्धि से देखने पर ऐसा प्रश्न खड़ा होता है कि जो जानता है वह मानता है ? या जो मानता है वह जानता है ? जो जितना और जैसा जानता है, क्या वह उतना ही और वैसा ही मानता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा अनिवार्य नहीं है कि जो जाने वह माने ही, वैसे ही जो माने उसे जाने ही। यह भी कई बार अनिवार्य नहीं दिखाई देता है।

ज्ञान संग्रह के रूप में कई लोग सैकड़ों विषयों का ज्ञान (जानकारी) जरूर रखते हैं, जैसे कि मिथ्यादृष्टि जीव भी आत्मा, परमात्मा, मोक्षादि विषयों की जानकारी रखता भी है, और आजीविका के लिए दूसरों को पढ़ाता भी है, परन्तु स्वयं इन विषयों को नहीं भी मानता है अर्थात् स्वयं आत्मा परमात्मा मोक्षादि तत्त्वों में श्रद्धा नहीं रखता है।

अभव्य जीव भी कई बार आत्मा—परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों की जानकारी, उसका अच्छा व पर्याप्त ज्ञान भी रखता है। दीपक सम्यक्त्व के रूप में सम्यक्त्व की उपमा पाने वाला, अभव्य जीव दूसरे कई जीवों को पढ़ाकर या समझा—बुझाकर उनकी श्रद्धा उत्पन्न करा देता है लेकिन स्वयं सदा ही मिथ्यात्वी—श्रद्धाहीन रहता है। इस तरह कई जीव जानते हुए भी श्रद्धा रखने रूप मान्यता नहीं रखते हैं। वे श्रद्धा विहीन ज्ञानवान होते हैं। विद्वान् पंडित कई बार आर्हतदर्शन के आत्मा परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों का अभ्यास करते और कराते हैं। अहिंसा आदि सिद्धान्तों पर भाषण भी देते हैं और लेख भी लिखते हैं परन्तु उसमें श्रद्धा नहीं रखते हैं। वे साफ कहते हैं कि हम मात्र आजीविका के लिए किसी को पढ़ा देते हैं, तथा पैसा मिलता हो, सम्मान मिलता हो तो भाषण भी देते हैं। लेख व पुस्तक आदि भी लिख देते हैं। परन्तु हम तो यही मानते हैं कि गाय या अश्व मारकर, उनका पुरोडास बनाकर यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यही हमारी श्रद्धा है।

जैसे मन्दिर का एक पुजारी भगवान की पूजा आदि अच्छी तरह करता है, वह क्रिया—विधि आदि की अच्छी जानकारी रखता है, परन्तु मान्यता या श्रद्धा के विषय में उससे पूछा जाय तो वह साफ कहता है कि मैं तो मात्र आजीविका के लिए यह सब काम करता हूँ। मुझे नौकरी करना है, मुझे तो पैसों से मतलब है। इस प्रकार उसे श्रद्धा या मानने

से कोई मतलब नहीं है। इस तरह कई जो जानते हैं वे यदि श्रद्धा के विषय में कोरे हैं तो उनकी जानकारी निरर्थक हो जाती है। लाभदायी नहीं हो पाती है।

ठीक इसी तरह श्रद्धा के पक्ष में रहनेवाला साधक यदि श्रद्धा या अपनी मान्यता सही रखते हुए भी ज्ञान या जानकारी यदि सही नहीं रखता है तो वह भी एकान्ती, एक पक्षीय बनकर निष्फल सिद्ध होता है। बिना सम्यग् ज्ञान के उसकी श्रद्धा अन्ध—श्रद्धा बन जाती है। आत्मा—परमात्मा मोक्ष आदि तत्त्वों में ज्ञान रहित, सिर्फ मानने रूप श्रद्धा रखने मात्र से, अंध—श्रद्धालु बना हुआ, वह जल्दी बदल भी जाता है। उसे कोई कुतर्क—वितर्क पूर्वक बुद्धि कौशल से अतत्त्व विषय में समझाएगा तो वह उसकी तरफ झुकने में देरी नहीं करेगा। ऐसे अंध—श्रद्धावाले जीवों को बहुत जल्दी बदला जा सकता है। कई बार चमत्कार आदि निमित्तों से श्रद्धा रखने वाले जीव भी जो कि सम्यग् ज्ञान रहित श्रद्धावान होते हैं, वे भी ऐसे बुद्धि चातुर्य के कुतर्क—वितर्क की जाल में फँसकर अपनी श्रद्धा छोड़ देते हैं। इसी आधार पर ऐसे ही अंधश्रद्धालु लोगों का धर्म परिवर्तन कराने का कार्य कई लोग करते हैं। उसका फायदा उठाते हैं। श्रद्धा अल्पजीवी नहीं होती है। वह सदाकाल नित्य द्रुन स्थायी होती है। शर्त इतनी ही है कि सम्यग् ज्ञान जन्य एवं उस पर आधारित होनी चाहिए। अतः जानना और मानना, उभय अन्योन्य सहयोगी एवं सहोत्पन्न होनी चाहिये। हम जितना और जैसे जानें, वह ज्ञान भी सम्यग् होना चाहिये और उसके आधार पर हमारी श्रद्धा भी सम्यग् होनी चाहिए।

### सम्यग् और श्रद्धा उभय की उपयोगिता—

जानना और मानना इनके द्विक् संयोगी चार भेद किये जाते हैं।

- (१) जानना और न मानना।
- (२) मानना और जानना।
- (३) न जानना और न मानना।
- (४) मानना पर न जानना।

उदाहरण के लिए हम इन्हें चार प्रकार के पुत्रों के दृष्टान्त से समझ सकते हैं—

(१) एक प्रकार का पुत्र वह होता है जो अपने पिता को कहता है कि पिताजी ! मैं आपको मानूँगा। परन्तु आपका कहा हुआ नहीं मानूँगा।

(२) दूसरा कहता है पिताजी ! आपका कहना मानूँगा पर आपको ही नहीं मानूँगा।

(३) तीसरा कहता है पिताजी ! मैं न तो आपको मानूँगा और न ही आपका कहना मानूँगा ।

(४) चौथा कहता है पिताजी ! मैं आपको भी मानूँगा और आपका कहना भी मानूँगा ।

पाठकों ! आप ही सोचिए कि उपरोक्त चार प्रकार के पुत्रों में से कौन सा पुत्र अच्छा और योग्य है ? प्रथम या द्वितीय दोनों प्रकार के पुत्र जो कि एकान्ती एकपक्षीय मान्यता रखते हैं, उन्हें कैसे अच्छे मान सकते हैं ? जो पिता को न माने और उनकी आज्ञा को माने या आज्ञा को माने और पिता को न माने, वे दोनों ही अधूरी श्रद्धा वाले हैं । तीसरा पुत्र जो पिता और आज्ञा दोनों को ही मानने के लिए तैयार नहीं है, ऐसे तीनों प्रकार के पुत्र अयोग्य कहलाते हैं । पिता और आज्ञा दोनों को मानने वाला चौथा पुत्र ही योग्य कहलाएगा । यह तो व्यवहारिक क्षेत्र में पुत्र की बात हुई, लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में भक्त और भगवान के विषय में पुत्र की ही तरह चार भेद होते हैं—

(१) एक प्रकार का भक्त वह होता है जो भगवान को मानता है परन्तु भगवान की आज्ञा नहीं मानता है ।

(२) दूसरा जो कि पहले का ठीक उल्टा है वह भगवान की आज्ञा को तो मानता है लेकिन भगवान को मानने के लिए तैयार नहीं है ।

(३) तीसरा वह है जो महामिथ्यात्वी एवं नास्तिक है, वह भगवान और भगवान की • आज्ञा रूप धर्म दोनों को ही मानने के लिए तैयार नहीं है ।

(४) चौथा परम श्रद्धालु एवं आस्तिक है जो भगवान को और भगवान की आज्ञा या धर्म दोनों को समश्रद्धा से मानता है ।

इस प्रकार चार पुत्रों की तरह चार प्रकार के भक्त होते हैं । उनमें मात्र चौथे प्रकार का पुत्र या भक्त ही योग्यता वाला होता है, जो श्रद्धावान एवं आस्तिक होता है । अन्य तीनों प्रकार के पुत्र एवं भक्त अयोग्य—नास्तिक एवं अनाज्ञाकारी होते हैं । जिस तरह एक पिता उपरोक्त तीनों प्रकार के पुत्रों को पुत्र होते हुए भी अयोग्य मानते हैं और असन्तुष्ट रहते हैं, ठीक वैसे ही शास्त्र तीनों प्रकार के भक्तों (उपासकों) को अयोग्य ठहराता है । इन पुत्रों की तरह कई भक्त ऐसी विचारधारावाले होते हैं जो भगवान को मानते हुए भी भगवान की आज्ञारूप धर्म को नहीं मानते हैं, क्योंकि भगवान की आज्ञा रूप धर्म को मानना बहुत कठिन होता है जबकि भगवान को मानना बड़ा आसान है । भगवान को मानने में मात्र उनका स्वरूप जीवन चरित्र सुनकर या समझकर तथा चमत्कार जन्य निमित्तों की श्रद्धा से

मानना बड़ा आसान लगता है, जबकि भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्वों या आज्ञा रूप धर्म को मानने या स्वीकारने में पढ़ना, समझना, जानना, सोचना, विचारना, चिन्तन करना, मनन करना, परीक्षण करना और फिर दिमाग में बैठाना, एवं इतना ही नहीं पुनः उसका जीवन में आचरण करना तथा उसे सम्यग् श्रद्धा में स्थिर करना बड़ा कठिन, लोहे के चने चबाने जैसा लगता है। इसलिये सरल होने से भगवान को मानने के लिए वह तैयार है लेकिन भगवान के कहे हुए तत्त्व व आज्ञा रूप धर्म को स्वीकार करने को वह जल्दी तैयार नहीं होता है। जैसे पीला देखकर सोना खरीदना आसान होता है, परन्तु कस लगाकर कसौटी पर कसना, छेद, भेद, ताप आदि से परीक्षा करके ठगे न जाय, इस वृत्ति से खरीदना कठिन होता है।

संख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो तीसरे नम्बर का पुत्र या भक्त जो सर्वथा नास्तिक एवं अयोग्य है अर्थात् जो भगवान और भगवान की आज्ञा रूप धर्म को मानने और स्वीकारने को सर्वथा तैयार नहीं है, ऐसे लोगों की संख्या संसार में सबसे ज्यादा है। दूसरे नम्बर पर भगवान को मानना लेकिन भगवान के कहे हुए तत्त्व या आज्ञारूप धर्म को न मानने वालों की संख्या आती है। तीसरे नम्बर पर भगवान के कहे हुए तत्त्व या आज्ञारूप धर्म को मानने वाले, परन्तु भगवान को न मानने वाले लोगों की संख्या भी इस संसार में है। अब रही बात चौथे नम्बर की। सच्चा धर्मी एवं आस्तिक—श्रद्धालु वही है जो भगवान को और भगवान की आज्ञा रूप धर्म को समान रूप से मानता, स्वीकारता, जानता, आचरण करता है। यद्यपि इस चौथे प्रकार के भक्त या पुत्र के जैसे लोगों की संख्या संसार में अल्प ही क्यों न हो, फिर भी है तो सही।

जैसे कि जिसके पास नाव हो और वह उसे चलाना भी जानता है, तो वह पार पहुँच जाता है। वैसे ही चौथे नम्बर का उपासक (भक्त) संसार समुद्र तैर जाता है। इस तरह सही जानना और सही मानना यही सम्यग् दर्शी की सच्ची दृष्टि कहलाती है। अतः सम्यग् दृष्टि जीव सत्य को सत्य ही कहेगा और असत्य को असत्य ही कहेगा।

**सत्य-असत्य की चतुर्भंगी—**

$$(१) \text{ True + False = False}$$

$$(२) \text{ False + True = False}$$

$$(३) \text{ False + False = True}$$

$$(४) \text{ True + True = True}$$

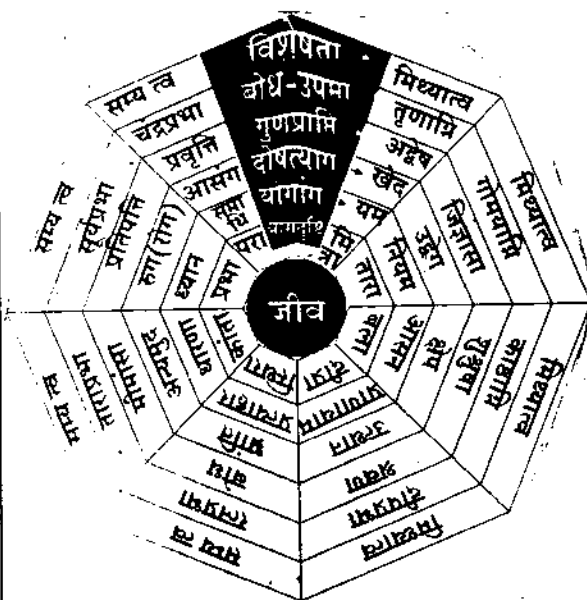
१) **True + False = False** सत्य और असत्य जब दोनों साथ मिल जाते हैं तो परिणाम स्वरूप वह भी असत्य ही होता है। जैसे भगवान का सही सर्वज्ञ - वीतरागी स्वरूप सत्य स्वरूप में मानने पर भी यदि उसे सर्जक-कर्मफलदातादि स्वरूप में मान लेने पर भी वह असत्य हो जाता है।

२) **False + True = False** प्रथम भंग का उल्टा दूसरा है। इसमें असत्य को सत्य के साथ जोड़कर बात की जाती है। जैसे सृष्टि सर्जक सुखदाता, दुःखहर्ता भगवान ही वीतरागी सर्वज्ञ है। यह असत्य है।

३) **False + False = True** असत्य को ही असत्य कहना यह बिल्कुल सत्य सिद्ध होता है। अर्थात् रागी-द्वेषी असर्वज्ञ को भगवान नहीं मानना यह बिल्कुल सत्य बात है।

४) **True+True = True** सत्य को सत्य मानना आखिर अन्त में सत्य ही सिद्ध होता है। जैसे वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा सृष्टि का सर्जन भी नहीं करते हैं और कर्मफल भी नहीं देते हैं वे ही सच्चे भगवान कहलाने योग्य है। इस तरह सत्य-असत्य की चतुर्भंगी से अंतिम निर्णय करके सही सत्य को स्वीकारना हितकारी है।

**योग की ८ दृष्टियों का स्वरूप :-** योग मार्ग पर आगे बढ़नेवालों को सर्व प्रथम अपनी दृष्टि



को सत्य के आग्रही बनना जरूरी है। जिसकी जितनी दृष्टि विकसित होती है उतना उसका ज्ञान-बोध बढ़ता है। योग-शिरोमणी योगग्रन्थों के प्रणेता पू. हरीभद्रसूरि महाराज ने स्वयं संशोधन करके आत्मा में बड़े ज्ञान (बोध) की प्रकाश के साथ तुलना करके उसमें से बनने एवं बढ़नेवाली ऐसी आठ दृष्टियों का अनोखा-अद्भूत विवेचन योगदृष्टि समुच्चयादि ग्रंथों में किया है। उन्होंने ज्ञान (बोध) की तुलना प्रकाश के साथ करके कम-ज्यादा

प्रकाश कैसा होता है? एक से दूसरे में कितना कम-ज्यादा होता है? इस प्रकाश की न्यूनाधिकता के आधार पर सर्व सामान्य लोगों को स्वयं के आत्मिक विकास का ख्याल आ सके इसके लिए ८ दृष्टियों के रूप में इसका विवरण किया है।

मित्रा-तारा-बला-दीप्रा-स्थिरा-कान्ता-प्रभा-परा ।

नामानि योग दृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥१३॥ योगः॥

८ दृष्टीयां- १) मित्रा २) तारा ३) बला ४) दीप्रा ५) स्थिरा ६) कान्ता ७) प्रभा ८) परा । ये ८ दृष्टीयां क्रमशः दर्शायी है ।

इन ८ योग दृष्टियों का सबका अपना-अपना प्रकाश किसका कितना है यह ८ प्रकार के न्यूनाधिक दृष्टान्तों से दर्शाया है ।

तृणगोमय काष्ठाग्रिकण दीपप्रभोपमा ।

रत्न ताराकचन्द्राभाः सददृष्टिरष्टधा ॥१५॥ योगः॥

१) मित्रा में- तृण-तिनके जैसा २) तारा में- छाण की अग्न जैसा ३) बला में- काष्ठाग्रि ४) दीप्रा में- दीपक की प्रभा जैसा ५) स्थिरा में रत्न के जैसा स्थिर प्रकाश ६) कान्ता में- ताराओं के प्रकाश जैसा ७) प्रभा में- सूर्य प्रकाश जैसा ८) परा में- चन्द्र की चांदनी जैसे प्रकाश होता है । जैसा इन ८ दृष्टान्तों का प्रकाश होता है ठीक वैसा इन ८ दृष्टियों में बोध का प्रमाण रहता है ।

१) मित्रा दृष्टि- इसमें तृण-अग्रिकण (तिनके) जैसा अत्यन्त मन्द बोध होता है । अल्प वीर्य वान-अल्पजीवी बोध होता है । जैसे तिनके का प्रकाश अल्पकालिक होता है वैसे ही मित्रा दृष्टि में बहुत कम काल बोध टिकता है । योगांग यम नामक होता है । अहिंसादि ५ यम पालने की इच्छा अल्प होती है । खेद दोष का त्याग होता है । अद्वेष नामक गुण भी होता है ।

२) तारा दृष्टि- इस दूसरी दृष्टि का बोध पहली की अपेक्षा हल्का सा ज्यादा होता है । तृण की अपेक्षा छाणे की अग्न का प्रकाश थोड़ा अधिक है । ऐसी दूसरी अवस्था की दृष्टि का नाम तारा है । इसमें योगांग दूसरा नियम आता है । अब इसमें यम रोज के नियम में आचरण में आते हैं । शौच गुण प्रकट होता है । भाव मैल दूर करने का लक्ष्य रखता है । तत्त्व जिज्ञासा भी प्रमाण में धिरे-धिरे बढ़ती है । धर्म के प्रति अनुद्वेग दिखता है । मोक्ष के प्रति अद्वेष भाव होता है ।

३) बला दृष्टि- प्रथम दो की अपेक्षा इस दृष्टि में प्रकाश अर्थात् बोध थोड़ा और बढ़ता है । काष्ठाग्रि जैसा होता है । लकड़ा जलने के बाद कितना बढ़ता है उतनी भोगों के प्रति हेय बुद्धि तथा योग मार्ग में उपादेय बुद्धि बढ़ती है । धर्म मार्ग में सविशेष रुचि बढ़ती है । ऐसे जीवों को सद्गुरु के प्रति भक्तिभाव बढ़ता है । तीसरा योगांग आसन इसमें आन्तरिक स्थैर्य निर्माण करता है । श्रेष्ठ तत्त्व शुश्रूषा- तत्त्व जिज्ञासा बढ़ती है । क्षेप दोष का त्याग होता है । भोगों का त्याग करने की बुद्धि करने की बुद्धि बढ़ती है ।

४) दीप्रा दृष्टि- चरमावर्त के अन्त में यह चौथी दीप्रा दृष्टि खुलती है । पहली ३ की अपेक्षा इस चौथी दीप्रा दृष्टि में दीपक की तरह प्रकाश की ज्योत की तरह प्रकाश ज्यादा बढ़ता है । चौथा योगांग प्राणायाम इसमें परभावों का विरेचन होता है । इस दृष्टि में उत्थान नामक दोष टलता है । तथा तत्त्व श्रवण नामक गुण बढ़ता है ।



के साथ की गई है। और चौथी दिप्रा दृष्टि की कक्षा में रहे हुए जीवविशेष को ज्ञान के प्रकाश का प्रमाण दीपक की ज्योति के प्रकाश के समकक्ष है। यहाँ तक... अर्थात् चौथी दिप्रा दृष्टि तक... मिथ्यात्व की ही अवस्था रहती है। इसके बाद की स्थिरादि चार दृष्टियाँ सम्यक्त्व की हैं। अतः स्थिरा दृष्टि से सम्यक्त्व प्रारंभ होता है। क्रमप्राप्त अवसरानुसार अब यहाँ से स्थिरा दृष्टि का विवेचन करते हैं।

### स्थिरादृष्टि—

स्थिरा तु भिन्नग्रन्थेरेव भवति। तद्बोधो रत्नप्रभासमानस्तद्भावोऽप्रतिपाती प्रवर्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत् परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानादियोनिरिति।

योगदृष्टि समुच्चय की इस टीका में कहते हैं कि, . . जिस जीव ने यथाप्रवृत्तिकरण—अपूर्वकरणादि तीनों करण करके ग्रन्थिभेद कर लिया है और सम्यग् दर्शन प्राप्त कर लिया है ऐसे सम्यग् दृष्टि जीव को चौथी स्थिरादृष्टि होती है। इसका नाम ही ऐसा रखा है . . जो अर्थ सूचक सार्थक है। मिथ्यात्व के बंधन में से बाहर निकलकर जिस आत्मा ने सम्यग् दर्शन प्राप्त करके दृष्टि—बुद्धि—ज्ञानादि स्थिर कर लिया है वह स्थिरादृष्टिवाला कहा जाता है। अभी तक के जो प्रकाश तिनके—गोबर—काष्ठ तथा दीपक के थे वे सभी अस्थिर साधन थे। अतः उनका बोधरूप प्रकाश भी स्थिर नहीं था। परन्तु यहाँ पाँचवी स्थिरा दृष्टि का प्रकाश भी स्थिर हो गया है। वह रत्न के प्रकाश की तुलना में पहुँचा है। रत्न स्वयं स्थिर स्थायी स्वरूप में है। अतः उसका प्रकाश भी स्थिर स्थायी स्वरूप में ही रहेगा। दीपकादि के प्रकाश की तरह इस में कोई कम—ज्यादा होने की संभावना ही नहीं है। दीपक में तो तेल समाप्त होने पर प्रकाश बुझ जाता है। परन्तु रत्न की प्रभा सदा एक जैसी ही रहेगी। वैसा सम्यग् दृष्टि का बोध है। इस स्थिरा दृष्टि का बोधभाव अप्रतिपाती—अपतनशील, वृद्धिगत, किसी भी प्रकार के अपाय—दुःख विघ्न रहित, दूसरों को संताप नहीं करनेवाला, निर्दोष आनन्दकारी और प्रायः प्रणिधानादि प्रवृत्ति का बीजभूत कारण रूप है। आत्मा में जैसे जैसे योगदृष्टियों का विकास होता जाता है वैसे वैसे उसमें बोध प्रकाश (ज्ञान का प्रकाश) भी बढ़ता ही जाता है। अंधेरे में भी उजाला—प्रकाश करे ऐसे प्रकाश के जितना बोध—प्रकाश पाँचवी स्थिरा दृष्टि में होता है। इसका बोध “परितोष—हेतु” अर्थात् निर्मल आनन्द का कारण है। अब सम्यक्त्व पा लिया है अतः विषयों का तीव्र राग—द्वेष शान्त हो जाता है। मिथ्यात्व के गाढ़ अंधकार में से जीव अब सम्यक्त्व के प्रकाश में आता है तो क्या उसे आनन्द नहीं होगा? काफी ज्यादा

होगा, जैसे जिन्दगीभर के किसी भिखारी को एका एक करोड़ों की संपत्ति मिल जाय तो उसे कितना आनन्द होता है ? या जन्मान्ध व्यक्ति की आँखे किसी दैवी चमत्कार से अचानक ही खुल जाय तो कितना अपार आनन्द होता है । ठीक इसी तरह अनन्तकाल से जो मिथ्यात्व ग्रस्त है उसे ग्रन्थिभेद होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति से अनहद—अपार आनन्द होता है ।

स्थिरा दृष्टि दो प्रकार की होती है— १ . सातिचार और २ . निरतिचार । जो रत्नप्रभारूप ज्ञानप्रकाश क्रमरहित अतिचार रहित हो उसे निरतिचार स्थिरा दृष्टि कहते हैं । और जिस ज्ञान के बोध को बार बार अतिचार की धूल लगती रहती है और प्रकाश क्षीण होता जाता है उसे सातिचार स्थिरा दृष्टि कहते हैं । यद्यपि कम—क्षीण प्रकाश भी मूल रूप से तो स्थिर ही है । स्थिरा दृष्टि में रहे हुए साधक को १ . सूक्ष्म बोध की प्राप्ति होती है, २ . वेद्य—संवेद्य प्राप्त होता है, ३ . सब प्रकार की संसार की चेष्टाएँ—क्रियाएँ—छोटे बालक के धूल के घर की क्रीडा समान भासते हैं, ४ . मैं एक आत्मस्वरूप सत्य हूँ, शेष जगत् पौद्गलिक स्वरूप असत् भासमान होता है । ऐसी भावनाएँ बढ़ती हैं । पुण्यजनित भोग भी यहाँ अनिष्ट—अप्रिय लगता है । यद्यपि चन्दन का वृक्ष स्वभावतः ही शीतल है फिर भी काष्ठ तो है ही । यदि चन्दन के काष्ठ वृक्ष में आग लगे तो जंगल को भी जला सकती है, क्योंकि वैसा उसका स्वभाव है । वैसे ही पुण्यजन्य भोग सुख भी अंतर्दाह उत्पन्न करता है सम्यक्त्व की । इस दृष्टिवाले जीव को अलोलुपतादि गुणों की प्राप्ति भी होती है ।

### स्थिरा दृष्टि विषयक कोष्ठक

| दर्शन                    | योगांग     | दोषत्याग       | गुणप्राप्ति               | गुणस्थान |
|--------------------------|------------|----------------|---------------------------|----------|
| रत्नप्रभासम प्रकाश नित्य | प्रत्याहार | प्रान्ति त्याग | सूक्ष्म बोध<br>अलोलुपतादि | ४, ५, ६  |

### ६ . कान्तादृष्टि—

“कान्तायां तु ताराभासमान एव; अतः स्थित एव प्रकृत्या निरतिचारमंत्रानुष्ठानं शुद्धोपयोगानुसारि विशिष्टाऽप्रमादसच्चिदं विनियोगप्रधानं गम्भीरोदाराशयमिति ।”

कान्ता नामक छद्मी दृष्टि का बोधप्रकाश ताराओं के प्रकाश समान बताया गया है । स्थिरा में जो रत्नप्रभा के जैसा प्रकाश था वह बढ़कर कान्ता में ताराओं के प्रकाश के जितना हो गया । इसका प्रभाव ऐसा हुआ की स्थिरा दृष्टि की साधना में जो अनुष्ठान सातिचार

प्रमादपूर्ण होता था, विधिविधान में जाने अन्जाने भी दोषों का सेवन हो जाता था वह सब अब इस कान्ता दृष्टि में दूर हो जाता है। और अनुष्ठान निरतिचार शुद्ध होने लगता है। स्त्रीलिंगवाची कान्ता नाम एक पतिव्रता सन्नारी के अर्थ में है। अतः इस दृष्टि का साधक ऐसी सन्नारी के जैसे स्वभाववाला होता है। ऐसा उदाहरण देने का तात्पर्य यह है कि जैसे एक पतिव्रता पवित्र सन्नारी चाहे कोई भी काम करती रहे परन्तु उसका मन स्वपति में ही रमण करता रहता है। उसके सिवाय अन्य—परपुरुष का कभी स्वप्न में विचार मात्र भी नहीं आता है। ठीक उसी तरह कान्ता दृष्टि का साधक कई प्रवृत्तियाँ करते हुए भी अपना मन श्रुतधर्म में ही तल्लीन रखता है। पूर्व की ५ दृष्टियों की अपेक्षा इस छठी दृष्टि का बोध काफी ज्यादा रहता है। ज्यादा गाढ़ तथा ज्यादा स्थिर रहता है। इसी कारण यहाँ पर भाव अनुष्ठान—शुभ क्रिया होती है। यह अनुष्ठान भी निरतिचार होता है। शुद्ध उपयोग का अनुसरण करनेवाला तथा अप्रमत्त भाववाला अनुष्ठान होता है। तथा यहाँ रहे हुए दूसरों को भी योग मार्ग में जोड़ते हैं।

### कान्ता दृष्टि का कोष्ठक

| बोध प्रकाश -<br>ताराप्रभा समान | दोष - अन्यमुद् त्याग | गुणस्थान |
|--------------------------------|----------------------|----------|
| योगांग धारणा                   | गुण-मीमांसा प्राप्ति | ४ से ७   |

### ७. प्रभादृष्टि—

प्रभायां पुनरर्कभासमानो बोधः, स ध्यानहेतुरेव सर्वदा, नेह प्राप्नो विकल्पावसरः, प्रशमसारं सुखमिह। अकिंचित्कराण्यत्रान्यशास्त्राणि, समाधिनिष्ठमनुष्ठानं, तत्सन्निधौ वैरादिनाशः, परानुग्रहकर्तृता, औचित्ययोगो विनयेषु तथाऽवन्ध्या सत्क्रियेति ॥

प्रभा नाम की इस ७ वीं दृष्टि में सूर्य के प्रकाश जैसा बोधप्रकाश होता है। अब एक दृष्टि आगे बढ़ते ही तारा के टिमटिमाते प्रकाश से बढ़कर सीधा सूर्य के प्रकाश जैसा हो गया। सूर्य का प्रकाश इतना तेजस्वी... होता है कि जिसमें कोई भी पदार्थ छिप ही नहीं सकता है। सभी पदार्थ स्पष्ट होते हैं। अतः प्रभा दृष्टिवाले जीव का ज्ञान—ध्यान सूर्य प्रकाशवत् व्यापक बनता है। यहाँ आत्मा सूर्यसमान है और ज्ञान प्रकाशसमान है। यह प्रभा दृष्टि सदा ध्यान का कारण बनती है। यहाँ प्रायः विकल्पों को अवसर ही नहीं रहता है। यहाँ ऐसी उच्च कोटि की बोध—रमणता, ज्ञान—रमणता होती है कि.. बार—बार इसमें

एकाग्रता—तन्मयता आकर ध्यानरूप बन जाती है। आखिर ध्यान क्या है? एक विषय पर एकाग्रचिन्तन ध्यान है। यहाँ उपशमपूर्ण सुख होता है। अन्य शास्त्र यहाँ अकिंचित्कर—निरूपयोगि बनता है। वैरादिभावों का नाश होता है। इस दृष्टि में उच्च कोटि की उपकारकारिता आती है। तथा सम्यग् क्रिया.. यहाँ अवश्य अर्थात् निष्फल न जाए ऐसी होती है। सच देखा जाये तो यह ध्यान की दृष्टि है। यहाँ सदैव साधक ध्यान में रहता है। क्षीणप्रायः मैलवाले सुवर्ण की तरह साधक सदा ही कल्याणभागी होता है। यहाँ असंगानुष्ठानरूप सत् प्रवृत्तिपद होता है। जो महाप्रयाणरूप होकर मोक्षपद देनेवाला है। इस असंग अनुष्ठान को प्रशान्तवाहिता, विसभागपरिक्षय शिववर्त्म, ध्रुवमार्ग, आदि संज्ञाओं से योगीजन संबोधित करते हैं। सांख्य—योगदर्शन इसे ही प्रशान्तवाहिता कहते हैं। बौद्धदर्शनी इसे विसभाग परिक्षय कहते हैं। शैवमतावलम्बी शिववर्त्म कहते हैं। महावैतनिक ध्रुवमार्ग कहते हैं।

### प्रभादृष्टि का कोष्ठक

| दर्शन                                | योगांग                           | दोषत्याग           | गुणप्राप्ति          | अन्य<br>विशिष्टता                                               | गुणस्थान |
|--------------------------------------|----------------------------------|--------------------|----------------------|-----------------------------------------------------------------|----------|
| सूर्यप्रकाश<br>के जैसा<br>निर्मल बोध | ध्यान सदाय<br>अनुपम सुख<br>शमसार | राग-द्वेष<br>त्याग | तत्त्व<br>प्रतिपत्ति | सत्प्रवृत्ति<br>पदावदपना<br>सत्प्रवृत्तिपद<br>=<br>असंगानुष्ठान | ७ और ८   |

### ८. परादृष्टि—

परायां पुनर्दृष्टौ चन्द्रचन्द्रिकाभासमानो बोधः, सद्ध्यानरूप एव सर्वदा विकल्परहितं मतः, तदभावेनोत्तमं सुखं, आरूढारोहणवन्नानुष्ठानं प्रतिक्रमणादि, परोपकारित्वं यथाभव्यत्वं तथा पूर्ववदवस्था क्रियेति।

परा नामकी अन्तिम आठवीं दृष्टि में चन्द्र की चन्द्रिका—ज्योत्स्ना अर्थात् पूर्णिमा की रात में चन्द्र के प्रकाश के समान बोध प्रकाश इस दृष्टिवाले जीव को होता है। प्रकाश के बोध के उदाहरणों की उपमाओं में यह अन्तिम आठवीं चन्द्र का दृष्टान्त रखा है। शायद आप को आश्चर्य होगा कि सातवीं प्रभा दृष्टि में तो सूर्य की उपमा दी और यहाँ आठवीं परा दृष्टि में क्यों चन्द्र की उपमा दी? सूर्य से ज्यादा चन्द्र का प्रकाश होता है कि कम?

बढ़ते हुए क्रम में अन्त में तो सूर्य का क्रम आना चाहिये ? तो ही प्रकाश की क्रमशः बढ़ती अवस्था में सूर्य का प्रकाश ही सही बैठेगा ? आपकी बात सही है । एक मात्र प्रकाश के बढ़ते हुए क्रम की दृष्टि से विचार करने के लिये उचित लगता है । परन्तु यहाँ पर आध्यात्मिक विकास की कक्षा है । इसमें मात्र प्रकाश की मात्रा ही न देखते हुए अन्य गुणवत्ता पर भी काफी विचार किया गया है । आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में उत्तरोत्तर—सौम्यता—शान्ति—शीतलता—स्थिरतादि के गुण भी आने बहुत जरूरी है । अतः सूर्य के प्रकाश में जो उष्णता, उग्रता, तेजस्विता की तीव्रता आदि आते हैं, ये प्रकाश की उत्तरोत्तर वृद्धि में उचित हैं, परन्तु सौम्यतादि अन्य गुणों की दृष्टि से विचार करने पर कुछ गुण सूर्य की अपेक्षा चन्द्र में ज्यादा मात्रा में पाए जाते हैं । सूर्य का प्रकाश तेज—उग्र है । चन्द्र का प्रकाश शीतल—सौम्य है । प्रिय है । चन्द्र की चाँदनी तेज उग्र या असह्य नहीं होती है । चन्द्र के सामने देख सकते हैं । परन्तु वैसा सूर्य के सामने देखना असंभव है । सूर्य के सामने देखना बहुत असंभव सा है । एक क्षण में आँख बन्द हो जाती है । प्रकाश की उग्रता असह्य लगती है । जबकि चन्द्र के प्रकाश के सामने घण्टों तक देख सकते हैं । अतः स्थिरतादि का विचार किया गया है । इसी कारण से सातवीं प्रभादृष्टि को सूर्य प्रकाश की उपमा दी गई है और ... ८ वीं परा दृष्टि को चन्द्रप्रकाश की उपमा दी गई है । यह तुलना समुचित लगती है । चन्द्र की चाँदनी जिस तरह औषधियों में परिणमती है । गुणवृद्धिकारक है ऐसा आयुर्वेदिक सिद्धान्त माना गया है । इसी तरह यहाँ पर भी चन्द्र की ज्योत्स्ना समान बोधप्रकाश आत्मा में परिणमन होता है । कषायों का शमन हो और आत्मा के समतादि गुणों का विकास हो यही विशेष उपयोगी सिद्ध होता है ।

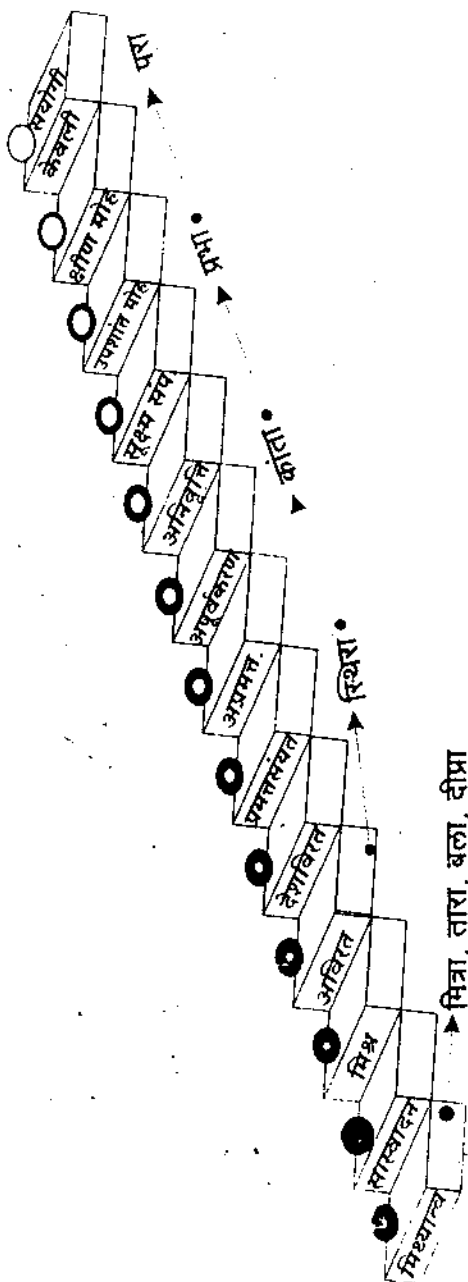
८ वीं परा दृष्टि में बोधप्रकाश ऐसा अत्यन्त सौम्य—शान्त—शीतल होने के कारण बोध सदा ध्यानरूप ही होता है । जब एक पदार्थ पर या तत्त्व पर .. ज्ञान की स्थिरता आती है तब ध्यानदशा आती है । अतः इस दृष्टि का प्रकाश ध्यान का कारण बनता है । यहाँ पर आत्मा की अत्यन्त सौम्य निर्विकल्प दशा होने से बोधप्रकाश स्थिर होकर ध्यानरूप बनता है । अतः हमेशा सम्यग् ध्यानरूपता कही है । अन्य—अन्य विकल्प उठने की स्थिति शान्त हो जाती है । अतः यहाँ मन शान्त विकल्परहित स्थिर हो जाता है । इस ८ वीं दृष्टि में अनुपम अद्भुत सुखानुभूति होती है । आनन्द आता है । जहाँ भी विकल्प है वहाँ चिन्ता है । विव्वलता है । और चिन्ता—विव्वलता ये दुःख के कारणरूप है । सर्वथा सुखी को किसी भी प्रकार की विव्वलता—चिन्तादि का दुःख नहीं होता है क्योंकि वह विकल्परहित स्थिर अवस्था में है ।

८ वीं परादृष्टि की कक्षा में सहज निरतिचार—अतिचार—दोषरहित कक्षा प्राप्त की है अतः यहाँ पर प्रतिक्रमणादि क्रियात्मक अनुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं रहती है। क्योंकि सतत ध्यान—साधना में रहनेवाला परा दृष्टिवाला विकल्परहित चिंतादि दुःखरहित होने से उसको दोष अतिचार लगने की संभावना ही नहीं रहती है। और अतिचार के अभाव में प्रतिक्रमणादि अनुष्ठानों की निरर्थकता—निरुपयोगिता सिद्ध होगी। जैसे पर्वत चढ़कर शिखर—चोटी पर पहुँच जानेवाले पर्वतारोही के लिए अब आगे और चढ़ने का रहता ही नहीं है अतः चढ़ने की क्रिया का सर्वथा अभाव रहता है ठीक वैसे ही परा दृष्टिवाला जीव स्वसाध्य को प्राप्त हो गया है। अतः अब ज्यादा आगे की चिन्ता ही नहीं है। अतः यह अवस्था प्रवृत्तिप्रधान नहीं निवृत्तिप्रधान रहती है। अतः अतिचार के अभाव में प्रतिक्रमणादि क्रिया का अभाव रहना स्वाभाविक है। यहाँ जीव धातिकर्म रूप योग से दूर हो जाता है... और आगे कैवल्य—सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। और अन्त में... निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। क्योंकि ४ घाती कर्मों के क्षय हो जाने के पश्चात् सिर्फ ४ अघाती कर्म ही शेष रहते हैं। अतः उन्हें आसानी से खपाकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। अतः ८ वें गुणस्थान से लगाकर १४ वें गुणस्थान तक यह ८ वीं परा दृष्टि ही कार्य करती है। निम्न कोष्ठक से थोड़ा और ख्याल आएगा।

### परा दृष्टि का कोष्ठक

| दर्शन                                              | योगांग | दोषत्याग   | गुणप्राप्ति                          | गुणस्थान                                                                 |
|----------------------------------------------------|--------|------------|--------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------|
| चन्द्र की प्रभा के समान संपूर्ण केवल ज्ञान - दर्शन | समाधि  | असंग त्याग | प्रवृत्ति आप स्वभाव से प्रवृत्तिपूरण | ८, ९, १०, १२, १३, १४.<br>धर्मसंन्यासयोग क्षपक श्रेणि केवलज्ञान - निर्वाण |

इस प्रकार योगदृष्टि समुच्चय ग्रन्थ में पू. हरिभद्रसूरि म. ने योग की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है। प्रस्तुत अनुसंधान में तो संक्षेप से थोड़ा अंश मात्र लिया है। विशेष रुचिवालों को मूलग्रन्थ में से विशेष बोध प्राप्त करना चाहिए। ये दृष्टियाँ दर्शन—ज्ञान—बोधप्रकाश की कितनी कम—ज्यादा मात्रा किस कक्षा के जीव में कहाँ किस कक्षा में रहती है यह दिखाने के लिए है। अतः दृष्टान्त के लिए... उपमा के आठ दृष्टान्त देकर बोधप्रकाश के माप की तुलना भी की गई है। इन ८ दृष्टियों में दो विभाग करके प्रथम की ४ मित्रादि मिथ्यात्व की दृष्टियाँ बताई हैं। उनमें भी पहली मित्रा दृष्टि से



दूसरी—तीसरी—चौथी में आगे बढ़ते—बढ़ते क्रमशः... मिथ्यात्व की मन्दता—मन्दतरता आते आते... जीव पाँचवी स्थिरा दृष्टि में पहुँच जाता है। यहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। शेष ४ स्थिरादि दृष्टियाँ तो हैं ही सम्यग् दर्शन की। इन चारों में सम्यक्त्वादि गुणों की ही प्राधान्यता रहती है। और चौथी से आगे बढ़ते—बढ़ते आठवीं परादृष्टि तक तो निर्वाण—मोक्ष की प्राप्ति भी हो जाती है।

#### ८ योगदृष्टियों में १४ गुणस्थानकों का समावेश—

मित्रादि ४ दृष्टियों तक तो जीव की मिथ्यात्व की वृत्ति रहती है। यद्यपि मिथ्यात्व की मात्रा मन्द—मन्दतर—मन्दतम होती होती... शुद्ध कक्षा में आती है। अतः प्रथम गुणस्थान पर मित्रा दृष्टि से जीव प्रारम्भ होकर आगे बढ़ता है। यद्यपि प्रथम ४ दृष्टियों में मिथ्यात्वी ही है फिर भी सम्यग् दर्शन की पूर्वभूमिकारूप होने के कारण... बीजवपन होता है। और आगे बढ़ने की संभावना ज्यादा बढ़ती है। परिणामस्वरूप विकास होता है। पाँचवी स्थिरा दृष्टि से... सम्यग् दर्शन प्राप्त करके ऐसा श्रद्धालु जीव विकास के सोपान चढ़ता हुआ

आगे बढ़ता है। चौथे—पाँचवे गुणस्थानक पर श्रावक को पाँचवी स्थिरा दृष्टि की प्राधान्यता रहती है। आगे छठे—सातवें गुणस्थानक पर . . . साधु के जीवन में स्थिरा दृष्टि तो आधारभूत रहती ही है। परन्तु आगे छठी कान्ता दृष्टि खुलती है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से कान्ता दृष्टि विशेष कार्यरत रहकर आत्मा को अप्रमत्त बनाती है। अप्रमत्त साधु सातवें गुणस्थानवाला परिणामों की विशुद्धि से कर्मक्षय के प्रमाण में तीव्रता लाकर जैसे ही आगे बढ़ता है . . . . . वैसे ही आठवाँ अपूर्वकरण गुणस्थानक पर चढ़ता है— वहाँ प्रभा दृष्टि आती है। प्रभा दृष्टि काफी शुद्धतर कक्षा की है। यहाँ से ८ वें गुणस्थानवर्ती जीव श्रेणि का श्रीगणेश करता है। ८ वें गुणस्थानक से क्रमशः आगे बढ़ता हुआ . . ९ वां . . १० वां . . १२ वां . . गुणस्थानक साधते हुए जीव अंतिम आठवीं परा दृष्टि में रहता है। अर्थात् आठवीं परा दृष्टि आठवे गुणस्थानक से ही प्रारंभ होती जाती है और श्रेणी के मार्ग पर क्रमशः जीव आगे बढ़ता है। ८ वें से ९ वें, १० वें, १२ वें से आगे १३ वें गुणस्थानक पर पहुँचकर जीव केवलज्ञान—केवल दर्शन प्राप्तकर वीतरागी—सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बनता है। यहाँ सर्वज्ञ प्रभु को भी ८ वीं परा दृष्टि रहती है। यह बहुत अच्छी—ऊँची.. अप्रमत्तभाव की विकल्पादि रहित दृष्टि है। और अन्त में १४ वे गुणस्थान पर आकर आत्मा मुक्त हो जाती है। इस तरह १४ गुणस्थानों में ८ योग दृष्टियाँ, या ८ योग दृष्टियों में १४ गुणस्थान घटते हैं। ये साथ साथ चलते हैं। अतः गुणस्थान के सोपानों पर जैसे क्रमशः चढ़ते—चढ़ते आगे बढ़ना है वैसे ही ८ दृष्टियों के क्रम में भी एक—एक सोपान आगे बढ़ना ही लाभप्रद है। ८ दृष्टियों के पथ पर आध्यात्मिक विकास साधते हुए आगे बढ़ना ही चाहिए।

**अष्टांग योग के साथ ८ दृष्टियों में जीव का विकास—**

|   | ८ दृष्टि      | योगांग     | दोष त्याग | गुण-प्राप्ति | बोधप्रकाश उपमा        | विशेषता              |
|---|---------------|------------|-----------|--------------|-----------------------|----------------------|
| १ | मित्रा दृष्टि | यम         | स्वेद     | अद्वेष       | तृणाग्नि प्रकाश       | मिथ्यात्व गुणस्थान   |
| २ | तारा दृष्टि   | नियम       | उद्वेग    | जिज्ञासा     | गोमय प्रकाश समान      | मिथ्यात्व गुणस्थान   |
| ३ | बला दृष्टि    | आसन        | क्षेप     | शुश्रूषा     | काष्ठप्रिप्रकाशसमान   | मिथ्यात्व गुणस्थान   |
| ४ | दीप्ता दृष्टि | प्राणायाम  | उत्थान    | श्रवण        | दीपकप्रभा प्रकाशस०    | मिथ्यात्व गुणस्थान   |
| ५ | स्थिरा दृष्टि | प्रत्याहार | भ्रान्ति  | बोध          | रत्नप्रभा प्रकाशसमान  | सम्यक्त्व गुणस्थान   |
| ६ | कान्ता दृष्टि | धारणा      | अन्यमुद   | मीमांसा      | तारा प्रभा प्रकाशस०   | सम्यक्त्व से आगे गु. |
| ७ | प्रभा दृष्टि  | ध्यान      | रोग       | प्रतिपत्ति   | सूर्यप्रकाश समान      | सम्यक्त्व से आगे गु. |
| ८ | परा दृष्टि    | समाधि      | आसंग      | प्रवृत्ति    | चन्द्र प्रभा प्रकाशस० | सम्यक्त्व से आगे गु. |



योगशास्त्र में अष्टांग योग की प्रक्रिया दर्शायी गई है। अष्टांग योग प्रसिद्ध है। पातंजल योग दर्शन के आधार पर हो या योगशास्त्र के आधार पर हो अष्टांग योग के क्रमशः ८ अंग इस प्रकार हैं— १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। यमादि ८ योगांगों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है— इसमें भी क्रमशः जीव विकास साधते हुए कैसे आगे बढ़ता है यह भी देखना है।

(१) यम— इसी को व्रत भी कहते हैं। प्रसिद्ध रूप से ५ व्रत हैं— १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। १. इच्छायम, २. प्रवृत्तियम, ३. स्थिरयम, ४. सिद्धियम इन ४ प्रकारों की तारतम्यता है। प्रथम जीव इस यमादि के सोपान पर चढ़कर अहिंसादि का आचरण करते हुए अहिंसक बनता है।

(२) नियम— १. शौच, २. संतोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय और ५. परमात्मध्यान रूप से ५ प्रकार का नियम है। यम से ऊपर का यह द्वितीय सोपान चढ़कर नियम के मार्ग में जीव आगे बढ़ता है।

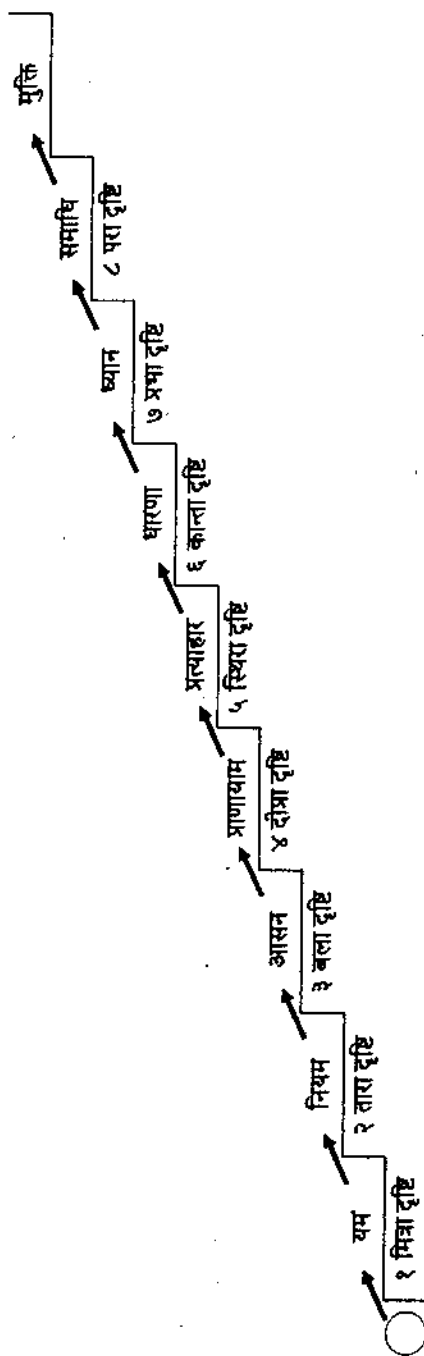
(३) आसन— द्रव्य से शारीरिक चापल्य रोककर एक स्थान पर स्थिरता रूप आसनों में स्थिरता लाना आसन कहलाता है। पद्मासन—सिद्धासन—वीरासन—वज्रासनादि आसनों को करते हुए यम—नियम के ही गुणों को ज्यादा पुष्ट करता हुआ आगे बढ़ता है। मात्र कायिक आसन ही नहीं आगे बढ़ता हुआ मन स्थिरता को भी साधता है। अतः भाव से परभाव—विभाव का त्याग करके स्वभाव रूप स्थिरता आंतरिक आसन सिद्धि है।

(४) प्राणायाम— हठयोग की क्रिया से ऊपर उठकर आगे बढ़ना है। क्योंकि हठयोग में लक्ष्य ज्यादा काया पर केन्द्रित रहता है। शरीर को कष्ट होता है। मन को भी क्लेश होता है। प्राणायाम की क्रिया में प्राणवायु का विस्तार करना पूरक, कुंभक, रेचक आदि की प्रक्रिया करते रहना पड़ता है। यहाँ पर बाह्य की अपेक्षा आंतरिक भाव—प्राणायाम की प्रक्रिया में— बाह्य विभाग में जाते भावों का रेचन, अंतरात्मभाव—स्वभाव का पूरण करना, और अन्तरात्म स्वभाव रमणता का ही कुंभक करना प्राणायाम की प्रक्रिया है।

(५) प्रत्याहार— विषयों की तरफ दौड़ती हुई इन्द्रियों को वापिस खींचनी यह आंतरिक प्रत्याहार की कक्षा है। यहाँ से सम्यक् दृष्टि की शुभ शुरुआत होती है।

(६) धारणा— चित्त का देश बन्द करना, अर्थात् चित्त को विशिष्ट प्रकार के तत्त्वचिन्तनादि में बाँधकर रखना यह धारणा बनाने की प्रक्रिया है।

(७) ध्यान— तत्त्वस्वरूप का एकाग्ररूप से चिन्तन करना, ध्यान करना है। चिन्तन की धारा को एक विषय पर केन्द्रित करके स्थिर करने की प्रक्रिया ध्यान रूप है।



(८) समाधि— ध्यानादि के अन्दर प्राप्त जो आत्मस्वरूप— परमात्म-स्वरूप की यथार्थ उपलब्धि हुई है उसी में लीन बन जाना, तदाकार, तद्रूप, तन्मय बनकर तादात्म्यता लानी अर्थात् ध्यान में स्थिरता लाकर ध्याता ध्येयरूप एकता को प्राप्त कर जाय यह समाधि की अवस्था है।

यहाँ अपेक्षित अष्टांग का आंतरिक संक्षिप्त वर्णन उपरोक्त किया है। विषद वर्णन तो बहुत है। आध्यात्मिक विकास के सन्दर्भ में उपरोक्त अर्थ में आठों अंगों को देखना चाहिए। योग के ये आठों अंग उत्तरोत्तर विकास की दिशा में ऊर्ध्वगामी होते हुए ऊपर ही ऊपर बढ़ते जाते हैं। इन में आठ दृष्टियों का आधारभूत साथ भी मिलता जाय तो विकास अच्छा होता है। क्रमशः ऊर्ध्वमुखी—ऊर्ध्वगामी—विकासो-न्मुख अष्टांग योग का क्रम—

अष्टांग योगों के साथ आठ दृष्टियाँ मिल जाय और आधाराधेय भूत संबंध जन्य—जनक या कार्य—कारण भाव संबंध के आधार पर दोनों में मेल बनाकर विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ानी चाहिए। अष्टांग योग की प्रक्रिया मात्र बाह्य—शारीरिक ही न रह जाय इसका ध्यान रखकर

जागृति पूर्वक आठ दृष्टियों की आभ्यन्तर कक्षा निर्माण करके जीव को विकासोन्मुखी होना चाहिए। ८ दृष्टियाँ यमादि को मात्र कायिक नहीं रहने देगी... आध्यात्मिक विकास की दिशा में दृष्टियाँ योगांगों को सहयोगी—उपयोगी बनाएंगी। परन्तु इस विकास की दिशा में प्रगति को रूढ़नेवाले अवरोधक—बाधक ऐसे ८ दोष भी हैं।

### आठ दोष—

शास्त्रकार महर्षिओं ने आठ दोष बताए हैं— १) खेद, २) उद्वेग, ३) क्षेप, ४) उत्थान, ५) भ्रान्ति, ६) अन्यमुद्, ७) रोग, ८) आसंग। मनोविजय प्राप्त करने में ये ८ दोष भारी बाधक—अवरोधक बनते हैं। अतः उन्हें दूर करना ही चाहिए।

१) खेद—शुभ अध्यवसाय—उत्साह भाव से प्रवृत्ति करते हुए थक जाना, थकान महसूस करना, खेद के कारण मन की दृढ़ता, स्थिरता खत्म हो जाती है। और धर्म का मुख्य आधार दृढ़ता है। जिस तरह मछली के लिए आधार पानी का है। खेती के लिए भी मुख्य आधार पानी का है।

२) उद्वेग—शुभ धर्मानुष्ठान रूप धर्म क्रियाओं में उद्वेग आ जाना, इसके कारण उस धर्म क्रिया में जैसे—तैसे करके पूरी करने की वृत्ति बनती है।

३) क्षेप—चित्त डगमगाता—अस्थिर रखना, क्रिया करते हुए... मन का बीच—बीच में इधर—उधर भागना, जिस तरह खेत में उगाई हुई फसल को बार—बार उखाड़ कर वापिस बोते रहने से वह फसल नष्ट हो जाती है, उसी तरह एक क्रिया में से बार—बार भागने वाले अस्थिर मन के कारण क्रिया का पूरा लाभ नहीं मिलता है।

४) उत्थान—शुभ धर्मानुष्ठान रूप जो भी धर्मक्रिया करते हैं उसमें से मन का उठ जाना, चित्त की स्थिरता का अभाव होना, ऐसी शुभ योगक्रियाएं छोड़ देने योग्य हैं ऐसे विचार आना। परन्तु लोक लज्जा से छोड़ नहीं सकता है। ऐसी क्रिया में शान्तवाहिता नहीं होती है।

५) भ्रान्ति—यह भ्रमणारूप दोष है। शुभ धर्मानुष्ठान रूप क्रिया को छोड़कर चित्त का चारों तरफ भ्रमण करना, क्रिया में भ्रान्ति होनी, जैसे छीप में चांदी की भ्रान्ति होती है वैसे ही तत्त्व में अतत्त्वपने की भ्रान्ति होना दोष है। अथवा क्रिया की न की ऐसी भ्रमणा होना। ऐसी भ्रान्तिपूर्ण क्रिया से इच्छित फल नहीं मिलता है।

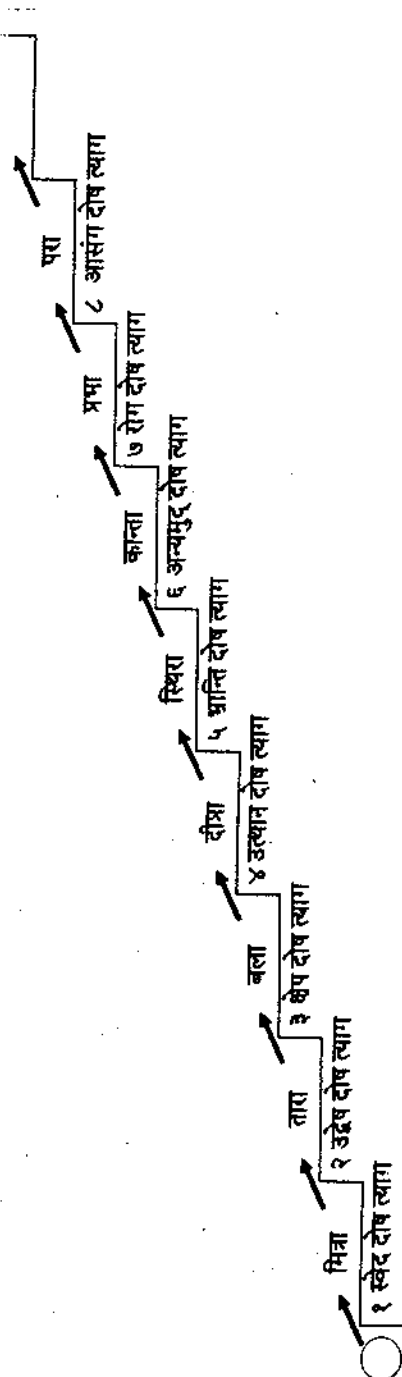
६) अन्यमुद्—जिस समय जो जिस प्रकार की धर्मक्रिया चल रही हो उस समय उसी धर्मक्रिया में आनन्द पाने के बदले अन्य क्रिया में आनन्द लाना यह अन्यमुद् दोष है।

ऐसा धर्मक्रिया की अवगणनारूप अन्यमुद् दोषादि... धर्मक्रिया में से इच्छितफल प्राप्त करने में अग्नि की बारिश समान है।

७) रोग—राग—द्वेष—मोह ये त्रिदोष रूप महारोग—भावरोग है। सच्ची समज शक्ति के बिना, ज्ञानरहित क्रिया करने से, भावरहित क्रिया के करने से शुद्ध क्रिया का उच्छेद हो जाता है। अतः शुद्ध क्रिया को पीड़ा या अंगरूप रोग प्राप्त होने से ऐसी रोगिष्ठ क्रिया भी निष्फल चली जाती है।

८) आसंग—शुभ धर्मानुष्ठान की क्रिया करते समय भी परभाव में आसक्ति होना यह आसंग दोष है। किसी एक क्रिया विशेष में ही दृढ राग हो जाने से एक ऐसे शुभ योग में ही आसक्त बन जाना... ऐसे ही एक योग को बहुत ज्यादा अच्छा मानकर उसी में एकतान बन जाने से अन्य उपयोगी योगों में फिर प्रगति नहीं होती है। वैसा योगी महात्मा फिर आगे के अन्य गुणस्थानों पर अपनी प्रगति रोक देता है। उससे मुक्ति की प्राप्ति में अवरोध पैदा होता है। ये ऊपरोक्त ८ दोष दर्शाएँ हैं।

ये क्रमशः एक से दूसरा ज्यादा नुकसानकारक है। एक से दूसरा ज्यादा भारी है। अतः नीचे नीचे के दोष रहेंगे तो ऊपर के दोषों की



उपस्थिति अनिवार्य रूप से रहेगी। परन्तु ऊपर के कोई दोष रहे तो नीचे के दोष नहीं भी रहेंगे। अतः तत्त्वजिज्ञासु—मोक्षगामी आगे बढ़नेवाले आत्माओं को इन दोषों का स्वरूप समझकर अवश्य टालने चाहिए। जैसे जैसे इन ८ दोषों का क्षय होगा वैसे वैसे एक एक दृष्टि बनेगी—विकसित होगी और जीव का विकास होगा।

### ८ दोषों के त्याग के आधार पर ८ दृष्टियों के विकास की प्रक्रिया—

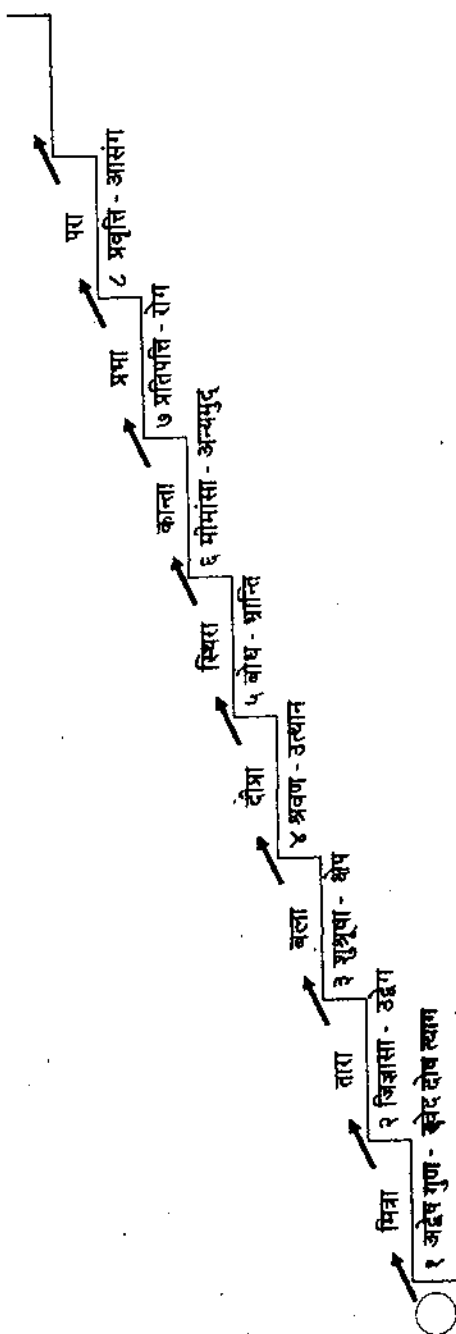
इन दोषों में ऊपर—ऊपर के दोष बड़े भारी हैं। विकासोन्मुखी प्रगतिशील आत्मा जैसे—जैसे आगे बढ़ती है वैसे—वैसे एक एक दोष छोड़कर कम करते हुए आगे बढ़े तो एक एक दृष्टि अच्छी खुलती है। विकसित होती है। अतः साधना के मार्ग में अवरोधक—बाधक बनकर बीच में रोड़े डालने आते हुए ८ दोषों का निवारण करना—टालना साधकात्मा के लिए हितकारी है। अतः वर्ज्य—त्याज्य इन दोषों को त्यागकर गुणों का प्रादुर्भाव करना चाहिए।

### आठ गुणों का स्वरूप—

उपरोक्त जो ८ दोषों का स्वरूप समझा है उनसे ठीक विपरीत ये ८ गुण हैं। दोषों के क्षय होने से ८ गुणों की प्राप्ति होना विकास की दिशा में सहायक है। १. अद्वेष, २. जिज्ञासा, ३. सुश्रुषा, ४. श्रवण, ५. बोध, ६. मीमांसा, ७. प्रतिपत्ति, ८. प्रवृत्ति ये ८ गुण हैं।

- १) अद्वेष—तत्त्व के प्रति द्वेषभाव—मात्सर्य भाव न होना वह अद्वेष।
- २) जिज्ञासा—तत्त्व के स्वरूप को यथार्थ जानने की तीव्र अभिलाषा—रुचि।
- ३) सुश्रुषा—तत्त्वभूत पदार्थों को सुनने की लालसा, सुनने जाना।
- ४) श्रवण—तत्त्व की रुचिकर व्याख्याओं आदि का नित्य श्रवण करना।
- ५) बोध—तत्त्व का बोध—ज्ञान—समझ बढ़ना—बढ़ाना।
- ६) मीमांसा—तत्त्व के बोध का सूक्ष्म चिंतन करना, विचार—विमर्श करना।
- ७) प्रतिपत्ति—तत्त्व की उपादेयता—आचरण योग्यता अंतर से स्वीकारना।
- ८) प्रवृत्ति—तत्त्व का आचरण करते हुए आत्मस्वभाव में रमणता रखना।

ये ८ गुण आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन गुणों के विकास से मित्रादि दृष्टियों का भी विकास होता है। दोषों का त्याग—शमन होता है—



इस तरह दोषों के क्षय से एवं गुणों के विकास से एक-एक दृष्टि के विकास पूर्वक मोक्षमार्ग के सोपानों को चढ़ती हुई आत्मा का आध्यात्मिक विकास होता है। अतः साधक को साधना के मार्ग में इस प्रक्रिया का अच्छी तरह ख्याल रखना चाहिए। यही साधक की समझ पूर्वक की, ज्ञानपूर्वक की सही साधना होगी। दोषक्षय और गुणप्राप्ति अनिवार्य है। ये साधना के फलस्वरूप हैं। साथ ही साथ विकास के सहायक अंग हैं। साधक अपना लक्ष बना ले और विकास के लक्ष्यबिंदु को प्राप्त करना ही है ऐसे दृढ़ निर्धार पूर्वक प्रगति करता ही रहे तो सिद्धि हस्तगत होनी सुलभ है। संभव है।

### तीन योगों का स्वरूप—

शास्त्रकार महर्षियों ने ३ योगों का स्वरूप बताया है— १) इच्छायोग, २) शास्त्रयोग, ३) समर्थयोग। इन तीनों योगों का माहात्म्य बताते हुए महापुरुषों ने यहाँ तक कहा है कि... मित्रा—तारादि आठों दृष्टियाँ रूपी नदियाँ इन्हीं तीन योगों रूपी पर्वतों से निकलती हैं। अतः इन तीनों योगों को हिमालय के जैसे पर्वत की उपमा दी है। आत्मा यदि इन तीनों योगरूपी

पर्वत पर चढ़े .. तो अपने आप अपने अंतस्थ चित्त में से आठों दृष्टियोरूपी सरिता को बहती हुई स्वयं देख सकेगा । अतः इन तीनों योगों का स्वरूप समझना चाहिए ।

(१) इच्छायोग—सद्धर्म—शुभधर्म का पूर्ण रूप से आचरण करने की स्वयं मनोगत सच्ची इच्छा को इच्छायोग कहते हैं । ऐसी इच्छावाले ज्ञानी पुरुष का विकलादि प्रमाद के कारण विकल जो धर्मक्रियारूप व्यापार (योग) को इच्छायोग कहते हैं । ऐसे इच्छायोग में १) धर्म करने की तीव्र इच्छा होती है । २) श्रुतज्ञान होता है, ३) सम्यक्त्वभाव होता है, और ४) प्रमाद भी होता है ।

(२) शास्त्रयोग—शास्त्र प्रधान योग को शास्त्रयोग कहते हैं । अप्रमत्त योगी का शक्तिपूर्वक श्रद्धालु का आगमशास्त्रवचनानुसारी जो अविकल धर्मव्यापार है उसको शास्त्रयोग कहते हैं । शास्त्रयोगी— १) श्रद्धावंत होता है, २) अप्रमत्त होता है, ३) तीव्र शास्त्रवेत्ता, ज्ञानी होता है, ४) और यथाशक्ति शुद्धक्रिया करनेवाला होता है ।

(३) सामर्थ्ययोग—शास्त्र में जिसका उपाय दर्शाया गया है, और उस शास्त्र से भी ज्यादा जिसका विषय शक्ति के उद्रेक से बढ़ गया हो, ज्यादा हो जाता हो उसे सामर्थ्ययोग कहते हैं । यहाँ पर शास्त्र की प्रधानता के बजाय आत्मा के सामर्थ्य शक्ति की प्रधानता है । शास्त्र दिशासूचन मार्गदर्शन जरूर करता है .. स्वरूप वर्णन करके समझा देता है परन्तु उस पर चलने का सामर्थ्य तो जीव में ही होना चाहिए । जो जीव स्वयं अपनी शक्ति प्रकट करके पुरुषार्थ करता हुआ आगे बढ़े तो .. धीरे .. धीरे .. ऊपर .. ऊपर के गुणस्थानों के पद को प्राप्त कर सकता है । और इस तरह अपनी शक्ति स्फुरित करते हुए आगे बढ़कर शास्त्र ने जिन अनुभवादि का वर्णन नहीं भी किया है ऐसे अनोखे—अद्भुत आगे के अनुभवों को योगी प्राप्त करता है । अगोचर अनुभव प्राप्त करता है । अब आत्म सामर्थ्य ही प्रबल बनता है । इसी की प्राधान्यता रहती है ।

इस सामर्थ्य योग के दो प्रकार हैं— १) धर्मसंन्यास और २) योगसंन्यास ।

१) प्रथम धर्मसंन्यास योग का विचार करते हैं— धर्म क्षमादि धर्म जिन जिन कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं ऐसे क्षायोपशमिक भावों के क्षमादि धर्मों का त्याग करना = संन्यास धर्मसंन्यासरूप सामर्थ्य योग कहलाता है । संन्यास शब्द का अर्थ यहाँ छोड़ना—त्यागना लिया है । शायद आप को धर्म संन्यास की व्याख्या में क्षमादि भावों का त्याग करना इन शब्दों से आश्चर्य जरूर होगा । परन्तु क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव की भिन्न भिन्न विशेषताओं को समझिए । क्षपकत्रेणि जिसने प्रारंभ कर दी है ऐसा साधक—योगी कर्मों का क्षय करने की प्रक्रिया से चारों घाति कर्मों का संपूर्ण क्षय करता

है तब उन्हें क्षायिक भाव के ज्ञानादि गुण प्राप्त होते हैं। इससे क्षायोपशम भाव के क्षमादि गुण नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि इनमें क्षय के साथ साथ उपशम भाव का भी मिश्रण था। अब उपशमन की प्रक्रिया सर्वथा न रही और एक मात्र क्षायिक भाव की क्षपक प्रक्रिया ही रही। अतः क्षायोपशम भाव के क्षमादि धर्म का नाश होता है और क्षायिक भाव के क्षमादि धर्म प्रकट होते हैं। अतः इसे धर्म संन्यास नामक सामर्थ्य योग कहते हैं—

२) योगसंन्यास नामक सामर्थ्ययोग— धर्मसंन्यास के सामर्थ्ययोग से आगे बढ़े हुए क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ क्षपक योगी जब १४ वे गुणस्थानक पर पहुँचकर मन—वचन—काया के योगों का निरोध करते हैं तब वे योगसंन्यास को प्राप्त होते हैं। इसीलिये कहा है कि क्षपक श्रेणी का जहाँ से प्रारंभ होता है ऐसे अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानक पर तात्त्विक धर्मसंन्यास होता है। और आयोज्यकरण के बाद तात्त्विक योगसंन्यास कहलाता है।

### इच्छायोगादि तीन योगों का कोष्ठक

| योग का नाम                 | प्राधान्यता     | प्रमुख लक्षण                                                                | पात्र योगी                                                 | गुणस्थान                      |
|----------------------------|-----------------|-----------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------|-------------------------------|
| १ इच्छा योग                | इच्छा-प्रधान    | सच्ची धर्म इच्छा, शास्त्र श्रवण, श्रुतबोध, सम्यग् दृष्टि, प्रमादजन्य विकलता | सच्चा धर्म इच्छुक आगमशास्त्रश्रोता, सम्यग् ज्ञानी, प्रमादी | ४, ५, ६ उपलक्षण से व्यवहार से |
| २ शास्त्र योग              | शास्त्र प्रधान  | शास्त्रपटुता, श्रद्धा, अप्रमाद                                              | शास्त्र पटु, श्रद्धालु अप्रमत्त                            | ६, ७                          |
| ३ सामर्थ्य-योग धर्मसंन्यास | सामर्थ्य प्रधान | शास्त्र से पर विषय स्वसंवेदन, अनुभवज्ञान, क्षयोपशम धर्मत्याग                | क्षपक श्रेणि गत योगी और सयोगी केवली                        | ८, ९, १०, १२, १३.             |
| ४ सामर्थ्य-योग योगसंन्यास  | सामर्थ्य प्रधान | मन-वचन-काया के योगों का त्याग अयोग - परमयोग                                 | अयोगी केवली                                                | १४ शैलेषी अवस्था में          |

उपरोक्त किया हुआ तीनों योगों का वर्णन संक्षिप्त रूप से इस कोष्ठक द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।



## सुलषा के सम्यक्त्व की परीक्षा—

राजगृही नगरी की तरफ जाते हुए अंबड नामक परिव्राजक के साथ भगवान महावीर प्रभु ने सुलषा नामक श्राविका के लिए “धर्मलाभ” का आशीर्वाद भिजवाया और कहा, हे अंबड ! तुम राजगृही जाकर सुलषा नामक श्राविका को मेरो धर्मलाभ का सन्देश जरूर कहना । अंबड राजगृही गया परन्तु उसने मन में सोचा कि सुलषा कैसी औरत है ? यह कितनी बड़ी और महान् स्त्री है ? जिसे भगवान महावीर ने धर्मलाभ कहलवाया है । और किसी को नहीं परन्तु महावीर ने सुलषा को ही धर्मलाभ क्यों कहलवाया ?

इस तरह ऊहापोह मन में करता हुआ अंबड परिव्राजक सुलषा की परीक्षा करने के लिये कमर कसता है । वह राजगृही नगरी के बाहर ब्रह्मा का रूप बनाकर लोगों को आशीर्वाद देने लगा । उसकी धारणा थी कि शायद इस प्रसिद्धि व प्रचार के कारण सभी के बीच सुलषा भी अवश्य आवेगी । हुआ ठीक इससे विपरीत । अपनी शक्ति से रूप बदलते हुए अंबड ने बाद में शंकर, कृष्ण, विष्णु इत्यादि के रूप धारण किए । उसने बहुत बड़ी मायाजाल खड़ी कर दी । नगर के हजारों लाखों लोग उसके आशीर्वादार्थ एवं दर्शनार्थ उमड़ने लगे । अंबड उनमें सुलषा को ढूँढने लगा । आखिर सुलषा न आई, सो नहीं आई । अन्त में थककर, परेशान होकर उसने तीर्थंकर का रूप बनाया और अपनी मायाजाल से समवसरण का रूप निर्माण किया । यह प्रचारित किया गया कि पच्चीसवें तीर्थंकर राजगृही नगरी में पधारे हैं और सबको धर्मलाभ दे रहे हैं । ऐसी खूब प्रसिद्धि सुनकर हजारों-लाखों लोगों की भीड़ जमने लगी, परन्तु इससे भी सुलषा टस से मस न हुई । सत्यवादी सम्यग् दृष्टि सुलषा जो कभी भी असत्य को सत्य एवं सत्य को असत्य कहने के लिए तैयार नहीं थी, सत्य सिद्धान्त शास्त्र के आधार पर विचार किया कि—

तीर्थंकर तो मात्र चौबीस ही होते हैं । पच्चीसवें तीर्थंकर न तो कभी हुए हैं और न कभी होंगे । इतना ही नहीं वरन् इस भरत क्षेत्र में एक समय में एक साथ दो तीर्थंकर कभी भी नहीं होते हैं । ऐसा सर्वज्ञ का वचन है । वर्तमान में जबकि चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी विद्यमान हैं, तब फिर पच्चीसवें तीर्थंकर के होने या आने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है । भले ही समवसरण आदि की रचना क्यों न हो, परन्तु पच्चीसवें तीर्थंकर तो हो ही नहीं सकते हैं ।

इस प्रकार अपने सम्यग् रूप सच्ची श्रद्धा से परीक्षा करके सुलषा श्राविका समवसरण की रचना सुनकर भी सर्वथा रंजमात्र भी विचलित न हुई और न गई । आखिर

हार स्वीकार कर अंबड परिव्राजक एक श्रावक का रूप लेकर सुलषा श्राविका के घर पहुँचा और हाथ जोड़ते हुए, नतमस्तक होकर विनीत भाव से सुलषा को कहा कि— हे देवी ! आपको भगवान महावीर ने धर्मलाभ कहलवाया है । यह सुनते ही सच्चे तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु महावीर का नाम एवं उनकी तरफ से “धर्मलाभ” का सन्देश सुनते ही सुलषा हर्ष विभोर होकर नाच उठी ।

वास्तव में सुलषा सत्यशोधक यथार्थ तत्त्व रुचिवाली एवं शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्राविका थी, जिसने सम्यग् दर्शन से अपना जीवन धन्य बनाते हुए, ऐसी अनुपम साधना की जिससे उसने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया । आगामी चौबीसी में तीर्थंकर बनकर मोक्ष जाने का सौभाग्य प्राप्त किया । ऐसी एक विदुषी श्राविका के जैसी ही सम्यग् श्रद्धा हमें भी रखनी चाहिये, जिस से हम भी शुद्ध सम्यग् दृष्टि वाले बन सकें ।

### अंध श्रद्धा और सम्यग् श्रद्धा—

श्रद्धा दो प्रकार की होती है— (१) सम्यग् श्रद्धा, (२) अंध श्रद्धा । सम्यग् ज्ञान जन्य श्रद्धा को सम्यग् श्रद्धा कहते हैं । ठीक इससे विपरीत अंध श्रद्धा में तत्त्व विषयक सम्यग् ज्ञान या तत्त्व रुचि आदि उत्पन्न नहीं होती है । परन्तु चमत्कारजन्य दुःख निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति के निमित्तों से उत्पन्न हुई श्रद्धा अंध श्रद्धा कहलाती है । अंध श्रद्धालु व्यक्ति तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए या तत्त्वार्थ या यथार्थ, वास्तविक सत्यज्ञान के लिए कोई प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं करता है क्योंकि वह मूलतः तत्त्वरुचि जीव नहीं है । अतः वह आत्मा-परमात्मा मोक्षादि तत्त्वों में न तो ज्ञान ही सम्यग् रखता है और न ही सम्यग् श्रद्धा रखता है । अंध श्रद्धालु मात्र संसार का रागी एवं सुख लिप्सु जीव रहता है । येनकेन उपायेन दुःख निवृत्ति हो जाय और सुख की प्राप्ति हो जाये ऐसे निमित्तों को ही वह मानता है । चाहे ये कार्य भगवान के नाम से, देवी-देवताओं के नाम से या त्यागी-तपस्वी गुरुओं के आशीर्वाद से पूर्ण हो । परन्तु उसे देव-गुरु-धर्म की आराधना भक्ति या उपासना से जितना मतलब नहीं होता है, उससे ज्यादा सुख प्राप्ति का एवं दुःख-निवृत्ति का उसका लक्ष्य होता है ।

शादी होना, संतानोत्पत्ति होना, सम्पत्ति की प्राप्ति होना, ऐश्वर्य भोगविलास के साधनों की प्राप्ति होना, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि की प्राप्ति होना, इन्हीं सब सांसारिक सुखों को सुख प्राप्ति रूप मानकर वह बैठा है । अतः इनकी प्राप्ति के लक्ष्य से वह देव-गुरु-धर्म का भी उपयोग करता है । भगवान के दर्शन-पूजा-पाठ, यात्रा आदि एवं स्तोत्र पाठ, जपादि सम्यग् साधना को भी वह सुख प्राप्ति के लिए ही करता है ।

“कौए का बैठना और डाली का गिरना” ऐसे आकस्मिक निमित्त की तरह वह देव-गुरु-धर्म की साधना से चमत्कारिक निमित्तों को मानकर उन में अंध श्रद्धा रख लेता है। और उनकी उपासना इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए करता रहता है। देव-देवियों के पास जाकर सन्तान या सम्पत्ति प्राप्ति हेतु मानता या आखड़ी रखता है। लॉटरी खुल जावे, इसके लिए वह देव-गुरु के आशीर्वाद प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता है। चमत्कार करने वालों के पीछे वह अंधश्रद्धा से भागता-फिरता है। वीतराग भगवान और त्यागी तपस्वी गुरुओं को एवं देव-देवियों को वह अपनी इच्छापूर्ति का निमित्त एवं आधारभूत कारण मान लेता है। इसी तरह वह शंख, श्रीफल आदि कई प्रकार की विधियों में आशा रखकर अंधश्रद्धा से भागता रहता है।

जिन देव-गुरु-धर्म का उपयोग संसार निवृत्ति, भव-मुक्ति एवं आत्म कल्याण तथा कर्म-क्षय (निर्जरा) रूप, आत्म शुद्धि के लिये था, उनका उपयोग अंधश्रद्धालु व्यक्ति ने सांसारिक दुःख निवृत्ति तथा भौतिक, पौद्गलिक, वैषयिक सुख प्राप्ति के लिए किया। यहाँ जाने से सुखी बर्नूंगा, इनसे मेरी इच्छा पूर्ति होगी, उनसे आशा फलीभूत होगी, ऐसी अंधश्रद्धा की विचारधारा में वह, यहाँ-वहाँ भागता-फिरता है। जो भी देव हो, वह उनके सैकड़ों मन्त्रों को जाप करता रहता है। वह यहाँ-वहाँ किसी भी देव के पास जाता रहता है।

इस प्रकार की सम्यग् तत्त्व-ज्ञान रहित अंध-श्रद्धा का पतन एवं परिवर्तन जल्दी हो सकता है, उसे कोई भी जल्दी से बदल सकता है, क्योंकि ज्ञानजन्य श्रद्धा न होने के कारण वह कभी भी अपनी श्रद्धा से च्युत हो सकता है। इसलिए सही एवं सच्ची श्रद्धा को महापुरुषों ने सम्यग्-तत्त्वज्ञान जन्य बताया है। आत्मा-परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों के यथार्थ, वास्तविक ज्ञानजन्य सम्यग् दर्शन रूप सच्ची श्रद्धा को ही सम्यग् श्रद्धा कहते हैं। यही सम्यग् श्रद्धा देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, उनकी आराधना या उपासना सम्यग् कराती है। आचरण भी सही होता है। उनकी उपासना कर्मक्षय रूप निर्जरा-प्रधान एवं आत्म-कल्याणकारी होती है। ऐसे सम्यग् दर्शन से ही भवमुक्ति, संसारमुक्ति, आत्मशुद्धि एवं मोक्षसिद्धि मिलती है।

सम्यग् दर्शन की अनिवार्यता पर जोर देते हुए श्री वीर प्रभु ने यहाँ तक कह दिया है कि—

दंसण भट्टो भट्टो, दंसण रहिया न सिज्झाई ।

चरण रहिया सिज्झाई, दंसण रहिया न सिज्झाई ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र

सम्यग् दर्शन से भ्रष्ट, भ्रष्ट ही गिना जाता है, ऐसा सम्यग् दर्शन रहित जीव सिद्ध नहीं होता है, चारित्र से रहित जीव कदाचित् मुक्त हो भी जाय, परन्तु सम्यग् दर्शन रहित जीव को कभी भी मोक्ष नहीं मिलता है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए, सम्यग् दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य है। सम्यग् दर्शन मोक्ष प्राप्ति की प्राथमिक आवश्यकता है। अतः सम्यग् दर्शन के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये।

### एसो पंच नमुक्कारो—

श्री नमस्कार महामंत्र के छठे पद पर “एसो पंच नमुक्कारो” पाठ दिया गया है। इसमें “एसो पंच नमुक्कारो” शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण एवं कीमती है। नमस्कार महामन्त्र के इस छठे पद की तुलना नवपद के छठे सम्यग्दर्शन पद के साथ करने पर दोनों में समानता याने सादृश्यता स्पष्ट दिखाई देती है। इससे यह प्रतीत होता है कि “एसो पंच नमुक्कारो” के अर्थ में ही सम्यग् दर्शन का सही अर्थ है। एसो + पंच + नमुक्कारो = एसो पंच नमुक्कारो। एसो = इन (यही) पंच = ५ (पंच परमेष्ठी अर्थात् नवकार मंत्र में उपरोक्त पांच पदों में जो अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय सर्व साधु आदि पंच परमेष्ठी हैं, उन्हीं पाँचों का “एसो पंच” पद से अर्थग्रहण किया गया है। इन पाँच को ही नमस्कार है। यही आभिग्रहिक, अनभिग्रहिक आदि मिथ्यात्व निवृत्ति रूपक सच्चा नमस्कार किया गया है। इससे स्पष्ट सम्यग् दर्शन रूप सच्ची श्रद्धा का बोध होता है। अतः “एसो पंच नमुक्कारो” यह छठ्ठा पद नवपद के छठे पद सम्यग्दर्शन का सही अर्थ में द्योतक है। इसमें “पंच” संख्यावाची शब्द से और “एसो” अर्थात् इन्हीं पाँच-अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु के अलावा किसी अन्य को ग्राह्य नहीं किया गया है। अतः छठे पद से इन और ऐसे पांच अरिहंतादि को नमस्कार किया गया है, अर्थात् (१) अरिहंत ऐसे वीतराग भगवान को नमस्कार, (२) सिद्ध, बुद्ध मुक्त ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार, (३) पंचाचार प्रवीण ऐसे आचार्य भगवन्तों को नमस्कार, (४) पाठक एवं वाचकवर्य ज्ञानदाता ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार, (५) समस्त लोक में रहे हुए, सिद्धि मार्ग के साधक, विरक्त, वैरागी, त्यागी, तपस्वी साधु-मुनिराजों को नमस्कार किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं। अतः “एसो पंच” यह पद एक मर्यादा एवं सीमा बांधने वाला होता है। जो अरिहंत सिद्धादि पांच की व्याख्या एवं पद पर आते हैं, उन्हें नमस्कार अवश्य किया गया है, परन्तु इन पाँच की व्याख्या में जो नहीं आता है एवं इन पाँच के जैसा स्वरूप जिनका नहीं है, उनको नमस्कार नहीं किया गया है। यह प्रमाण दिखाने के लिए अरिहंत आदि पाँचों के नियत गुणों की संख्या निम्नानुसार दर्शाई गई है—

|                |   |        |
|----------------|---|--------|
| १. अरिहंत के   | — | १२ गुण |
| २. सिद्ध के    | — | ८ गुण  |
| ३. आचार्य के   | — | ३६ गुण |
| ४. उपाध्याय के | — | २५ गुण |
| ५. साधु के     | — | २७ गुण |

इन पाँचों (पंच परमेष्ठी) के कुल १०८ गुण हैं।

उपरोक्त गुण ही पंच परमेष्ठी के स्वरूप के द्योतक हैं। गुण ही गुणी के सच्चे द्योतक होते हैं अर्थात् गुण से ही गुणी का सच्चा स्वरूप पहचाना जाता है। गुण और गुणी में अभेद सम्बन्ध है।

“एसो पंच नमुक्कारो” पद में संख्यावाची “पंच” शब्द से “न न्यूनाधिक्य” का स्पष्ट बोध होता है, अर्थात् पाँच से तो न कम और न ही अधिक, निश्चितता एवं स्थिरता का बोध “पाँच” शब्द कराता है। अतः न न्यून याने इन पाँच परमेष्ठी से कम संख्या में अर्थात् २-३ या ४ ही मानें और १-२ को न मानें तथा माने हुए २-३ को ही नमस्कार करें, उन्हीं के प्रति श्रद्धा रखें और अन्य १-२ के प्रति श्रद्धा न रखें, न माने, नमस्कारादि न करें वह सही अर्थ में सम्यक्त्वी नहीं कहलायेगा। इन पंच परमेष्ठी में दो देव और तीन गुरु मिलाकर पाँच होते हैं। अरिहंत और सिद्ध ये दो देव (भगवान) हैं और आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये तीन गुरु हैं। कोई यह कहे कि मैं तो प्रत्यक्ष दिखाई देते इन गुरुओं को ही मानता हूँ, परन्तु देव तत्त्व जो परोक्ष हैं उन्हें नहीं मानता हूँ तो वह पाँचों ही परमेष्ठी को न मानने के कारण मिथ्यात्वी कहलाता है। ठीक इसके विपरीत कोई देव तत्त्व को माने और गुरु तत्त्व को न माने तो वह भी मिथ्यात्वी कहलाता है। अतः “एसो पंच नमुक्कारो” पद से पाँचों ही परमेष्ठी को संयुक्त रूप से मानते हुए, नमस्कार करना यही सम्यग् दर्शन है। न न्यूनाधिक अर्थात् कम-ज्यादा मानना।

**व्यक्तिगत समकित देने की दुकान—**

सम्यक्त्व कोई बाजारू चीज नहीं है अर्थात् २-५ रुपये में यह बाजार में बिकता नहीं है। सम्यक् दर्शन यह आत्मा का गुण है, जो तत्त्वार्थ श्रद्धा से प्रकट होता है। गुरु आदि व्यक्ति अधिगम मार्ग से उत्पन्न सम्यक्त्व में निमित्त मात्र है। फिर भी अधिगम मार्ग से किसी को सम्यक्त्व प्राप्त कराने में सहायक निमित्त बने हुए उपदेशक गुरु आदि ही “मेरा समकित लो—मेरा समकित लो” इस प्रकार दुकानदार की तरह अपनी पुड़ियाँ में

बांधकर समकित बेचते हैं। उनके ऐसे समकित का छिपा हुआ अर्थ यह है कि—“मुझे ही मानों और किसी को नहीं।” मैं जो कहता हूँ, वैसे ही, और वही करो। दूसरों को मत मानों और दूसरों का कहा हुआ भी मत मानों। मेरे ही सम्प्रदाय, पंथ या गच्छ को मानों और अन्य किसी सम्प्रदाय पंथ या गच्छ को मत मानों। मुझे ही वन्दन करो और किसी को हाथ मत जोड़ो। ऐसा हल्दी के गाँठ की पुड़िया की तरह वे अपना समकित बेचते हैं। खरीददार ग्राहक भी सन्तुष्टि के साथ ऐसा मानता है कि—“मैंने अमुक महाराज सा. से समकित लिया है। मैं अमुक महाराज सा. को ही मानता हूँ। अन्य महाराज सा. को नहीं मानता।” ऐसा बाजारू समकित बेचने वाले व्यापारी भी हैं, एवं खरीदनेवाले ग्राहक भी हैं।

वास्तव में देखा जाय तो इस वृत्ति में न तो कोई सम्यक्त्व है और न ही कोई श्रद्धा है। यह मात्र सम्प्रदाय की खिचड़ी पकाने का चूल्हा है। जिस तरह एक व्यापारी अपने ग्राहक खड़े करता है, वैसे ही व्यक्तिगत समकितदाता गुरु अपने निजी भक्त खड़े करते हैं, न कि सच्चे तत्त्वार्थ श्रद्धालु सम्यग्दर्शनी। इससे सम्प्रदायवाद का विष पनपता है। परिणामस्वरूप राग-द्वेष की वृद्धि होती है और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण बनता है। इसमें क्रोधादि कषाय पलते हैं, जिससे समय आने पर हिंसा आदि पापाचार भी होता है। एक ही धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले परस्पर निन्दा आदि करते हुए, अपनी साम्प्रदायिक नींव मजबूत करते हैं। इस तरह अपनी दुकानदारी चलाते हैं। राजघरानों में जैसे विष कन्या निर्माण की जाती थी वैसे ही सम्प्रदायवाद के जहर वाले विषैले भक्त निर्माण करने का काम कलियुग में अपना समकित बेचनेवाले करते हैं।

“समकित” या सम्यग् दर्शन यह किसी की व्यक्तिगत धरोहर नहीं है। यह तत्त्वार्थ श्रद्धान् स्वरूप आत्म गुण रूप है। यथार्थ सत्य किसी व्यक्ति विशेष के घर का नहीं होता है, यह सूर्य के प्रकाश की तरह सर्व व्यापी होता है। चरम सत्य का स्वरूप एक ही होता है न कि भिन्न-भिन्न। अतः अच्छा यह हो कि हम किसी व्यक्ति विशेष को ही मानने का व्यक्तिगत समकित न स्वीकारते हुए, यथार्थ तत्त्व, श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन ही स्वीकार करें।

इसी तरह व्यक्तिगत समकित दाताओं का सही कर्तव्य यह है कि साधक को देव-गुरु-धर्म एवं आत्मा-परमात्मा-मोक्षादि यथार्थ तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान उपार्जन कराते हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त करावें। गुरु को चाहिये कि वे अपनी महत्ता न दिखाते हुए, वीतराग, सर्वज्ञ प्रभु की महत्ता दिखाएँ। साधक को अपना निजी भक्त न बनाते हुए सर्वज्ञ वीतरागी अरिहंत प्रभु का भक्त बनावें। उसे अपने कहे हुए मार्ग पर न चलाते हुए, सर्वज्ञोपदिष्ट

तीर्थंकर कथित धर्म मार्ग पर चलाने का कर्तव्य गुरु को निभाना चाहिये। साधक को मुझे मानने रूप मेरे में ही श्रद्धा रखो, ऐसा न कहते हुए सर्वज्ञ वीतरागी-अरिहंत भगवान में एवं उनके वचन में श्रद्धा रखो, ऐसा सिखाना चाहिए। यही गुरु का कर्तव्य है।

वास्तव में ऐसा शुद्ध सम्यग्दर्शन सभी जीवों को प्राप्त कराना, यह गुरु का मुख्य कर्तव्य है। इस नीति का पालन करने से संप्रदायवाद का विष कम होगा और शाश्वत धर्म का झण्डा सदा ही लहराता रहेगा। इस तरह व्यक्तिगत समकित बेचने की दुकानदारी चलाना महापाप है।

### सम्राट श्रेणिक की श्रद्धा की कसौटी—

मगध देश की राजधानी राजगृही नगरी के अधिपति सम्राट श्रेणिक महाराजा चरम तीर्थपति श्रमण परमात्मा श्री भगवान महावीरस्वामी के परम उपासक बने थे। सर्वज्ञ प्रभु से समस्त तत्त्वों का यथार्थ सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके सच्चे परम श्रद्धालु बने थे। उनका सम्यग्दर्शन विशुद्ध कक्षा का था। यद्यपि वे अविरति के उदय वाले थे, अतः उनके जीवन में सामायिक-व्रत-पञ्चक्खाण आदि विरति धर्म नहीं आ सका था। चारित्र मोहनीय का प्रबल उदय था जिससे व्रत-विरति पञ्चक्खाण का आचरण वे नहीं कर पाये। लेकिन दर्शन मोहनीय कर्म एवं अनन्तानुबन्धी सप्तक के सर्वथा क्षय होने से वे विशुद्ध सम्यग्दर्शन पा सके एवं उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए, अपने सम्यग् दर्शन को “क्षायिक” की कक्षा में पहुँचा सके। जीवनभर परमात्मा महावीर प्रभु की परम भक्ति करके मात्र सम्यग् श्रद्धा के बल पर उन्होंने सर्वोच्च कक्षा का तीर्थंकर नामकर्म भी उपार्जन किया, जिसके फलस्वरूप वे आगामी चौबीसी में पद्मनाभस्वामी नामक प्रथम तीर्थंकर बनकर मोक्ष सिधारेगे।

देवलोक के देवताओं ने सम्राट श्रेणिक के सम्यग् दर्शन की कई बार विचित्र ढंग से परीक्षा भी की। गर्भवती साध्वी एवं मच्छीमार साधु का रूप लेकर देवताओं ने उनकी सचोट श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न भी किया; परन्तु श्रेणिक जैसे परम श्रद्धालु राजा अपनी श्रद्धा में अचल-अटल रहे। कठिन कसौटियों में से पसार हुए वे धन्य है। ऐसे थे शुद्ध सम्यक्त्वी श्रेणिक महाराजा।



महासती परम श्रद्धालु सुलषा श्राविका के जीवन में प्रथम संतानोत्पत्ति का अभाव होते हुए भी उन्होंने कभी भी अपनी सम्यग् श्रद्धा को विचलित नहीं किया। उन्होंने ने कभी रागी-द्वेषी-देवी-देवताओं की मानता, आखड़ी मानने का पाप नहीं किया। उन्होंने मिथ्या

धर्म का आचरण कभी भी नहीं किया। योगानुयोग बत्तीस पुत्रों की प्राप्ति होने पर एवं भवितव्यतावश बत्तीस ही पुत्रों की चेड़ा राजा के साथ युद्ध में मृत्यु भी हो गई, तथापि उन्हें रंज मात्र भी शोक नहीं हुआ। अंबड परिव्राजक की परीक्षा में भी पार उतरकर सुलषा श्राविका ने अपने सम्यग् दर्शन की सही अर्थ में रक्षा की, एवं आगामी चौबीसी में तीर्थकर बनने का सौभाग्य प्राप्त किया।

☆ ☆ ☆

मालवदेश की उज्जयिनी (उज्जैन) नगरी के प्रजापाल राजा की दो पुत्रियाँ थीं। मिथ्याशास्त्र पढ़ी हुई सुर सुन्दरी, मिथ्यामति थी जबकि कर्म-धर्म का सम्यग् सिद्धान्त पढ़ी हुई मयणा सुन्दरी शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्राविका थी, जिसने अपने पति श्रीपाल राजा को भी शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्रावक बनाया था। मयणा श्रीपाल के जीवन में आए हुए सैकड़ों कष्टों एवं दुःखों के द्वारा उनकी सम्यग् दृष्टि-श्रद्धा की परीक्षा हुई। फिर भी श्रीपाल-मयणा दम्पति श्रद्धा की कसौटी पर पूरे सौ टका खरे उतरे। सिद्धचक्र रूप नवपद की परमभक्ति एवं उपासना करके, उन्होंने अपना कल्याण साध लिया। इस तरह उन्होंने नववें भव में मोक्ष जाने का अधिकार प्राप्त किया। ऐसे सम्यग् श्रद्धावन्त मयणा-श्रीपाल का आदर्श आज भी "श्रीपाल रास" के रूप में उपलब्ध है।

☆ ☆ ☆

महाराज श्रीकृष्ण ने भगवान नेमिनाथ से सम्यग् धर्म एवं जीवादि तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान समझकर सम्यग् दर्शन प्रकट किया। यद्यपि व्रत-विरति-पञ्चक्खण का आचरण उनसे नहीं हो पाया, फिर भी यादवाधिपति श्रीकृष्ण ने सही सम्यग् दर्शन के आधार पर आगामी चौबीसी में तीर्थकर बनने का सर्वोच्च पुण्य उपार्जन किया। वे १२ वें अममस्वामी नामक तीर्थकर बनकर मोक्ष में जावेंगे।

☆ ☆ ☆

परम जिनभक्त रावण ने विशुद्ध सम्यग् दर्शन के बल पर पत्नी मन्दोदरी के साथ, अष्टापद गिरी (महातीर्थ) पर प्रभु भक्ति में तल्लीन बनकर तीर्थकर नामकर्म उपार्जन किया। महाविदेह क्षेत्र में तीर्थकर बनकर, वे भी मोक्ष में जावेंगे।

☆ ☆ ☆

ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात की गद्दी पर आए राजा कुमारपाल ने कलिकाल सर्वज्ञ पू. हेमचन्द्राचार्य महाराज से अरिहन्त धर्म प्राप्त करके, परम शुद्ध सम्यक्त्व रत्न प्राप्त



किया। साथ ही देश विरति रूप श्रावक धर्म योग्य बारह व्रत स्वीकार करके वे परमार्हत जैन श्रावक बने। उनकी सम्यग् श्रद्धा अनुपम एवं विशुद्ध कक्षा की थी। उन्होंने भी स्व-आत्मा का कल्याण साधा एवं अल्प भवों में ही मोक्ष सिधारेंगे।

शास्त्रों में ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त एवं चरित्र ग्रन्थों में ऐसे अनेक महापुरुषों के चरित्र लिखे गये हैं, जिन्होंने सम्यग् दर्शन रूपी रत्न को पाकर ही मोक्ष प्राप्त किया है। तथा अनागत (भविष्य) काल में भी जावेंगे। ऐसे सम्यग्-दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति हो, इसलिए परमात्मा पार्श्व प्रभु के चरण कमल में अन्तिम प्रार्थना इस प्रकार की गई है—

तुह सम्मत्ते लद्धे चिन्तामणि कण्ठपाय वळ्पहिह ।

पावन्ति अविघ्नेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥ ४ ॥

“श्री उवसग्गहरं स्तोत्र” में चौदह (चतुर्दश) पूर्वधारी प. पूज्य भद्रबाहुस्वामी लिखते हैं कि— हे प्रभु ! चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक (महिमाशाली-लाभदायक) ऐसा आपका सम्यग् दर्शन-सम्यक्त्व रूपी रत्न पाकर अनेक निर्विघ्न-विघ्नरहित, जन्म मरण रहित अजरामर ऐसे मोक्ष पद को यथाशीघ्र ही प्राप्त करते हैं।

यही प्रार्थना मैं मेरे लिए करता हूँ कि मैं भी ऐसा आपका विशुद्ध सम्यग् दर्शन प्राप्त करके मोक्ष पद को प्राप्त करूँ। इसी तरह अनेक भव्यात्माएँ भी आपकी परम श्रद्धा रूप सम्यग् दर्शन-सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त करके भविष्य में मोक्ष पद को प्राप्त करें। ऐसे सभी जीवों के प्रति शुभ मनोकामना एवं प्रार्थना प्रभु चरण में शुद्ध भाव से प्रकट करता हूँ। सभी विशुद्ध श्रद्धालु बनें। सभी का कल्याण हो। इसी शुभेच्छा के साथ..... समाप्तम्।

॥ “सर्वेऽपि सन्तु श्रद्धावन्तः” ॥

॥ इति शं भवतु सर्वेषाम् ॥





## देशविरतिधर श्रावक जीवन



|                                                     |     |
|-----------------------------------------------------|-----|
| मोहनीय कर्मजन्य घातक दोष.....                       | ५७७ |
| विकास क्षेत्रीय सोपान.....                          | ५७८ |
| तीन योगों के बीच आत्मा.....                         | ५८० |
| ६ पर्याप्तियां.....                                 | ५८४ |
| इन्द्रिय, पर्याप्ति और प्राणों का कोष्ठक.....       | ५८७ |
| १८ पापस्थानकों का सामान्य स्वरूप.....               | ५८८ |
| श्रेष्ठ-श्रेयस्कारी मार्ग कौन सा ?.....             | ५९३ |
| धर्म क्या और कैसा है ?.....                         | ५९५ |
| कर्मक्षयकारिका आज्ञा - पाप निवर्तिका आज्ञा.....     | ५९८ |
| देव, गुरु या धर्म, किससे उद्धार.....                | ५९९ |
| विरतिप्रधान धर्म.....                               | ६०१ |
| भगवान की विरतिप्रधान देशना.....                     | ६०३ |
| सम्यग् श्रद्धा का परिणाम.....                       | ६०६ |
| जैन दर्शन में मुक्ति.....                           | ६०८ |
| स्वर्ग देनेवाला पुण्य और मोक्षदाता - निर्जरा.....   | ६१० |
| श्रमण धर्म का अनुगामी श्रावक धर्म.....              | ६११ |
| जैन किसे कहें ?.....                                | ६१३ |
| ४ थे और ५ वे गुणस्थान में अन्तर.....                | ६१५ |
| श्रावकजीवन योग्य व्रतादि का स्वरूप.....             | ६१७ |
| सम्यक्त्वी की प्रार्थना.....                        | ६२२ |
| पाँच अणुव्रतों का स्वरूप.....                       | ६२५ |
| तीन गुणव्रतों का स्वरूप.....                        | ६४५ |
| चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप.....                     | ६६७ |
| बारह व्रत के १२४ अतिचार.....                        | ६७६ |
| श्रावक के २१ गुण.....                               | ६७७ |
| श्रावक जीवन की दिनचर्या.....                        | ६८२ |
| मन्त्रजिणाणं सज्ज्जाय में श्रावक के ३६ कर्तव्य..... | ६८६ |
| भावश्रावक के १७ लक्षण.....                          | ६८८ |
| पाँचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक.....                    | ६८९ |



## देश विरतिधर श्रावक जीवन

अनन्तानन्त उपकारी .. अनन्तानन्त अरिहंतों के अनन्त चरणारविन्द में अनन्तानन्त वंदनपूर्वक ...

सद्भिर्गुणदोषज्ञैर्दोषानुत्सृज्य गुणलवा प्राह्याः ।

सर्वात्मना च सततं प्रशमसुखायैव यतितव्यम् ॥ ॥ ३११ प्रशम ॥

पू. वाचकमुख्यजी उमास्वातिजी पूर्वधर महापुरुष प्रशमरति प्रकरण ग्रन्थ के अन्त में अपने हृदयोद्गारों के द्वारा शिक्षा देते हुए प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि ... गुण—दोषों के ज्ञाता सज्जनों को चाहिए कि वे दोषों को छोड़कर थोड़े भी गुणों को ग्रहण करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करें। और प्रशम सुख की प्राप्ति के लिए सतत—अविरत प्रबल—पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

### दोषक्षय और गुणवृद्धि—

मोक्षमार्ग की दिशा में आगे बढ़नेवाले प्रत्येक साधक के जीवन का मूलमन्त्र यही होना चाहिए कि ... दोषों का क्षय करूँ और गुणों की वृद्धि करूँ। कर्मजन्य दोष होते हैं। और आत्मगत गुण होते हैं। आज वर्तमान में हमारी स्थिति ऐसी है कि ... जिसमें गुण—दोष दोनों की स्थिति मौजूद है। आत्मा का अस्तित्व है अतः आत्मगत गुणों का अस्तित्व सदा ही है। और कर्मसत्ता का भी अस्तित्व है ही ... आत्मा संसार में अनादिकाल से कर्मग्रस्त—कर्मबद्ध, कर्मसंस्कृत ही है, अतः कर्मयुक्त होने के कारण कर्मजनित दोषों का अस्तित्व है ही। और जब तक आत्मा पर कर्मसत्ता का अस्तित्व रहेगा तब तक कम ज्यादा प्रमाण में दोषों का अस्तित्व भी निश्चित रूप से रहेगा ही। कार्य—कारणभाव संबंध है। अतः मात्र दोषों को ऊपर—ऊपर से दूर करने की प्रवृत्ति करने के बजाय मूलभूत जड़ कारण रूप कर्मों को सत्ता में से क्षय करने की प्रक्रिया हाथ में लेनी चाहिए।

आत्मा के ज्ञानादि तथा क्षमा—समतादि गुण तथाप्रकार के ज्ञानावरणीय—मोहनीयादि कर्मों से दबे हुए हैं। ढके हुए आवृत हैं। गुण क्या है? कर्मावरण रहित

आत्मा की विशुद्ध अवस्था । और दोष क्या है ? आत्मा की कर्मावरण सहित अशुद्ध अवस्था की प्रवृत्ति । अतः ये है एक ही सिक्के की दोनों तरफ की प्रवृत्ति । सिक्के की उजली बाजु देखें तो गुणों से भरी हुई है और दूसरी बाजु देखें तो कर्मों के काले मैल से मलीन हुई है, जिसके कारण दोषों का स्वरूप दिखाई देता है । चांदी स्वाभाविक चमकदार तेजस्वी है, सिर्फ उस पर वातावरण एवं हवामान के कारण कालीमा छ गई है । उस कालिमा के आवरण ने चांदी की चमकदमक—तेजस्विता को ढक दी है । आवृत्त कर दी है । यदि पुनः चांदी में चमकदमक लानी हो तो उस पर चांदी का पानी या डोल चढ़ाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, सिर्फ उस पर लगी कालिमा को दूर कर देने मात्र से वास्तविक चमकदमक—तेजस्विता प्रकट हो जाती है । है तो प्रकट हुई, नहीं होती तो कहाँ से आती ? बस आवरणरूप कालिमा को घिसकर, साफकर हटाने मात्र से अन्दर के मूलगत धातुगत गुण अपने आप प्रकट हो ही जाएंगे । यही बात सोने—पित्तल या तांबे के लिए भी समानरूप से लागू होगी ।

ठीक वैसे ही आत्मा धातु के जैसी है । इसपर भी कर्म का मैल लग जाने से कालिमा छ जाती है । और कर्म रूपी कालिमा से आत्मा काली—मैली मलीन दिखाई देती है । ऐसी अवस्था में दोषों की ही प्रवृत्ति होती रहती है । अब गुणों को प्रकट करने के लिए ... कोई आवश्यकता नहीं है कि उसपर पोलीश करें । या लीपापोती करें । जी नहीं । मैले कपडे पर चुने की लीपापोती करने से कपड़ा साफ अच्छा नहीं होता है । परन्तु साबुन से धोकर साफ—स्वच्छ करने मात्र से अच्छा बन जाता है । अतः यह निश्चित सिद्ध होता है कि वस्तुगत वास्तविक गुणों को प्रकट करने के लिए एक मात्र गुणों पर लगे आवरण को दूर करना—हटाना ही श्रेष्ठ प्रक्रिया है । कर्मावरण के हटने से ही गुणों का प्रादुर्भाव होगा । अन्यथा असंभव है ।

#### ४ प्रकार के पुरुष—

संसार में गुण—दोष की वृत्ति के प्रयत्नशील ४ प्रकार के पुरुष होते हैं ।

१) गुणों की वृद्धि करना चाहते हैं परन्तु दोषों का क्षय करने की प्रवृत्ति नहीं करते हैं ।

२) दूसरे प्रकार के जीव गुणों की वृद्धि करते हैं और दोषों का क्षय सतत करते रहते हैं ।

३) तीसरी कक्षा के जीव गुणों की वृद्धि ही नहीं करते हैं सिर्फ दोषों की वृद्धि रात—दिन करते हैं ।

४) अन्तिम चौथे प्रकार के जीव भी संसार में हैं जो गुणों के बारे में कभी भी कुछ भी नहीं सोचते हैं, और दोषों के बारे में भी नहीं। अर्थात् इस प्रकार के जीव गुणवृद्धि के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं, और दोषों का क्षय करने के प्रति भी प्रयत्नशील नहीं हैं। विचारक ही नहीं है।

इन चार प्रकार के जीवों में एकमात्र दूसरे प्रकार के जीव ही सच्चे साधक हैं। मोक्षगामी हैं। मोक्षमार्ग पर अग्रसर होनेवाले हैं। सतत गुणों की वृद्धि के लिए और निरंतर दोषों के क्षय के लिए प्रयत्नशील हैं। पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। शेष तीन प्रकार के जीव... साधक कक्षा के नहीं हैं। विराधक हैं। गुणों की तरफ कोई लक्ष्य ही नहीं है। अभी भी दोष बहुल वृत्तिवाले हैं। दोषों को बढ़ाने से संसार की वृद्धि होगी। और दोषों को क्षीण करने से संसार भी क्षीण होगा। परिणामस्वरूप मुक्ति संभव होगी।

### मोहनीय कर्म जन्य घातक दोष—

आत्मा पर लगे ८ कर्मों में से एक मोहनीय कर्म इतना प्रबल है कि... उसने आत्मा के ९०% गुणों को ढक दिया है। दबा दिया है। मात्र गुणों को दबाया इतना ही नहीं दोषों को बहुत बढ़ा दिया है। राग—द्वेष—क्लेश—कषाय आदि सैंकड़ों दोषों को बढ़ा दिया है। क्षमा—समता, नम्रता, सरलता, संतोष, करुणा, निर्लोभ, सर्वजीव प्रति प्रेम दया—दानादि सैंकड़ों प्रकार के गुणों को एक मात्र मोहनीय कर्म ने दबा दिया है। ढक दिया है। अरे, मात्र ढक ही नहीं दिया है, उसे विकृत कर दिया है। जैसे अमृत को भी गटर का पानी अशुद्ध—गंदा कर दे वैसा कर दिया है। या जैसे अन्तर को भी गटर के गंदे पानी में डाल देने से कैसी हालत होती है? ठीक वैसी ही हालत आत्मा के गुणों की हो चुकी है। कर्मों ने गुणों का ऐसा गला घोट दिया है कि अब उसमें से राग—द्वेषादि दोषों की ही गन्ध आती है। मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ गटर के गन्दे पानी जैसी हैं। ये आत्मा के क्षमा समतादि गुणों का घात कर देती हैं और राग—द्वेष—मोहादि के अनेक दोषों को बढ़ा देती हैं। और संसार में जीव की स्थिति बरकरार रहती है।

साधक मोहनीय कर्मरूपी पर्वत के नीचे वर्षों से दबा हुआ है। वह पराधीन हो चुका है। कुछ भी कर नहीं पाता है। मोहनीय कर्म के घर के मूलभूत मिथ्यात्व मोहनीय की तीव्रता के उदय के कारण अमन्तकाल में भी जीव के कर्मक्षय करके गुणों का प्रादुर्भाव करने की विचारणा ही नहीं बनी। लक्ष्य बना ही नहीं। अतः उस जीवविशेष ने कभी भी इस दिशा में पुरुषार्थ किया ही नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व के कारण बुद्धि और वृत्ति सर्वथा

विपरीत ही बनी हुई थी। अतः कुछ भी नहीं कर सकता था। जब सम्यग् दर्शन की प्राप्ति होती है तभी जीव मोक्षप्रेमी मोक्षप्रिय—मोक्षाभिलाषी बनता है। उसके बाद ही मुक्ति की दिशा में पुरुषार्थ करता है। अन्यथा सम्यक्त्व पाने के पहले मिथ्यात्व की कक्षा में मोक्षद्वेषी—मुक्ति के प्रति सर्वथा द्वेष—दुर्बुद्धिवाला ही बना रहा था। ऐसी स्थिति में मोक्ष प्राप्ति की दिशा में किसी भी प्रकार की अनुरूप प्रवृत्ति संभव ही नहीं बनी। यह भूमीका मिथ्यात्व के सर्वथा नाश और सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के बाद ही संभव बनी।

### विकास क्षेत्रीय सोपान—

आध्यात्मिक विकास के सोपानों पर चढ़ती हुई आत्मा सर्व प्रथम महामिथ्यात्व की तीव्रता की कक्षा में से मन्दता की कक्षा में आई। मन्द—मन्दतर—मन्दतम की कक्षा में आकर अपुनर्बन्धक—आदिधार्मिक की कक्षा का श्रीगणेश किया। अर्थात् शिशुशाला में प्रवेश करके नामांकन कराया। फिर यथाप्रवृत्तिकरणादि तीन करण करके ग्रन्थिभेद करके सम्यग् दर्शन रूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति की। तीनों करण की यह सारी प्रक्रिया पहले मिथ्यात्व के स्थान पर ही हुई है। अतः मिथ्यात्व को भी पहले गुणस्थानक की गणना में गिना है। आरंभ शुरुआत वहाँ से है। अतः ४ थे गुणस्थान पर सम्यग् दर्शन पाकर जीव श्रद्धालु—बनता है। अब आगे का पाँचवा गुणस्थान चढ़कर विकास की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ता है। अभी जीव यहाँ तक पहुँचा है। अभी आगे बहुत बढ़ना है। मंजिल काफी दूर है। लेकिन एक बार जो मार्ग पर आ जाता है और चलने की क्रिया प्रारंभ कर देता है उसके लिए मंजिल दूर नहीं है। परन्तु जो सदाकाल घर में ही बैठा रहे ऐसे मिथ्यात्वी जीव के लिए मंजिल कभी भी पास आ ही नहीं सकती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव मुक्ति की मंजिल प्राप्त करने की दिशा में सर्वथा निष्क्रिय है। मात्र निष्क्रिय ही नहीं अपितु विपरीत प्रवृत्ति करने में सक्रिय होने के कारण मुक्ति की मंजिल से और दूर—सुदूर ही भागता जाता है। परिणाम स्वरूप अन्तर बढ़ता ही जाता है। जबकि सम्यग् दृष्टि साधक के लिए मुक्ति का अभिलाष—मुक्तिप्रेम बहुत अच्छे प्रमाण में बढ़ गया है। मात्र बढ़ा ही नहीं अपितु सतत जागृत रहता है। उपयोग भाव में सतत दूध पर मलाई की तरह, या पानी पर घी की तरह तैरता हुआ दिखाई देता है। सम्यक्दृष्टि जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति में भेद बराबर दिखाई देगा। जीव स्पष्टरूप से पाप से बचने की भावना रखेगा। यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव ४ थे गुणस्थान पर पाप न करने के पञ्चवखाणवाला नहीं है। फिर भी पाप करने की तीव्रतावाला, तीव्र इच्छावाला नहीं है। पापभीरु होता है सम्यग् दृष्टि जीव। वंदितु सूत्र में कहा है कि—

सम्पदित्ति जीवो जइविहे पावं समायेइ किंचि ।

अप्पोसि होइ बंधो, जेणं न निद्धंसं कुणइ ॥

सम्यग् दृष्टि जीव यद्यपि पाप कर्म करता है, परन्तु उसे भारी लम्बे दीर्घकाल की अवधि का कर्म नहीं बंधता है । कर्म की स्थिति अल्प इसलिए बंधती है कि उसके परिणामों में क्रूरता—कठोरता निर्ध्वंसता नहीं होती है । निर्ध्वंस परिणामों का न होना यह सम्यग् दर्शन की उपस्थिति का फल है । उदाहरण अपने घर का लीजिए.. घर की संस्कार सम्पन्न धर्मप्रिय श्राविका जब घर का काम करेगी, रसोई करेगी, फल—सब्जी सुधारना—बनाना, घर की साफसुफी करना आदि में किसी भी जीव—जन्तु की हिंसा न हो जाय उसका सतत लक्ष रखती है । परन्तु उसी जगह यदि घर का एक नोकर यह काम करता है तो उसके वैसे भाव नहीं रहते हैं । दिल में दया, एवं जीवों को बचाने के, रक्षा के भाव ही नहीं रहते हैं मिथ्यात्व के कारण । अतः नोकर के निर्ध्वंस परिणामों की क्रूरता आदि के आधार पर उसे उस काम की प्रवृत्ति के कारण ९०% कर्म का बंध होगा । जबकि श्राविका को मात्र १०% कर्म का अल्प बंध होगा, क्योंकि निर्ध्वंस परिणाम नहीं है । दिलमें क्रूरता—कठोरता नहीं है ।

इसीलिए प्रत्येक जीवों को लक्ष रखना चाहिए कि परिणाम टूट न जाय, गिर न जाय, निर्ध्वंस या क्रूर कठोर न हो जाय । अतः धर्मिष्ठ परिवारों के सजग श्रावक—श्राविकाएँ घरमें हो सके वहाँ तक नोकर को नहीं रखें । और घर का सारा काम स्वयं अपने हाथों से करने के संस्कार बनाएँ ताकि कई प्रकार की विराधनाओं से बचा जा सकता है । ज्यादा जीवहिंसा से बचा जा सकता है ।

निरर्थक श्रीमंताई का प्रदर्शन करने के मिथ्याभिमान में ज्यादा नौकरों की संख्या दिखाकर उन्हीं से काम लेने का रखें और घर की श्राविका को कुछ भी काम न करते हुए मात्र शेठानी बनकर हुकम ही करने का रहेगा तो परिणाम स्वरूप शरीर की चरबी बढ़ती ही जाएगी । और शरीर रोगों का घर बन जाएगा । अतः दोनों तरफ से फायदा है । एक तरफ से तो जीव हिंसा—विराधना से बचाव होगा । ज्यादा कर्म बंध नहीं होगा । और काम की सफाई भी अच्छी रहेगी । तथा शारीरिक श्रम से शरीर भी स्वस्थ रहेगा । फूलेगा—बढ़ेगा नहीं । यदि आप ये कहें कि नोकर को वैसा सिखा देंगे । आपकी भावना अच्छी है । परन्तु नोकर की वृत्ति में मिथ्यात्व के गाढ़ संस्कार पड़े हुए होने के कारण छोटे—छोटे जीवजन्तुओंको जीव मानने के लिए उसका मन तैयार ही नहीं है । मिथ्यात्व के कारण उसकी विपरीत वृत्ति होती है । अतः वह श्रद्धा रखेगा ही नहीं, मानेगा ही नहीं ।

अतः पालन करना या वैसा सही आचरण करना उसके लिए असंभव है। हाँ, मायावी नाटक को करता हुआ आपके सामने हाँ हाँ कर देगा, परन्तु थोड़ी देर जब तक आप देखेंगे वहाँ तब सीधा काम करेगा, बाद में जैसे ही आप हटे कि तुरंत वह अपनी वृत्ति के आधार पर काम घसीट कर पूरा कर देगा। भले ही जीवों की हिंसा हो जाय तो होने देगा। उसे श्रद्धादि कुछ भी न होने का यह परिणाम है।

### पाँचवे गुणस्थानक का स्वरूप—

चौथे गुणस्थानक का नाम अविरत सम्यग् दृष्टि था। वहाँ सर्वप्रथम जीव अनादि मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग् दृष्टि बना। अभी दृष्टि बदली है। विचारधारा बदली है। परन्तु आचार के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। किसी भी प्रकार से विरति नहीं आई है। पापों का त्याग ऐसी विशेष विरति—व्रतादि नहीं आए। अतः चौथे गुणस्थानक पर जीव अविरतिघर ही रहा। अब पाँचवे गुणस्थान पर आकर पापों का त्याग करने का कार्य प्रारंभ किया और परिणाम स्वरूप विरति में आने लगा। फिर भी पापों का सदा के लिए सर्वथा संपूर्ण रूप से त्याग करने का प्रबल सामर्थ्य न होने के कारण कुछ थोड़े प्रमाण में ही पापों का त्याग करने लगा। अतः इस पाँचवे गुणस्थानक का नाम देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक रखा गया है।

पाँचवे गुणस्थानक को विरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थानक कहा है। अतः विरति यहाँ प्रारंभ हो जाती है। पापों की विरक्ति महत्वपूर्ण है। विरक्ति अर्थात् मुँह फेर लेना। किससे? पापों से सर्वथा मुँह फेर लेना। विरक्ति अर्थात् वैराग्य। जैसे कोई वैरागी बन जाता है उसका संसार से मन उठ जाता है। अब ज्यादा रागभावना संसार के सुखों—भोगों के प्रति नहीं रहती है। वह उनके सामने देखना भी छोड़ देता है। उसे विरक्ति कहते हैं। वैसी विरक्ति जीव की पापों की तरफ हो जानी चाहिए। बस, पाप पसंद ही न आए। पाप करने में रुचि—इच्छा ही न रहे। यह पापों की विरक्ति मन को पापकर्मों से बचाकर रखनेवाली शुभ वृत्ति है। ऐसी विरति की भावना एवं आचारधर्म में वैसा भाव लाकर वैसा आचरण करना यह पाँचवे गुणस्थानक का स्वरूप है।

### तीन योगों के बीच आत्मा—

यद्यपि अनादि—अनन्तकाल तक जीव पाप करता ही रहा है। बीते हुए अनन्त जन्मों में से एक भी जन्म जीव का ऐसा खाली नहीं गया कि, जहाँ जीव ने पापप्रवृत्ति न की हो। आत्मा को इस संसार में जीने—रहने के लिए आधारभूत शरीर मिला है। शरीर में एक

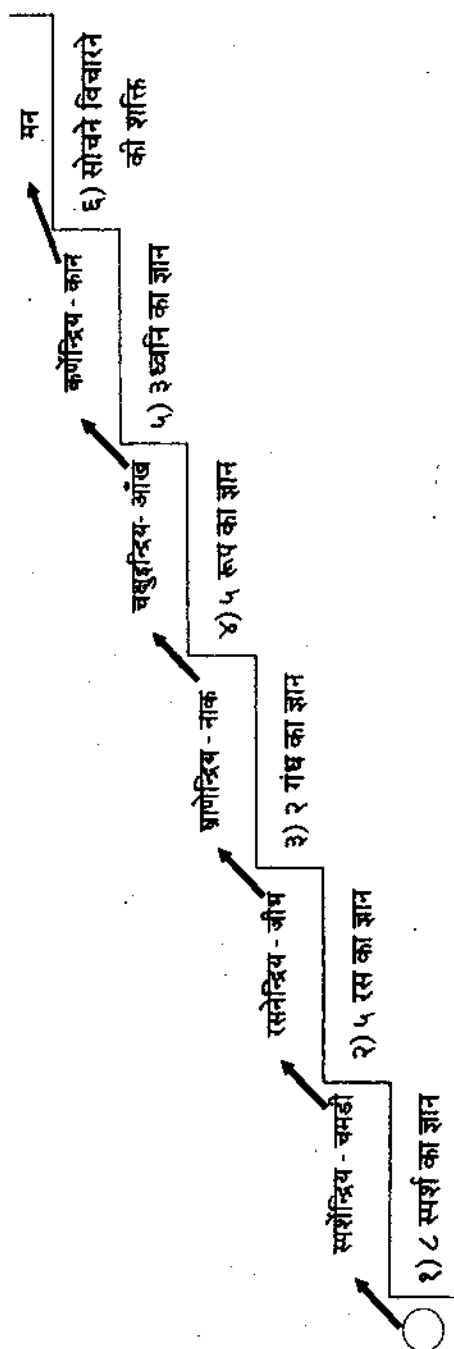




से लेकर पाँच इन्द्रियाँ मिली है। बोल-चालादि भाषा का व्यवहार करने के लिए वचन योग मिला है। और सोचने-विचारने में साथ देनेवाला आधारभूत मन मिला है। इस तरह आत्मा इनके त्रिकोण में रहती है। इन्द्रियाँ शरीर से अलग नहीं हैं। ये शरीर का ही एक अंग हैं। शरीर के ही खिड़की-दरवाजे रूप हैं। जैसे एक मकान में हवा-प्रकाश आने जाने के लिए खिड़की-दरवाजे होने अनिवार्य

होते हैं ठीक वैसे आत्मा में ज्ञान के आने-के मार्ग के माध्यम के रूप में खिड़की-दरवाजे की तरह साधनभूत पाँच इन्द्रियों की व्यवस्था है। हाँ, सभी को समानरूप से एक सरीखी-एक जैसी सप्रमाण इन्द्रियाँ नहीं मिलती हैं। सभी जीवों के अपने अपने किये हुए कर्मों के आधार पर कम-ज्यादा इन्द्रियाँ मिलती हैं। इन्द्रियों की प्राप्ति में क्रम का मार्ग इस प्रकार बताया है—

यह इन्द्रियों की प्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ने का क्रम है। इसी क्रम से एक के बाद एक इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। सर्व प्रथम संसार में स्पर्शेन्द्रिय चमड़ी अनिवार्यरूप से सभी जीवों को मिलती है। पूरे शरीर पर चमड़ी का आवरण रहता है। बिना शरीर के तो संसार में कोई जीव रह ही नहीं सकता है। बिना शरीर का जीव अशरीरी कहलाता है। अशरीरी अवस्था एक मात्र मोक्ष में ही होती है। संसार में कदापि नहीं। यदि संसार में भी सर्व प्रथम अवस्था में जीव को अशरीरी मानें तो मुक्तात्मा की आपत्ति आएगी। और मुक्तजीव बाद में कर्मग्रस्त होकर पुनः संसारी बनता है ऐसी आपत्ति आएगी। सिद्धान्त गलत सिद्ध होगा। तब तो कोई भी आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त रह ही नहीं सकेगी। फिर वापिस कर्मग्रस्त होकर सशरीरी बन जाएगी। लेकिन ऐसा नहीं है। शाश्वत सिद्धान्त ऐसा है कि एक बार अशरीरी बन जाने के पश्चात् पुनः कोई सशरीरी नहीं बनता है। एकबार सर्व कर्म मुक्त हो जाने के पश्चात् वापिस कोई कर्म बांधता ही नहीं है। क्योंकि सर्व कर्म रहित अशरीरी आत्मा के पास कर्म बांधने योग्य साधनभूत शरीर मन-वचन-इन्द्रियादि एक भी साधन नहीं है, अतः मुक्तावस्था में पुनः कर्म बांधने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है।



जो शरीर कर्म के उदय से ही मिलता है फिर मिलने के बाद अन्य प्रकार के कर्मादि के उदय से आगे के साधन प्राप्त होते हैं ।

संसार में जीव सभी सशरीरी—शरीरधारी ही है । यहाँ तक कि निगोद की सूक्ष्मतम अवस्था में भी जीव शरीर धारण करके ही रहा हुआ है । पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—वनस्पति आदि सब में शरीरधारी ही है जीव । वहाँ एक स्पर्श-इन्द्रिय मिली है जिससे स्पर्श का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं । फिर आगे बढ़ते—बढ़ते दूसरी इन्द्रियाँ रस-इन्द्रिय प्राप्त करता है । जीभ मिलती है । इससे पाँच प्रकार के रसों का ज्ञान होता है । खट्टे—मीठे—तीखे—तूरे और कटु इन पाँच रसों के स्वादादि का ज्ञान प्राप्त करता है । फिर स्वोपाजित कर्मानुसार तीसरी घ्राण-इन्द्रिय—नासिका प्राप्त होती है । तब सुगंध—दुर्गंध ग्रहण करना प्रारंभ करता है । और आगे बढ़ने पर चौथी इन्द्रिय—चक्षु—आँख मिलती है । जिसके विषय रूप में लाल — पीला—हरा—काला—सफेद आदि पाँच प्रकार के रंगों का ग्रहण शुरू होता है । ज्ञान का प्रकाश प्रमाण में ज्यादा बढ़ता है अन्तिम इन्द्रिय पाँचवीं कर्ण-इन्द्रिय—श्रवण-इन्द्रिय के प्रतीक के रूप में कान प्राप्त होते हैं । इन कानों से

शब्द—ध्वनि सुनना प्रारंभ करता है। सचित्त—अचित्त—और मिश्र इन तीन प्रकार की ध्वनि सुनता है।



| इन्द्रिय नाम       | अंग नाम | विषय ज्ञान      | संख्या  |
|--------------------|---------|-----------------|---------|
| १) स्पर्शेन्द्रिय  | चमडी    | स्पर्श ज्ञान    | ८       |
| २) रसनेन्द्रिय     | जीभ     | रस-स्वाद ज्ञान  | ५       |
| ३) घ्राणेन्द्रिय   | नाक     | गंध ग्रहण ज्ञान | २       |
| ४) चक्षुर्इन्द्रिय | आँख     | वर्ण-रंग ज्ञान  | ५       |
| ५) श्रवणेन्द्रिय   | कान     | ध्वनि ज्ञान     | ३       |
|                    |         |                 | २३ विषय |

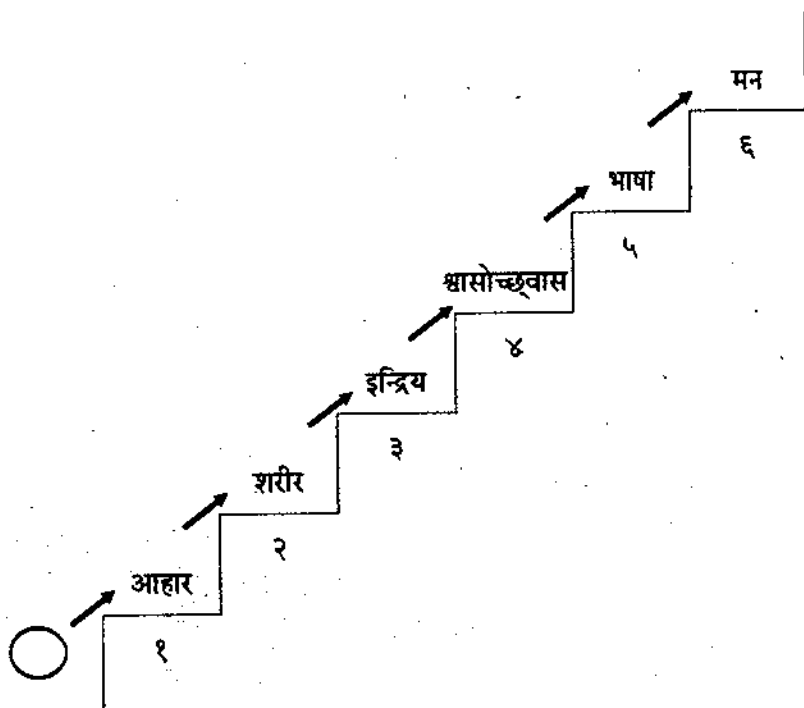
स्पर्शेन्द्रियादि पाँच स्थूल इन्द्रियाँ हैं। मन इन्द्रिय नहीं लेकिन अतीन्द्रिय है। चक्षुर्इन्द्रिय का अंग आँख है, वैसे मन कोई स्वतंत्र इन्द्रिय नहीं है जिसका कोई अंग हो। मन स्वयं ही स्वतंत्र है। अत्यंत सूक्ष्म है। चेतनात्मा ने अपने ज्ञान के उपयोग हेतु सोचने—विचारने के लिए मन बनाया है। यह मनोवर्गणा के जड़—पुद्गल—परमाणुओं को संचित करके बनाया गया है। अतः मन को जड़ कहा गया है। सूक्ष्म द्रव्य के रूप में आत्मा के साथ रहता है। उसका शरीर पर कोई स्वतंत्र अंग विशेष नहीं है। हम प्रतिक्षण जो भी सोच—विचार रहे हैं यह मन से ही है। मन का ही कार्य है।

इन्द्रियों की प्राप्ति में क्रमिक विकास की पद्धति है। एक के बाद एक इस तरह क्रम से प्राप्त होती है। इन्द्रियों का भी अपना विकास क्रम है। तथाप्रकार के उपार्जित नामकर्म की प्रकृति है। इन्द्रियनामकर्म की प्रकृति के शुभ—अशुभ उदय के कारण हीन—पूर्णादि—इन्द्रियाँ जीव प्राप्त करता है। उस प्राप्ति की प्रक्रिया पर्याप्ति नामकर्म के आधार पर होती है।

## ६ पर्याप्तियाँ—

आहार—सरीरिदिय, पञ्जति आण—पाण—भासमणे ।

चउ—पंच—पंच—छप्पिय, इगविगलाऽसन्निसन्नीणं ॥ ६ ॥



इस क्रम से जीव ६ पर्याप्तियाँ पूर्ण करता है । संसार में शरीर बनाने आदि के लिए रहने के लिए जीव को जो अनिवार्य रूप से आवश्यक साधन—सामग्री चाहिए उसे पर्याप्ति के रूप में कहा है । अतः इनका होना आवश्यक है । अतः जीव गर्भ—रूप जन्मस्थान में आकर सर्व प्रथम उपरोक्त ६ पर्याप्तियाँ बनाता है । और आपको आश्चर्य लगेगा कि मात्र अंतर्मुहूर्त दो घड़ी = ४८ मिनिट के अल्प समय मात्र में ६ पर्याप्तियाँ जीव पूरी बना लेता

है। यदि पूरी किये बिना ही जीव मर जाए तो अपर्याप्त कहलाता है। मनुष्य का जीव माता के गर्भ में आकर सर्व प्रथम औदारिक पुट्रल परमाणुओं का आहार ग्रहण करता है। उसके पश्चात् उस आहार के ग्रहण किये हुए पुट्रल परमाणुओं में से शरीर की रचना करता है। उसके बाद तीसरे क्रम पर आकर इन्द्रियाँ निर्माण करता है। पूर्व के अपने किये हुए तथाप्रकार के कर्मेदय के कारण कम—ज्यादा इन्द्रियाँ बनाता है। चौथे क्रम पर श्वासोच्छ्वास लेने—छोड़ने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। पाँचवे क्रम पर भाषाकीय व्यवहार शुरु होता है। और अन्त में छठे क्रम पर मन बनाता है जिससे सोचने—विचारने का काम शुरु करता है। यह सारा काम मात्र दो घड़ी के अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट के काल मात्र में पूरा हो जाता है। बाद के साडे नौ महीने का काल तो मात्र—विकास का है। विस्तार करते हुए विकसित होना है। शरीर के अंगोपांगों को विकसित करके पूर्णता प्राप्त करने का ही कालमात्र अवशिष्ट है। और सर्वांग संपूर्ण पूर्ण विकास हो जाने के पश्चात् काल की भी परिपक्वता के बाद जीव को जन्म लेकर धरती पर अवतरना है।

यह सब कार्य स्वयं जीव ही करता है। जीव न हो तो यह कोई कर ही नहीं सकता है। बिचारी गर्भधारण करनेवाली माता जो इस विषय में कुछ भी नहीं जानती है कि उदर में क्या हो रहा है? ऐसी अज्ञात माता कुछ भी नहीं कर सकती है। कुछ भी नहीं बना सकती है। आधुनिक विज्ञान का कहना है कि— गर्भ में प्रथम से ही जीव नहीं रहता है। यह संपूर्ण मूर्खता है। विज्ञान की अज्ञानता है। जीव प्रथम क्षण से ही मौजूद है। जीव के आने पर ही गर्भधारणा होती है। अन्यथा संभव ही नहीं है। अतः जीव के अस्तित्व की स्वीकृति पर ही सारा आधार है। इन ६ पर्याप्तियों को जीव गर्भ में प्रवेश के प्रथम अंतर्मुहूर्त में ही बना लेता है और इन्हीं के आधार पर जीता है।

१० प्राण—

पणिंदिअ-त्ति बलूसा-साउ-दस-पाण-चउ-छ-सग-अडु।

इग-दु-त्ति-चउरिदीणं असन्नि-सन्नीण-नव-दस-य ॥ ७ ॥

“प्राणान्” धारयतीति “प्राणी” जो प्राणों को धारण करते हैं वे प्राणी कहलाते हैं। अतः प्राणी एक ऐसा सजीवन है जो प्राणों को धारण करते हैं। ऐसे १० प्राण हैं। कम—ज्यादा प्रमाण में जीवों को होते हैं। ५ इन्द्रियों में से कोई भी १, २ या कम, ज्यादा ३, ४ या पाँचों इन्द्रियाँ भी होती है। शरीर होना अनिवार्य है। उसके पश्चात् भाषा के लिए वचन योग भी होता है। मन भी विचारार्थ एक प्राण है और श्वासोच्छ्वास तो जीने के लिए

| १० प्राण     |    |       |       |       |      |     |      |         |        |
|--------------|----|-------|-------|-------|------|-----|------|---------|--------|
| ५ इन्द्रियां |    |       |       |       | ३ बल |     |      | श्वासो. | आयुष्य |
| १            | २  | ३     | ४     | ५     | ६    | ७   | ८    | ९       | १०     |
| स्पर्श       | रस | घ्राण | चक्षु | श्रवण | मन   | वचन | काया |         |        |



अत्यन्त अनिवार्य है। अन्त में काल की मर्यादावाला, आयुष्य भी एक प्राण है। आयुष्य कर्म जो पिछले जन्म में बांधकर जीव साथ लेकर आया है तदनुसार निर्धारित काल मान का आयुष्य भी एक प्राण है। संसार के भिन्न—भिन्न जीवों को भिन्न—भिन्न प्राणों की प्राप्ति अपने कर्मानुसार होती है।

### इन्द्रिय पर्याप्ति और प्राणों का कोष्ठक

| जीव                         | इन्द्रिय                          | प्राण                                         | पर्याप्ति                 |
|-----------------------------|-----------------------------------|-----------------------------------------------|---------------------------|
| एकेन्द्रिय जीव              | १ स्पर्शेन्द्रिय                  | ४ स्पर्श, काया, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य         | ४ आ. श. इ. श्वा.          |
| दो इन्द्रियवाले जीव         | २ स्पर्श, रस                      | ६ स्प. र. व. का. श्वा. आ.                     | ५ आ. श. इ. श्वा. भा.      |
| तीन इन्द्रियवाले जीव        | ३ स्पर्श, रस, घ्राण               | ७ स्प. र. घ्रा. व. का. श्वा. आ.               | ५ आ. श. इ. श्वा. भा.      |
| चार इन्द्रियवाले जीव        | ४ स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु        | ८ स्प. र. घ्रा. चक्षु. व. का. श्वा. आ.        | ५ आ. श. इ. श्वा. भा.      |
| असंज्ञि पंचेन्द्रियवाले जीव | ५ स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रवण | ९ स्प. र. घ्रा. च. श्र. व. का. श्वा. आ.       | ५ आ. श. इ. श्वा. भा.      |
| संज्ञि पंचेन्द्रियवाले जीव  | ५ इन्द्रिय + मन                   | १० स्प. र. घ्रा. च. श्र. व. का. श्वा. आ. + मन | ६ आ. श. इ. श्वा. भा. + मन |

उपरोक्त ६ पर्याप्तियों और १० प्राणों के स्वरूप को समझने से संसार में रहनेवाले जीवों के स्वरूप का अच्छी तरह विस्तृत ख्याल आ जाता है। जिससे ऐसे उन प्रकार के जीवों की हिंसा—विराधना से कैसे बचे यह ख्याल आता है।

चौथे गुणस्थानक पर रहनेवाला साधक संसारी जीवों का स्वरूप भलीभांति अच्छी तरह जैसा स्वरूप है ठीक वैसा यथार्थ जानता पहचानता है। और अपनी श्रद्धा—मान्यता सब जीवों के बारे में यथार्थ बनाता है। अब आगे पाँचवे गुणस्थान पर एक सोपान आगे चढ़कर इन जीवों की हिंसादि न करने की प्रवृत्तिरूप आचारधर्म प्रारंभ करता है। हिंसा एक पाप है। ऐसे १८ मुख्य पाप हैं। उन पापों को न करने की प्रतिज्ञा करके पाँचवे गुणस्थानकवर्ती साधक जीव व्रतधारि पञ्चवक्त्राणवाले बनते हैं। इस क्रम प्राप्त प्रक्रिया में १८ पापस्थानकों को भी संक्षेप में समझ लें।

## १८ पापस्थानकों का सामान्य स्वरूप—

जीवों के द्वारा की जाती अशुभ हिंसादि प्रवृत्ति पाप रूप है। वैसे तो संसार में अनन्त जीव हैं। अनन्त ही जीव अनन्त प्रकार की हिंसादि पाप की प्रवृत्तियाँ करते ही रहते हैं। और पाप की प्रवृत्ति करके अशुभ पाप कर्मों का उपाजन भी करते ही रहते हैं। अतः जीवों की दृष्टि से पापों के अनन्त प्रकार बन जाएँगे। परन्तु परमात्मा ने संक्षेप रूपसे पाप की १८ मुख्य जातियाँ दर्शाई हैं। वे इस प्रकार हैं—

पाणाइवायमलियं, चोरिककं—मेहूणं दविणमुच्छं ।

कोहं माणं—मायं लोभं पिज्जं तहा दोषं च ॥

कलहं अभक्खाणं पेसूत्रं रइ—अरइ समाउत्तं ।

परपरिवायं मायामोसं भिच्छत्तसल्लं च ॥

वोसिरिसु इमाइं मुख्ख मग्ग संवसग्गविग्घभूआइं ।

दुग्गाइनिबंघणाइं अट्टारस पावठाणाइं ॥

१) प्राणातिपात, २) मृषावाद—(झूठ), ३) अदत्तादान, (चोरी), ४) मैथुन सेवन, ५) द्रव्यमूर्च्छा—परिग्रह, ६) क्रोध, ७) मान, ८) माया, ९) लोभ, १०) राग, ११) द्वेष, १२) कलह, १३) अभ्याख्यान, १४) पैशून्य, १५) रति—अरति, १६) परपरिवाद—परनिंदा, १७) माया—मृषावाद, और १८ वा—मिथ्यात्वशक्त्य। ये १८ पापस्थानक—पाप की प्रमुख जातियाँ हैं। उपमा के दृष्टान्तों से इन १८ पापों को निम्न दर्शित चित्रानुसार उपमा दी गई है। सामान्यरूप से कौन सा पाप कैसा है? किस प्रकार का है? क्या स्वरूप है? कैसा स्वरूप है? यह प्रतीकरूप १८ चित्रों के द्वारा बोधक रूप में दर्शाया गया है।

१) प्राणातिपात—प्राणों को धारण करनेवाले प्राणियों—जीवों के प्राणों का नाश करना, हिंसा, वध, मारना आदि पाप की अशुभ प्रवृत्ति को प्राणातिपात नामक प्रथम पाप कहते हैं।

२) मृषावाद—मृषा = असत्य—झूठ, वाद = कहना—बोलना। कन्या व्यापार, पशु—धनादि सैंकड़ों निमित्तों से झूठ बोलना। चित्र में तोल—माप में झूठ बताया है।

३) अदत्तादान—दत्त = दिया हुआ, अदत्त = न दिया हुआ, आदान = लेना, ग्रहण करना, वस्तु के मालिक—स्वामी के द्वारा अपनी वस्तु न देने पर भी बिना आज्ञा के पूछे बिना ही अपने आप ले लेना यह चोरी है। डाका डालना, वस्तु ले लेना भी चोरी है। चित्र में किसी के घर में घुसकर तिजोरी का ताला तोड़कर धन—माल मिल्कत उठा जाना चोरी करना दिखाया गया है।



# कर्म बंध करानेवाले १८ पापस्थानक



४) अन्नह (मैथुन) सेवन—ब्रह्म = आत्मा, ब्रह्मचर्य = आत्मचिन्तन में लीन रहना । अ निषेधार्थ में जुड़ा है अतः अब्रह्म शब्द बना । अर्थात् आत्म-परमात्म-चिन्तन सब छोड़कर—भूलकर—अन्य स्त्री (या पुरुष) के साथ विषय-वासना की कामसंज्ञा से मैथुनसेवन करना यह चौथा पापस्थानक है । चित्र में परस्त्रीममन करता एक युवक दर्शाया गया है ।

५) परिग्रह—चारों तरफ से दुनियाभर की लाखों वस्तुओं का अति संग्रह करना यह परिग्रह है । चाहे वस्तु की उपयोगिता हो या न भी हो, आवश्यकता-अनिवार्यता न होते हुए भी अतिशय संचय करते ही जाना यह परिग्रह का पाँचवाँ पापस्थानक है । चित्र में एक अलमारी—में धन संग्रह करता शेट दिखाया गया है ।

६) क्रोध—क्रोध के प्रतीक रूप में यहाँ साँप का चित्र है । साँप क्रोध करके अपना विष उगलकर किसीको मार देता है । इस तरह क्रोध अविवेकी रहता है । हिंसक भी बनता है । अतः इस पापस्थान को समझना है ।

७) मान—हाथी मान—अभिमान सूचक प्राणी है । अतः चित्र में इसका प्रतीक है । बड़ी मदवाली चाल चलकर हाथी ने अपने अहंकार को व्यक्त किया है । ठीक वैसे ही अभिमान के कषाय का भूत मानवी के सिर पर हावी हुआ रहता है । वह अपने अहंकार में कुछ भी बकवास करता रहता है । यह पाप भी वर्ज्य है ।

८) माया—चित्र में दिखाए गए बगले को देखिए । आप जानते ही हैं कि यह सरोवर के बीच पत्थर की तरह कितना स्थिर खड़ा रहता है, ऐसा लगे जैसे कोई गहन ध्यान में हो । लेकिन जैसे ही मछली आई कि फट से खा जाता है । दिखाव कुछ अलग और काम कुछ अलग इसे माया—कपट कहते हैं । यह आठवाँ माया नामक पापस्थान है ।

९) लोभ—चित्र में एक चूहा भी सुवर्णमुद्रा मुँह में लेकर भागता हुआ दर्शाया है । सोचिए ! चूहा सुवर्णमुद्रा को क्या करेगा ? लेकिन मन में जो लोभ संज्ञा बड़ी तीव्र पड़ी हुई है उसके कारण ऐसा करता है । मानव मन या जगत् के सभी जीव लोभ के पाप से ग्रस्त हैं । सैंकड़ों वस्तुओं का लोभवृत्ति से संचय करना यह पाप है । लोभ सब पाप का बाप है ।

१०) राग—चित्र में राग के प्रतीक रूप में एक स्त्री दर्शाई है । रूप रंग—सोलह शृंगार सजी स्त्री जिस तरह अपना मोहक रूप दिखाकर किसी भी पुरुष को आकर्षित करती है, अपनी तरफ खींचती है, इस प्रेम के आकर्षण को राग कहते हैं । संसार की किसी भी वस्तु पर भी राग बनता है । शराब के नशे की तरह राग के ज्वरसे ग्रस्त जीव उसकी प्राप्ति के लिए लालायित बनता है । यह १० वाँ पापस्थान है ।

११) द्वेष—वैर—वैमनस्य, दुर्भाव से दुश्मनी आदि द्वारा द्वेष जगता है। जैसे साँप और नेवले में, चूहे—बिल्ली में जन्मजात द्वेष रहता है। चित्र में दोनों को लडते हुए बताया है। वैसे मनुष्यों को किसी भी जड़—चेतन पर भयंकर द्वेष—दुर्भाव होता है। जो कई पापों की जड़ है। यह ११ वाँ पापस्थानक है।

१२) कलह—झगडा—टंटा—मारामारी आदि कलह—कंकास के रूप में १२ वाँ पापस्थानक बताया गया है। चित्र में लडने का प्रतीक दिखाया है। बात—बात में किसी के भी साथ झगडना यह भी पाप है। सभी कषायों का यह सम्मिलित रूप है। अतः यह भी वर्ज्य है।

१३) अभ्याख्यान—किसी पर कलंक लगाना, आरोप लगाना इसे अभ्याख्यान कहते हैं। अपनी वस्तु—धनादि की चोरी आदि के निमित्त किसी निरपराधी पर भी आरोप लगाना यह गलत है। चित्र में एक सन्नारी सती स्त्री पर आरोप लगाती वृद्धा दिखाई गई है। यह पापस्थान है।

१४) पैशुन्य—किसी के विषय में चाडी—चुगली करना। कानाफूसी करना नारदीवृत्ति से इधर की बात उधर करना, निरर्थक किसी को लडाकर स्वयं राजी होना आदि पैशुन्यवृत्ति का पाप कहलाता है। चित्र में एक स्त्री दूसरी स्त्री के कान में कहकर आग भडकाती है। शंका खडी करती है।

१५) रति—अरति—पसंद—नापसंद, अनुकूल—प्रतिकूलादि सेंकडों निमित्तों को रखकर वैसे करना यह रति—अरति नामक पापस्थान है। मनपसंद प्रिय पदार्थ की प्राप्ति में हर्ष करना, अप्रिय की प्राप्ति में शोक करना, यह वृत्ति भी १५ वाँ पापस्थान है। इनके भाव चित्र में अंकित है।

१६) पर परिवाद—(निंदा) — पर = अन्य व्यक्ति परिवार आदि किसी के भी बारे में बेबुनियाद निरर्थक बातें करना। फिजूल बातें करना। हो न हो फिर भी बिना आधार की निरर्थक बातें बढाना, फैलाना। या किसीकी अपकीर्ति के लिए भी वैसी निंदादि करना, बदनाम करना, यह निंदा—परपरिवाद का पाप है।

१७) माया मृषावाद—दूसरे पापस्थान और १७ वें में फरक यह है कि इसमें माया—कपट—विश्वासघात—दगा—फटका की ठगवृत्ति पूर्वक झूठ बोला जाता है। इस मायावी कपटी असत्य को १७ वें पापस्थानक के रूप में गिना है।

१८) मिथ्यात्वशत्य—मिथ्यात्व के कारण आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति विपरीत वृत्ति को रखना। जैसे किसी के पैर में काँच—काँटा फस जाय और न

निकले वहाँ तक कैसी स्थिति करता है। वैसे ही विपरीतवृत्ति मन के काँटे की तरह शल्य बनकर रह जाती है। इसे १८ वाँ पापस्थान कहा है।



मुख्य रूपसे उपरोक्त १८ पापस्थानों की जातियाँ दर्शायी गई हैं। इनमें से एक-एक पाप का सेवन जीव सेंकड़ों तरीकों से करते हैं। मन की प्राधान्यता से किये जाते पाप, वचन—भाषा द्वारा बोले जाते पाप, और काया—शरीर द्वारा किये जाते पाप। इस तरह तीनों योगों से पाप की प्रवृत्ति होती है। १८ प्रकार से पाप करके... जीव आठों प्रकार के कर्म बांधते हैं, और बांधे हुए पाप—कर्म कालान्तर में

जन्मांतर भवान्तर में कभी भी उदय में आते हैं और अपना फल देते हैं। किये पाप कर्म के उदय से दुःखरूप फल मिलता है। जो बड़ा ही दुःखदायी होता है। ऐसे भारी दुःखों को भुगतने के लिए जीवों को दुःख की दुर्गति में जाना पड़ता है। वहाँ जन्म लेना पड़ता है। तिर्यच और नरक की दो दुर्गतियाँ हैं। तिर्यच गति में जाकर जीव पशु—पक्षी बनता है। और नरक की गति में जाकर जीव नारकी बनता है। वहाँ अपने किए हुए पाप कर्मों की सजा भुगतता है। सजा बड़ी ही भयंकर कक्षा की दुःखदायी होती है। आखिर पाप कर्म भी वैसे भयंकर कक्षा के किये हैं।

किए हुए शुभ पुण्यकर्मों का फल कालान्तर जन्मान्तर में सुखरूप मिलता है। पुण्य शुभ फलदाई होते हैं। अतः ऐसे ऊँचे अच्छे सुख को भुगतने के लिए... जीव को ऊँची सद्गति में जाना होता है। जीव मनुष्य और देवगती में जाकर ही अच्छे ऊँचे सुख को भोग सकता है। ये दो सद्गतियाँ हैं। एक बात बिल्कुल सही अर्थ में सत्य रूप में ध्यान में रखिए कि... जीव जिस किसी प्रकार की पुण्य या पाप की शुभ अच्छी या अशुभ—खराब पाप की प्रवृत्ति करेगा, उस करणी के आधार पर जीव की अच्छी—बुरी गती होगी। वहाँ वह सुखी—या दुःखी होगा। यह एक मात्र अपनी करणी के आधार पर होगा। यहाँ ईश्वर या अन्य कोई आप के जीव को गति में ले जाएगा या, भेजेगा, या वहाँ पर मारेगा—पीटेगा या हिंसा—वधादि करेगा या ईश्वर पुण्य—पाप के फल को देगा या माफ करेगा इत्यादि

प्रकार की मिथ्या गलत भ्रमणाओं मान्यताओं में नहीं रहना चाहिए। स्वयं तथाप्रकार के पापादि करके ईश्वर पर आरोपित कर देना यह गलत मिथ्यावृत्ति है। इसे मिथ्यात्व कहते हैं। अतः ऐसे पापों को करनेवाला मैं स्वयं हूँ, इन पापों की प्रवृत्ति करके कर्म बांधनेवाला भी मैं ही हूँ। बांधे हुए कर्मों के फल भी मैं ही भुगतनेवाला हूँ। किये हुए कर्मों के कारण वैसी सद्गति या दुर्गति में जानेवाला भी मैं स्वयं ही हूँ। कोई ईश्वरादि मुझे एक गति से अन्य गति में ले जानेवाला या भेजनेवाला नहीं है। और न ही सुख—दुःख का फल देनेवाला भी कोई ईश्वर है। सुख—दुःख ईश्वरदत्त नहीं है। ये मैंने ही किये हैं अतः मैं ही इसकी अशुभ सजा भुगतता हूँ। भूतकाल में भुगत कर आया हूँ, और भविष्य में भी भुगतता ही रहूँगा। अतः यहाँ ईश्वरादि को बीच में लाना सर्वथा गलत है। मिथ्या—असत्य है अतः मिथ्यात्व कहते हैं। इस मिथ्यात्वप्रस्त विचारधारा को पकड़कर मिथ्यात्वी बनने की अपेक्षा सत्य—सच्चाई समझकर सम्यक्त्वी बनना ही ज्यादा श्रेयस्कर है।

**श्रेष्ठ—श्रेयस्कारी मार्ग कौन सा ?**

निषेधात्मक और विधेयात्मक ऐसे दो प्रकार के मार्ग हैं। निषेधात्मक मार्ग में जो जो नहीं करना है उसकी गणना की जाती है। उदा. के लिए हिंसा—झूठ—चोरी आदि कोई पाप नहीं करना है। जिस—जिस कार्य को नहीं करना चाहिए उनकी गणना निषेधात्मक मार्ग में की जाती है। इस दृष्टि से पाप हेय—त्याज्य निषेधात्मक है। दूसरी तरफ जो जो करना चाहिए, अवश्य करने योग्य होता है। उस आचरणीय मार्ग को विधेयात्मक मार्ग कहते हैं। उदा. के लिए सत्य बोलना चाहिए। क्षमा—नम्रतादि गुणों के भावों में व्यस्त रहना चाहिए। पूजा—पाठ—ध्यान—स्वाध्याय—तपादि करना विधेयात्मक मार्ग है।

क्या—क्या करना चाहिए ? और क्या—क्या नहीं करना चाहिए ? यह परमात्मा एवं गुरुओं की आज्ञा के आधार पर आधारित है, निश्चित है। अतः विधेयात्मक—एवं निषेधात्मक दोनों धर्म आज्ञाप्रधान ही हैं। ऐसा—ऐसा नहीं करना चाहिए—ऐसी निषेधात्मक आज्ञा भी देव—गुरु की ही है। और इसी तरह यह—ऐसा—करना चाहिए ऐसी विधेयात्मक आज्ञा भी देव गुरुओं की ही है। अतः उनकी दोनों प्रकार की आज्ञा के अनुसरण में ही धर्म है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के धर्मों में प्रथम किस मार्ग का आचरण करना चाहिए ? आप सोच सकते हैं। क्या क्या करना चाहिए... आप कब करोगे, जब करोगे तब हो सकता है उसमें दीर्घ काल व्यतीत हो जाएगा। अतः सबसे पहले जो जो निषेधात्मक है, जो नहीं

करना चाहिए उसका सबसे पहले ख्याल रखना चाहिए। निषेधात्मक का त्याग करना बड़ा सरल है। एक मिनिट का काम है। समय कम लगता है। और छोड़ देने से... तुरंत बच जाते हैं। परन्तु विधेयात्मक को करने में समय काफी ज्यादा बीत जाएगा। तब तक यदि निषिद्ध प्रवृत्तियों को कोई करता ही रहा तो विधेयात्मक करने के पहले तो वह काफी बिगड़ चुका होगा। अतः निषिद्ध क्या-क्या है? उसका पहले विचार कर यथाशीघ्र उसका पालन कर ही लेना चाहिए।

### पाप निषेधात्मक है—

पाप का मार्ग सदा ही निषेधात्मक है। पाप तीनों काल में ही अनाचरणीय त्याज्य वर्ज्य होता है। किसी भी धर्म में हिंसादि पाप करने की अनुमति शास्त्रों में होती ही नहीं है। और यदि कोई भी धर्म हिंसादि पाप की अनुमति देता है तो वह धर्म ही कहलाने योग्य नहीं रहता है। धर्म की शुद्ध व्याख्या से वह बाहर निकल जाता है। अतः कोई भी धर्म, धर्मशास्त्र कोई भगवान ईश्वर या गुरु भी पाप प्रवृत्ति को करने की आज्ञा दे ही नहीं सकते हैं। देना उचित ही नहीं है। इस प्रकार की आज्ञा देने से उनके अस्तित्व में क्षति आएगी। यह समझ में नहीं आता है कि वेदादि धर्मशास्त्रों में यज्ञ—यागादि में गाय—अश्व आदि की हिंसा की आज्ञा कैसे दे दी? क्यों दी? किसी भी दृष्टि से सुसंगत नहीं लगता है फिर भी ऐसी वेदाज्ञा को ही ब्रह्माज्ञा मानकर धर्मरूप मानना कहाँ तक उचित है? पाप की अधर्मात्मक बातों को धर्म की ढाल के नीचे डालकर धर्म के नाम पर खपाना—बढ़ाना यह घातक प्रवृत्ति है। जो धोखादायक है। अतः धर्म को सदा सर्वदा शुद्धतम रखने के लिए अधर्माश, पापात्मक अंश को सर्वथा दूर करना ही उचित है। हिंसादि १८ प्रकार के पापों से उनके अंशों के मिश्रण—सम्मिश्रण से धर्म सर्वथा अशुद्ध हो जाएगा। अतः शुद्ध धर्माचरण करने के लिए धर्म का भी पूर्ण शुद्धतम स्वरूप लक्ष्य में रखना चाहिए।

सर्वप्रथम हिंसादि पापस्थानकों की प्रवृत्तियों का त्याग करना ही चाहिए। विधेयात्मक धर्म पहले करने की अपेक्षा निषेधात्मक पापों का सर्वथा त्याग पहले करना ही लाभदायी है। उचित है। यदि आप निषिद्ध पापों का त्याग नहीं करते हो और विधेयात्मक बड़े बड़े धर्म की उपासना भी करते हो और ऐसे समय में निषिद्ध पाप की प्रवृत्ति करने से व्यक्ति भी बदनाम होती है। और धर्म, धर्मगुरु, धर्मशास्त्र, धर्मप्रवर्तक भगवान आदि सभी बदनामी लोकनिंदा के भाजन बनते हैं। अतः पापत्याग ही श्रेष्ठ धर्म की उपमा प्राप्त करता है।

जैन धर्म में सामायिकादि विरति धर्म की जो व्यवस्था है वह भी इसी सिद्धांत पर है। सामायिक कहाँ से शुरू होती है? उसकी प्रतिज्ञा सामायिक दंडक के “करेमिभंते” सूत्र में स्पष्ट है कि “सावज्जं जोगं पच्चक्खामि” सावद्य—आरम्भ—सभारम्भादि जीवहिंसादि पापों की प्रवृत्ति मन वचन काया से न करना, न कराने की प्रतिज्ञा लेकर सामायिक धर्मारंभना प्रारम्भ की जाती है। सामायिक द्वारा चल रही पाप प्रवृत्ति का त्याग अर्थात् पाप के आश्रय के मार्ग का निरोध करना, रोकना और प्रतिक्रमण की धर्मारंभना में किए हुए पापों का पश्चात्ताप क्षमायाचना की जाती है। पौषध यह धर्म की पुष्टिकारक आराधना है। एक बार पाप प्रवृत्ति का त्याग कर लिया अब उसके बाद शुद्ध आत्मधर्म की पुष्टिरूप धर्म करना चाहिए। पच्चक्खाण शब्द त्याग के अर्थ में प्रयुक्त है। दशवैकालिक आगम में प्रभु महावीर का उपदेश इस प्रकार है कि...

सोच्चा जाणइ कल्ताणं, सोच्चा जाणइ पावणं ।

उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायेरे ॥

हे चेतन् ! कल्याणकारी श्रेयस्कर मार्ग को भी अच्छी तरह सोचकर समझ लो। और पाप के अशुभ मार्ग को भी अच्छी तरह सोचकर समझ लो। इन दोनों को अच्छी तरह सोच—समझकर इन दोनों में से जो ज्यादा श्रेयस्कर कल्याणकारी हो उसका ही आचरण करना चाहिए। पाप का मार्ग और पुण्यधर्म का मार्ग दोनों अच्छी तरह समझकर आत्मा के लिए श्रेयस्कर कल्याणकारी जो धर्माचरण का शुद्ध श्रेष्ठ मार्ग है उसका आचरण अवश्य सतत करना ही चाहिए।

**धर्म क्या और कैसा है?**

इच्छा और आज्ञा दोनों शब्दों एवं उनके अर्थों से आप परिचित हैं ही। अतः सोचिए, क्या धर्म इच्छाप्रधान होना चाहिए? या आज्ञाप्रधान? इच्छा के विषय में अन्त नहीं है। कब किस जीव की कैसी इच्छा? कितनी इच्छा किस—किस प्रकार की अच्छी—बुरी इच्छाएँ होगी इसका कोई ठिकाना ही नहीं है। मोहनीय कर्म के उदय से इच्छा का जन्म होता है, उद्भवती है। अब जब कर्म ही अशुभ है तो फिर उसके उदय से इच्छाएँ भी कैसी जगेगी? और कर्म अशुभ इसलिए है कि... अशुभ पाप की प्रवृत्ति से बना है। मोहनीय कर्म में राग और द्वेष दो प्रधान प्रमुख कारण हैं। अतः इच्छा भी रागमय और द्वेषमय दोनों प्रकार की बनेगी। इन राग—द्वेषमय इच्छा में क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों की गन्ध आएगी। अतः ऐसा इच्छामय धर्म बनाना ही नहीं चाहिए। संसार में भिन्न भिन्न मति

के भांति भांति के लोग हैं। सब की इच्छाएँ एक जैसी तो हो ही नहीं सकती हैं। यह संभव भी नहीं है। और सभी अपनी—अपनी इच्छानुसार धर्म करेंगे तो ऐसे धर्म में भी एक वाक्यता का रहना संभव ही नहीं है। धर्म सदा काल तीनों काल में एक जैसा एक ही प्रकार का कैसे रहा? इच्छा के आधीन संभव ही नहीं है।

अतः आज्ञाप्रधान ही धर्म होना चाहिए। आज्ञा भी किसकी होनी चाहिए? वीतरागी सर्वज्ञ भगवंत की आज्ञा ही सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ आज्ञा होती है। उनकी आज्ञा कल्याणकारी—हितकारी होती है। गुरु भगवन्तों का कार्य तो यह है कि... सर्वज्ञ भगवन्तों की आज्ञा को परंपरा में सतत चलाना। वे स्वयं उस प्रकार की आज्ञा का आचरण—पालन करें और दूसरों को भी उसी आज्ञा का मार्ग बताना, कराना ही श्रेष्ठ मार्ग है। अतः अनादि—अनन्त काल से सर्वज्ञ तीर्थंकर वीतरागी भगवन्तों की आज्ञा एक छत्र समान सतत चली आ रही है। ऐसी आज्ञा के धर्म का आचरण करने से अनन्त आत्माओं का कल्याण हुआ है। अनन्त आत्माएं सदा के लिये संसार से मुक्त हुई हैं। अतः जिनकी आज्ञारूप धर्म के आराधन से कितनों की मुक्ति हुई है, यह सब देखकर ऐसे महापुरुषों की आज्ञारूप धर्म स्वीकारने के लिए एवं आचरण करने के लिए जीवन समर्पित कर देना चाहिए।

“पुरुषविश्वासे वचनविश्वासः” नियम ऐसा है कि पुरुष में विश्वास आने से उनके वचन में विश्वास आता है। यदि सर्व प्रथम पुरुष में ही विश्वास नहीं आता है तो उसके वचन में भी विश्वास नहीं आता है। अतः वचन—आज्ञा जिसकी धारण करनी हो सबसे पहले उन पुरुषों के स्वरूप को यथार्थ अच्छी तरह पहचान लेना चाहिए। यदि पुरुष विश्वसनीय निश्चित होता है तो फिर या होम करके उन के चरणों में जीवन समर्पित कर देना चाहिए। समर्पणभाव से उनकी शरण स्वीकारनी चाहिए। शरण के बीच में शर्त नहीं आनी चाहिए। शर्त शरणघातक है। और शरण शर्तघातक है। संपूर्ण शरण—समर्पणभाव है और पूर्ण समर्पितभाव ही सच्ची शरण है। अतः बिना किसी भी प्रकार की शर्त को बीच में लाए सम्पूर्ण रूप से शरण स्वीकार कर समर्पित होना चाहिए। यह नमस्कार भाव की, विनयगुण की पराकाष्ठा का फल है। बस, इसके बाद उनकी सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य हो जाती हैं।

उपरोक्त समर्पण भाव सम्यग्दर्शन के द्वारा ही सम्भव है। मिथ्यात्व के घर में बैठे हुए पुरुष के लिए इस श्रेष्ठ कक्षा का समर्पणभाव आना असंभवसा लगता है। पुरुष विशेष परमात्मा या गुरु के प्रति वैसा समर्पित भाव आ जाने के पश्चात् उनकी आज्ञा बड़े ही आदर सन्मानपूर्वक स्वीकार्य होगी। भावपूर्वक आज्ञा स्वीकार्य होने के पश्चात् वैसा



आचरण बहुत ही आसान होता है। जहाँ इस श्रेष्ठ कक्षा का समर्पित भाव हो वहाँ स्व इच्छा सर्वथा गौण होती है। आज्ञा ही प्रधान होती है। अतः साधक स्वेच्छा को पूरी करने के लिए कभी भी आग्रह नहीं रखता है। एक मात्र आज्ञा की ही प्राधान्यता रहती है।

“आणाए धम्मो”—

आखिर धर्म की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि.. “आणाए धम्मो” आज्ञा में ही धर्म है। सर्वज्ञ वीतरागी जिनेश्वर तीर्थंकर परमात्मा जैसे महापुरुष की आज्ञा स्वीकारना तथा तदनुरूप आचरण करना ही धर्म है। “आणाए धम्मो” व्याख्या से आज्ञा में धर्म कहा लेकिन कहीं पर भी शास्त्रकार महर्षि ने “इच्छाए धम्मो” नहीं कहा। इच्छा में ही धर्म है ऐसा नहीं कहा। इच्छा यह पूर्वोपाजित मोहनीय कर्म के उदय के फल के कारण है। अतः इच्छा होनी और हुई इच्छा के अनुरूप जीवन जीने को धर्म कैसे माने ? इच्छा राग—द्वेष की बनी हुई होती है। हाँ, मिथ्यात्वी जीव के मन की अपनी मनघडंत व्याख्या होती है कि मन की इच्छा की पूर्ति करना ही धर्म है। अतः मिथ्यात्वी जरूर इच्छाप्रधान धर्म मानता है। लेकिन सम्यग्दृष्टि श्रद्धालु साधक कभी भी इच्छाप्रधान धर्म नहीं मानता.. वह देव गुरु की आज्ञाप्रधान ही धर्म मानता है। अतः धर्म को, आज्ञा को तथा आज्ञा दाता देव—गुरु को सर्वथा समर्पित रहता है।

सर्वज्ञ केवली भगवान् अनन्तज्ञानी—त्रिकालज्ञानी होते हैं, अतः उनके विषय में कभी कोई शंका भी नहीं होती है। वे जो भी जैसी भी आज्ञा करेंगे.. बहुत ही उचित योग्य और सही आज्ञा ही करेंगे। जो तीनों काल में सभी जीवों के लिए समान रूप से उपकारी—श्रेयस्कारी रहेगी। अतः आज्ञा के केन्द्र में वीतरागी सर्वज्ञ प्रभु और उनकी आज्ञा.. तथा वह आत्मकल्याण के विषय में.. बस, फिर तो पूछना ही क्या ? साधक इस संसार समुद्र को तैर सकता है। पार उतर सकता है। पू. हेमचन्द्राचार्यजी वीतराग स्तोत्र में कहते हैं कि “आज्ञाराध्या विराध्या च शिवाय च भवाय च”। अर्थात् आज्ञा की आराधना शिवाय = कल्याण के लिये होती है तथा विराधना भव = संसार की वृद्धि के लिये होती है। दोनों ही प्रकार के फल की प्राप्ति होती है। कौन सा और कैसा फल प्राप्त करना उसका आधार आपकी वृत्ति बुद्धि पर होता है। यदि मिथ्यावृत्ति होती है तो वह आज्ञा की विराधना करके भव—संसार की वृद्धि करेगा। और यदि साधक सम्यग्दृष्टि होगा तो वह सर्वज्ञ आज्ञा का अक्षरशः पूर्णरूप से पालन आराधन करेगा और स्वआत्मा का कल्याण करेगा। अतः जैसा फल प्राप्त करना चाहते हो वैसा आचरण आपको करना चाहिए।

## कर्मक्षयकारिका आज्ञा— पाप निवर्तिका आज्ञा—

आराधक मोक्षार्थी जीव जब आज्ञा का अत्यन्त शुद्ध पालन—आराधन करता है तब उसके फल स्वरूप सर्व प्रकार के कर्मों का क्षय—निर्जरा होती है। और दूसरी तरफ पाप कर्म का आश्रय—आत्मा में आगमन रुकता है अर्थात् संवर की प्रक्रिया होती है। क्योंकि आज्ञा ही उस कक्षा की है। और देनेवाले भी संसार के त्यागी आरम्भ—समारंभादि सब पाप कर्मों के त्यागी हैं। अतः मुमुक्षु मोक्षार्थी साधक को मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए उन महापुरुषों ने काफी उचित आज्ञा दी है। इसी प्रकार की आज्ञा से आत्मा का उत्थान अभ्युत्थान संभव है। ऐसी आज्ञा को संवरप्रधान और निर्जराप्रधान बताई है। संवर से पाप कर्मों का आगमन रुकता है। और निर्जरा जो संचित कर्मों का क्षय करनेवाली है। ऐसी आत्मोपकार कारक आज्ञा जो देव गुरु की तरफ से प्राप्त होती है उसको प्राप्त करना भी परम सौभाग्य का उदय है। उत्तम भाग्य के निर्माण होने पर ही आत्मा को ऐसे महापुरुषों का योग प्राप्त होता है। उनकी आज्ञा प्राप्त होती है। उनकी आज्ञा के पालन में ही आशीर्वाद का रहस्य छिपा हुआ रहता है। अतः आशीर्वाद माँगे बिना ही उनकी आज्ञा के पालन से ही मिल जाते हैं। ऐसे ही देव—गुरु हमारे परम कल्याणकारक कल्याणमित्र है, उद्धारक है। अतः उनकी आज्ञा की प्राप्ति के लिए सतत तलप होनी चाहिए। यद्यपि आज वैसे सर्वज्ञ भगवंत स्वदेह से विद्यमान नहीं है फिर भी उनकी आज्ञा—आदेशप्रधान जो धर्म आज भी अस्तित्व में है, उपलब्ध है यही हमारा परम सौभाग्य प्रबल पुण्योदय है ऐसा समझकर उनकी आज्ञारूप धर्म की आराधना करनी अर्थात् उनकी अप्रत्यक्षरूप से आराधना करने समान है। अतः ऐसे सर्वज्ञ वीतरागी महापुरुष स्वदेह से नहीं तो भी आज्ञारूप धर्मदेह से आज्ञारूप धर्मशास्त्र देह से आज भी हमारे बीच उपलब्ध हैं। इससे परम आनन्द की अनुभूति करनी चाहिए।

सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा, और गुरु भगवंत तथा उनके द्वारा बताए गए आज्ञारूप आदेश धर्म में जन्य जनकभाव संबंध से कार्य—कारणभाव संबंध से अभेदभाव माना जा सकता है। औपचारिक—व्यवहारिक रूप से भेद होते हुए भी .. अभेद भाव का भाव बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में .. एक भी आज्ञा से साक्षात् परमात्मा की उपासना की जा सकती है। अतः आज्ञा के रूप में देव—गुरु का साक्षात्कार और देवगुरु की उपस्थिति में आज्ञारूप धर्म का साक्षात्कार अभेदभाव की दृष्टि से किया जा सकता है। इस तरह उभय रूप से दोनों की उपयोगिता सिद्ध होती है।

**देव, गुरु या धर्म किससे उद्धार ?—**

सम्यग् दर्शन के केन्द्र में .. वीतरागी देव, वैरागी गुरु और विरति प्रधान धर्म ये तीन अंग कारणभूत है। आधारभूत है। अतः इसे तत्त्वत्रयी कहा है। देव गुरु और धर्म इन तीन तत्त्वों पर सारा आधार है। शेष सब कुछ इन तीन का ही विस्तार है। देवतत्त्व देवाधिदेव वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा स्वरूप तीर्थकर भगवान है। उन्हीं के मार्ग पर चलनेवाले .. ज्ञानी—गीतार्थ वैरागी .. गुरु भगवंत हैं। और परमात्मा को ही अनुसरनेवाले हैं। अतः गुरु तथा धर्म दोनों का आधार तो परमात्मा पर ही आधारित है। अतः देव तत्त्व ही केन्द्र में है। गुरुतत्त्व उनके अनुगामी है। और धर्मतत्त्व का भी आधार देवाधिदेव प्रभु पर ही आधारित है। गुरु धर्म प्रवर्तक तथा संस्थापक नहीं हैं। वे स्वयं धर्म आधारक—उपासक हैं। जब कि एक मात्र परमात्मा तीर्थकर ही धर्मप्रवर्तक—संस्थापक है। उन्होंने ही धर्म की स्थापना की है। वे ही सर्वज्ञ—वीतरागी तीर्थकर परमात्मा है। अतः धर्मसंस्थापना करने का तथा प्रवर्तन—प्ररूपणा करने का मूलभूत अधिकार उनका ही है। सर्वज्ञ होने के कारण ज्ञानादि क्षेत्र में पूर्णता रहती है। और वीतरागता चरम कक्षा की है। अतः धर्म का स्वरूप कहने में किसी प्रकार के दोष की संभावना ही नहीं रहती है। अतः ऐसा शुद्धतम श्रेष्ठ धर्म प्राप्त करना है। परम सौभाग्य प्रबल पूर्वसंचित पुण्योदय से ऐसे धर्म तत्त्व की प्राप्ति होती है। वह भी गुरुओं से होती है। स्वयं जिन गुरु भगवंतो ने धर्म का शुद्ध आचरण किया है, करते रहते हैं वही धर्म हमारे जैसे शिष्यों—भक्तों को देते हैं। अतः गुरु बीच के माध्यम रूप है। जैसे एक डाकिया डाक लाकर देता है। परन्तु डाक का लिखनेवाला कोई तीसरा ही है, डाकिया लेखक नहीं है। डाकिये ने सिर्फ पत्र लाकर दिया है। अतः वह बीच का माध्यम मात्र है। ठीक उसी तरह देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवंत ही धर्म के प्रवर्तक—संस्थापक—आद्यप्ररूपक गिने जा सकते हैं। गुरु भगवंत उसी धर्म का आचरण करते हुए सामान्य शिष्यों—मुनियों—भक्तों को भी वही धर्म देना—सिखाना—कराना आदि का कार्य गुरुओं का ही रहता है। अतः गुरु भक्त और भगवान के बीच के माध्यम है। डाकिये के जैसे माध्यम है।

आखिर जीव का उद्धार—कल्याण किससे होगा ? क्या मात्र भगवान से होगा ? जी नहीं। तो क्या मात्र गुरु से होगा ? जी नहीं। धर्म ही प्रबल कारणरूप है। देवाधिदेव प्रभु के पास भी हम चले जाय, लेकिन वे क्या जादू चमत्कार करेंगे ? जी नहीं। भगवान हाथ पकड़कर किसी भक्त को मोक्ष में ले नहीं गए। ले भी नहीं जाते हैं। आखिर भगवान

भी किसी भक्त को धर्ममार्ग ही दिखाएँगे । उसके लिए आज्ञा देंगे । उस आज्ञारूप धर्म का ही यथार्थ आचरण करके भक्त अपना उद्धार—कल्याण साध सकता है ।

वही बात गुरु के सामने भी उसी तरीके से होगी । गुरु भी किसी जीव का कल्याण कैसे करेंगे ? कोई जादू चमत्कार गुरु भी नहीं कर सकते हैं । आखिर वे भी प्रभु द्वारा उपदिष्ट धर्म बताएँगे—धर्माचरण करने की ही आज्ञा देंगे । उसमें भी विशेष रूप से दो हेतुओं का लक्ष धर्म के पीछे रखते हैं । सर्व प्रथम पाप छुड़ाने का । पाप की प्रवृत्तियाँ बन्द कराने का । और दूसरा.. भूतकाल के किये हुए पाप कर्मों का क्षय कराना—निर्जरा कराना । अतः धर्म संवर एवं निर्जराप्रधान है । निर्जरारूप धर्म कराने में विधेयात्मकता आ जाती है । विधेयरूप = करनेरूप आचरणात्मक धर्म कराते हैं । और पाप निवृत्तिरूप निषेधात्मक आज्ञा से पाप प्रवृत्ति का त्याग कराने का काम करते हैं । यह संवररूप धर्म है । पुण्याश्रव का भी मार्ग उपादेय है यह भी सिखाने—समझाने—कराने का लक्ष्य रखते हैं । इस तरह गुरु भी दोनों प्रकार धर्म कराके ही किसी जीवात्मा का उद्धार—कल्याण कर सकते हैं । अतः अन्ततोगत्वा धर्म ही उद्धारक—कल्याणक है । परन्तु धर्म सिखाने—समझाने— बताने—करानेवाले देव—गुरु सहायक होते हैं ।

जैसे दवाई से ही रोग मिटता है लेकिन उस दवाई के लिए जानकार—समझदार डॉक्टर—वैद्य—हकीम कुशल होने तो चाहिए । बिना डॉक्टर के दवाई के जानकार कौन रहेंगे ? दवाई की दुकान में हजारों दवाईयाँ बेचनेवाला व्यापारी भी स्वयं अपने आप अपने रोग की दवाई खुद नहीं कर सकता है । वह स्वयं जानता ही नहीं है । वह दवाई के नाम—भाव जानकर बेचने का व्यापार कर सकता है । रोगों के अनुसार गुणधर्मों की जानकारी के साथ दवाईयों का उसे परिचय नहीं होता है । अतः किस रोग पर कौनसी दवाई काम आएगी ? इससे कितना फायदा होगा ? या यह दवाई इसकी प्रकृति के अनुरूप होगी या प्रतिकूल होगी ? इत्यादि सब जानकारी व्यापारी को नहीं डॉक्टर को होती है । अतः सुयोग्य वैद्य—हकीम—डॉक्टर आदि ही ज्यादा विश्वसनीय रहते हैं ।

ठीक इसी तरह जीवों के पाप कर्म रूप आत्मिक रोगों को जाननेवाले देव—गुरु होते हैं । ऐसे भवरोगों को जानकर उनका उपचार करना, कैसे मिटाना ? क्षय कैसे करना ? यह विषय जाननेवाले देव, गुरु ही होते हैं । कैसे कैसे कर्म यह जीव कर बैठा है ? किन कर्मों के उदय से आज वर्तमान में कैसी पाप की प्रवृत्ति जीव कर रहा है ? क्यों कर रहा है ? यह पाप नहीं छुड़ाएँगे तो इस पाप की प्रवृत्ति से कौन सा कर्म बंधेगा ? किस कर्म

की कितनी लम्बी स्थिति बंधेगी ? किस कर्म का विपाक कैसा होता है ? ऐसे पाप कर्म के विपाक से जीव की कैसी स्थिति होगी ? सुख—दुःख कैसे भुगतने पड़ेंगे ? दुःखों की सजा कितने लम्बे काल की होगी ? किस गति में कितने भव भविष्य में करने पड़ेंगे ? नए कर्म और कितने बांधेगा ? फिर संसार का परिभ्रमण कितना लम्बा चलेगा ? इत्यादि सैंकड़ों बातों का अच्छी तरह किसी भी जीव को बचाने के लिए प्रवृत्ति—निवृत्ति प्रधान तथा कर्मक्षयकारक उपायरूप धर्म बताने का कार्य देव—गुरु का होता है । वे ही करते हैं अतः इस विषय में विशेषज्ञरूप से वे ही अधिकृत—विश्वसनीय हैं । वे देव—गुरु धर्मरूपी औषधी से भवरोग को दूर करके जीव को बचाते हैं, और मुक्तिधाम तक पहुँचाकर परमसुखी—अनन्तसुखी सिद्ध—बुद्ध—मुक्त बनाते हैं ।

### विरतिप्रधान धर्म—

धर्म की सादि शुद्ध व्याख्या करने पर ऐसा स्पष्ट होता है कि.. “दुर्गतिं प्रपतत् जन्तून् धारणात् धर्म उच्यते” दुर्गति में गिरते हुए किसी जीव को गिरने से बचानेवाला धर्म है । जैसे एक अन्धे आदमी के हाथ में लकड़ी रहती है । जिसके सहारे वह चलता—फिरता है । कहाँ खड़ा है कहाँ चढ़ाना है इत्यादि सब मार्ग के अवरोधादि निमित्तों का ख्याल जन्मान्ध व्यक्ति को लकड़ी के द्वारा आता है । अतः लकड़ी अन्धे का सहारा—बचानेवाली तारक गिनी जाती है । ठीक वैसे ही नरक—तिर्यचगतिरूप दुर्गति के खड्डे में गिरती हुई आत्मा को बचानेवाला धर्म कहा जाता है ।

ऐसा धर्म कैसा होना चाहिए ? इसकी सादी और शुद्ध व्याख्या सरलार्थ में इस तरह की जा सकती है । आत्मा के ज्ञानादि गुणों का प्रादुर्भाव करने के लिए जो भी पुरुषार्थ विशेष किया जाय उसे धर्म कहते हैं । या आत्मा पर लगे हुए कर्मों का क्षय करने के लिए जो भी पुरुषार्थ किया जाय उसे धर्म कहते हैं । अनादि—अनन्तकालीन संसार चक्र के परिभ्रमण में चारों गति के ८४ लाख जीव योनियों में जन्म—मरण धारण करता हुआ जीव अनादि पाप कर्म ग्रस्त हो चुका है । पाप करने का आदि बन चुका है । कर्म बांधकर वह अपनी आत्मा को और गहरे खड्डे में डुबो रहा है । अतः आत्मा ही स्वयं अपनी मित्र और शत्रु दोनों है । उत्तराध्ययनसूत्र आगमशास्त्र में श्री वीर प्रभु फरमाते हैं कि—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुक्खाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पड्डिय—सुपड्डिओ ॥

उत्तरा. २०/३७

अप्या नईं वेयरणी, अप्या मे कूडसामली ।

अप्या कामदुहा थेणू अप्या मे नन्दणं वणं ॥ उत्तरा. २०/३६

आत्मा स्वयं ही सुख और दुःखों का कर्ता है और उनका नाश करनेवाला भी स्वयं ही है । सन्मार्ग पर चलनेवाली, पाप कर्म न करनेवाली आत्मा स्वयं ही अपनी मित्र है । और पापकर्म करनेवाली वैसे मार्ग पर न चलनेवाली आत्मा स्वयं ही अपनी शत्रु भी है । आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी है । यही आत्मा कूटशास्त्रली वृक्ष है । तथा मेरी आत्मा ही कामधेनु है और नन्दनवन भी यही है । इससे एक बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि आत्मा का कोई बाहरी व्यक्ति शत्रु या मित्र नहीं है । हम निरर्थक बाह्य व्यवहार में किसीको मित्र, किसीको शत्रु कहते हैं, गिनते हैं, मानते हैं और निरर्थक उनके साथ राग—द्वेष बढ़ाते हैं । यह भव—संसार बढ़ाने जैसा है । इसके बजाय जब हम भयंकर पाप की प्रवृत्ति करते हुए कर्म बांधते हैं तब मेरी आत्मा का अहित अधःपतन करनेवाला मैं स्वयं ही मेरा शत्रु हूँ ऐसा मानना चाहिए । और जब उन पाप कर्मों का क्षय करने लगता हूँ तब मैं ही मेरा परम मित्र हूँ । यह मानना उचित लगता है । अतः बाहरी संसार में कोई तेरा मित्र, शत्रु नहीं है । तेरे अशुभ कर्म तेरे शत्रु हैं और कर्मनिर्जरा की प्रक्रिया के समय तू ही तेरा मित्र है । यह सब अपने पर ही आधारित है ।

### विरति धर्म की उपयोगिता—

रति शब्द आनन्द—सुख के अर्थ में प्रयुक्त होता है । आज दिन तक मिथ्यात्व के उदय में जीव को बाह्य पुद्गलों में, पौद्गलिक पदार्थों में जो सुख की अनुभूति होती थी, विषय—वासना के विषय में ही सुख की अनुभूति होती थी । अरे ! इतना ही नहीं पाप की प्रवृत्ति में भी सुख की अनुभूति होती थी । वह एक मात्र मिथ्यात्व के कारण थी । मिथ्यात्वी जीव की यही एक पहचान है कि.. वह पाप की प्रवृत्ति में ही सुख—मजा मानता है । जबकि सम्यग् दृष्टि जीव का लक्षण है कि वह पाप करना मन से पसंद नहीं करता है, ऊपर से पाप की प्रवृत्ति करनी भी पड़े तो उसका दिल अन्दर ही अन्दर रोता है । वह पाप की गलत प्रवृत्ति में कभी भी सुख आनन्द नहीं मानता है । ठीक इसके विपरीत वह दुःखी होता है ।

‘रति’ सुख और वह भी पाप की गलत प्रवृत्ति में मानना यह जीव अनादि—अनन्तकाल से मानता आया और भोगता भी आया । एक मात्र मिथ्यात्व के कारण परन्तु सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के बाद यह प्रक्रिया बदल जाती है । पाप को छोड़ने

में जीव को जो विशेष आनन्द आता है उसे 'विरति धर्म' कहते हैं। अनादि की आदत बदल गई और जीव जिस पाप की प्रवृत्ति में सुख मानता था, तथा इसी वृत्ति से पाप करता ही जाता था, पापरुचि बना हुआ था, पाप करने की मस्ति थी, पाप का आनन्द था वह सब बदलकर ठीक उल्टा हो गया। अब पाप न करने में मजा आती है। पाप से बचकर धर्म की प्रवृत्ति करने में विशेष आनन्द आता है अतः विरति धर्म का नामकरण किया है। दि— विशेष अर्थ में है। पापादि में तो सामान्य आनन्द आता था मिथ्यात्वी जीव को। अब वह प्रक्रिया सारी बदल गई और पाप न करने में, पाप छोड़ने में, पाप के त्यागरूप धर्म की प्रवृत्ति में पाप छोड़कर पुण्य करने में विशेष आनन्द आने के कारण विरति धर्म की प्राप्ति होती है। 'विरति' शब्द पाप निवृत्ति अर्थ में रुढ हो गया है।

### भगवान की विरतिप्रधान देशना—

चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके वीतरागता केवलज्ञानयुक्त सर्वज्ञतादि प्राप्त होने पर तीर्थंकर भगवान समवसरण में बिराजमान होकर देशना देते हैं। धर्म का प्रतिपादन करते हैं। धर्म की स्थापना करते हैं। उस समय पाप की निवृत्ति प्रधान विरति धर्म की प्रधान रूप से देशना दी। पाप की निवृत्ति, हिंसादि पापों का त्याग, आरंभ—समारंभादि हिंसारूप प्रवृत्ति का निषेध करते हुए प्रभु ने विरति धर्म का मार्ग बताया। वैसे भी मोक्ष की तरफ अग्रसर होने के लिए जीवों को पाप की निवृत्ति ही करनी चाहिए। और धर्म—पुण्य मार्ग की प्रवृत्ति करनी चाहिए। ऐसे धर्म मार्ग को विरति धर्म कहा है। जो जीव को पाप से सर्वथा दूर रखता है बचाकर सुरक्षित रखता है।

भगवान श्री महावीरस्वामी को वैशाख शुद्ध १० को संध्या के समय केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। और कैवल्य की प्राप्ति से सर्वज्ञ बनकर उन्होंने देव निर्मित समवसरण में प्रथम देशना ही 'विरतिधर्म' की दी। उस समय देशना श्रवण करनेवाले समवसरण में सभी स्वर्ग के देवता ही थे। उनको पाप की निवृत्तिरूप तथा धर्म की प्रवृत्तिरूप देशना के अनुरूप आचरण करना असंभवसा लगा। वैसे भी देवता अविरति के उदयवाले रहते हैं अतः उस असंभवता के कारण देवताओं ने विरति मार्ग स्वीकार नहीं किया, अतः भगवान महावीर की प्रथम देशना निष्फल मानी गई है। लेकिन दूसरे ही दिन सुबह अपापानगरी में रचे गए समवसरण में नगरवासियों की प्रधान उपस्थिति थी। वह विरति रूप धर्म उन नर—नारियों को रुचिकर—सम्यग् लगा, और करीब ४४४४ लोगों ने चारित्र धर्म—दीक्षा अंगीकार की। सर्वथा संपूर्ण विरति धर्म स्वीकार किया।

भगवान ने दो प्रकार का विरति धर्म बताया—(१) सर्व विरति (२) देशविरति

सर्वथा संपूर्ण रूप से सभी पापों का त्याग करना, किसी भी प्रकार की छूट न रखते हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म पापों की भी अनुमति नहीं ऐसा पाप का सर्वथा संपूर्ण त्यागरूप सर्वविरति धर्म परमात्मा ने दर्शाया। जो जीव प्रबल पुरुषार्थवाले थे वे घर बार—संसार का त्याग करके.. महाभिनिष्क्रमण करते हुए संसार छोड़कर निकल पड़े और भगवान के पास आजीवनभर के लिए दीक्षा अंगीकार करके साधु बने। अणगार बने। अतः यह सर्वविरति रूप धर्म—अणगार धर्म—अणगारी—साधुओं का धर्म कहलाया।

जो जीव इस प्रकार के ऐसे सर्वथा विरतिरूप सर्वविरति धर्म को स्वीकार करने में असमर्थ—अशक्त थे उन जीवों ने परमात्मा को प्रार्थना की... विनति की.. हे जगन्नाथ। हम घरबारी संसारी जीव इस सर्वोत्तम—सर्वश्रेष्ठ सर्वविरति धर्म को स्वीकारने में असमर्थ हैं, अशक्त हैं। अतः हे प्रभो ! हमारे जैसे जीवों के लिए भी आपके शासन में कोई स्थान है या नहीं ? हमारा भी उद्धार कल्याण संभव है या नहीं ? हे प्रभु ! हमारे अनुरूप भी कोई धर्म मार्ग जरूर दर्शाइये।

तब तीर्थंकर परमात्मा ने कहा कि... देखो ! धर्म तो विरतिप्रधान—पाप निवृत्तिरूप एक ही है। साधु—संत यदि इसी विरति को सर्वथा संपूर्ण स्वीकार करते हैं तो गृहस्थ अपने घर—संसार की सीमा में रहकर उसी विरतिधर्म को कुछ कम प्रमाण में आराधन सकता है परन्तु धर्म तो एक ही रहेगा विरति धर्म। श्रावक—गृहस्थी अपने—पुत्र—पत्नी परिवार के बीच रहकर समस्त मर्यादाओं का पालन करते हुए सीमित—परिमित धर्म को करता है वह देशविरति धर्म कहलाता है। विरति शब्द के आगे सर्व और देश ये दो विशेषण जोड़े गए। सर्व शब्द संपूर्ण—सर्वथा सर्वांश अर्थ में विरति का द्योतक है अतः उसे सर्वविरति धर्म कहा। और सर्व शब्द का विरोधि 'देश' शब्द है। सर्वशब्द संपूर्ण सर्वांश, सर्वथा अर्थ में प्रयुक्त है तो 'देश' शब्द का अल्प अर्थ में कम—थोड़े प्रमाण के अर्थ में प्रयोग होता है। अतः यहाँ 'देश' शब्द शहर—राज्य या राष्ट्र के अर्थ में नहीं है। परन्तु कम—अल्प—थोड़े प्रमाण के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः देशविरति अर्थात् थोड़े प्रमाण में—कम रूप से अल्पमात्रा में पापों का त्याग करने रूप विरति धर्म को कहा है। सर्वविरति धर्म को स्वीकारनेवाले साधु—मुनिराज कहे जाते हैं तो देशविरति धर्म को स्वीकारनेवाला श्रावक—गृहस्थी कहलाता है। साधु के जीवन में आजीवन किसी भी पाप करने की छूट नहीं रहती है जबकि गृहस्थ के देशविरति धर्म में कुछ प्रमाण में छूट रहती है। अतः कुछ



प्रमाण में धर्म का पालन हो सकता है शेष प्रमाण में नहीं। ४०% हिंसादि पापों का त्याग हो सकता है। लेकिन शेष ६०% पापों का सर्वथा त्याग संभव नहीं है। जबकि साधु अपने जीवन में १००% पापों का सर्वथा त्याग कर सकता है।

साधु एवं श्रावकजीवन में आसमान—जमीन का अन्तर है। मर्यादाएँ भिन्न—भिन्न हैं। सर्वविरति में संपूर्ण सूक्ष्म रूप से सब कुछ पालना है। जबकि देशविरति धर्म में श्रावक के लिए सब—कुछ अल्प—स्थूलरूप से पालना है। ठीक है, फिर भी दिशा एक ही है। धर्म एक ही है। श्रावक धर्म बहुत ही आसान सरल है, सीमित मर्यादित है। जबकि साधु धर्म बिना किसी भी प्रकार की छूट छोट का है। सर्वथा किसी भी प्रकार का पाप न करने की प्रतिज्ञावाला साधु जीवन है।

## दो प्रकार के श्रावक

व्रतधारी श्रावक

श्रद्धालु श्रावक

२) ५ वे गुणस्थानवर्ती

१) ४ थे गुणस्थानवर्ती

प्रथम मिथ्यात्व के गुणस्थान से तीन करणों को करके, ग्रन्थिभेद करके सम्यक्त्व पाकर जीव चौथे अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान पर आता है। यहाँ प्रथम कक्षा का श्रावक बनता है। इस श्रावक में अभी आचार—व्रत—नियम—पञ्चवस्त्राणों का पालन आदि कुछ भी नहीं आता है। लेकिन श्रद्धा से वह परिपूर्ण है। ज्ञान सही है, समझ सच्ची है और उस विषय में मान्यता भी सच्ची यथार्थ हो गई है। जब जानना और मानना दोनों की कक्षा बिल्कुल सही—सम्यग् बन जाय फिर कोई प्रश्न ही नहीं रहता है। १. संसार में कुछ जीव जानते हैं परन्तु वैसा मानने के लिए तैयार नहीं हैं। २. दूसरे प्रकार के जीव कुछ मानते हैं, लेकिन वे यथार्थस्वरूप जानने के लिए तैयार नहीं हैं। ३. तीसरी कक्षा के कुछ जीव सर्वथा निषेधात्मक वृत्तिवाले हैं, जिनका कहना है कि कुछ भी जानने की जरूरत नहीं है, और कुछ भी मानना भी नहीं चाहिए। ४. एक मात्र चौथे प्रकार का जीव ही ऐसा है जो जानेगा तो भी सम्यग् यथार्थ और मानेगा भी पूरा सम्यग् यथार्थ। पदार्थ का स्वरूप अपने आप में ठीक जैसा है वैसा ही यथार्थ यह जानता है, और ठीक यथार्थ वास्तविक स्वरूप मानता है। जैसा और जितना जानता है, वैसा और उतना पूरा मानता है। यही चौथे प्रकार का जीव सम्यग् दृष्टि शुद्ध सच्चा श्रद्धालु माना जाता है। शेष सभी तीनों प्रकार के जीव मिथ्यात्वी माने जाते हैं।

सर्वप्रथम जीव चौथे गुणस्थान पर आकर सम्यग् दृष्टि श्रद्धालु बनता है। उसके बाद एक सोपान और आगे बढ़कर पाँचवे गुणस्थान पर व्रत—विरति—पञ्चवखाण धारक श्रावक बनता है। बात भी सही है की... कुछ भी आचरण करने के पहले श्रद्धा सम्यग् सच्ची बननी चाहिए। यदि वह सम्यग् मानेगा तो ही उसका आचरण सम्यग् बन सकेगा। अतः आचरण का आधार सम्यग् श्रद्धा पर है। जितनी श्रद्धा मजबूत उतना ही आचरण आगे सुदृढ़ होगा।

### सम्यग् श्रद्धा का परिणमन—

सम्यग्दर्शन शुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति।

दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की आद्यकारिका के प्रारंभ में ही वाचक मुख्यजी पृ उमास्वातिजी म. फरमाते हैं कि... सम्यग् दर्शन—श्रद्धा से शुद्ध ऐसा जो ज्ञान विरति को प्राप्त हो, अर्थात् आचरण की प्रक्रिया में परिणमन हो जाय तो दुःखरूप यह मनुष्य जन्म भी सफल हो जाय। यहाँ पर ज्ञान का शुद्धिकरण दर्शन से बताया गया है। आप कितना जानते हैं? यह महत्व का नहीं है परन्तु आप कैसा जानते हैं? इस बात का ज्यादा महत्व है। क्योंकि इसमें गुणवत्ता की कक्षा आती है। शायद कोई बहुत—ज्यादा, दुनियाभर के विषयों को जानते होंगे परन्तु किसी भी विषय में यदि ज्ञान सच्चा न हो तो इतना ज्यादा जानने का भी क्या अर्थ है? और यदि कोई थोड़ा ही जानता हो, कुछ कम विषय ही जानता हो परन्तु पूर्ण सचोट सम्यग् यथार्थ वास्तविक स्वरूप में सत्य जानता हो तो यह पहलेवाले के अपेक्षा हजार गुना ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसलिए जाननेवाला मात्र पदार्थ का ऊपरी—ऊपरी ज्ञान रखता है। या हो सकता है कि गलत—विपरीत भी जानता हो।

जी हाँ, मिथ्यात्वो का भी ज्ञान है तो ज्ञान की ही एक जाती। भले ही वह गलत हो, विपरीत हो यह अलग बात है। लेकिन वह भी कहलाएगा तो ज्ञान ही। सिंह का बच्चा भी कहलाएगा तो सिंह ही। वह बिल्ली नहीं कहलाएगा। इसीलिए तत्त्वार्थकार ने तत्त्वार्थ के प्रथम सूत्र “सम्यग् ज्ञान—दर्शन—चारित्राणि मोक्षमार्गः” में सम्यग् शब्द का संयोजन आगे किया है। मात्र ज्ञान—दर्शन—चारित्रादि मोक्ष के कारण नहीं बनते हैं, यदि ज्ञानादि मिथ्या है तो संसार के कारण बनते हैं और यदि वे ही सम्यग् सच्चे बन जाते हैं तो मोक्ष के कारण बनते हैं। जैसे जहर मारक होता है। मृत्यु का कारण बनता है, परन्तु उसे ही यदि शुद्धतम कक्षा का करके औषधीय गुणयुक्त कर दिया जाय तो... वही तारक भी बन

जाता है। जीवन बचानेवाला बन जाता है। ठीक वैसा ही यहाँ पर है। मिथ्यात्व रूपी जहर ग्रस्त ज्ञानादि मारक, संसार बढ़ानेवाले बन जाते हैं। जबकि... ये ही ज्ञानादि शुद्ध सम्यग् सत्त्वे बन जाय तो मोक्ष प्राप्त करनेवाले तारक अमृत बन जाते हैं। अब कैसा बनाना यह तो हमारे हाथ में है।

ज्ञान से दर्शन मजबूत हुआ और दर्शन से ज्ञान शुद्ध—सम्यग् हुआ। इस तरह दोनों सम्यग् सत्त्वे शुद्ध होने के बाद तीसरा क्रम आता है चारित्र का—आचरण का। चारित्र की शुद्धि का आधार पूर्व के ज्ञान और दर्शन की शुद्धि पर है। यदि ज्ञान—दर्शन शुद्ध सत्त्वे सम्यग् यथार्थ है तो उस पर आधारित आचरण भी शुद्ध सम्यग् होगा। और यदि ज्ञान—दर्शनादि मिथ्यात्व से ग्रस्त अवस्था में अशुद्ध—मिथ्या—विपरीत ही है तो निश्चित रूप से ऐसे जीवों का आचरण विपरीत, मिथ्या तथा गलत ही होगा यह निर्विवाद सत्य है। अतः आप यदि किसीका आचरण शुद्ध सम्यग् बनाना चाहते हो तो कृपया सर्व प्रथम उस जीवविशेष का ज्ञान, उसकी समझ, श्रद्धा आदि को विशेषरूप से शुद्ध, सम्यग्—सच्ची बनानी ही चाहिए। तभी सही परिणाम आएगा। अन्यथा असंभव है।

### मुक्ति किससे?—

मात्र सम्यग् दर्शन या ज्ञानमात्र से मुक्ति संभव नहीं है। आखिर जीव को सम्यग् आचरण—चारित्र का मार्ग अपनाना ही पड़ता है। “ज्ञानादेव तु मुक्तिः” ऐसे मात्र ज्ञान से मुक्ति माननेवाले अद्वैत वेदान्ती दर्शनवादियों ने आचार—चारित्र क्रियाप्रधानता का महत्व ही उड़ा दिया है। इसी तरह “प्रकृतिपुरुषान्यथा ख्यातिः मुक्तिः” “पंचविंशतितत्त्वज्ञानादेव मुक्तिः” सांख्यदर्शनवादी ने अपने माने हुए सिर्फ २५ तत्त्वों के ज्ञान से ही मुक्ति मान ली है। यह कहाँ तक उचित है? यह एकान्तवाद है। एकान्तवाद असत्य—मिथ्या होता है। सम्यग् यथार्थ सत्य प्रतिपादक अनेकान्तवाद होता है।

जैन दर्शन एकान्तवादी दर्शन नहीं है। यह पूर्ण अनेकान्तवादी दर्शन है। अनेकान्तवाद तत्त्वभूत पदार्थ के चरम सत्य को प्रकाशित करनेवाला दर्शन है। इसमें ज्ञान की कई पहलुओं से परीक्षा होती है और उस ज्ञान को शुद्ध बनाया जाता है। अशुद्धांश—मिथ्यांश निकाल दिया जाता है। और अन्त में चरमसत्य की मुद्रा से अंकित किया जाता है। पू. कलिकाल सर्वज्ञ पू. हेमचन्द्राचार्यजी म. ने अपनी कृति

“अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका” रूप स्याद्वादमञ्जरी ग्रन्थ के ५ वे श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि—

आदीपमाव्योमसमस्वभावं, स्याद्वादमुद्गानतिभेदि वस्तु ।

तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥

दीपक से लेकर आकाश पर्यन्त जगत के सभी पदार्थ नित्यानित्यादि स्वभाववाले हैं । जगत का कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है अर्थात् स्याद्वाद की छाप—मुद्रा से अंकित है । प्रत्येक पदार्थ स्याद्वाद की पद्धति का बराबर अनुसरण करते हैं । स्याद्वाद की चौकट में बराबर बैठते हैं । ऐसे पदार्थों को एकान्तवादी दर्शन एकान्त नित्य, या एकान्त अनित्य ही मानते हैं यह सर्वथा गलत है । दीपक को एकान्त अनित्य ही मानना तथा आकाशादि को एकान्त नित्य ही मानना एकान्त—मिथ्या भ्रमणा है । ऐसी एकान्तवादियों की भ्रमणा से पदार्थ का यथार्थ सच्चा ज्ञान प्रकट नहीं होता है । आंशिक ज्ञान का ही व्यवहार हो सकता है । शेष ज्ञान अंतर्हित—तिरोहित रहता है । सर्वज्ञ को भाज्ञा का अपलाप करनेवाले एकान्तवादियों का यह प्रलाप मात्र है । जिनाज्ञा का अपलाप है ।

**जैन दर्शन में मुक्ति—**

“पाण किरियाहिं मोक्खो” “ज्ञान + क्रियाभ्यां = मोक्षः”

नंदिसूत्र जिनागम में—इस प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों को साथ जोड़कर मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है । जैसे एक अन्धा हो उसे बिल्कुल दिखाई न देता हो । दूसरा सर्वथा बिना पैर का पंगु हो । ऐसे दोनों मित्र एक साथ बैठे हो ... ऐसे में चारों तरफ आग लगी । ... दोनों के लिए बचने का प्रश्न खड़ा हुआ । अन्धे के पास चलने की क्रिया है परन्तु ज्ञान के अभाव में अर्थात् न दिखने के कारण चलकर—भागकर कहीं जा नहीं सकता है । और पंगु के पास देखने की आँखें हैं, ज्ञान है लेकिन चलने की क्रिया उसके पास नहीं है । अतः आग को देखते हुए भी वह भाग नहीं सकता है । परन्तु अन्धे के खंघे पर पंगु बैठ जाय और दोनों एक हो जाय । अब पंगु ऊपर बैठकर मार्ग दिखाए तथा .. अंधा चलने का कार्य करे तो अग्नि से बचकर दोनों निकल सकते हैं । इस तरह ज्ञान और क्रिया दोनों मिलकर एक होकर मुक्ति की प्राप्ति कराते हैं । यही अनेकान्त मार्ग है । एक मात्र ज्ञान से ही मुक्ति या एक मात्र क्रिया से ही मुक्ति होती है, ऐसा जैन दर्शन का सिद्धान्त ही नहीं है । मुक्ति के लिए ज्ञान—क्रिया दोनों की उपस्थिति अनिवार्य है ।

## मुक्ति के अनुरूप धर्म होना चाहिए—

धर्म का सैद्धान्तिक स्वरूप कैसा होना चाहिए ? ... इस विषय में धर्मशास्त्रों में विचार किया गया है । मोक्ष का स्वरूप कैसा है ? वहाँ आत्मा किस स्वरूप में रहती है ? कैसा स्वरूप है ? इत्यादि सब समझकर उसके अनुरूप वैसी ही धर्म साधना करनी चाहिए । मोक्ष में आत्मा सर्वथा सर्व पदार्थ संग से मुक्त है । सर्वथा सर्व कर्म मुक्त है । वहाँ पुत्र—पत्नी—परिवार नहीं हैं । किसी भी पदार्थ का संबन्धादि नहीं है । सर्वसंगपरित्याग की हुई आत्मा—मुक्तात्मा है । किसी भी प्रकार का कर्म वहाँ नहीं करती है । सर्व कर्म रहित है । सर्वथा संपूर्ण ज्ञानयुक्त सर्वज्ञ है । सर्वथा विषय—कषाय रहित वीतरागी है । सिद्धात्मा सर्वशक्तिमान है । सर्वथा संसार से मुक्त है ।

ऐसा मुक्तात्मा का स्वरूप मोक्षावस्था में है । ऐसी मुक्ति यदि प्राप्त करनी हो तो तत्साधक धर्म भी कैसा होना चाहिए ? उसके अनुरूप — अनुकूल ही होना चाहिए । साध्य के अनुरूप साधना और साधन नहीं होंगे तो साधक को कभी भी साध्य की प्राप्ति होनी संभव ही नहीं है । राजा बनने के लिए तदनुरूप प्रवृत्ति करनी ही चाहिए । यदि चोरी—खूनादि विपरीत—विरुद्ध प्रवृत्ति की, तो निश्चित ही वह जेल में जाकर सजा भुगतगा । परन्तु राजा नहीं बन पाएगा । ठीक इसी तरह सुख प्राप्ति के लक्ष मात्र से पुण्योपाजर्जन ही किया तो फिर सिर्फ स्वर्ग—सुख की ही प्राप्ति कर पाएगा, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति मात्र पुण्योपाजर्जन से नहीं होगी । संभव ही नहीं है । मुक्ति की प्राप्ति कर्मक्षय से, निर्जरा से ही होगी । अतः मोक्ष की प्राप्ति के अनुरूप जो धर्म है वही करना चाहिए । उसीकी उपासना उसी तरह की तो ही मोक्ष प्राप्ति का साध्य साधा जा सकता है । अन्यथा विपरीत दिशा में गमन होगा । एकान्त क्रिया पक्षवादी पूर्वमीमांसक दर्शनवादियों ने तो स्वर्ग अपवर्ग दोनों एक जैसा ही मान लिया है । अपवर्ग अर्थात् मोक्ष उसके लिए कोई अलग—स्वतंत्र ही प्रक्रिया होती है और स्वर्ग फल की प्राप्ति के लिए धर्म की अलग ही प्रक्रिया होती है । पूर्वमीमांसकों ने ऐसा कहा है कि—

यत्र दुःखेन संभिन्नं, न च ग्रस्तमनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं च, स सुखं स्वपदास्पदम् ॥

जो दुःख से भिन्न है, तथा अन्य ग्रस्तता—परतन्त्रता नहीं है, तथा अभिलाषा—इच्छानुसार सब कुछ यथाशीघ्र ही प्राप्त हो जाय ऐसा मोक्ष है । इस तरह

कहकर पूर्वमीमांसा दर्शनवादियों ने यज्ञ—यागादि कर्म से उत्पन्न अपूर्व (पुण्य) द्वारा ऐसे पुण्य की प्राप्ति होती है और आगे भगवद्गीता में ऐसा भी कहा है कि... “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति” जिस पुण्यरूप अपूर्व द्वारा जीव ने मुक्ति को प्राप्त की थी उस पुण्य के क्षीण हो जानेपर... समाप्त हो जाने पर वह मुक्त जीव वापिस संसार में आता है। ऐसा पूर्वमीमांसक दार्शनिकों का कहना है। यह मत सर्वथा अनुचित है। मिथ्या मान्यतारूप है।

जैन दर्शन में मुक्तावस्था प्राप्त होने के बाद जीव पुनः कभी संसार में नहीं आता है। सर्वकर्म मुक्त ऐसे मोक्ष के लिए अनुरूप कर्म निर्जरा का धर्म है। सर्वथा संपूर्ण रूप से कर्मक्षय सर्वविरति धर्म से ही हो सकता है। देशविरति धर्म से उतनी निर्जरा संभव नहीं है, जितनी सर्वविरति धर्म से संभव है। सर्वविरतिधर साधु चारित्र ग्रहण करके संसार का सर्वथा त्याग करके मुक्त हो सकता है। परन्तु देशविरति धर्म का पालन करनेवाला श्रावक गृहस्थाश्रम जीवन में है। अतः सर्वथा संपूर्ण निर्जरा कर नहीं सकता है, और न ही सब पापों से बच सकता है। अतः चारित्ररूप सर्वविरति धर्म का महत्व ही सबसे ज्यादा है।

### स्वर्ग देनेवाला पुण्य और मोक्षदाता—निर्जरा—

जैन सिद्धान्त का स्पष्ट कहना है कि पुण्योपार्जन जो किया जाता है वह स्वर्गादि सुखरूप फल देनेवाला है। जबकि निर्जरा जिससे कर्मों का क्षय होता है ऐसा धर्म मोक्ष फल देनेवाला बनता है। अतः जैन दर्शन में पुण्याश्रव एवं निर्जरा दोनों प्रकार के धर्म का स्वरूप दर्शाया गया है। सर्वविरतिधर साधु को वैसा द्रव्य पुण्य उपार्जन करने की आवश्यकता ही नहीं है। उनका लक्ष्य एक मात्र निर्जरा करके कर्मक्षय का रहता है। मोक्ष प्राप्त करने का ही लक्ष्य साधु को रखना चाहिए। क्योंकि पुनः पुण्य उपार्जन करना और फिर स्वर्गादि प्राप्त करना, फिर स्वर्गादि के सुख भोगना। अब हो सकता है कि स्वर्गादि के सुख भोगते हुए फिर से राग—द्वेषादि करके नए कर्म उपार्जन हो सकता है। फिर उन राग द्वेष के कारण बंधे हुए कर्मों के उदय से वापिस पतन होता है। जीव फिर से ८४ के चक्कर में जन्म—मरण धारण करता हुआ धूमता—भटकता है। फिर संसार चलता रहेगा। अतः ऐसे पुण्य उपार्जन करने की अपेक्षा तो मोक्ष की साधना ही ज्यादा श्रेयस्कर है। मोक्ष के अनुरूप धर्म निर्जरा की उपासना करके मुक्ति की प्राप्ति करना ही श्रेयस्कर है।

## श्रमणधर्म का अनुगामी श्रावकधर्म—

श्रमण अर्थात् साधु । ऐसे त्यागप्रधान.. निर्जराप्रधान श्रमणधर्म का अनुगामी श्रावक धर्म है । क्योंकि श्रमणधर्म सर्वथा पाप के त्यागमय है । निर्जरा की प्रधानतावाला है । महाव्रत स्वरूप है । सर्वविरति धर्म है । जब कि श्रावक का धर्म अणुव्रत रूप है । देशविरतिरूप धर्म है । जैसे पाँचवी कक्षा और छठी कक्षा दोनों कक्षाएँ एक ही स्कूल में होती हैं । छठी कक्षा आगे की कक्षा है । और पाँचवी कक्षा.. उसकी अनुगामी—पीछे की कक्षा है । एक कक्षा का अन्तर है । ठीक वैसे ही चौदह गुणस्थान की इस श्रेणि में पाँचवा गुणस्थानक श्रावक का है । और एक कक्षा आगे की तरफ छद्वा गुणस्थानक साधु का है । अतः स्वाभाविक है कि श्रावक का धर्म साधु धर्म के पीछे अनुगामी है । साधु धर्म की सर्वविरति की प्राप्ति का लक्ष श्रावक का रहना ही चाहिए । वैसे भी साधु का सर्वविरति स्वरूप जो पंच महाव्रत स्वरूप धर्म है उसी धर्म की सीमा—मर्यादाओं को अल्प मर्यादा में करके श्रावक का धर्म बनाया है । परन्तु फिर भी निर्जरा का लक्ष रहना चाहिए । मात्र पुण्योपाजन का ही लक्ष न रखते हुए निर्जरा—कर्मक्षय का लक्ष्य रखना चाहिए । और मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वविरति रूप श्रमण धर्म की प्राप्ति की सतत तमन्ना होनी चाहिए ।

जैसा मोक्षफल है ठीक उसके अनुरूप श्रमणधर्म सर्वथा विरतिरूप है । सावद्य पापादि के त्यागरूप है । अतः सर्वविरति धर्म मोक्ष के अनुरूप—अनुकूल पूरक धर्म है । और ऐसे सर्वविरतिप्रधान श्रमणधर्म के पीछे अनुगामी—श्रावक का धर्म है । अतः दोनों का राजमार्ग एक ही है । धर्म एक ही है । मात्र मर्यादाएँ भिन्न भिन्न हैं । एक ही राजमार्ग पर आगे—पीछे चलती दो गाड़ियों के जैसा पाँचवा और छद्वा ये दो गुणस्थान हैं । अतः परंपरा से श्रावक धर्म भी मोक्ष के अनुकूल—अनुरूप है । उसी दिशा में आगे ले जानेवाला है । जैसे आगे के स्टेशन पर गाड़ी बदलनी पड़ती है । छोटी लाइन की गाड़ी से बड़ी लाइन की गाड़ी में बैठना पड़ता है । ठीक उसी तरह मोक्ष के एक ही राजमार्ग पर चलते हुए साधु और श्रावक दोनों में से श्रावक को आगे जाकर साधु बनना पड़ता है । यह प्रक्रिया आसान है । अतः देशविरतिधर श्रावक कुछ सीमित मर्यादाओं में नए पाप का त्याग करता हुआ और पुराने पाप कर्मों की निर्जरा करता हुआ.. आगे बढ़ता जाय और सर्वविरतिधर साधु भी सर्वथा पाप कर्मों का क्षय करता हुआ आगे बढ़ता जाय तो दोनों मोक्ष मार्गपर

आगे बढ़नेवाले साधक हैं। मुक्ति के ही उपासक हैं। ऐसे श्रावकधर्म का विशेष स्वरूप यहाँ पर देखना है।

### “श्रावक” विशेष शब्दार्थ—

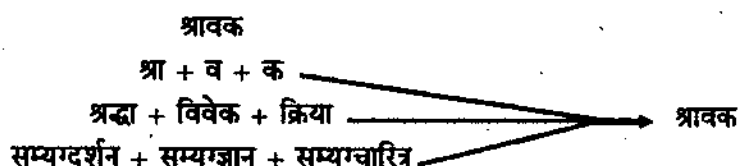
“सम्यग्—दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्गः” इस प्रकार के सूत्र में जब मोक्ष के उपायभूत मार्ग में सम्यग् दर्शन—ज्ञान—और चारित्र इन तीन रत्नों को बताया है। सम्यग् दर्शन का संक्षिप्तार्थक व्यवहार में श्रद्धा शब्द प्रचलित है। सम्यग् ज्ञान के लिए विवेक भी है। विवेक ज्ञानात्मक है। और चारित्र आचरणप्रधान होने से क्रियात्मक है। इस तरह दर्शन—ज्ञान—चारित्र कहो या श्रद्धा—विवेक—क्रिया कहो तो भी दोनों बात एक ही है। समानार्थक है। इसी के आधार पर श्रावक शब्द बना है।

१) सम्यग् दर्शन = श्रद्धा का ..... श्रा

२) सम्यग् ज्ञान = ज्ञान के अर्थ में विवेक का ..... व

३) सम्यग् चारित्र = के अर्थ में = क्रिया का ..... क

श्रावक शब्द की रचना इस तरह होती है।



जैन शासन में जिनेश्वर—तीर्थंकर परमात्मा के उपासक गृहस्थाश्रमी को श्रावक कहा जाता है। ऐसे श्रावक शब्द की निष्पत्ति ही इस प्रकार के ऊँचे अर्थ—भाव से जुड़ी हुई है। अतः विचार कर लीजिए कि श्रावक अपने जीवन से कैसा होना चाहिए? श्रद्धा के लिए मन का आश्रयस्थान उपयोगी है। मन का काम विचार करना—सोचना है। श्रद्धा विचारात्मक ज्यादा है। अतः मन को केन्द्र बनाया गया है। वचन—भाषा प्रयोग करने का माध्यम—साधन है। ज्ञान का प्रमुख व्यवहार भाषा—शब्द—वचन प्रयोग से होता है। और चारित्र क्रियाप्रधान है। क्रिया के लिए काया (शरीर) की प्रधानता है। शरीर के अंग—हाथ—पैर—तथाप्रकार की क्रिया करते हैं। अतः ये क्रिया कारक अंग होने के



कारण कर्मेन्द्रिय कहते हैं इनको । इस तरह श्रावक शब्द कितना गंभीर है ! यह सोचिए : जो मन से सोचने, विचारने में श्रद्धापूर्वक, सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मा—परमात्मा, कर्म—धर्म के तत्त्वों के बारे में ही सोचे विचारे । भाषा—वचन योग से सम्यग्ज्ञान की बातें बोलें । ऐसे तत्त्वभूत पदार्थों के बारे में ज्ञान का भाषा व्यवहार करें । तथा हाथ—पैरादि कर्मेन्द्रियों से भी क्रियात्मक रूप से सम्यग्चारित्रधर्म की उपासना करता है । अतः मन—वचन—काया के त्रिकरणयोग से सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप रत्नत्रयी की उपासना करनेवाला श्रावक कहलाता है ।

जैन किसे कहें ?—

जिन—जिनेश्वर परमात्मा को ही अपने भगवान मानकर उनके बताए हुए मार्ग पर चलनेवाले उपासक—आराधक को जैन कहते हैं । संस्कृत में 'जि' धातु जितना अर्थ में प्रयुक्त है । १४ गुणस्थानों के ही मार्ग पर ऊपर उठती हुई आत्मा जो अपने मोहनीयादि कर्मों को जीतकर जिन—जिनेश्वर—तीर्थंकर परमात्मा बन जाती है, उसे ही अपने आराध्यदेव, उपास्य परमेश्वर माननेवाला जैन कहलाएगा । उन्होंने ही यह १४ गुणस्थान का मार्ग दिखाया है । वे स्वयं इसी मोक्षमार्ग पर चले हैं, आगे बड़े हैं, चलकर ही शुद्ध—बुद्ध—सिद्ध—मुक्त बनने का अपना चरम साध्य साधा है । ऐसे ही परमात्मा ने केवलज्ञान पाँकर—सर्वज्ञ बनकर जो मार्ग बताया है वह यह मोक्षमार्ग है । कर्मक्षय का मार्ग है । आत्मा के विकास का मार्ग है । आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग है । इसी मार्गपर चलकर उन परमात्मा का अनुयायी—अनुगामी बननेवाला सच्चा जैन कहलाता है । परमेश्वर परमात्मा जैसे हैं वैसे ही उन्हें मानना । वे जिस स्वरूप में हैं, ठीक वैसे ही उन्हें उसी स्वरूप में मानना, जानना, और समझना तथा आचरण के क्षेत्र में उन जिनेश्वर भगवान की ही आज्ञा शिरोधार्य करनी, आज्ञा पालनी, आज्ञानुसार आचरण करनेवाला ही सच्चा जैन कहला सकता है । वीतरागी—सर्वज्ञ अरिहंत—तीर्थंकर को ही भगवान मानना, इससे विपरीत गुणधर्म स्वरूपवाले को भूल से भी भगवान न मानना तथा जो ऐसे सच्चे सही अर्थ में वीतरागी—सर्वज्ञ—कर्मक्षयकृत मुक्त स्वरूप में परमात्मा न हो ऐसे किसी को परमात्मा—भगवान तो मानना ही नहीं है, परन्तु वैसे का बताया धर्म जो आत्मकल्याणकारक न हो, कर्मक्षय कारक—निर्जराप्रधान न हो ऐसे संसारवर्धक धर्म को

भी धर्म नहीं मानना है, तथा आचरना भी नहीं ऐसे लक्षणवाला ही सच्चा जैन कहलाने का अधिकारी है। अब संसारवर्धक धर्म नहीं चाहिए। संसारवर्धक तो कर्म होते हैं। कर्मों को करके हमने संसार बढ़ाया है। और यदि धर्म भी वैसा ही संसारवर्धक मिल जाय और वही करने भी लग जाय तो कितना अनर्थ होगा ? अतः अब संसारवर्धक नहीं संसारशोषक, आत्मकल्याणकारक, मोक्षसाधक, आध्यात्मिक विकाससाधक, कर्मक्षयकारक धर्म ही मेरा सच्चा धर्म हो, बस... इसके सिवाय या इससे विपरीत धर्म मेरा धर्म न हो... ऐसी मान्यतावाले सच्चे अर्थ में चौथे, पाँचवे गुणस्थानवाले सही जैन कहलाने लायक है। ऐसा धर्म ही आगे बढ़ा सकता है। अपना साध्य साध सकता है। अपना कल्याण कर सकता है। कर्मक्षय करके मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

### नवकार महामंत्र में साध्य निर्णय—

जैन धर्म के सर्वमान्य शिरोमणी महामन्त्र श्री नमस्कार महामन्त्र के ७ वे पद में “सर्वपापवर्षणासणो” लिखा हुआ है। अर्थात् सब पाप कर्मों का नाश (क्षय) करना है। यही लक्ष्य है। साध्य पद दिया है। महामन्त्र माननेवाले प्रत्येक जैन का एकमात्र लक्ष्य सर्व पाप कर्मों का नाश करने का ही होना चाहिए। पाप कर्मों का नाश करने के साथ साथ नए पाप कर्म न करने का भी लक्ष्यार्थ उसी ध्वनि में आ जाता है। जो व्यक्ति पाप कर्मों का नाश—क्षय करता है। वह फिर नए करने की वृत्तिवाला नहीं होता है। एक स्त्री घर साफ करती है, तो फिर उसे वो गन्दा करने की, खराब करने की वृत्तिवाली नहीं होती है। क्योंकि वह जानती है कि मैं ही खराब करूँगी—बिगाड़ूँगी वापिस मुझे ही साफ करना पड़ेगा। इसलिए पहले खराब—करने—बिगाड़ने का न रखूँ तो फिर साफ सफाई करने में भी श्रम कम पड़ेगा।

ठीक इसी तरह पाप कर्मों की अशुभ प्रवृत्ति ही यदि कम करेंगे, या नहीं करेंगे तो कर्म का बंध ही कम होगा या नहीं होगा। तो ही हम बच पाएँगे। तो फिर आगे जाकर.. कर्म क्षय—नाश करने के लिए भी उतना ज्यादा श्रम नहीं करना पड़ेगा। अतः प्रत्येक जैन मात्र का.. नमस्कार महामन्त्र का पाठ करनेवाले प्रत्येक का सातवें पद में सूचित अर्थ का लक्ष्य होना ही चाहिए। साध्य के निर्णयवाला साधक ही सच्चा साधक होता है।

यही बात “नमो अरिहंताणं” के पहले पद के अरिहंत शब्द में कही है। अतः हमारे आराध्य देव—उपास्य देव परमात्मा अरिहंत ही उस अर्थ के हैं। ‘अरि’ = अर्थात् कर्म शत्रु, राग—द्वेषादि उन कर्म शत्रुओं का — आत्मा के आन्तरिक रिपुओं का जिसने ‘हनन’ अर्थात् क्षय किया है, वे ही अरिहंत, वैसे ही अरिहंत हमारे उपास्य परमात्मा भगवान् हैं। यही शब्द अरिहंत भगवान् बनने की प्रक्रिया भी सूचित करता है और साधक को भी अर्थ का सही संबोधन करता है। हे साधक ! तुझे भी क्या करना है ? किस लक्ष्य पर चलना है ? जिस पर मैं चला हूँ और मैंने जैसा कर्मक्षय किया है, ठीक वैसा ही कर्मक्षय अरिओं का हनन—नाश तुझे भी करना है। ऐसा प्रभु संबोधन करके कह रहे हैं। इससे हमारा कर्तव्य ही बन जाता है कि.. हम भी इसे ही साध्य बनाकर.. उसी कर्मक्षय—अरिनाश की दिशा में आगे बढ़ें। तब सही अर्थ में नवकार सार्थक सिद्ध होगा। ऐसे मंत्रपदों का बार—बार जाप करना है.. जाप करने से, रटन करने से अर्थरूप साध्य का लक्ष्य भी दृढ़ हो जाता है। अतः दृढ़ता लाने के लिए ऐसे महामन्त्र के पदों का रटण—जापादि की प्रक्रिया बहुत ही अच्छी सार्थक है। नवकार के इन पदों का साध्यरूप में निर्धार करके लक्ष्य बनाकर तदनुरूप मानसभावादि बनाकर सतत पुरुषार्थ करने से साध्य साधा जा सकता है।

#### ४ थे और ५ वे गुणस्थान में अन्तर—

१४ गुणस्थानों में ४ थे गुणस्थान का नाम है— अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान। तथा ५ वे गुणस्थान का नाम है— देशविरत गुणस्थान। ४ थे गुणस्थान के नाम की सार्थकता यह दिखाई देती है कि.. ४ थे पर जीव आचार में विरतिधर नहीं है। मात्र श्रद्धा सम्पन्न जरूर है। मान्यता शुद्ध है। श्रद्धा सच्ची है। महाराजा श्रेणिक की जीवनभर यही कक्षा रही। वे आजीवन ४ थे गुणस्थान पर सम्यक्त्वी—शुद्ध श्रद्धालु बनकर रहे। परन्तु आचरण में व्रत—विरति—पञ्चवस्त्राण कुछ भी नहीं आया। उन्होंने सम्यग् दर्शन की कक्षा इतनी सुदृढ़—मजबूत बनाई थी की इसके बाहर कभी विचार तक नहीं किया। सदा वे अपनी श्रद्धा की कक्षा में इतने स्थिर रहे कि वह स्थिरता उनके कल्याण में कारण बनी।

पाँचवे गुणस्थान पर वही चौथे की श्रद्धा क्रियान्वित सक्रिय बन जाती है। यहाँ आचरण प्रारंभ होता है। अतः कहा जाता है कि पाँचवा गुणस्थान आचारप्रधान है, क्रियाप्रधान है। जबकि चौथा गुणस्थान विचारप्रधान है। श्रद्धायुक्त सम्यग् विचारों की श्रेष्ठता चौथे पर है। वहाँ आचार प्रधानता नहीं है। सावध पापादि प्रवृत्तियों का त्याग नहीं हुआ है। मान्यता, समझ जानकारी स्पष्ट हो जाती है। बाद में आगे आचरण शुरू होगा।

बात भी सही है कि . . धर्म करने के पहले धर्म को सही अर्थ में जानना—समझना—मानना अत्यन्त जरूरी है । उसके बाद ही आचरण सार्थक फलदायी सिद्ध होता है । इस दृष्टि से तो व्यवस्था तथा गुणस्थानों का क्रम बिल्कुल सही है । पहले चौथा अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान है इस पर देव गुरु और धर्म तत्त्व का स्वरूप सही अर्थ में वास्तविक सच्चे अर्थ में समझ लिया जाय । और उस पर सच्ची श्रद्धा मान्यता बना ली जाय . . उसके पश्चात् पाँचवे गुणस्थान पर उसी समझे हुए—माने हुए धर्म का आचरण करना यही सर्वश्रेष्ठ सत्यमार्ग है । उचित क्रम है ।

जो जीव चौथे गुणस्थान का स्पर्श भी नहीं करते हैं, श्रद्धा बिल्कुल नहीं बनाते हैं, और न ही कुछ जानते—समझते हैं, फिर भी व्यवहार नय से धर्म का आचरण करते हैं । क्रिया का व्यवहार करते हैं, वे अपने आपको पाँचवे गुणस्थान पर मान लें तो उचित नहीं लगता है । हाँ, ठीक है, लोक व्यवहार की दृष्टि से ठीक है । ऐसी कई प्रकार की धर्मक्रियाएँ . . लौकिक व्यवहार की दृष्टि से पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर भी मिथ्यात्व की मन्दता के कारण हो सकती है । अन्यथा अनन्तानुबन्धी कषायादि के साथ मिथ्यात्वादि का सर्वथा त्याग करके अपूर्वकरण आदि तीनों करण करने पूर्वक सम्यग् दृष्टि बनकर बाद में पाँचवे गुणस्थान पर आकर फिर व्रतादि का आचरण करना यह राजमार्ग है । इस पर इसी तरह क्रमशः आगे बढ़े हुए बहुत ही गिनति के जीव मिलेंगे । परन्तु मिथ्यात्व की अत्यन्त मन्दतम अवस्था में अपुनर्बन्धक—आदि धार्मिक अवस्था में धर्मक्रिया आचरण आदि वे और वैसी व्यवहार दृष्टि से होनेवाली अनेक प्रकार की क्रिया करने मात्र से पाँचवे गुणस्थान पर हैं ऐसी भ्रान्ति—भ्रमणा नहीं रखनी चाहिए । लौकिक व्यवहार में व्यावहारिक दृष्टि से, या गतानुगतिकता से किसी की देखकर भी की जानेवाली धर्मक्रियाएँ धर्माचरण काफी हैं । वे सर्वथा गलत भी नहीं हैं । सर्वथा त्याज्य भी नहीं हैं । हाँ, बच्चा पाटी—पेन हाथ में लेकर यदि कुछ भी लिखने की चेष्टा करता है तो उसे विद्वान नहीं कहा जा सकता । हाँ, इसी तरह सीखेगा, लिखेगा . . कुछ कुछ आगे बढ़ेगा . . यहाँ तक सही है । इसी तरह चौथे, पाँचवे गुणस्थान की भूमिका में भी इसी दृष्टि से समझना चाहिए ।

नासमझ में न जानते—समझते हुए या बिना श्रद्धा से भी लौकिक व्यवहार नय से जो धर्मक्रिया—धर्माचरण किया भी जाता है, तो वह सर्वथा निरर्थक या त्याज्य नहीं है । आज नकली कर रहा है तो कल असली तक पहुँच जाएगा । छोटे बच्चों को प्लास्टिक के खिलौने, नकली कागज के फूल, फल आदि द्वारा जो ज्ञान दिया जाता है तो बालक उस माध्यम से भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है । तब एक दिन सही सच्चा सम्यग् ज्ञान भी पाएगा ।

डॉक्टर, वैद्य एक बोटल में मिश्रण हिला—मिलाकर दे देता है ... उस में दर्दी को कुछ भी ज्ञान—समझादि न होते हुए भी वह उस दवा का सेवन भी करता है और सेवन के फल स्वरूप ज्वरादि से रोगनिवृत्ति का फल लाभ भी पाता है । ठीक उसी तरह अश्रद्धा—से सच्ची श्रद्धा—समझादि के अभाव में भी यदि धर्मक्रियादि धर्माचरण करता भी है तो वह पुण्य फलरूप लाभ, सावद्य—पापादि से बचने आदि का लाभ तो जरूर पाएगा । और भावि में आगे सत्य यथार्थस्वरूप समझकर आगे के गुणस्थानों पर भी चढ़ेगा । संस्कार अच्छे बनेंगे ऐसा लाभ तो पाएगा । और यही प्रक्रिया अपुनर्बन्धक की बन जाएगी तो आदिधार्मिक बनेगा । भारी उत्कृष्ट कर्मबन्ध की स्थितियाँ नहीं बाँधेगा । कितना बचाव होगा । और इसी धर्माचरण की प्रक्रिया में आत्मा के अध्यवसायों की शुद्धि बढ़ेगी, .. शक्ति बढ़ेगी तो एक दिन यथाप्रवृत्तिकरणादि तीनों करण करता हुआ जीव राग—द्वेष की निबीड ग्रन्थि का भेद करके सम्यग् दर्शन ही पा लेगा । चौथे गुणस्थान पर भी आरुढ़ हो सकेगा । और आगे पाँचवे गुणस्थान पर भी पहुँच सकेगा । तब उसके भावों में, आचरण में, विचारों में, क्रिया में, सब में आसमान—जमीन का अन्तर पहले की अपेक्षा ज्यादा ही लगेगा । इस तरह क्रमशः आगे विकास अच्छा होगा ।

## श्रावक जीवन योग्य व्रतादि का स्वरूप—

### व्रत की उपयोगिता

अनेक जन्मों की संचित पुण्याई के अनुसार आज यह जन्म मनुष्यगति में मिला है । आर्य देश, आर्य जाति, आर्य कुल और उसमें भी वीतराग के शासन में सुंदर जन्म मिला है । उत्तम सर्वांग सुंदर देह मिला है । मोक्षगामी मुमुक्षु को एक—एक पल जीवन को कीमती समझकर प्रमाद में न गुमाते हुए सदुपयोग करना है । जन्म जात कोई धर्म नहीं है, कोई ज्ञानी विद्वान नहीं है । कोई शुद्ध श्रावक या साधु भी नहीं है । परन्तु आगे व्रतादि के पच्चवस्त्राण ग्रहण करने से श्रावक या साधु बनता है ।

जैसे हिन्दु धर्म में जन्म से जन्मे हुए बालक का आठवें वर्ष उपनयनादि संस्कार कराके उसे अब सच्चा ब्राह्मण बनाते हैं । द्विज का अर्थ ही यह है कि दुबारा जन्म । दो बार जन्म । प्रथम जन्म तो मातृ कुक्षी से था और दूसरा जन्म उपनयनादि संस्कार जन्य है । उसी तरह जैन कुल में जन्मा हुआ जीव जन्म से तो जैन, जाती से जैन, पहचानमात्र के लिए तो जैन कहलाएगा । परन्तु वास्तव में वह सच्चा जैन तो तब कहलाएगा जब शुद्ध

व्रतधारी श्रावक बन जाय। ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार की तरह जैन धर्म में व्रतोच्चारण संस्कार है। श्रावक जीवन योग्य व्रतों का स्वीकार करके सच्चे अर्थ में जैन श्रावक बनना।

तीर्थंकर प्रभु को केवलज्ञान होते ही वे सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बनें। तीर्थंकर भगवान ने समवसरण में (१) सर्व विरति और (२) देशविरति रूप दो प्रकार का विरति धर्म फरमाया। (१) सर्वथा सर्व सावद्य प्रवृत्ति आदि पापों का आजीवन त्याग करनेवाला सर्व विरति धर्म (चारित्र—दीक्षा) को स्वीकारनेवाला साधु—मुनि बना। जिसमें साधु—साध्वी दोनों आए। और जो सर्व—विरति धर्म स्वीकारने में असमर्थ—अक्षम रहे उनके लिए भगवान ने देश विरति—धर्म का स्वरूप बताया। देश = अर्थात् अल्प। सर्व की अपेक्षा कुछ कम। ऐसी पाप निवृत्ति रूप विरति—देश—विरति धर्म के व्रत—नियमों का पचक्खण पूर्वक स्वीकार करनेवाले श्रावक—श्राविका कहलाए। अतः सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान ने चातुर्वर्ण वर्णाश्रम की जातिवाद के आधार पर व्यवस्था न करते हुए गुण और धर्म के आधार पर १. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक, ४. श्राविका रूप चतुर्विध संघ की व्यवस्था की है। यह संघ ही जंगम तीर्थ की प्रतिष्ठा पाया।

बताए गए १८ पापस्थानों की निवृत्ति के आधार पर विरति धर्म है। अहिंसा—सत्य—अस्तेय—ब्रह्मचर्य—अपरिग्रह के पाँच महाव्रतों को स्वीकारनेवाले साधु होते हैं। परन्तु इन्हीं महाव्रतों को संपूर्ण रूप से न स्वीकार करनेवाला, कुछ छूट—छाट के साथ, कुछ मर्यादा में अहिंसा—सत्यादि को ही अल्प (अणु) रूप में स्वीकारनेवाला अणुव्रतधारी सुश्रावक कहलाता है। श्रावक के लिए तीन मुख्य विभाग में १२ व्रत बताए गए हैं।

**१२ व्रत—** ५ अणुव्रत + ३ गुणव्रत + ४ शिक्षाव्रत

अहिंसा—सत्यादि ५ अणुव्रत है। अणु का अर्थ है छोटा, अल्प। साधु महात्मा के महाव्रतों के सामने ये ५ छोटे—अल्प प्रमाण में अणुव्रत है। दिक् परिमाण, भोगोपभोग परिमाण तथा अनर्थदण्ड विरमण ये ३ गुणव्रत है। और सामायिक देशावकाशिक, पौषध तथा अतिथि संविभाग आदि ४ शिक्षाव्रत हैं। अणुव्रत पापों को काटकर अणु = अणु रूप में कर देता है। गुणव्रत जीवन में गुणों को विकसाता है। और शिक्षा व्रत आत्मा को धर्म की शिक्षा देकर सुशिक्षित बनाता है। इस तरह १२ व्रत का धारक सुश्रावक होता है। गृहस्थीपने में से श्रावक बनने के लिए व्रतोच्चारण के संस्कार अनिवार्य हैं। इन १२ व्रतों के साथ सबसे पहले मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व (सच्ची—श्रद्धा) स्वीकारना

भी अनिवार्य है। सम्यक्त्व का स्वरूप साधु या श्रावक दोनों के लिए एक समान ही है। वीतरागी देव को ही भगवान्, त्यागी को ही गुरु, और सर्वज्ञोपदिष्ट तत्त्व को धर्म माननेवाला ही शुद्ध सम्यक्त्वी श्रद्धालु कहलाएगा। अतः पहले सम्यक्त्व व्रत स्वीकारना फिर बारह ही व्रत स्वीकारना।

मोक्ष मार्ग साधक और आत्म गुण स्वरूप जो मुख्य दर्शन—ज्ञान—चारित्रादि रत्नत्रयी स्वरूप है, तद्वान् ही साधु है और श्रावक भी। आखिर मोक्ष मार्ग तो एक ही है। व्रत की मर्यादा भले ही कम ज्यादा हो श्रावक शब्द की रचना ही कैसे बनी है? यह देखिए—

श्रा — व — क = श्रावक

श्रद्धा — विवेक — क्रिया = ३ गुण

(दर्शन — ज्ञान — चारित्र) = रत्नत्रयी

श्रद्धा शब्द का 'श्र' विवेक शब्द का 'व' और क्रिया शब्द का 'क' इस तरह इन तीन शब्दों को लेकर उनके संयोजन से श्रावक शब्द बनाया गया है। अर्थात् यह श्रावक शब्द सम्यग् दर्शन = सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा सम्यग्ज्ञान अर्थात् विवेक और सम्यग्चारित्र अर्थात् क्रिया रूप तीनों का धारक हो वह श्रावक कहलाता है। आखिर तो आत्मगुण की ही उपासना है। मोक्षमार्ग की ही साधना है। १४ गुणस्थानों में — चौथा और पाँचवा गुणस्थान श्रावक के लिए है। चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर का श्रावक व्रत—पञ्चक्खाण रहित केवल श्रद्धावन्त ही है, सम्यक्त्वी ही है जबकी १२ व्रतों को स्वीकारे, पञ्चक्खाण करे तो वही पाँचवे देशविरति—विरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थानों में श्रावक चौथे पाँचवे गुणस्थान का मालिक है। श्रद्धालु सम्यक्त्वी तथा व्रती है। आगे का छठा गुणस्थान जो सर्वविरति—साधु का है उसका ध्येय दृष्टि समक्ष रखनेवाला, साधुता (दीक्षा) की प्राप्ति की सतत झंखना रखनेवाला, श्रावक दूसरे शब्दों में श्रमणोपासक कहलाता है। श्रमण = साधु, उपासक = साधक। अतः भविष्य में साधुत्व की भावना रखते हुए श्रावक को मोक्ष मार्ग की सीढ़ी पर आगे बढ़ना है।

अतः इस मोक्ष मार्ग की सीढ़ी रूप १४ गुणस्थानों में चौथे व पाँचवे गुणस्थान का क्या स्वरूप है? वहाँ व्रतादि कैसे होते हैं? तथा सम्यक्त्व सहित १२ व्रतों का क्या स्वरूप है? कैसे अतिचारों से बचना चाहिए? आदि का स्वरूप संक्षेप से बताते हैं। शास्त्र के मूल श्लोकों के आधार पर सरल—सुगम भाषा में लिखा है। समझने के लिए

छोटे-छोटे नियम भी दिये हैं। साधक इन्हें पढ़कर समझकर व्रतों का स्वीकार करके व्रतधारी शुद्ध श्रावक बनें। सभी आनन्द—कामदेवादि जैसे महान आदर्श श्रावक बनें।

### सम्यक्त्व का स्वरूप

बारह व्रत स्वीकारने के पहले देव—गुरु और धर्म के ऊपर शुद्ध श्रद्धा धारण करनी चाहिए। अतः बारह व्रत से अतिरिक्त पहले सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हैं।

या देवे देवता बुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः।

धर्मे च धर्मधीर्शुद्धा सम्यक्त्वं तदुदीरितम्॥ (यो. शा.)

जो राग—द्वेष रहित शुद्ध वीतरागी—सर्वज्ञ देव (भगवान) है उसी में देवपने की अर्थात् भगवान मानने की बुद्धि और पंचमहाव्रतधारी कंचन—कामिनि के त्यागी ऐसे जो गुरु हैं उन्हें ही गुरु मानने की बुद्धि तथा सर्वज्ञ कथित शुद्ध धर्म को ही धर्म मानने की शुद्ध बुद्धि इसे ही सम्यक्त्व कहा है।

### देव तत्त्व

#### देव

लौकिक (रागादि युक्त)

लोकोत्तर (रागादि रहित)

जगत् में लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार के देव हैं। जो राग—द्वेषादि अनेक दोषों से भरे हुए हों उन्हें वीतरागी अरिहंत के रूप में न मानना न पूजना। परन्तु “अष्टादशदोषवर्जितो जिनः” १८ दोष से जो रहित है वही जिन है। सर्वथा राग—द्वेष आदि पाप दोषों से रहित जो वीतरागी जिन भगवान है, अरि = आंतर शत्रु कर्म, हंताणं = उनका नाश करनेवाले ऐसे अरिहंत भगवान, तथा मोक्षमार्ग प्ररूपक जो सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा है उन्हें ही आराध्य देव भगवान मानना—पूजना यही सम्यक्त्व है। देव शब्द देव गति के देवी—देवता के अर्थ में भी है, परन्तु यहाँ देव शब्द भगवान के अर्थ में है।

जो देवाणामि देवो जं देवा पंजलि नमंसति।

तं देवदेवमहिमं सिरसा वंदे महावीरम्॥

जो देवताओं के भी देव हैं, जिन्हें देवता भी अंजलिबद्ध नमस्कार करते हैं, उस देवताओं के भी देव इन्द्रादि से पूजे गए भगवान महावीरस्वामी को मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ। “सिद्धाणं बुद्धाणं” की इस गाथा में आप स्पष्ट देखेंगे कि देवताओं के भी पूज्य देवाधिदेव को भगवान मानने का कहा है। अतः शुद्ध श्रद्धाधारी को महावीरस्वामी आदि



२४ तीर्थकरों को ही वीतरागी अरिहंत भगवान मानना चाहिए। और रागी—द्वेषी देव—देवियों को भगवान के रूप में न मानें, न पूजें। २४ तीर्थकर के यक्ष—यक्षिणी आदि भगवान नहीं हैं। वे तीर्थकरों के रक्षक देव—देवी हैं। वे उनके शासन के रखवाले हैं। राजा के अंगरक्षक की तरह हैं। अतः उन्हें भगवान के रूप में नहीं मानना और नहीं पूजना चाहिए। “तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव” इसीलिए जगत् में एकमात्र तीर्थकर सर्वज्ञ अरिहंत भगवान ही वीतरागी देव हैं। ऐसी श्रद्धा रखनी सम्यक्त्व है। परमेश्वर, परमात्मा, परमेश्वि, जिन, जिनेश्वर, वीतरागी, वीतराग, अरिहंत, तीर्थकर, भगवान आदि समानार्थक एक सरीखे पर्यायवाची नाम हैं।

गुरु तत्त्व—आत्मा के अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटानेवाला और ज्ञानाञ्जन करके नेत्रोन्मीलन करनेवाला गुरु तत्त्व है। अतः किसे गुरु मानना? कैसे गुरु को गुरु मानना इसका भी विचार सम्यक्त्व में किया है।

**महाव्रतधारी धीरा भैक्ष मात्रोपजीविनः ।**

**सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मता ॥**

अहिंसा सत्यादि पाँच महाव्रत के धारक, धैर्यगुण संपन्न छः काय का आरंभ समारंभ न करते हुए मात्र भिक्षावृत्ति—गोचरी (माधुकरीवृत्ति) पर ही जीनेवाले, तथा आजीवन चारित्र (दीक्षा) धारी, सर्व विरति चारित्र में रहनेवाले, यथार्थ धर्म के उपदेशक ‘गुरु’ माने जाते हैं। पंचिदिअ सूत्र में ३६ गुणों के धारक को गुरु मानने का कहा है। वे इस प्रकार हैं—

- ५ इन्द्रियों का संवरण करनेवाले।
- ९ ब्रह्मचर्य की वाड का पालन करनेवाले।
- ४ प्रकार के कषाय को छोड़नेवाले।
- ५ महाव्रत से युक्त।
- ५ प्रकार के आचारों को पालने में समर्थ।
- ५ समिति का पालन करनेवाले।
- ३ गुप्ति का पालन करनेवाले।
- ३६ ऐसे छत्तीस गुणों के धारक मेरे गुरु हैं।

अर्थात् गुरु पद पर बिराजमान ३६ गुण के धारक पंच महाव्रतधारी कंचन—कामिनि के त्यागी आजीवन चारित्रवान को ही गुरु मानना यही शुद्ध श्रद्धा है। इससे भिन्न सर्वेच्छावाले कंचन—कामिनि रखने वाले, सब कुछ खानेवाले, परिग्रहवाले, अब्रह्मचारी, मिथ्या उपदेश करनेवाले को गुरु नहीं मानना।

**धर्म**—सर्वज्ञ अरिहंत तीर्थंकर भगवान के द्वारा उपदिष्ट प्ररूपित तत्त्व को मानना, जानना और पालना यही धर्म है। “जिणपन्नत्तं तत्तं” जिनेश्वर के द्वारा प्ररूपित तत्त्व को मानना। सर्वज्ञ ने जिस अर्थ से उपदेश दिया और गणधरों ने जिसे सूत्रबद्ध गूँथकर आगमरूप से प्रवाहित किया है, उसीकी आज्ञा को मानना यह धर्म तत्त्व की श्रद्धा है। “जीवाइ नवपयत्ये जो जाणई तस्स होइ सम्मत्तं” जीव (आत्मा) अजीव, पुण्य—पाप (कर्म), आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, और मोक्षादि नौ तत्त्वमय जिन धर्म को मानना यह धर्मगत श्रद्धा है। अतः सम्यग् श्रद्धा ऐसी होनी चाहिए कि— “जं जं जिणेहिं भासिथाइं तमेव निःसंकं सच्चं” जो जो जिनेश्वर भगवंत ने कहा है वही शंकारहित सत्य ही है, यह मानना शुद्ध दृढ़ श्रद्धा ही सम्यक्त्व का स्वरूप है। अतः सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा को और उनके वचन—आज्ञादि को यथार्थ शुद्ध रूप में मानना यही सम्यक्त्व है। और जैसा मानना वैसा ही वर्तन करना—आचरना चाहिए।

लोकोत्तर देव—गुरु—धर्म को लोकोत्तर—स्वरूप में ही मानना—जानना—पूजना आदि तथा लोकोत्तर की उपासना स्तोत्रादि लोकोत्तर पद की प्राप्ति के लिए ही करनी। परन्तु लौकिक सांसारिक सुखों के लिए नहीं करनी। और वैसे ही लौकिक सरागी देव—गुरु के पास लोकोत्तर चरम मोक्षादि की प्रार्थना भी नहीं करनी। जितनी देव—गुरु—धर्म तथा तत्त्वों पर श्रद्धा है उतनी ही कर्मसत्ता पर भी श्रद्धा रखनी चाहिए, क्योंकि यह सर्वज्ञ ने बताई है। ईश्वर को जगत् का कर्ता, सुखी—दुःखी करनेवाला है ऐसा मानना मिथ्यात्व है। स्वकृत कर्मानुसार ही सुख—दुःख मिलता है।

**सम्यक्त्वी की प्रार्थना—**

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।

जिण पन्नत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं ॥

यावत् जीवन पर्यन्त—अर्थात् अंतिम श्वास तक, जब तक शरीर में जीव है, (जब तक जीव संसार में है) तब तक अरिहंत ही मेरे देव (भगवान) हैं, सुसाधु ही मेरे गुरु हैं और जिनोपदिष्ट तत्त्व ही मुझे तत्त्वस्वरूप में मान्य है, अर्थात् जिनेश्वर प्ररूपित तत्त्व ही मेरा धर्म है। यही सम्यक्त्व (श्रद्धा) मैंने ग्रहण किया है। यही सम्यक्त्वी की प्रार्थना होनी चाहिए और प्रतिज्ञा भी होनी चाहिए।

## सम्यक्त्व व्रत योग्य नियम—

- १ प्रतिदिन प्रभु दर्शन करना, दर्शन किए बिना मुँह में पानी न डालना, सुबह—शाम या त्रिकाल दर्शन करने जिनमंदिर जाना ।
- २ स्वसामग्री से रोज प्रभु पूजा भाव से करनी । त्रिकाल पूजा करनी, बड़ी पूजा पढानी, महा पूजन आदि महोत्सव करना ।
- ३ सम्यग् दर्शन की निर्मलता के लिए वर्ष में १—२ बार कल्याणक भूमि आदि की तीर्थयात्रा करनी । तीर्थों में पूजा आदि करनी ।
- ४ सात क्षेत्र में यथाशक्ति धन वापरना ।
- ५ प्रतिदिन गुरुवंदन करना । त्रिकाल वंदन करना, गुरु का आदर सन्मान करना । उनकी सेवा—सुश्रुषा करनी । आहार—पानी—वस्त्र—पात्र आदि उपकरण वहेराना ।
- ६ नित्य जिनवाणी (प्रवचन) का श्रवण करना ।
- ७ चारित्र (दीक्षा) स्वीकारने की भावना रखनी । लेनेवाले को अंतराय—विघ्न न करना ।
- ८ प्रतिदिन महामंत्र का जाप—ध्यान करना । १—२ या १०—२० नवकार मंत्र की पक्की माला गिनना ।
- ९ जिनप्रतिमा भराना, जिनमंदिर बंधाना ।
- १० देव—गुरु का नित्य दर्शन—वंदन—पूजन आदि करना । धर्मग्रन्थ का स्वाध्याय आदि करना । सम्यग् श्रद्धा के योग्य उपयोगी छोटे—छोटे नियम हैं, इनका पालन करना । सुविहित पर्वों को ही मानना । मिथ्या पर्व, लौकिक पर्व न मानना, न मनाना ।

## कुछ बचने योग्य अतिचार—

संका—कंख—विगिच्छा—पसंस—तह संथवो कुलिगीसु ।

सम्पत्तस्स अइयारे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ॥

... जिनमत में शंका करने से, अन्य मत की अभिलाषा—आकांक्षा करने से, धर्म के फल के विषय में संदेह करने से, अथवा साधु—संत के मलीन वस्त्रादि के प्रति दुर्गुच्छा रखने से, मिथ्यामति, कुलिगियों की प्रशंसा करने से, तथा उनके अति परिचय से सम्यक्त्व व्रत के अतिचारों का दिवस संबंधि प्रतिक्रमण करना चाहिए ।

मिथ्यामत मान्य—रागी द्वेषी देव—देवी न मानना । स्त्री संयुक्त, शस्त्रास्त्र से युक्त देवों को, देवियों को वीतराग अरिहंत के रूप में नहीं मानना चाहिए । अन्यत्र देव—देवियों की मानता, आखंडी—बाधा नहीं माननी चाहिए ।

२४ जिन के यक्ष—यक्षिणि, शासन के अधिष्ठायक, तथा मणिभद्र वीर आदि को रक्षक देव के रूप में ही मानना ।

वीतराग सर्वज्ञ की संतान—प्राप्ति तथा शादी—धन आदि संबंधी मानता न मानें ।

चमत्कारों से आकर्षित होकर रागी—द्वेषी देव—देवी को न मानना न उनके तीर्थों में जाना, न मंदिरों में जाना, न मंत्र जापादि करना, न अनुष्ठान आदि करना ।

होली, बलेव, शील सातम, नवरात्री आदि त्यौहारों को न मानना, न मनाना । परन्तु कर्मक्षयकारक—पर्युषण—ज्ञान पंचमी आदि पर्वों को मानना, आराधना ।

मंगलवार और शनिवार आदि न करना, फरालिया उपवास आदि न करना, परन्तु पर्व तिथि की आराधना शुद्ध उपवास, निर्जल उपवास आदि से करनी ।

दुःशास्त्र सीखना, पढ़ना, मानना आदि दोषरूप है । याग भोगादि न करना, कुंभस्नानादे न करना, श्राद्ध, दान आदि न करना । इत्यादि सम्यक्त्व व्रत के अतिचारों से पूर्णतः बचने का ध्यान रखना । और शुद्ध श्रद्धा से रहना ।

आभिनिवेशिकादि पाँच प्रकार के मिथ्यात्व का सही स्वरूप समझकर उससे बचना । मिथ्यात्वगत दोषों को लगने न देना । और सम्यक्त्व के शुद्ध यथार्थ स्वरूप को समझकर पालना । सभी भगवान एक ही है इसमें क्या है ? केवल नाम ही भिन्न—भिन्न है । वैसे ही सभी धर्म एक ही है । इसमें क्या है ? कोई भेद नहीं है ? सभी धर्म मोक्ष में ही ले जानेवाले हैं ? केवल नाम भिन्न भिन्न है । चाहे ये धर्म आराधो या कोई भी धर्म आराधो । चाहे इस भगवान को मानो या चाहे उस भगवान को मानो । अन्त में सभी एक ही है । ऐसी मिश्र वृत्ति भी नहीं रखनी चाहिए । क्योंकि यह भी मिथ्यात्व का ही स्वरूप है । अतः इस मिथ्यात्व से, मिथ्या विचार से जरूर बचना चाहिए । सभी को मिश्र करके सच्चे और झूठे की एक खिचड़ी नहीं करनी चाहिए । आजकल के बन बैठे हुए अपने आपको भगवान मानने—मनानेवालों को किसी भी हालत में भगवान नहीं मानना चाहिए । माने तो महामिथ्यात्व है । अन्य मती के भगवान—देव—देवी के प्रसाद आदि को भी नहीं लेना, नहीं खाना चाहिए । कुल देवता—गोत्र देवता आदि के सामने या अन्यत्र भी देव—देवी

के सामने मानता (बाधा) के कारण अभक्ष्य नहीं चढ़ाना । और पशुबलि, पशुयाग, नरबलि आदि का स्वप्न में भी विचार करना नहीं चाहिए । मदिरा—मांसादि कदापि न चढ़ाए । लोकाचार और मात्र व्यावहारिकता के कारण धूमने—देखने जाना पड़ा तो जयणा रखें । औचित्य पालन की जयणा । लेकिन धर्म बुद्धि या श्रद्धा से न मानें, न पूजें । अनुकंपादि में भाग लेना पड़े तो जयणा ।

इस तरह सम्यक्त्व व्रत का स्वरूप सम्यक् प्रकार से जानकर सत्य का शोधक बनना चाहिए । चरम ध्येय मोक्ष प्राप्ति से अरिहंतादि की उपासना करें । और मिथ्यात्व का त्याग करें । और आत्म कल्याण की साधना करें ।

## पाँच अणुव्रतों का स्वरूप

**पहला अणुव्रत — स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत —**

निरागो द्विन्द्रियादीनां संकल्पाच्चानपेक्षया ।

हिंसाया विरतिर्या सा, स्यादणुव्रतमादिग्रम् ॥

(धर्मसंग्रह)

निरपराधी ऐसे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियादि त्रस जीवों को दांत, चमड़े, हड्डी, मांस आदि के लिए “मैं मारुं” इस संकल्पपूर्वक निष्कारण हिंसा करने का त्याग करना, अर्थात् उस जीव के द्रव्य प्राणों का वियोग करने रूप जो हिंसा है उसकी विरति—अर्थात् उस हिंसा से बचना, वह हिंसा न करने की प्रतिज्ञा करना ही प्रथम अणुव्रत—प्राणातिपात विरमण व्रत का स्वरूप है । प्राण — १० है । स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय ये ५ इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, ये तीन बल श्वासोच्छ्वास और आयुष्य ये दश प्राण हैं । प्राण को धारण करनेवाला प्राणी, उसमें स्थूल त्रस प्राणिओं के प्राणों का अतिपात अर्थात् नाश करने रूप हिंसा से बचना ही प्राणातिपात विरमण रूप अहिंसात्मक प्रथम अणुव्रत है । “प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा” हिंसा के इस लक्षण से कहा है— प्रमादादि के कारण जीवों के—प्राणियों के प्राणों का वियोग करना ही हिंसा है ।

त्रस और स्थावर दो प्रकार के जीव हैं । त्रस में हलन चलन करनेवाले द्विन्द्रियादि २, ३, ४ इन्द्रियवाले विकलेन्द्रिय जीव और पंचेन्द्रिय जीव गिने जाते हैं । उदाहरणार्थ अलसिए, जलो, कुमि आदि दोइन्द्रिय जीव हैं, चींटी, मकोड़ा, ईयल, धनेडा, छटमल, जू, लीक आदि तेइन्द्रिय जीव हैं, और मक्खी, मच्छर, डांस, भंवरे, बिच्छु आदि चतुरिन्द्रिय

जीव है। तथा हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, बकरी, कुत्ता, बिल्ली, साँप, नेवला, मेंढक आदि ये पंचेन्द्रिय तिर्य्यच प्राणी हैं। तथा मनुष्य आदि ये भी पंचेन्द्रिय प्राणी हैं। इन स्थूल निरपराधी त्रस जीवों को जानबूझकर संकल्पपूर्वक मारने की बुद्धि से मारना यह हिंसा है। और न मारने की प्रतिज्ञा यह 'प्राणातिपात विरमण व्रत' रूप प्रथम अणुव्रत—अहिंसा का स्वरूप है।

पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—और वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावर (एकेन्द्रिय) जीव कहलाते हैं। इन स्थावर जीवों की सर्वथा हिंसा न करने की प्रतिज्ञा तो चारित्रवान महाव्रतधारी साधु ही कर सकता है। श्रावक इन स्थावर की सर्वथा हिंसा न करने का पच्वक्त्राण नहीं कर सकता है। उपयोग पूर्वक इनकी जयणा पालता है। अतः प्रथम अणुव्रत में स्थावर जीवों की जयणा और त्रस जीवों को न मारने की प्रतिज्ञा है। अतः स्थूलप्राणातिपात विरमण व्रत कहलाता है। साधु भगवन्तों के महाव्रत में यही व्रत सूक्ष्म से सर्व जीवों की सूक्ष्मतः हिंसा के त्याग पूर्वक होने से महाव्रत कहलाता है।

श्रावक की मात्र सव्या वसा (विश्वा) दया—

२० विश्वा जीव हिंसा (साधु के लिए)

१० विश्वा सूक्ष्म जीवों की

१० विश्वा स्थूल जीवों की

१० विश्वा स्थूल जीवों की हिंसा (श्रावक के लिए)

संकल्प से (५ विश्वा)

आरम्भ से (५ विश्वा)

अपराधी की हिंसा (२ ॥ विश्वा)

निरपराधी की हिंसा (२ ॥ विश्वा)

सापेक्ष हिंसा (१ । विश्वा)

निरपेक्ष हिंसा (१ । विश्वा)

१० स्थूल और + १० सूक्ष्म = २० विश्वा हिंसा का सर्वथा संपूर्ण रूप से त्याग करके पूर्ण अहिंसा का पालन तो संसार का त्यागी साधु ही कर सकता है। संसारी गृहस्थ १० विश्वा सूक्ष्म जीवों की हिंसा से नहीं बच सकता। अतः वह १० विश्वा स्थूल त्रस जीवों की हिंसा से बचने का विचार करता है। उसमें ५ विश्वा आरम्भ—समारंभ की हिंसा है। मकान बांधना, खेती करना, रसोई करना आदि आरंभ हिंसा से नहीं बच सकता। अब शेष ५ विश्वा में इसे "मै मारूँ" ऐसी संकल्प हिंसा से श्रावक बच सकता है। संकल्प हिंसा में भी अपराधी और निरपराधी के दो भेद हैं। अपराधी को दण्ड देने आदि की हिंसा से

नहीं बच सकता । अतः निरपराधी को न मारना ऐसा पञ्चवखाण करता है । इसमें भी सापेक्ष और निरपेक्ष दो भेद होते हैं । इसमें निरपराधी के २ ॥ विश्वा में से १ । विश्वा ही शेष रही । अतः श्रावक २० विश्वा दया में से १ । विश्वा दया का ही पालन कर सकता है । अतः श्रावक के लिए प्रथम प्राणातिपात विरमण व्रत की प्रतिज्ञा यह हुई कि— “निरपराधी स्थूल त्रस जीवों को संकल्प पूर्वक निरपेक्ष बुद्धि से नहीं मारना” । संकल्पपूर्वक निरपराधी स्थूल त्रस जीवों की हिंसा से बचना । यह श्रावकोचित हिंसा के त्याग का अणुव्रतात्मक स्वरूप हुआ ।

**प्रथम व्रत के मुख्य ५ अतिचार—**

पढमे अणुव्वयम्मि, थूलगपाणाइवाय विरईओ ।

आयरियमण्यसत्थे, इत्थ पमायण्यसंगेणं ॥

वह—बंध—छविच्छेद—अड़भारे—भत्तपाण मुच्छेए ।

पढम वयस्सअइयारे—पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ॥

—स्थूल प्राणातिपात विरमणरूप प्रथम अणुव्रत के पालने में अप्रशस्त राग—द्वेष—क्रोधादि के कारण या प्रमादादि के कारण जिस किसी भी अतिचारों का आचरण किया हो जैसे कि—वध—बंधादि चार ।

१ वध— राग द्वेष—लोभादिवश, स्वार्थ या प्रमादादि नोकर—चाकर मजदूर—कामगारादि मनुष्य तथा गाय—भैस—बैलादि पशुओं को निर्दयता पूर्वक मारना—पीटना या वध करना ।

२ बंध— नोकर चाकर—मजदूर—तथा पशुओं को गाढ़ बंधन से बांधना ।

३ छविच्छेद— मनुष्यों में नोकर चाकर—मजदूरादि तथा पशुओं में घोड़े, बैल—ऊंट आदि के शरीर के अंगोपांग का छेदन करना, काटना आदि ।

४ अतिभारारोपण— लोभ या स्वार्थवश नोकर—मजदूर—या जानवर पर या उनके द्वारा खिंची जाती गाड़ी या टांगा आदि पर प्रमाण से ज्यादा भार (बोझा) रखना, फिर मारकर दौड़ाना ।

५ भत्तपाण मुच्छेद— भोजन का समय हो जाने पर भी मनुष्य—नोकर—चाकर—मजदूर तथा गाय—भैस घोड़ा आदि जानवरों को स्वार्थवश भूखे रखना, पूरा भोजन न देना, कम खिलाना और ज्यादा काम लेना ये भी अतिचार हैं । साधक को ये पाँचो अतिचार (दोष) अच्छी तरह जानकर इससे बचना चाहिए ।

**खास सूचना—** सभी व्रतों में लगनेवाले अतिचारों (दोष) का स्वरूप सभी व्रतों के साथ बताया गया है। पाप से बचने के लिए पाप का स्वरूप भी जानना जरूरी है। अतः साधक व्रती जीव अतिचारों को अच्छी तरह जानकर उनसे बचने का प्रयत्न करें। अतिचारों का सेवन न करें। और भूल से लगे हुए अतिचारों की क्षमा याचना करें। अतिचारों का सेवन भूल से भी पुनः न हो यह ध्यान रखें।

**जयणा (यतना) —** घर काम में, व्यापारदि में, रसोई आदि कार्य में, पृथ्वी, अप—तेज—वायु, वनस्पति—त्रसकायादि षट्काय (छः जीवनिकाय) जीवों की विशेषकर आरंभ—समारंभादि कार्यों में स्थावर जीवों की हिंसा न हो, ज्यादा न हो इसकी पूरी जयणा (उपयोग) रखें। अन्जान में हुई जीव हिंसा का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

**प्रथम व्रत में पालने योग्य नियम—**

- १ बिना छाना हुआ पानी न पीएं। स्नानादि में भी न वापरना।
- २ भोजन के बाद थाली नियमित धोकर लीए, जूठा न डालें।
- ३ पानी के घड़े आदि में जूठा ग्लास पुनः न डालें। जूठा चमचा पुनः तपेले में न डालें।
- ४ सड़े हुए अनाज—लकड़े, शाक सब्जी—फल—फूल—धान्य कठोल न वापरें। वासी न वापरें।
- ५ हरी घास—पानी आदि में चलना नहीं। वृक्ष के पत्ते—फलादि तोड़ना नहीं।
- ६ हिंसा ज्यादा हो ऐसी दवाइयाँ खेत में, घरादि में न छांटें, दीमक लगी हुई पुस्तकें तथा लकड़ों पर दवाई न छांटें।
- ७ पेस्टकंट्रोल कराके, या फिल्ट छँटकर जीवजन्तु न मारे। विषैली दवा, गोलीयाँ आदि न डालें जिससे अनेक जीव जन्तु मरें।
- ८ पुंजणी तथा घर में १० स्थानों पर चंदरवा रखें।
- ९ चूल्हे में जलानेवाले लकड़े तथा छाने आदि में छोटे बड़े जीव की पहले से ही जयणा कर लेना चाहिए।
- १० देखे हुए साँप—बिच्छु आदिको ईंट, पत्थर आदि से न मारें।
- ११ गिलोल, पिस्तोल आदि से निशान लगाकर पशु—पक्षी न मारें।
- १२ पिस्तोल, बंदूक, तलवार, छूरी—चाकू आदि घातक शस्त्रों से न किसी को मारें, और न ही मारने के लिए उपयोग करें।



- १३ किसी भी मनुष्य का पंचेन्द्रिय प्राणी का खून—वध न करें ।
- १४ कैसे भी झगड़े में “तुझे खतम कर दूंगा”, “अब तो तुझे जिन्दा नहीं छोड़ूंगा”, इत्यादि न बोलें, और न वैसा करें ।
- १५ किसीको पैसा देकर या वश करके किसी का खून वधादि न करावें ।
- १६ पशु—पक्षी मारकर उनके खाल की बनाई हुई टोपी फर—कोट, मोजे, हाथ के मोजे, पर्स, पाकीट आदि न वापरें ।
- १७ कोड लिवर, लिवर एम्ब्रेक, आदि प्राणीज दवाइयां न वापरें ।
- १८ प्राणी हिंसा जन्य सौन्दर्य प्रसाधनों का सर्वथा त्याग करें ।
- १९ कोशेटों (कीड़ों) से बनाया हुआ प्योर सिल्क—शुद्ध रेशम तथा उसके कपड़े सर्वथा न वापरें ।
- २० मक्खी, मच्छर, भंवरे, मेंढक आदि न मारें ।
- २१ डॉक्टरादि की सलाह आदि कारणों से भी कहे जानेवाले शाकाहारी अंडे, या अंडों की बनी वस्तु भूल से भी न खाएँ ।
- २२ मांसाहारी होटल में बिल्कुल न जाना, न ही मिश्र होटल में जाना, तथा मांसाहारी पदार्थ सर्वथा न खाएँ ।
- २३ प्राणीज वस्तुएँ तथा प्राणीओं के अंग, हाथीदांत, चमड़ा, हड्डी, नाखून, सांप की काचली आदि न स्वयं वापरना, और न ही व्यापारादि करना ।
- २४ अनन्तकाय—कन्दमूल, आलु, प्याज, लहसून, आदु, गाजर, मूला आदि न वापरें ।
- २५ कोई किसीको मारता हो तो— जरूर बचावें, बिल्ली चूहे—कबूतरादि को मारती हो तो— जरूर बचावें ।
- २६ हिंसक—क्रूर वृत्तिवाले के साथ मित्रता—या व्यवहार न करें ।
- २७ शस्त्रास्त्र का लेन—देन—व्यापार प्रयोगादि न करें ।

### इस व्रत पालन का ध्येय—

छोटे बड़े जीवों की रक्षा करना सीखें । जीव दया प्रेमी बनें । दयालु बनते जाएँ । “आत्मवत् सर्वभूतेषु” की भावना को विकसाते जाएँ । दया धर्म को फैलाते जाएँ । जिनाज्ञा पालन करें । भक्षक मिटकर रक्षक बनें । “अहिंसा परमो धर्मः” का झंडा लहराएँ । हिंसा का मार्ग छोड़कर अहिंसा पथ पर प्रयाण करते हुए पूर्ण—शुद्ध—अहिंसक बनने का लक्ष्य

साधें। अपराधी के प्रति भी दया रखें। आगे बढ़ते हुए सर्वथा त्यागी बनने की भावना रखें।

## दूसरा अणुव्रत— स्थूल मृषावाद विरमण व्रत—

द्वितीयं कन्या-गौ भूम्यलीकानि न्यास निह्वयः।

कूटसाक्ष्यं चेती पञ्चासत्येभ्यो विरतिर्व्रतम्॥

—“कन्यालीक” आदि पाँच प्रकार के असत्य वचन अतिक्लिष्ट (दुष्ट) आशय, (अध्यवसाय) से बोले जाते हैं। अतः उन्हें बड़ा स्थूल असत्य कहते हैं। उनका त्याग करना।

यह मृषावाद विरमण अर्थात् असत्य त्याग रूप दूसरा अणुव्रत कहा है। मृषा का अर्थ है असत्य (झूठ) और वाद का अर्थ है बोलना या कहना मृषावाद = अर्थात् असत्य बोलना झूठ बोलना। जो सत्य स्वरूप है उससे विपरीत बोलना या विकृत करके बोलना। अनेक विषयों में असत्य बोला जाता है। लेकिन संसारी—गृहस्थ के लिए कन्या आदि संबंधी मुख्य पाँच असत्यों का त्याग करने रूप यह दूसरा स्थूलरूप से मृषावाद विरमण व्रत है। विरमण = बचना, छोड़ना—त्याग करना। अतः इस व्रत में असत्य झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा है। सर्वथा मूलतः संपूर्ण रूप से असत्य का आजीवन त्याग करने के लिए गृहस्थ समर्थ नहीं है। अतः स्थूल रूप से—मोटे तौर पर कन्यादि संबंधी पाँच प्रकार के मुख्य असत्य न बोलें ऐसा यह व्रत कहता है।

कन्या-गो-भूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा।

कूट साक्ष्यं च पञ्चेति, स्थूलासत्यान्यकीर्तयन्॥

—कन्या (पुत्री), गाय—भैंसादि पशु, भूमि—जमीन, थापण, मिल्कत संबंधी तथा साक्षी देने आदि के विषय में इन मुख्य पाँच विषयों में असत्य नहीं बोलने की प्रतिज्ञा रूप यह स्थूल असत्य विरमण व्रत है। दूसरे अणुव्रत के रूप में कहा है।

१ कन्यालीक—कन्या (पुत्री) के विषय में झूठ बोलना यह कन्यालीक कहलाता है। स्वार्थ या मोहवश स्वकन्या या अन्य कन्या के सगाई—सगपण तथा शादि आदि के विषय में झूठ बोलना। अर्थात् १६ वर्ष की कन्या को १८—२० वर्ष की कहना। या २५ वर्ष की कन्या को २०—२२ वर्ष की कहना। या अनपढ़ को लिखी कहना, विषकन्या को निर्विष कहना, या निर्विष को विषवती कहना, पराई को अपनी कहना या अपनी को पराई कहना, या स्व—पर की किसी भी कन्या के विषय में रूपवती

होते हुए भी नहीं है ऐसा कहना, सुलक्षणी होते हुए नहीं है यह कहना, इत्यादि कन्या के रूप, जाति, गुण, शील आदि संबंधी हेतुपूर्वक झूठ बोलना यह कन्यालीक कहलाता है । किसीके चरित्र—शील पर असत्य आरोप आदि लगाते हुए बोलना यह भी मृषावाद है । कन्यालीक से सभी मनुष्यादि समझना ।

२ गवालीक— गाय—भैंसादि पशु के संबंध में झूठ बोलना यह गवालीक है । अलीक—का अर्थ है—झूठ । दूध देनेवाली गाय—भैंस को भी नहीं यह दूध देनेवाली नहीं है ऐसा कहना, या अधिक दूधवाली को अल्प दूधवाली, छोटी आयु की गाय—भैंसादि को भी वृद्ध—बूढ़ी कहकर बेचना तथा पराई को अपनी या अपनी को पराई कहना आदि गाव—भैंसादि संबंधी गवालीक प्रकार का मृषावाद है । गवालीक से गाय्यादि सभी पशु समझना ।

३ भूम्यलीक— भूमि आदि संबंधी झूठ, भूमि, जगह, जमीन, जायदाद, खेत, बंगला, प्लोट, बगीचा, वाड़ी, दुकान, मकान, घर, हाट, हवेली, आदि संबंधी झूठ बोलना । पराई जमीन आदि अपनी कहना, अपनी को पराई कहना । न हो उसे भी अपनी कहना, अपने संबंधी की कहना, उखर भूमि को रसवती कहना, धन—सोना—चांदि के आभूषण, हीरा—मोती, संपत्ति—मिल्कत आदि संबंधी झूठ बोलना इत्यादि भूम्यलीक है ।

४ न्यासापहार (थापण मोसो) — थापण—अर्थात् पूंजी, संपत्ति किसी ने अपनी थापण आपके यहाँ रखी हो और हम उस विश्वास का भंग करके मोहवश उसे अपनी ही बना लेवें । चल—चल तेरी कहाँ से आई, यह मेरी है । इत्यादि न्यासापहार संबंधी झूठ है । जमीन—मकान के पट्टे, दस्तावेज गहने आदि की थापण के विषय में किसी विश्वासू के साथ विश्वासघात करने रूप मृषावाद का सेवन नहीं करना ।

५ कूटसाक्षी— लेने—देने आदि के संबंध झूठी साक्षी देना । किसी दो व्यापारी आदि ने लेन—देन में आपको साक्षी बनाया हो, ऐसे विषय में कभी लांच—रिश्वत आदि लेकर बदल जाना, झूठ बोलना, भाषा—वचन में बदलकर देना और समय पर झूठी साक्षी देना—यह कूटसाक्षीरूप मृषावाद है, इससे बचना । देव—गुरु धर्म की सोगन नहीं खानी चाहिए ।

उपरोक्त ये पाँच स्थूल—बड़े झूठ के प्रकार हैं । श्रावक कम से कम इन पाँच प्रकार के स्थूल मृषावाद से अवश्य बचें ।

## दूसरे व्रत के ५ अतिचार—

सहसा-रहस्स-दारे-मोसुवएसे अ कूडलेहे अ ।

बीय वयस्सअईयारे, पडिक्कमे देवसियं सव्वं ॥

—सहसाभ्याख्यान, रहोअभ्याख्यान, स्वदारा मन्त्रभेद, मृषोपदेश, और कूटलेख ये पाँच प्रकार के अतिचार (दोष) दिन संबंधी लगे हो उनका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

- १ सहसाअभ्याख्यान— सहसा का अर्थ है— एकाएक—सहसात्कार—बिना विचारे एका एक अभ्याख्यान अर्थात् आरोप—कलंक लगाना । “तू चोर है, वेश्यागामी, परस्त्रीगामी, दुराचारी है” इत्यादि अचानक कहना ।
- २ रहोअभ्याख्यान— रहसि का अर्थ है एकान्त में । अडोस—पडोस की या किसी की भी गुप्त बातों को कह देना, प्रगट करना, किसी के भी गुप्त पापों को जाहीर में प्रकट करना, आरोप लगाना आदि ।
- ३ स्वदारा मन्त्र भेद— स्व पत्नी की मार्मिक गुप्त बातें जो कि पत्नी ने पति में पूर्ण विश्वास रखकर दिल खोलकर कह दी हो उसे प्रसंग आने पर विश्वास भंग करके कह देना प्रकट करना, स्व पत्नी आदि की गुप्त मार्मिक बात को सबके बीच में कहना यह भी अतिचार है ।
- ४ मृषोपदेश— मृषा = झूठा उपदेश देना, दो झगड़े में, बीच में मध्यस्थी करके झूठी सलाह देना, गलत रास्ता बताना, झूठी शिक्षा, सत्य—सदाचार, न्याय—नीति के विपरीत झूठा उपदेश करना इत्यादि ।
- ५ कूटलेख— झूठे दस्तावेज लिखना, हिसाब, चोपडे, खाते झूठे लिखकर किसी के हस्ताक्षर, मुद्रा, मुहर, अक्षर आदि बनाकर अपने आप लिख देना, झूठा अर्थ लिखना, कम वेतन देकर ज्यादा, या ज्यादा वेतन ठहराकर कम देना इत्यादि— अतिचार है ।

ऊपर के पाँच अतिचार मृषावाद विरमण व्रत में जो लगते हैं वे यहाँ बताए हैं । इसे जानकर छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए ।

## मृषावाद त्याग संबंधी-नियम—

वैसे तो आप मृषावाद का स्वरूप समझ ही गए होंगे फिर भी सुविधा के लिए इस दूसरे व्रत में त्याज्य ऐसे छोटे-छोटे नियम नीचे लिखता हूँ ।

१. देव—गुरु—धर्म के सोगन नहीं खाना ।
२. कन्या—स्त्री—पती—पत्नी संबंधी झूठ नहीं बोलना ।
३. किसी पर भी झूठा आरोप नहीं डालना ।
४. गाय—भैंस आदि पशु पक्षी संबंधी झूठ नहीं बोलना ।
५. भूमि—मकान—बाग—बगीचे आदि संबंधी झूठ नहीं बोलना ।
६. किसी को झूठी सलाह—शिक्षा न देना ।
७. झूठे दस्तावेज—हिसाब आदि न लिखना ।
८. किसी के भी विषय में झूठी साक्षी न देना ।
९. किसी की थापण विश्वासघात से दबा नहीं लेना ।
१०. किसी के प्रति विश्वासघात नहीं करना ।
११. किसी की गुप्त बातों को प्रकट नहीं करना ।
१२. कभी भी किसीको गलत रास्ता नहीं बताना ।
१३. राज्यादि विरुद्ध झूठ नहीं बोलना ।
१४. किसी पर कलंक देने की रीत से झूठ नहीं बोलना ।
१५. पराई झूठी निंदा नहीं करना ।
१६. अपने में गुण न होते हुए भी व्यर्थ प्रशंसा न करना ।
१७. अनर्थ होवे ऐसी भाषा न बोलते हुए मौन रहना ।
१८. लेन—देन के व्यवहार में असत्य का सेवन न करें ।
१९. हँसी—मजाक—विनोद में भी झूठ नहीं बोलना ।
२०. किसीको भी किसी प्रकार की गाली नहीं देना ।
२१. निरपराधी फैस जाय, उसे सजा हो ऐसी झूठा आरोप न डालें ।
२२. दस्तावेज लेखादि लिखकर बदल नहीं जाना ।
२३. गरीबों का शोषण करते हुए ज्यादा वेतन तय करके कम न देना, और कम देकर ज्यादा न लिखवाना ।
२४. शास्त्र—सिद्धान्त के विपरीत न बोलना ।
२५. कोर्ट—कचेरी में भी झूठ न बोलना और झूठी साक्षी न देना ।

२६. किसी पर झूठा केस न करना ।  
 २७. किसी के भी साथ दंभ—कपटाचरण न करना ।  
 २८. सत्य हो, फिर भी कटु हो, अप्रिय हो, तो न बोलें ।

**दूसरे व्रत में जयणा—** किसी की रक्षा के लिए झूठ बोला जाय, किसी मरते हुए को बचाने के लिए झूठ बोलना पड़े । एका एक अचानक अनुपयोग दशा में असत्य मुँह से निकल जाय, भूल से झूठ बोला जाय, बातचीत में, हँसी—मजाक में एका एक झूठ बोला जाय, अज्ञानता से न जानने के कारण असत्य निकल जाय आदि की क्षमा ।

**ध्येय—** सत्यवादि बनने का ध्येय रखें । क्रोध, लोभ, भय, हास्यादि से भी झूठ बोलना नहीं चाहिए । स्वधर्म की निंदा—अवहेलना, अपने कुल, खानदानी, प्रतिष्ठा की भी हानि न हो, लोक में प्रशंसापात्र बनें, जन—जन के विश्वासपात्र बनें, हित—मित, पथ्य—सत्य बोलें । वचनसिद्धि की प्राप्ति हो, परोपकार कर सकें, अच्छे—सच्चे उपदेशक बन सकें इत्यादि ध्येय से मृषावाद का त्याग करें । सत्य ही भगवान है, अतः सत्य के उपासक बनें । सच्चे साधक बनने के लिए सत्य बोलना यह अपना ध्येय बनावें ।

### तीसरा अणुव्रत— अदत्तादान विरमण व्रत—

परस्वग्रहणाच्चौर्यं व्यपदेशनिबन्धनान् ।

या निवृत्तिस्तृतीय तत् प्रोचे सार्वैरणुव्रतम् ॥

पर धन की चोरी करने से “यह चोर है इसने चोरी की है” ऐसा आरोप आए, अर्थात् लेनेवाले को लोग चोर समझे । ऐसा परधन नहीं चोरने की प्रतिज्ञा करना इसे तीर्थंकर भगवन्तों ने तीसरा अदत्तादान विरमण नामक अणुव्रत कहा है ।

दत्त = दिया हुआ, आदान = लेना, अर्थात् किसी के द्वारा दिया हुआ दान (वस्तु आदि) लेना यह दत्तादान कहलाता है । यह उचित व्यवहार है । धर्म है । जबकि निषेधवाची ‘अ’ अक्षर आगे लगाकर अ + दत्त + आदान = अदत्तादान अर्थात् किसी मालिक के द्वारा न दिया हो फिर भी ले लेना, जिसकी वस्तु है उस मालिक की आज्ञा के बिना दिये, उसकी आज्ञा के बिना वस्तु लेनी यह अदत्तादान अर्थात् चोरी कहलाती है । इस स्तेयवृत्ति का त्याग करना, चोरी न करने की प्रतिज्ञा करना यह अदत्तादान विरमण व्रत नामक तीसरा अणुव्रत है ।

## ४ प्रकार से अदत्तादान

स्वामी                      जीव                      तीर्थकर                      गुरु

(१) सोना चांदी रुपया पैसा आदि वस्तुएँ स्वयं मालिक के दिए बिना, उसकी आज्ञा के बिना चोरनी यह स्वामी अदत्त है । (२) वृक्ष पर से फल—पत्ते आदि सचित्त काटना, तोड़ना यह जीव अदत्त है । (३) तीर्थकर भगवान की आज्ञा जिसमें नहीं है ऐसा वर्तन करना—जैसे आधाकमी आहार लेना आदि तीर्थकर अदत्त है । उसी तरह अनन्तकाय अभक्ष्य आदि का भक्षण करने में तीर्थकर की आज्ञा नहीं है और वह खाना अर्थात् तीर्थकर की आज्ञा की चोरी करके आज्ञा विरुद्ध खाना यह तीर्थकर अदत्त है । (४) गुरु महाराज को निमंत्रण दिए बिना वहेराए बिना वापरना आदि गुरु अदत्त है । इन चारों प्रकार के अदत्त से बचना ही व्रती का कर्तव्य है ।

**इस व्रत में पालने योग्य छोटे नियम—**

- १ किसीके यहाँ चोरी करनी नहीं और करानी नहीं ।
- २ किसीकी गांठ—पेटी—अलमारी खोलनी नहीं ।
- ३ जेब काटना आदि न करना ।
- ४ ताला तोड़कर वस्तु चोरनी नहीं ।
- ५ मालिक की आज्ञा के बिना वस्तु न चोरनी । लूट फाट करना नहीं और करानी भी नहीं । और न ही किसी भी प्रकार की लूट में भाग लेना ।
- ६ किसी की गिरी हुई वस्तु की चोरी न करना ।
- ७ रास्ते में पड़ी वस्तु भी नहीं उठानी ।
- ८ नींद में सोए हुए की जेब में से चोरना नहीं ।
- ९ चोरी का माल सस्ते में नहीं खरीदना ।
- १० आयकर विभाग की चोरी नहीं करना ।
- ११ करचोरी नहीं करनी ।
- १२ तराजू आदि तोल माप में कम देने की वृत्ति से चोरी नहीं करनी । कपड़ा आदि मापने में चोरी नहीं करनी ।
- १३ राज्यदंड आए वैसी कोई चोरी नहीं करनी ।

- १४ गिनति में संख्या की चोरी करके वस्तु नहीं चोरनी ।
- १५ वस्तु में मिश्रण मिलावट कभी नहीं करना ।
- १६ चोरी करके लाई हुई वस्तु चोर यदि मुफ्त भी देवे तो न लेना, या कम दाम में भी न लेना ।
- १७ चोरों को चोरी के काम में दिशा—मार्ग बताने आदि में सहायता नहीं करनी ।
- १८ चोर के साथ किसी प्रकार की लेन देन का संबंध न रखना ।
- १९ तस्करी (दाण चोरी) (स्मग्लिंग) का काम बिल्कुल न करना ।
- २० किसी वस्तु के यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ करने रूप स्थानान्तर करना या छिपाना आदि का काम न करें ।
- २१ चूंगी (जकात) की चोरी न करना ।

तीसरे व्रत के पाँच अतिचार—

तेनाहडणओगे—तण्डिरूवे—विरुद्धगमणे अ ।

कूडतूल कुडमाणे पडिक्कमे देवसिअं सक्कं ॥

- १ स्तेनाहत— चोर के द्वारा चोरी करके लाई हुई वस्तु जान बूझकर लेना, खरीदना आदि ।
- २ तस्कर प्रयोग— चोरी करनेवाले को किसी भी प्रकार की मदद करना ।
- ३ तत्प्रतिरूप व्यवहार— तत्प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् है उससे विपरीत करना, सच्ची में झूठी की, शुद्ध में अशुद्ध का, रंग—रसादि की समानतावाले पदार्थों की मिलावट—मिश्रण (भेल सेल) करना, तथा अच्छा नमूना दिखाकर खराब वस्तु देना इत्यादि ।
- ४ विरुद्ध गमन— राज्य के कानून के खिलाफ व्यवहार करना, चूंगी (जकात) महसुल दिए बिना चुपचाप वस्तु ले जाना आदि ।
- ५ कूड तूल कुडमाणे— मान—माप—तोल कम ज्यादा रखकर वस्तु कम तोलनी, कम देनी, इत्यादि ।

उपरोक्त ये पाँचो अतिचार तीसरे व्रत के हैं, वे जानकर आचरने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये । पाप से बचने की इच्छावाला अतिचारों की जानकारी जरूर लें परन्तु भूल से भी न आचरें ।



जयणा— घर—घर में, पति—पत्नि के संबंध में अति प्रेमादि के व्यवहार में, मेहमानादि के रूप में किसी के घर आए और उनकी वस्तु हमारे साथ आ गई, इत्यादि की जयणा रखें। और वस्तु शीघ्र वापिस लौटा देना। नींद में, स्वप्न में चोरी के विचार आ जाय, अन्जान में भूल से किसीकी वस्तु वापिस देनी रह गई (जब ख्याल आए तब तुरन्त लौटाना), भूल में किसीका जूता, कपड़ा आदि पहन लिया, या आदत वश टांकनी, दियासलाई आदि गलती से बिना पूछे ले ली इत्यादि में जयणा।

ध्येय—

दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्य—मऽगच्छेदं दरिद्रताम् ।  
अदत्तात्फलं ज्ञात्वा, स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥  
चौर्यं पापद्रुमस्येह, वध बन्धादिकं फलम् ।  
जायते परलोकं तु फलं नरकवेदना ॥

—दौर्भाग्य कमनशीबपने का उदय, नोकर—चाकर और दास—गुलाम बनने के दिन आए, तथा अंगोपांग काटने आदि का प्रसंग आए, जेल—सजा आदि का प्रसंग आए, दरिद्रता भिखारीपना—गरीबी आदि के फल जिस चोरी करने के पाप के फलस्वरूप आए उस स्थूल स्तेयवृत्ति (चोरी) का भी त्याग करना चाहिए। चोरी रूप पाप का यह एक ऐसा वृक्ष है जिसके वध, फांसी, जेल, बन्धादि इस जन्म में फल मिलते हैं। और परलोक में नरक में जाकर असह्य वेदना सागरोपमों तक सहन करने के दिन आते हैं। अतः स्थूल रूप से भी चोरी—(अदत्तादान) न करने का व्रत स्वीकारना ही हितावह है। इससे लोभ वृत्ति कम होगी और पुणिया श्रावक के जैसा बनने का ध्येय रखें।

चौथा अणुव्रत— स्थूल मैथुन विरमण व्रत—

स्वकीयदारा सन्तोषो, वर्जनं वाऽन्ययोषिताम् ।  
श्रमणोपासकानां तच्चतुर्थाणुव्रतं मतम् ॥

—स्व = अपनी, दारा = पत्नी, स्वपत्नी में ही संतोष मानना और अपनी से पराई स्त्रियों के साथ मैथुन संबंध का सर्वथा त्याग करना यही श्रमणोपासक = अर्थात् श्रावक के योग्य चौथा अणुव्रत है। परस्त्री अर्थात् अन्य मनुष्यों की परिणीत या संगृहीत स्त्रियाँ, देव गति के देवताओं की परिगृहीता या अपरिगृहिता देवियाँ, पशु जाति की मादाएँ इत्यादि सभी के साथ मैथुन सेवन का सर्वथा त्याग करना यह श्रावक जीवन योग्य चतुर्थ अणुव्रत कहा है।

**चउत्थे अणुव्रतं निवृत्तं परदारगमन विरईओ ।**

**आयरिअमण्यसत्थे, इत्थ पमायण्यसंगेणं ॥**

— निवृत्त परस्त्रीगमन के त्यागरूप इस चौथे अणुव्रत के विषय में यदि प्रमादादि के कारण अप्रशस्त भाव से कोई विपरीत आचरण हुआ हो तो मैं प्रतिक्रमण करता हूँ । इस चौथे अणुव्रत में दो तीन तरीके से कहा गया है । जिससे इसका स्वरूप स्पष्ट होगा ।—

- १ परदारगमन विरई— अर्थात् स्व से भिन्न जितनी पराई स्त्रियाँ हैं उनके साथ गमन करने रूप मैथुन सेवन के संबंध का सर्वथा त्याग करना यह चौथा अणुव्रत हुआ ।
- २ स्वदारा संतोष व्रत— जगत की पराई सभी स्त्रियों का त्याग करके अपनी ही स्त्री में संतोष मानना, स्वस्त्री के साथ मैथुन संबंध में संतोष मानना, परन्तु पराई स्त्री की इच्छा भी नहीं करना । यह भी चौथा अणुव्रत का अर्थ है ।
- ३ मैथुन विरमण व्रत— मैथुन काम क्रीडा, रति क्रिया से विरक्त होने की भावना है । अन्य परस्त्रियाँ हो या, जो किसीकी पत्नी नहीं हैं ऐसी वेश्याएँ या कुमारिका कन्या आदि के साथ भी मैथुन संबंध का सर्वथा त्याग करना, जिस स्त्री के साथ आपने शादी की है वह आपकी अपनी खुद की स्त्री हुई, उसी के साथ देह संबंध करना और उसी में संतोष मानना । परन्तु परस्त्री के साथ देह संबंध कभी भी नहीं करना यह भीष्म प्रतिज्ञा इस चौथे अणुव्रत में ली जाती है ।

पुरुष प्रधान धर्म होने से यहाँ पुरुष को संबोधित करके पुरुष को उद्दिष्ट करके बात की जाती है । इसका मतलब यह नहीं है कि स्त्रियों के लिए यह व्रत नहीं है । नहीं, ऐसी बात नहीं है । स्त्रियाँ इस व्रत में यह स्पष्ट समझें कि पर पुरुष के साथ देह संबंध, मैथुन संबंध का सर्वथा त्याग करना, और स्वपति में ही संतोष मानना यह संकल्प इस चौथे अणुव्रत में स्त्रियाँ करें ।

**चौथे व्रत के ५ अतिचार—**

**अपरिगृहीता इतर, अणंगविवाहितिव्व अणुरागे ।**

**चउत्थ वयस्सअइयारे, पडिवक्कमे देवसिअं सव्वं ॥**

१. अपरिगृहीता गमन— जिसका कोई स्वामी नहीं है, जिस स्त्री को अभी किसी ने ग्रहण नहीं किया है ऐसी कन्या, विधवा आदि के विषय में यह किसीकी पराई स्त्री नहीं है ऐसा विचार करके विधवा एवं कन्या के साथ यदि संबंध करें तो परस्त्री त्यागी को यह

अतिचार—पाप (दोष) लगता है। साथ ही सधवा, वेश्या, भाभी, आदि से भी सर्वथा देह संबंध त्याग की भीष्म प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

२. इत्वर परिगृहिता गमन—अल्प काल के लिए, या कुछ अवधि तक किसी ने किराए से अपने वश करके रखी हुई वेश्या आदि परस्त्री—“यह तो सब के उपभोग योग्य साधारण स्त्री है,” इसमें क्या है ऐसा विचार करके उसके साथ देह संबंध करना, या स्वस्त्री के कुछ दिन के लिए पिता के घर या बाहर जाने आदि के निमित्त किसी स्त्री को प्रलोभन—पैसा आदि देकर कुछ काल तक रखना और उससे देह संबंध करना यह इस प्रकार का अतिचार है। स्वदारा संतोषव्रती को ये दोनों अनाचार रूप पाप लगता है। उसी तरह पति के विदेश जाने, या बाहर दूर पर व्यापारादि के कारण जाने के निमित्त स्ववशीकृत परपुरुषादि के साथ रमण करने का सर्वथा त्याग करना ही चाहिए।

३. अनंगक्रीडा—अनंग का अर्थ है काम, अनंग क्रीडा अर्थात् काम क्रीडा, चुंबन—आलिंगन आदि काम की प्रदानतावाली क्रीडा, कामोत्तेजक, कुचेष्टा, तथा परस्त्री के अंगोपांग विषय विकार की दृष्टि से देखना, तथा स्पर्शादि की इच्छा करना आदि स्वस्त्री से भिन्न किसी भी परस्त्री में ऐसी अनंगक्रीडा की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

४. परविवाह करण—अपने पुत्र—पुत्री आदि को छोड़कर पराए दूसरों के पुत्र—पुत्री आदि की शादी करानी यह भी व्रती के लिए अतिचार है।

५. कामभोग तीव्राभिलाष—विषय वासना का बहुत ज्यादा भडकना, तीव्र कामेच्छा जागृत होनी, बार बार काम क्रीडा के लिए उत्सुक होना, संतोष वृत्ति ही न हो और अमर्याद काम क्रीडा करना, मन में भी सदा यह विकार चलते रहें। एक नहीं, देखी जाती अनेक कन्याओं, स्त्रियों के साथ काम भोग की तीव्र इच्छा करना यह अतिचार है।

चौथे अणुव्रत के व्रतधारी के लिए उपरोक्त पाँचो अतिचार वर्ज्य हैं। पाप दोषरूप है। पुरुष को स्त्री के प्रति और उसी तरह स्त्रियों को पुरुष के प्रति समझना चाहिए। तथा इन अतिचारों को सर्वथा छोड़ना चाहिए।

**चौथे अणुव्रत संबंधी छोटे छोटे नियम—**

- १ पराई स्त्री के साथ मैथुन सेवन कभी न करना।
- २ किसी भी विधवा के साथ देह संबंध कभी न करना।
- ३ कुमारिका कन्या के साथ कभी भी मैथुन संबंध न करना।

- ४ किसी भी विधवा के साथ देह संबंध नहीं बांधना ।
- ५ किसी विधवा का पुनर्लग्न न करना न कराना ।
- ६ किसी कुमारिका या परस्त्री आदि पर बलात्कार न करना ।
- ७ व्यभिचार सर्वथा न करने की आजीवन प्रतिज्ञा करना ।
- ८ वेश्यागमन न करने की आजीवन प्रतिज्ञा करना ।
- ९ परस्त्री से मैथुन संबंध न करने की आजीवन प्रतिज्ञा करना ।
- १० स्वस्त्री में मर्यादित काम प्रवृत्ति रखना ।
- ११ २, ५, ८, ११, १४, १५, ३० आदि पर्व तिथि को ब्रह्मचर्य पालना, तथा पर्युषण, ओली आदि बड़े पर्वों में जरूर ब्रह्मचर्य पालना ।
- १२ उपवास आर्यबिल आदि तप करने के दिन ब्रह्मचर्य पालना, पूजन, महोत्सव अनुष्ठानादि में भी ।
- १३ यात्रा करते समय तीर्थों में ब्रह्मचर्य पालना ।
- १४ दिन में संपूर्ण ब्रह्मचर्य पालना ।
- १५ छोटी आयु के बच्चों के बाल लग्न न करना, न कराना ।
- १६ घर में भाभी, साली, मामी, बहन, बेटा आदि से भूल से भी कभी अब्रह्म सेवन की इच्छा न करना । न कुकर्म करना । समलिंगिक संबंध सर्वथा न करना ।
- १७ निरोधादि साधनों का उपयोग कभी न करना, और ऐसे साधनों का उपयोग करके परस्त्री गमन कभी भी न करना ।
- १८ शादि के पहले तक नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालना ।
- १९ किसी भी परिस्थिति में गर्भपात न करना, और न किसी का कराना ।
- २० गर्भ हत्या के महापाप से आजीवन बचना ।
- २१ स्त्री मित्र कभी भी न बनाना ।
- २२ स्व पत्नि के सिवाय अन्य किसी के साथ भी प्रेम संबंध न जोड़ना, आलिंगनादि न करना ।
- २३ समलिंगिक सम्बन्ध कभी भी न करना ।
- २४ सृष्टि विरुद्ध कुकर्म (गंदी आदतों) का आजीवन त्याग करना । न कुकर्म में अन्य को फँसाना ।

- २५ स्व पुत्र—पौत्र की शादि सिवाय अन्य किसी के विवाह—शादि—सगाई आदि जोड़ना—कराना नहीं ।
- २६ छिप—छिपकर स्त्री पुरुष के अंगोपांग तथा रति क्रीडा आदि न देखना, न दूसरे को दिखाना ।
- २७ कामोत्तेजक गंदा साहित्य कभी भी न पढ़ना, “ब्लू फिल्म” आदि सर्वथा न देखने के पञ्चक्खाण करना ।
- २८ कामशास्त्र आदि संबंधी गंदे साहित्य कभी खरीदना और पढ़ना नहीं ।
- २९ विकार खानपान, गंदे चित्र, चलचित्र, आदि न देखना ।
- ३० कुछ समय के लिए किराए पर स्त्री, दासी, नोकरानी आदि रखकर देह संबंधादि न करना ।
- ३१ अपने से भिन्न धर्म, ज्ञाती और देश की स्त्री—कन्या आदि से शादि न करना, न किसीकी कराना ।
- ३२ एक स्त्री होते हुए दुसरी शादी न करना, दुसरी पत्नी न करना ।
- ३३ स्त्रियाँ एकपतिव्रता धर्म पालें ।
- ३४ एक पत्नी होते हुए अन्य स्त्री से प्रेम संबंध न बांधे, प्रेमिका न बनावें ।

(सूचना—उपरोक्त सभी नियमों में पुरुष को लक्ष में लेकर बात की गई है । वहाँ स्त्रियाँ सभी परंपुरुष के संबंध में नियम करें ।)

**जयणा—** स्वप्न में ब्रह्मचर्य का भंग हो, स्वप्न दोष हो जाय, मन से किसी के प्रति खराब विचार आ जाय, मानसिक मैथुन हो जाय या नियमानुसार तिथि, दिन की गिनति भूल जाय, या छोटी जगह में अन्यो के बीच या पास सोने में भूल से स्पर्श हो जाय आदि में जयणा । अचानक भूल से किसी के अंगोपांग दिख जाय तो जयणा ।

**ध्येय—** हमारा ध्येय अखंड ब्रह्मचारी बनने का है । आजीवन शुद्ध ब्रह्मचर्य पालने के पवित्र ध्येय से आगे बढ़ना है । और उससे भी आगे साधुता और योगी अवस्था प्राप्य करने का अपना ध्येय है । ब्रह्म का अर्थ है— आत्मा—परमात्मा, चर्य—उसमें लीन होना, ब्रह्म—आत्म गुणों का ही आचरण करना यह ब्रह्मचर्य है । ऐसी स्वगुणरमणता में पहुंचने का हमारा ध्येय है । अनादि अनन्त काल की यह मैथुन संज्ञा जो हमारे में पड़ी है, जिस मैथुन संज्ञा के कारण अनेक पाप कर्म बांधे, अनेक जन्म बिगाड़े हैं, उस मैथुन संज्ञा—काम

की विषय—वासना का त्याग करने का ध्येय रखें यही ऊँचा ध्येय है, इन पवित्र ध्येयों से इन व्रत—नियमों का पालन करें ।

### आजीवन अखंड ब्रह्मचर्य (संपूर्ण चतुर्थ व्रत) —

४०—५० वर्ष की आयु के पहले या पश्चात् भी विषय—वासना की वृत्ति का सर्वथा त्याग करके उत्तरावस्था में शुद्ध संपूर्ण ब्रह्मचर्य—पालन करने की प्रतिज्ञा । साधुवत् ब्रह्मचर्य पालने के लिए संपूर्ण ब्रह्मचर्य का पञ्चवस्त्राण करें । संपूर्ण चतुर्थ व्रत स्वीकारें । स्व पत्नी होते हुए भी एक खाट—पलंग पर साथ नहीं सोना चाहिए । स्वतंत्र अलग दूर सोकर शुद्ध ब्रह्मचर्य पालें । विजय शेट—और विजया शेटणी की तरह रहें । एक दूसरे की बिमारी में, अस्पताल आदि में सेवा करने की छूट है । ४०, ५० या ६० जिस आयु से मन दृढ़ हो जाय तो पति—पत्नी दोनों साथ में संपूर्ण आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा स्वीकारें ।

### पाँचवाँ अणुव्रत— स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत—

परिग्रहस्य कृत्स्नस्यामितस्य परिवर्जनात् ।

इच्छा परिमाणकृतिं जगदुः पञ्चमं व्रतम् ।

— बहुत अत्यधिक संग्रह अर्थात् अपरिमित परिग्रह का परिमाण करना, अनन्त इच्छा का त्याग करना, या इच्छा को परिमित करना यह श्रावक धर्म योग्य पाँचवा परिग्रह परिमाण स्वरूप अणुव्रत कहा है । इसी का दूसरा नाम “इच्छा परिमाण व्रत” भी रखा है । चूंकि इसमें इच्छा का त्याग करने की, मर्यादा बांधने की बात है । आज दिन तक जीव ने अमर्यादित रूप से पदार्थों का संग्रह हृद से काफी ज्यादा किया है । न इच्छा पर नियंत्रण रहा, और न ही वस्तुओं के संग्रह पर । परिणाम यह आया कि अमाप वस्तुएं जीव इकट्ठी करता ही गया । वस्तुएँ सभी जड़, तो भी संग्रह किया । इन सब पर मोह—ममत्व और मूर्छा बढ़ती ही गई । और मेरा ... मेरा ... मेरा ... करके तीव्र राग और मोह से जीव ने कितने कर्म बांधे ? ये सब पदार्थ संसार बढ़ानेवाले अधिकरण बने । कई छोटी—बड़ी वस्तुओं ने कई जीवों का संसार बिगाड़ा है, भव और गति बिगाड़ी है । हकीकत में वस्तु नहीं परन्तु वस्तु के उपर जो गाढ़ मोह—ममत्व भाव है उससे भव—गति बिगड़ती है । एक तरफ परिग्रह आरंभ—समारंभ आदि हिंसा का पाप कराता है । ब्रह्मदत्त और सुभूम चक्रवर्ती आदि जैसे चक्रवर्ती सातवीं नरक में गए हैं । अतः संतोष होवे ही नहीं, इच्छा पूर्ण होवे ही

नहीं, मोह—मूर्छा कम ही न हो और किमती मनुष्य भव बिगड़ जाय । इससे बचने के लिए अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु ने श्रावक के लिए परिग्रह (संग्रह) की मर्यादा करने के लिए, मोह—मूर्छा कम करने के लिए परिग्रह परिमाण का पाँचवा व्रत बताया है । सर्वथा परिग्रह का त्याग ही करना है और निष्परिग्रही—अपरिग्रही ही बनना है ऐसा नहीं है । वह तो महाव्रत साधु जीवन के लिए है । जबकि गृहस्थ के लिए तो ९ प्रकार के पदार्थों का परिमाण करना, कुछ मर्यादा बांधनी यह परिग्रह परिमाण रूप व्रत का स्वरूप बताया है ।

**धन—धन—खित्त—वस्तुरूप—सुवर्णे अ कुविअ—परिमाणे ।**

**दुपये—चउपयमि, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ॥**

— धन, धान्य, क्षेत्र (भूमि), वास्तु (घर—दुकानादि), चांदी, सोना, कांसा, पित्तलादि धातु, द्विपद—मनुष्य नोकर—चाकर, चतुष्पद—गाय—बैलादि पशु इत्यादि ९ प्रकार के परिग्रह का त्याग करना है । इस त्याग करने रूप व्रत में कोई दोष लगे हो दिन संबंधी कोई अतिचार लगे हो उसकी क्षमायाचना के साथ प्रतिक्रमण करता हूँ ।

- १ धन— रुपया—पैसा कितना रखना है ? इसका प्रमाण रखें, तथा हीरा—मोती—झवेरात का भी प्रमाण करना ।
- २ धान्य— १ वर्ष के लिए धान्य, अनाज—कठोल—कितना रखना इत्यादि प्रमाण करना ।
- ३ क्षेत्र— स्थावर मिल्कत में, प्लोट, जमीन, खेत, आदि का प्रमाण निश्चित करना ।
- ४ वास्तु— घर—दुकान, ओफीस, गौडाउन, गांव इत्यादि की संख्या बांधनी ।
- ५ रूप्य— ६ सुवर्ण— चांदी—सोने की धातु कितने प्रमाण में रखनी ? इनके बने हुए दागिने—गहने कितने रखने ? या सब मिलाकर सोने—चांदी के गहने—बर्तन कुल कितने रुपए के स्वमालिकी के रखने ? इस तरह प्रमाण निश्चित करना ।
- ७ कुय्यादि— सोने—चांदी सिवाय की धातु—कांसा, पित्तल, लोखन, कलई, झींक, शीशा आदि धातु कितनी रखनी ? या कितने रुपए तक की रखनी ? की मर्यादा बांधनी, या इनके बर्तनादि वस्तुओं की संख्या के रूप में मर्यादा बांधनी चाहिए ।
- ८ द्विपद— द्वि = दो, पद = पैर, दो पैरवाले पक्षी घर में पिंजरे में बांधना रखना आदि का त्याग करना । नोकर चाकर, सेवक आदि की संख्या का प्रमाण बांधना ।
- ९ चतुष्पद— चार पैरवाले पशु—जानवर कितने रखना ? गाय, भैंस, हाथी, घोडा, ऊंट, बैल, पाडे, बकरी, कुत्ते, आदि जानवर कितनी संख्या में रखना यह प्रमाण निश्चित करना चाहिए ।

इत्यादि नौ से उपरोक्त प्रकार की वस्तुओं के परिग्रह का प्रमाण निश्चित करना यह इस पाँचवे व्रत का स्वरूप बताया है। जिसमें स्व—स्वामित्व अर्थात् अपना मालिकी हक्क आता हो वह अपना गिना जाता है। अतः अपने मालिकी हक्क में कितनी मर्यादा का परिग्रह रखना यह अपने को निर्णय करना चाहिए। अपने पास आज जितना है उसको ध्यान में लेते हुए, और गृहस्थ जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जो आवश्यक हो उतनी ही मर्यादा बांधकर रखनी, उतनी ही वस्तुएं रखनी। आज आपके २—४ लाख नहीं है, और आपने २—४ लाख की मर्यादा बांधी है, और भविष्य में मानें कि उतना यदि आपके पास हो गया तो फिर उस मर्यादा से अधिक आगे न रखना। धर्मादा में, सात क्षेत्र में, परोपकारादि में वापरते जाना चाहिए। अपनी बांधी हुई मर्यादा का उल्लंघन करके तोड़ना नहीं। इस तरह यह व्रत स्वीकारें।

**इन ५ अतिचारों से बचें—**

१ धन—धान्य प्रमाणातिक्रम, २ क्षेत्र—वास्तु प्रमाणातिक्रम, ३ रूय—सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, ४ कुप्य प्रमाणातिक्रम, ५ द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम इन नौ ही प्रकार के परिग्रह में आपने जो—जो प्रमाण संख्या, रुपए या वस्तु के रूप में निश्चित किया हो उसका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। धारणा का अतिक्रम अतिचार कहलाता है। अतः इन नौ ही प्रकार के परिग्रह के लिए पाँच प्रकार के अतिचार बताए हैं। इनसे बचें। और अपनी धारणा न तोड़ें। धारणा पूरी होने के पहले ही वस्तु या धन राशी दानादि शुभ कार्य में वापरें।

**जयणा—**अज्ञान वश, अन्जान में, भूल से धारी हुई संख्या के ऊपर आपकी धन राशी आदि—बढ़ गई, और उसका शुभ कार्य करने में उपयोग करने के आयोजन में देरी हुई, भावना शुभ है, वापरना चाहते हुए भी योजनाबद्ध शुभ आयोजन में वापरने में देरी हुई उसकी जयणा। वर्षान्त के समय गिनति में ध्यान न रहा और संख्या बढ़ गई, धारणा बढ़ी तो उसकी जयणा, परन्तु शीघ्र प्रमाण करके अपनी मर्यादा निश्चित कर लें।

**ध्येय—**मूर्छा महापरिग्रह है। परिग्रह से हिंसा और हिंसा से पुनः परिग्रह यह भयंकर विषचक्र चल रहा है। अनेक पापों की जड़ यह परिग्रह है। परिग्रह वृत्ति के कारण तृप्ति और संतोष नहीं आता है। अतः असंतुष्ट और अतृप्त तृष्णा से जीवन में सुख—शांति कभी भी प्रगट नहीं होती है। अतः सर्वत्र प्रभु ने इस इच्छा परिमाण (संतोष) व्रत की संयोजना बताई है। मूर्छा—ममत्व से सैकड़ों जन्म जीव के बिगड़ते हैं। छिद्रवाली नांव



की तरह तीव्र मूर्छा से जीव संसार सागर में डूबता है। अतः धन—धान्यादि बाह्य परिग्रह और राग द्वेष—कषायादि आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने के लिए इस परिग्रह परिमाण व्रत का स्वीकार करके आनन्द—महाशतक आदि उत्कृष्ट १० श्रमण जैसे श्रावक बनें इस आदर्श ध्येय से सच्चे व्रती—साधक बनें।

व्रत लेनेवाले यहाँ अपनी धारणा लिखें—

१. धन (रुपए—हीरा मोती आदि जेवर) (संख्या में लिखें)

२. धान्य (अनाज—कठोल) (किलो में १ वर्ष के)

३. क्षेत्र (जमीन—प्लोट—जगह)

४. वास्तु (घर—दुकान, गोडाउन, बंगला—प्लोट) (स्थावर—मिल्कत)

५, ६. रौप्य—सुवर्ण (सोने—चांदी के गहने—बर्तनादि)

७. कुप्य, तांबा, पित्तल, कांसा, झींक, लोखन आदि धातुओं के बर्तनादि वस्तुओं की मर्यादा

८. द्विपद (नोकर—चाकर—सेवक)

९. चतुष्पद—गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, बकरी आदि जानवर की संख्या

**छट्ठा दिग् परिमाण व्रत— (पहला—गुणव्रत)**

उर्ध्वाधस्तिर्यगाशासु नियमो गमनस्य यः।

आद्यं गुणव्रतं प्राहस्तद्दिग् विरमणाभिधम्॥

ऊर्ध्व—अधो और तिच्छी दिशाओं तथा विदिशा आदि दशों दिशाओं में जाने के विषय में कुछ हद तक का नियम करना यह छट्ठा दिग्परिमाण व्रत या पहला गुणव्रत है। तीन गुणव्रत का जो स्वरूप बताया है उसमें दिग् (दिशा) परिमाण व्रत रूप इसको पहला गुणव्रत कहा है। धन—व्यापारादि के लोभ से जीव देश—विदेश चारों तरफ आशा का मारा भटक रहा है। लोभ का तो कोई अन्त ही नहीं है। लोभ को संतोष भी कहाँ है? अति लोभ दशा के कारण जीव सारी दुनिया में घूमना चाहता है। सारी दुनिया का धन इकट्ठा करना चाहता है। या निरर्थक घूमने फिरने आदि के बहाने जाने—आने की प्रवृत्ति करना यह भी जीव की एक आदत है। ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि समस्त विश्व अनन्त जीव सृष्टि से भरा हुआ है। अविरति में फँसा हुआ जीव लोभादिवृत्ति के कारण दशों

दिशाओं में घूमता—फिरता अनेक जीवों की हिंसा का भागीदार बनता है। अतः उन—उन दिशाओं में गमन करने का त्याग करके मर्यादा बांधना हितावह है। इसके लिए यह व्रत है। जिससे समुद्री मुसाफरी आदि का नियमन हो जाएगा।

पूर्व—पश्चिम—उत्तर—दक्षिण ये चार मूल दिशाएँ हैं। और ईसान, अग्निय, नैऋत्य, और वायव्य ये चार विदिशा हैं तथा ऊर्ध्व (ऊपर) और अधो (पाताल में नीचे जाने की) दिशा। इस तरह कुल मिलाकर दस दिशाएँ हैं। अब व्रतधारी या तो इन दशों दिशाओं में कहाँ तक कितने माईल या किलोमीटर जाना है? यह मर्यादा निश्चित करें। या किन दिशाओं में सर्वथा न जाना यह निश्चित करके उन दिशाओं में जाने का सर्वथा त्याग करें। और जिन दिशाओं में जाना है—तो उन दिशाओं में कहाँ तक कितने किलोमीटर जाना है? यह संख्या निश्चित करें।

और यदि दिशाओं से आपको ख्याल न आता हो तो देशों के नाम से भी निर्णय करें। उदाहरणार्थ पहला नियम तो यह हुआ कि भारत देश के बाहर न जाना। और भारत देश के बाहर जाना भी पड़े तो—अमुक—अमुक... देश में ही जाने की छूट इसके अतिरिक्त सभी देशों में न जाना यह पञ्चवस्त्राण (त्याग) किया जाय।

जैसे व्यापारार्थ या पुत्र को मिलने आदि हेतु से पुत्र के बुलाने के कारण या रोगोपचार—ओपरेसन आदि के कारण जाना पड़े तो सिर्फ अमरीका या इंग्लैण्ड जाने की छूट परन्तु इसके सिवाय अन्य सभी देशों में जाने का त्याग।

भारत देश में भारत की चारों तरफ की सीमा तक जाने की छूट परन्तु उसमें चातुर्मास में सर्वथा मेरे गाँव या घर को छोड़कर बाहर नहीं जाना है ऐसा नियम होता है, श्रेणिक जैसे मगध के सम्राट, श्री कृष्ण महाराजा, कुमारपाल भूपाल आदि भी चातुर्मास के चार मास स्वदेश में अपनी राजधानी से बाहर नहीं जाते थे। चातुर्मास में बारिश आदि अनेक कारणों से अनेक जीवों की ज्यादा हिंसा होती है। अतः चातुर्मास में तीर्थयात्रा करने जाना भी निषेध है। शास्त्रों में अषाढ चातुर्मास में श्री शत्रुंजय महातीर्थ (पालीताणा) पर भी यात्रा के लिए जाने का निषेध किया गया है। अतः आराधक व्रती न जाए। कार्तिकी चौमासी के काल में विदेश—या दिशा—विदिशाओं में जाना या अमुक माईल तक ही जाना ऐसा नियम ग्रहण करें।

## छठे व्रत के पाँच अतिचार—

गमणस्स उ परिमाणे, दिसासु उडुं अहे अ तिरिए य ।

वुड्डी सइ अन्तरद्धा, पढमंमि गुणव्वए निंदे ।

- १ ऊर्ध्वदिक् प्रमाणातिक्रम— ऊपर अमुक... कुछ माइलों तक ही जाना और उससे ऊपर न जाना ऐसा प्रमाण धारणे के बाद भी वह प्रमाण या धारणा टूट जाय तो अतिचार लगता है ।
- २ अधोदिक् प्रमाणातिक्रम— उपयोग के बिना अधो = नीचे की दिशा या देशों में जाने का प्रमाण या धारणा जो थी उससे अधिक गए तो यह अतिचार लगता है ।
- ३ तिर्यक्दिक् प्रमाणातिक्रम— पूर्व—पश्चिम—उत्तर और दक्षिण की दिशाओं में जाने की मर्यादा या उन दिशाओं के देश तथा विदेशों में अमुक देश या... अमुक माइल तक जाने की जो धारणा थी उसका उल्लंघन करके अधिक जाने से यह अतिचार लगता है ।
- ४ क्षेत्र वृद्धि अतिचार— किसी क्षेत्र विशेष में १०० माइल तक ही जाने की मर्यादा निश्चित की थी और समय पड़ने पर जाते जाते और लोभ लगा और १०० माइल की मर्यादा तोड़कर उस दिशा की मर्यादा बढ़ाकर २००, ५०० माइल मन से बढ़ा दी और चले गए तो, व्रत में धारी हुई मर्यादा की संख्या का उल्लंघन करने रूप यह अतिचार लगता है । अतः धारणा या प्रमाण में परिवर्तन न करें ।
- ५ स्मृत्यन्तर्धाम अतिचार— स्मृत्यन्तर्धाम का अर्थ है विस्मृति हो जाना । भूल जाना कि मैंने इस दिशा में कहाँ तक जाने की मर्यादा निश्चित की थी ? १०० माइल चले जाने के बाद मन में संशय खड़ा हुआ कि मैंने कितनी धारणा रखी थी ? और वह विस्मृति हो गई और फिर भी आगे ही आगे चलते ही गए तो यह अतिचार लगता है ।

व्रतधारी आराधक उपरोक्त पाँचों अतिचारों को समझकर उनसे अवश्य बचने का उपयोग रखें ।

## इस व्रत में रखने योग्य नियम—

- १ चातुर्मास में सर्वथा अपने रहने के गाँव या शहर के बाहर न जाना ।
- २ पर्युषण—ओली आदि पर्वों में सर्वथा बाहर देशों में न जाना ।

- ३ धूमने—फिरने—देखने हेतु विदेशों में नहीं जाना ।
- ४ व्यापारादि हेतु अमुक देश में जाने की छूट के सिवाय अन्य सभी देशों में न जाने के पञ्चक्खाण ।
- ५ भारत को छोड़कर बाहर विदेशों में न जाना ।
- ६ भारत को छोड़कर विदेशों में जाकर वसवाट (बसना) नहीं करना ।
- ७ ऊर्ध्व—उपर की दिशा में नहीं जाना ।
- ८ अधो—नीचे की दिशा में नहीं जाना ।
- ९ भारत में कहाँ तक जाना ? यह नियम करें ।
- १० चातुर्मास में शत्रुंजय आदि तीर्थों की यात्रा करने न जाना ।
- ११ पुत्र—पुत्री या स्वजन—संबंधी के बुलाने पर, कार्य वश मिलने आदि के हेतु से उसी देश में जाना परन्तु उस देश के सिवाय अन्य सभी देशों में न जाना यह प्रतिज्ञा करना ।
- १२ समुद्री मुसाफरी न करना ।
- १३ ध्रुव प्रदेशों में सर्वथा न जाने के आजीवन पञ्चक्खाण करना ।
- १४ विदेशों से शादी संबंध न जोड़ना ।

**जयणा—** शोध—संशोधन या इतिहास के लिए गुरु आज्ञा लेकर जाने की जयणा । स्वदेश में चातुर्मासातिरिक्त काल में तीर्थयात्रा, या गुरुमहाराज के वंदनार्थ जाने की जयणा । देश—विदेश के पत्र, तार, पोष्ट अखबार आदि मँगाने, भेजने, पढ़ने आदि की जयणा । अनिवार्य संयोगों में ओपरेशन के हेतु से जाना पड़े तो जयणा । विदेश में बसे हुए पुत्र—पुत्री की मृत्यु आदि प्रसंग पर जाने की जयणा ।

### दिव्यगमन त्याग का ध्येय—

संसार सैकड़ों पापों से भरा हुआ है । साधक स्वलीन अवस्था में आगे बढ़े । अध्यात्म योग की साधना में आगे बढ़े । आरंभ—समारंभ आदि के सैकड़ों पापों से बचे । दुनिया भर की अविरति से बचकर विरति में आए । संसार में चारों तरफ चलते कारखाने, मीलों आदि लाखों आरंभ—समारंभ की महा हिंसाओं के पाप के निमित्त से बचने के ध्येय से यह व्रत स्वीकारना उपयोगी है । अविरति के पाप आश्रव से बचने के लिए यह व्रत

स्वीकारना हितावह है । १८ पापस्थानों की प्रवृत्ति सीमित करके निष्पाप जीवन जीने का साध्य बनावें । आत्म सन्मुख बनने का लक्ष रखें ।

## सातवाँ भोगोपभोगपरिमाण व्रत— (दूसरा गुणव्रत)

भोगोपभोगयोः संख्या-विधानं यत् स्वशक्तिः ।

भोगोपभोगनामाख्यं, तद् द्वितीयं गुणव्रतम् ॥

भोगयोग्य पदार्थ और उपभोगयोग्य पदार्थों की संख्या का अपनी शक्ति के अनुसार प्रमाण निश्चित करना अर्थात् मर्यादा बाँधना यह सातवाँ भोगोपभोग परिमाण व्रत है । यह दूसरा गुणव्रत है । भोग का अर्थ है जिस वस्तु का एक ही बार भोग किया जाय (वापरी जाय) । जैसे भोजन, फूल, तंबोल, शरीर पर विलेपन, स्नान—पान योग्य पदार्थों का एक ही बार उपयोग किया जाता है फिर वे नष्ट हो जाते हैं । यह भोग कहलाता है । और जिसका बार—बार अनेक बार उपयोग (भोग) किया जाता है उसे उपभोग कहा जाता है । जैसे वस्त्र, सोना—चाँदी—हीरे—मोती के गहने, बर्तनादि, घर—मकान—बंगला, गाय, भैंस, बैलादि पशु तथा काम वासना संतोषने के लिए स्त्री का भी बार—बार उपभोग किया जाता है । अतः यह उपभोग कहलाता है । इस भोग और उपभोग योग्य पदार्थों का भोगवटा मैंने इस संसार में एकबार नहीं अनेक बार किया है । फिर भी तृप्ति संतोष नहीं हुआ है । और इन्हीं के पीछे अनेक क्लेश—कषाय संघर्ष हुए हैं । अनेक पापकर्म करके जीव नरक आदि दुर्गतिथों में गया है । अब समझकर इन भोग—उपभोग योग्य पदार्थों का त्याग करें, इनकी मर्यादा, बाँधे, परिमाण = प्रमाण निश्चित कर सकें इसलिए भोगोपभोग परिमाण रूप यह सातवाँ व्रत बताया है । आत्मा के लिए यह गुणव्रत स्वरूप है । इसलिए इसे दूसरा गुणव्रत कहा है ।

मज्जंमि अ मंसंमि अ पुप्फे अ फले अ गंधमल्ले अ ।

उपभोगे—परिभोगे, बीअम्मि गुणव्वए न्दि ॥

मद्य, मांस, तथा २२ अभक्ष्य, ३२ अनन्तकाय पुष्प, फलादि पदार्थों के विषय में रखी हुई उपभोग (भोग) तथा परिभोग (उपभोग) रूप भोगोपभोग परिमाणात्मक द्वितीय गुणव्रत में लगे दोषों की मैं निंदा करता हूँ । वदितु की इस २० वी गाथा में भोग के अर्थ में उपभोग शब्द का प्रयोग किया है । अर्थात् पुष्प—फलादि जो एक बार भोगा जाय वे । और उपभोग के सामान्य अर्थ में यहाँ परिभोग शब्द का प्रयोग किया है ।

विशेषरूप से गृहस्थ जीवन में मौज—शोख, खान—पान आदि के निमित्त उपयोग में आनेवाली अनेक वस्तुएं पाप कर्म का प्रबल बंध करानेवाली मुख्य वस्तुओं का सर्वथा त्याग तथा कुछ को परिमित—सीमित करने के लिए यह व्रत कह रहा है। ऐसा न हो कि जो शरीर आदि के लिए न खाने योग्य अभक्ष्य पदार्थों का सेवन किया, जिससे आत्मा को भारी कर्ष बंध हुआ और आत्मा को नरकादि गति में पाप की भारी सजा भुगतने जाना पड़ा। शरीर तो जड़ है। शरीर तो यहीं नष्ट हो जाता है वह कहाँ सजा भोगने नरक में आता है? नहीं। शरीर के कारण किए हुए पापों की सजा भोगने के लिए अकेली आत्मा को ही नरकादि तिर्यच की गति में जाना पड़ता है। ऐसे पदार्थ है—मदिरा—मांस—मक्खनादि २२ अभक्ष्य पदार्थ। अतः उनका त्याग करना ही हितावह है। यही यह व्रत कहलाता है।

## २२ अभक्ष्य

१ मध (शहद), २ मक्खन (*Butter*), ३ मदिरा (शराब), ४ मांस, ५ वटवृक्ष के फल (टेटा) (५ उदुंबर फल), ६ पीपला के फल (टेटा), ७ कोठींबडा (काकउमरी) कालुंबर, ८ पीपला की पीपड़ी (प्लक्ष जाती की), ९ उदुंबर फल (उंबर वृक्ष के फल) (गुलर), १० हिम (बरफ), ११ विष (जहर), १२ करा, १३ सर्व प्रकार की मिट्टि, १४ रात्रि भोजन, १५ बहुबीज फल, १६ ३२ अनन्तकाय, १७ बोल अचार, १८ द्विदल (विदल), १९ बैंगन, २० अज्ञात—अन्जाने फल, २१ तुच्छ फल, २२ चलित रस।

१ चार महाविगई—मध, मक्खन, मदिरा और मांस इन ४ को महाविगई का नाम दिया है। इसमें उस रंग के असंख्य दो इन्द्रियादि त्रस जीवों की उत्पत्ति नाशरूप हिंसा होती है। विकार करनेवाली है। असाध्य व्याधियाँ—रोगादि कारक है। अतः त्याज्य है। मध मदिरा (शराब) मांसादि की उत्पत्ति में बनाने की क्रूर रीति में भी असंख्य जीवों की हिंसा का दोष है। मांस तो वैसे भी मन्त्रेन्द्रिय की हिंसा के बिना प्राप्य भी नहीं है। अतः चारों त्याज्य हैं।

२ पाँच उदुंबर फल—५ से ९ तक के पाँच उदुंबर फल सर्वथा त्याज्य हैं। ये जंगली फल हैं। इनमें छोटे छोटे अगणित बीज होते हैं। इन पांचों प्रकार के फलों में छोटे मच्छर के आकार के अति सूक्ष्म अनेक त्रस जीव होते हैं। अतः खाने से वे सभी मरेंगे, सब की हिंसा होगी। जीवन निर्वाह के लिए अनुपयोगी होने से सर्वथा त्याज्य है।

३ बरफ और करा (ICE) — जहाँ पानी की एक बूँद में भी असंख्य एकेन्द्रिय जीव हैं। तथा चलते फिरते त्रस जीव भी अनेक हैं। आधुनिक विज्ञान ने सूक्ष्म दर्शक यंत्र से ३६४५० की संख्या तो गिनी है। अब पानी का बरफ बनने से वे सभी उस में दबकर मर जाएंगे। अतः हिंसा का त्याग करने की दृष्टि से ये त्याज्य हैं। वैसे ही आकाश से बारिश में गीरे करे (ओले) जो बरफ स्वरूप ही है उनका त्याग करें। अतः बरफ और बरफ के बने पदार्थ का भी त्याग करना चाहिए।

**विष त्याग (Poison)** — जहर—विष मारक है। प्राण हारक है। खनिज विष, सोमल, अफीम, कूचला, धतुरा, वच्छनाग, आकडा आदि का वनस्पतिजन्य विष तथा साँप, बिच्छु, छिपकली, आदि का प्राणीज विष, तथा मानव सर्जित औषधियाँ, केमिकल का तथा मिश्र विष, एवं जन्तु मारने की विषैली दवाईयाँ आदि के विष का त्याग करने की प्रतिज्ञा करनी। सर्व प्रकार की मिट्टियाँ सचित होने से अभक्ष्य है।

**रात्री भोजन का त्याग** — रात को भोजन बनाना तथा खाना निषिद्ध है। सूर्यास्त के बाद असंख्य सूक्ष्म जीव जन्तु उत्पन्न होते हैं। उन्हें बिजली का प्रकाश बाधक नहीं लगता, अनेक संपातित जीवों की हिंसा भी होती है। अतः अहिंसक, व्रतधारी को रात्रिभोजन छोड़ना चाहिए। शास्त्रकारों ने रात्रिभोजन को नरक का द्वार कहा है। रात को खाने से उल्लू, कौवा, बिल्ली आदि के जन्म मिलते हैं। जीव नरक गति में जाता है। अनेक जीव हिंसा के कारण रात्री भोजन में ज्ञानीओं ने पाप कहा है। अतः त्याज्य है।

**बहुबीज अभक्ष्य** — जिसमें अगणित (बहुत) बीज हैं ऐसे बहुबीज पदार्थ जैसे—हरा अंजीर, सुखा अंजीर, खसखस, पेरू, पंपोट, करमदे, टीमरु, कोठीबडा, बेंगनादि, राजगरो, पटोल, रींगणा आदि असंख्य अगणित बीजोंवाले पदार्थ होने से त्याज्य हैं। अन्य त्रस जीवों की हिंसा होने से त्याज्य हैं।

**संधाण (बोल) अचार** — अनेक वस्तुओं के अनेक प्रकार के अचार बनाए जाते हैं। जीभ के स्वाद के लिए अचार का सेवन बहुत लोग करते हैं। परन्तु सभी अचार को अभक्ष्य नहीं कहा है। जो बोल (संधाण) अचार हैं वे त्याज्य हैं। जैसे आम्रबेल, कच्चे आम (केरी) का, पाडल का, नींबू का, गुंदा, करडा, करमदे, ककडी, डाला, हरी—काली मिर्च, चिभडा, हरी मिर्च आदि के तथा कई लोग अनन्तकाय के भी अचार बनाते हैं। जैसे—अदरक, हरी हल्दी, गरमर, गाजर, कुंवार, मोथ आदि के भी कई प्रकार के अचार बनाते हैं, पंचदुम्बर फल, हरा बेल फल, वांस के मूल के, आदि सैकड़ों जाति के अचार

बनाते हैं। ये अचार १—२ वर्ष तक भी रखते हैं। अतः बनाते समय इनमें के पानी में करके धूप में सुखाकर कड़क किए हुए हो। किसी मुरब्बे आदि में तीन तार की शक्कर की चासनी हो, उन अचारों में किसी भी प्रकार के धान्य कठोल आदि का मिश्रण न हो तो ही वे वर्ष भर रख सकते हैं। वरना उसमें जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अनन्तकाय की असंख्य (फुलण) छा जाती है। फिर वे अभक्ष्य कहे जाते हैं। अतः जीभ के स्वाद के पीछे अनन्त जीवों की हिंसा का पाप सिर पर लेकर दुर्गति में क्यों जाना ?

**१७ द्विदल (विदल) अभक्ष्य**— द्वि = दो, दल = भाग। कठोल में जिनके दो भाग होते हैं वे द्विदल कहलाते हैं। जैसे मूंग, उड़ीद, मटर, तूर, चने, आदि के दो भाग (दल) होकर वे दाल के रूप में बनते हैं अतः उन्हें या कठोल के बने हुए या कठोल मिश्रित पदार्थों को कच्चे दूध, दही, छाछ, लस्सी के साथ यदि खाया जाय तो उनके मिश्रित होते ही उनमें असंख्य दोइन्द्रिय त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है। फिर खाने से हिंसा होगी। अतः द्विदल अभक्ष्य हैं, अतः भोजन में साथ ही कच्चे दूध, दही, छाछ, लस्सी आदि खाना वर्ज्य है। जैसे खिचड़ी, दाल, भजिए, कठोल की सब्जी आदि के साथ कच्चा दूध, दही, छाछ, लस्सी खाना वर्ज्य है। अभक्ष्य है। लेकिन दही—छाछ लस्सी भी पूरी तरह गरम किया हुआ हो, तो खाने में दोष नहीं है। दहीबड़ा में दही और बड़े दोनों गरम करते हैं तो ही खा सकते हैं। यह समझकर द्विदल के अभक्ष्य का भी त्याग करें।

**१७ बैंगन (रींगणा) अभक्ष्य**— बैंगन—सर्व जाति के बैंगन (रींगणा) अभक्ष्य हैं। एक तो बैंगन में बहु संख्या में बीज हैं। तथा ऊपर की टोपी में सूक्ष्म त्रस जीवों की संख्या भी काफी ज्यादा है। तथा यह अतिविकारी, तामसी होने से भी वर्ज्य है। न खाया जाय। आरोग्य की दृष्टि से भी हानिकारक है।

**१९ अन्जाने फल न खाएं**— जंगल में या अन्यत्र कई ऐसे फल मिल जाएं जो अन्जाने—अज्ञात फल हो, जिनके नाम, जाति तथा—गुण दोष आदि प्रसिद्ध न हो, जो लोक व्यवहार में खाने में प्रचलित—प्रसिद्ध न हो ऐसे किपाक आदि के फल वर्ज्य हैं। किपाक जंगली फल है। खाते ही मृत्यु होती है। तथा जहरीले—विषैले फल भी वर्ज्य हैं। अतः इसका त्याग करें।

**२० तुच्छफल अभक्ष्य**— जो असार है, तृप्तिकारक नहीं है, कई फल खाने के बावजूद भी न पेट भरे, न शक्ति आए। और खाना थोड़ा सा नाम मात्र, तथा फेंकना दुगुना हो ऐसे तुच्छ फलों को अभक्ष्य कहा गया है। उदाहरणार्थ— चनी बेर, पीलु, पोचु, लघुबदर,



बदरीफल, गुंदी—छोटी—बड़ी, ईमली के म्होर, जामुन आदि में बीज बड़े—बड़े फेंकने पड़े, और खाना नाम मात्र रहे । तथा अति छोटी अवस्था में अनन्तकाय खाने का भी दोष लगना संभव है । अतः त्याज्य है । चूंकि असंख्य समूच्छिम पंचेन्द्रिय आदि की जीवोत्पत्ति होती है, और हिंसा भी होती है अतः त्याज्य है ।

**२१ चलित रस अभक्ष्य—** जिसके रस—स्वाद में परिवर्तन हो जाय, अर्थात् फल—फूलादि बिगड़ जाय, वह चलित रस में गिना जाता है । जैसे सड़े हुए केले, चीकु, सेब, मुसंबी आदि बिगड़ने—सड़ने पर उसके वर्ण—गंध—रस—स्वाददि खराब हो जाते हैं, उनमें असंख्य त्रस दोइन्द्रिय लारीया जीवों की उत्पत्ति होती है । बैक्टीरिया उत्पन्न होते हैं । उसी तरह आज की रोटी, चावल, दाल, सब्जी, चटनी, पुरी, फरसान जो नरम हैं उन्हें बचने पर रखकर कल खाने को वासी कहा जाता है । फ्रिज में रखने पर भी उनके रस—वर्ण—गंधादि बदल जाते हैं । और असंख्य जीवों की उत्पत्ति होती है ।

डबल रोटी आदि में असंख्य सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है । तथा उस—उस वर्ण की फंगस होने से वह अनन्तकाय है और खाने से अनन्त जीवों की हिंसा का पाप लगेगा । अतः चलित रसवाले तथा वासी पदार्थ नहीं खाने चाहिए । रोटी को शेककर कड़क खाखरे के रूप में बना दें फिर दूसरे दिन खा सकते हैं ।

**२२ अनन्तकाय (कंदमूलादि) अभक्ष्य—** वनस्पति दो प्रकार की है (१) साधारण वनस्पतिकाय, और (२) प्रत्येक वनस्पतिकाय । जिसके एक शरीर में एक ही जीव हो वह प्रत्येक वनस्पतिकाय है । जैसे चीकु के ४ बीज हैं, सेब, संतरे, मुसंबी आदि फलों के एक—एक बीज में जीव है । उसी तरह हरी तरकारियों में भिंडि, आलू—दुध, करेला, तूरई, मिर्च आदि में भी एक बीज में एक जीव है । जो गिने जा सकते हैं । इनमें एक बीज में एक जीव है । अतः हिंसा बहुत कम, मर्यादित है । जबकि एक शरीर में अनन्त जीव हो उसे अनन्तकाय या साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं । अनन्त = जीवों की संख्या और काय = अर्थात् एक शरीर । ऐसे एक शरीर में रहे हुए अनन्त जीववाली वनस्पति अनन्तकाय या साधारण वनस्पतिकाय कहलाती है । जिसके खाने से अनन्त जीवों की हिंसा होती है । इनकी पहचान के लिए कहा है, (१) इनमें बीज नहीं होते हैं, (२) काटने पर भी पुनः उगते हैं, (३) नसें तथा शिराएं दिखाई ही न दें, गुप्त हो, (४) सन्धि—पर्वादि भी गुप्त हो, न दिखाई दें, (५) समभंग हो, (६) तांतणे—रेशे न हो ऐसे पदार्थ अनन्तकाय कहलाते हैं । इनके खाने से अनन्त जीवों की हिंसा का महापाप लगेगा । वनस्पति में जीव

है और साधारण वनस्पति में अनन्त जीव हैं। अतः अनन्त जीवों की हिंसा करने की अपेक्षा तो बीजादिवाली प्रत्येक वनस्पतिकाय के सेवन में कम, गिनति की मर्यादित हिंसा ही होगी। अतः वे ही क्यों न खाए जाएं? क्यों अनन्तकाय के खाने का आग्रह रखा जाय? यह अनन्त जीवों की हिंसा कारक होने से वर्ज्य अभक्ष्य है। सीधी सी बात है।

### ३२ अनन्तकाय पदार्थ—

अनन्त ज्ञानी, सर्वज्ञ, केवली भगवान ने ऐसे अनन्तकाय पदार्थों का स्वरूप बताया है। वे अभक्ष्य हैं। वर्ज्य हैं। उदाहरणार्थ ३२ नाम नीचे दिए जाते हैं—

**भूमि कंद**— जमीन कंद, या जमी, या भूमि कंद कहते हैं। कंद अर्थात् जमीन के नीचे होनेवाले, जमीन में रहा हुआ भाग। आर्द्र अर्थात् न सूखा हुआ ऐसा कंद। ये सर्व जाति के किसी भी प्रकार के कंद अनन्तकाय होने से वर्ज्य हैं। (१) **वज्र कंद**— कंद विशेष की जाती है। (२) **सूरण कंद**— सूरण जाति का कंद। (३) **हल्दी**— न सूखी हुई आर्द्र हल्दी, (४) **आदु-अदरक**— न सुखी हुई आर्द्र नरम ऐसी अदरक भी अनन्तकाय है। (हल्दी और अदरक स्वयं अपने आप धूप में सूखने के बाद उनका हल्दी चूर्ण तथा सूठ के रूप में उपयोग कर सकते हैं।) तन्तु—विशेष—तांतणे—रेशे होने से सूखने के बाद कल्थ्य है, परन्तु यह नियम सभी के लिए नहीं है। (५) **आर्द्र कचूरा**— स्वाद में तीखा ऐसा हरा कचूरा। (६) **हरी शतावरी**, (७) **वीराली**— लता है। कोई 'सोफाली' भी कहते हैं। (८) **कुमारी**— कुंआर पाठा (९) **थोर**— हाथीया (पंजावाले) कांटेवाले सभी प्रकार के थोर। जिससे खेत की वाड बनाई जाती है। (१०) **गलो**— गड्डी—जो लता है। नीम के वृक्ष पर भी चढ़ती है। (११) **लसुन**, (१२) **वंशकरेले**, (१३) **गाजर**, (१४) **मूला**—देशी और विदेशी अर्थात् सफेद और लाल दोनों अनन्तकाय हैं। मूला के पांचों अंग—कंद, डांडली, फूल, पत्र, तथा मोगरा, मोगरी दाना आदि सभी अभक्ष्य हैं, त्याज्य हैं, (१५) **लवणक**— लूणी नामक वनस्पति (१६) **लोढक**— पद्मिनि नामक वनस्पति का कंद (१७) **गिरिकर्मिका**— एक जात की लता है जिसे गरमर भी कहते हैं। (१८) **किसलय**— सभी प्रकार के नए उगे हुए कोमल पत्ते जिसमें नस शिराएं नहीं निकली हैं। (१९) **खरसंया**— कंद विशेष है। जिसे कसेरा, खीरिशुक भी कहते हैं। जिसकी हरी—हरी डंडीया होती है और जिसका दूध विषलक्षणवाला है, (२०) **थेग की भाजी**, (२१) **हरी मोथ**— सरोवरों के किनारे होती है। और पकने पर काली पड़ती है। (२२) **लवण**— नामक वृक्ष की छाल, शायद उसे भ्रमर वृक्ष भी कहते हैं। (२३) **खिल्लहड**— खिलोडजी या खिल्लह नामक

कंद है । (२४) अमृतवेल— एक प्रकार की जल्दी बढ़नेवाली वेल लता विशेष है । (२५) भूमिफोडा— बारीश में छत्री के आकार के उगते हैं । जिसे गुजराती में 'बिलाडी ना टोप' भी कहते हैं । (२६) विरुद्ध (अंकुर) - चने—मूंग—उडीद आदि जब ठंडे पानी में घंटों भिगोकर रखे जाते हैं तो उनमें से सफेद अंकुर निकलते हैं वे अनन्तकाय हैं । (अतः ठंडे पानी में भिगोकर रखे हुए अंकुरे फूटे हुए कठोल न खाएं) (२७) ढक्क वस्तुला की भाजी, (२८) शूकरवल्ली— जंगल में उगती एक जात की वेल—लताविशेष है । (२९) पालक की भाजी— जिसे पल्लक पल्यंक भी कहते हैं । यह पालक की भाजी अनन्तकाय है । (३०) कोमल ईमली— जिसमें बीज न बने हो ऐसी कोमल ईमली । (३१) आलु— बटाटे, (३२) पिंडालु— (डुंगली) कांदा या प्याज भी कहते हैं ।

उपरोक्त ३२ प्रकार के अनन्तकाय की जातियाँ जो साधारण वनस्पतिकाय के नाम से प्रसिद्ध हैं । जिसके कण कण में अनन्त जीव हैं । अतः इन ३२ का सर्वथा त्याग करने से अनन्तकाय का त्याग करना ही हितावह है । (इन नामों के समानान्तर देश—देश एवं अपनी भाषा में प्रसिद्ध नामों से इन्हे समझें ।)

**भोग संबंधी ५ अतिचारों का त्याग करें—**

**सच्चित्ते पडिबद्धे, अप्पोलि दुप्पोलि अ आहारें ।**

**तुच्छोसहि भक्खणया, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ॥**

- १ सचित्त आहार— सचित्त = सजीव—जीवयुक्त वस्तु खानी यह अतिचार है ।
- २ सचित्त प्रतिबद्ध आहार— अचित्त बनाने पर भी दो घड़ी के अंदर खा ले या सचित्त बीजादि मिश्रित वस्तु खाएँ तो दोष है ।
- ३ अपक्व आहार— जो बराबर पूरा पका नहीं है । कच्चा है ।
- ४ दुष्पक्व आहार— अर्धपक्व, अधूरे भुंजे हुए, न पके हुए कच्चे फलादि ।
- ५ तुच्छौषधि भक्षण— जिसमें खाना कम और झूठा ही फेंकना ज्यादा हो ऐसी तुच्छ वस्तुएँ, खाने से यह अतिचार लगता है । बेर, जामुन आदि ।

सचित्त के त्यागी को उपरोक्त ५ अतिचार (दोष) लगते हैं । और सचित्त के परिमाणवाले को नियम के अतिरिक्त खाने से दोष लगता है । ये भोग संबंधी ५ अतिचार हुए ।

## १४ नियम धारणा की समझ

सचित्त—द्रव्य विगड़ तंबोल वत्थ कुसुमेसु ।

वाहण—सयण—विलेवण—बंध दिसि न्हाण भत्तेसु ॥

इस श्लोक में १४ वस्तुएँ गिनाई हैं । इन १४ वस्तुओं की धारणा प्रतिदिन करनी चाहिए । यह धारणा संख्या में, वजन में, तथा लंबाई आदि के रूप में करते हैं । जो वस्तु सर्वथा नहीं वापरनी हो उसका त्याग करें, और जो वापरनी है उसका प्रमाण धारें । और फिर रोज का पच्चक्खाण करें ।

- १ सचित्त—सजीव फल—फूल तरकारियाँ आदि सचित्तों का प्रमाण (संख्या में तथा वजन में धारण करना चाहिए । आज सिर्फ ये ही २, ४, ५ सचित्त वस्तु इतने प्रमाण में वापरनी अन्य का त्याग ।
- २ द्रव्य—द्रव्य दिन में जितनी वस्तु मुँह में डालते हैं, खाते हैं उन द्रव्यों की संख्या धारना । पानी दूध आदि द्रव्य... आज मैं इतनी संख्या (४, ५, ७) में ही वापरूँगा । ज्यादा नहीं ।
- ३ विगई—मध मांस—मदिरा और मक्खन इन ४ महा विगईयों का तो आजीवन त्याग ही करना है । परन्तु घी, दूध, दही, तेल, मिठाई, तथा तली हुई इन ६ सामान्य विगईयों में से आज मुझे कितनी (२—३) खानी है और (३—४) कितनी त्याग करनी है वह धारना । इन ६ विगईओं में से प्रतिदिन क्रमशः २—४ त्याग रखें ।
- ४ वाणह—(उपानह)—बूट—चप्पल, स्लीपर—सैंडल—मोजे आदि की मर्यादा निश्चित करनी । कि आज १ ही पहनूँगा । दूसरा नहीं ।
- ५ तंबोल—पान—सुपारी, इलायची, तज—लविंग, घाने की दाल तथा सोंफ आदि दिन में १ बार ही, या २ बार ही खाऊँगा, या बिल्कुल ही नहीं खाऊँगा । इस तरह संख्या में प्रमाण करें ।
- ६ वत्थ—दिन में रात्रि में पहनने ओढ़ने आदि के कपड़ों की जोड़ी की संख्या की मर्यादा बांधना कि मैं आज दिन में तथा रात में इन १ (२ या ४) कपड़ों से अधिक नहीं पहनूँगा ।
- ७ कुसुम—फूल सूँघने या वापरने हेतु पुष्पादि तथा आदि से सौंदर्य प्रसाधन के स्नो—क्रीम—पाउडर कंकु आदि लेना । इसका उपयोग करना या न करना या, १—२ बार करना यह धारें । वह भी प्रमाण में ।

- ८ वाहन— मुसाफरी में यहाँ से वहाँ जाने आने में गाड़ी—मोटर आदि का उपयोग करना, या न करना, या १—२ बार ही करना यह धारना । फिरते यान, गाड़ी मोटर—बस, रेलवे, प्लेन (विमान) आदि । चलते—में घोड़ा, ऊँट, हाथी, बैल आदि । तथा तैरते वाहन में स्टीमर—लौच, बोट, नौका आदि की मर्यादा रखना ।
- ९ शयन— सोने के लिए खाट—पलंग, गादी—बिस्तर आदि तथा बैठने आदि के लिए कुर्सी, टेबल, सोफा आदि फर्नीचर की मर्यादा रखनी । सोने—बैठने के संबंधी वापरने योग्य वस्तुओं की संख्या धारना ।
- १० विलेपन— शरीर पर लगाने के लिए तेल, चंदन, अत्तर, सेन्ट, स्त्रे, तथा पीठि आदि विलेपन योग्य पदार्थों की मर्यादा या त्याग करना ।
- ११ ब्रह्मचर्य— सर्वथा मैथुन सेवन न करना । दिन में न करना । आज पर्वतिथि है यह याद करके त्याग करना आदि ।
- १२ दिशि—दिशा—दशो दिशाओं में या अमुक दिशाओं में जाने का त्याग और अमुक दिशाओं में आज ४ . . . . ५ माइल जाना पड़ेगा ऐसी मर्यादा निश्चित करना ।
- १३ स्नान—दिनगत—रात्रिगत स्नान करूँगा तो १ या २ बार या नहीं करूँगा, यह संख्या निश्चित करनी ।
- १४ भक्त भोजन— आज दिनमें १ बार या २ बार ही इतने.....(प्रमाण.....) में भोजन लूँगा । अधिक सबका आज के दिन त्याग ।

उपरोक्त १४ नियमों की धारणा प्रतिदिन करनी चाहिए साथ में षट्काय—६ काय के नियम भी धारते हैं । —

- १ पृथ्वीकाय— कच्ची मिट्टि, निमक, चूना, सूरमा, क्षार, पत्थर, आदि आज इतना . . . इस्तेमाल करना, या वजन में इतना वापरना । अन्य सबका आज के दिन त्याग ।
- २ अप्काय— पानी—पीने—नहाने वापरने आदि कार्य में आज के दिन सिर्फ २, या १०, या २० या अमुक लिटर ही पानी वापरूँगा । अन्य सबका त्याग ।
- ३ तेउकाय— अग्निकायिक जीवों की विराधना मैं आज के दिन, २—४ लाइटें, जलते कोसले, गेस, दीपक इतने ही वापरूँगा . . . . अन्य सभी का त्याग ।
- ४ वायुकाय— वायुकायिक—जीवों की विराधना कम हो इसलिए आज पंखा, एयर कंडीशनर, झूला आदि का मैं १—२ या ४ बार ही उपयोग करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा ।

- ५ वनस्पतिकाय— आज दिन में मेरे लिए ० । या ० ॥ कितो ही सिर्फ या ये ये ...  
 दो चार नामवाली ही आज वह भी इतनी ही (..... वजन में) वापरूँगा । अन्य  
 सर्व का त्याग ।
- ६ त्रसकाय— २, ३, और ४ इन्द्रियवाले जीव जन्तु तथा पंचेन्द्रिय छोटे—बड़े किसी  
 भी जीव को मैं जान बूझकर आज न मारने की प्रतिज्ञा करता हूँ । जयणा—उपयोग  
 रखूँगा ।

इस तरह उपरोक्त १४ नियम + ६ (षट्) काय का प्रतिदिन—रात त्याग करना, प्रमाण  
 की मर्यादा बाँधना आदि की धारणा करनी चाहिए । जिससे श्रावक अच्छा उपयोगवंत,  
 जयणा वाला आराधक बन सके । और कई अमाप निरर्थक जीव हिंसा आदि पापों से बच  
 सके ।

त्याग करना हो वहाँ x निशानी करें, कितना वापरना ? प्रमाण..... संख्या में या  
 वजन में लिखें और उस धारणा के बाद कितना वापरा है यह लिखें । और धारणा में कितने  
 बचे उसका लाभ रहा । तथा जयणा के खाने में छूट लिखें इस तरह कोष्टक के आधार पर  
 ५—१० बार करने से आदत बन जाएगी । सीख जाएँगे । फिर रोज धारते जाएँ ।

## १५ कर्मादान

इंगाली-वणसाडी-भाडी-फोडीसुकज्जए कम्मं ।  
 वाणिज्जं चेव य दंतं, लक्खरस केस विस विसयं ॥  
 एवं खु जंत पीलण-कम्मं नित्तलंछणं च दवदाणं ।  
 सर दह तलाय सोसं, असई पोसं च वज्जिज्जा ॥

१ इंगाल कर्म (अंगार कर्म) — जो व्यापार विशेषरूप से अग्नि के आधार पर  
 होते हैं, जैसे—कोयले बनाना, भट्टी जलानी, ईट के निभाड़े जलाना, लुहारी तथा सोनी का  
 व्यापार न करें ।

२ वन कर्म— जंगल काटने का ठेका लेना, वृक्ष काटना, कई संख्या में वृक्ष उखेड़ना,  
 बुलडोझर चलाना, फल—फूल, पत्तियाँ, तने शाखा काष्ठ, बाग—बगीचे—वाडी आदि  
 काटना, तोड़ना, नष्ट करना आदि वन कर्म का व्यापार नहीं करना ।

३ शकट कर्म— गाड़ा—गाडी, बैलगाडी, घोड़ा गाडी, ऊँट—गाडी आदि बनाना,  
 बनवाना, बेचना आदि तथा गाडी—मोटर के कारखाने चलाना आदि व्यापार न करना ।

**४ भाडी-भाटक कर्म**— घोडागाडी, बैलगाडी, ऊँटगाडी, ट्रक, ट्रैक्टर आदि किराए पर भाडे देने का कार्य भी न करें ।

**५ स्फोटक कर्म**— क्षेत्र, कुँए बनाना, बावडी, तालाब खुदवाना, नहर बनवाना, बाँध बनवाना, आदि में सुरंग फोडना, बड़ा विस्फोट करना, खानें खुदवाना आदि व्यापार वर्ज्य हैं । जमीन खोदनी, हल चलाना, खोदना, तोडना आदि कर्म न करें । कर्मादान में ये ५ कर्म कर्मादान हैं ।

#### ५ वाणिज्य—

**१ दंत वाणिज्य**— दांतों का व्यापारादि न करना, हाथीदांत, पशु के दांत, सिंग, जानवरों के नाखून, पक्षियों के पंख, मोर पिच्छ, गाय-बैल-भैंस के चमड़े का तथा छिप, मोती, कस्तुरी, गोरोचन, अंबर आदि पशु जन्य वस्तुओं का व्यापार नहीं करना चाहिए ।

**२ लक्ष वाणिज्य**— लाख धावडी, नील, मनशील, हरताल, रोगान राल, आदि पदार्थ बनाने का व्यापार न करना ।

**३ रस वाणिज्य**— मध (शहद), मदिरा (शराब), मांस, मक्खन, घी, दूध, दही, तेल, गुड आदि वस्तुएँ बनाने-बेचने का व्यापार न करना । तथा घासतेल, पेट्रोल आदि का व्यापार न करना ।

**४ विष वाणिज्य**— सोमल, अफीम, मोरथुथा, वच्छनाग आदि प्राणीज विष, खनिज विष तथा औषधीय विष, कृत्रिम बनाया हुआ विष, तथा विषैली औषधियाँ फलीट आदि कीटाणु नाशक दवाइयाँ तथा गेस आदि बनाने-बेचने के व्यापार नहीं करना ।

**५ केश वाणिज्य**— पशु-पक्षियों के बाल, रेशे रोम निकालना, उखाडना, चमरी गाय के बाल उखाडना, बालों के ब्रश आदि बनाना, स्त्री-पुरुषों के बाल आदि इकट्ठे करना, विग बनाना, बेचना, ऊन आदि का व्यापार न करना ।

ये पाँच प्रकार के व्यापार श्रावक के लिए वर्ज्य हैं ।

#### ५ सामान्य कर्म—

**१ यंत्र पीलन कर्म**— यंत्र, संचे, घंटी, घाणी-मशीनों के द्वारा तेल, रस निकालना, ईख, तिल, एरंडी, अलसी आदि को पीलना, तेल निकालने आदि में हिंसा का प्रमाण ज्यादा है, अतः यंत्र-मशीनें सतत चलाने का व्यापार न करें । मीले न चलाएँ ।

२ निर्लाछन कर्म— गाय के गले की पोली (चमड़ी) काटना, पशुओं के कान छेदना, या पशुओं को नपुंसक करना, अंगोपांग छेदन—भेदन, आदि निर्लाछन कर्म का व्यापार न करना ।

३ दव दाह— जंगल जलाना, पहाड़ों पर, खेतों में आग लगाने का कर्म दवदाह कहलाता है । यह सर्वथा वर्ज्य है ।

४ सर—द्रव तडाग—शोषण कर्म— सरोवर, तालाब, कुँए, बावड़ी, नहर आदि के पानी को सर्वथा सुखाना, निकालना, पानी का शोषण करना आदि शोषण कर्म न करना । असंख्य पंचेन्द्रिय मछलियाँ आदि मरे, हिंसा हो यह महापाप न करना ।

५ असती पोषण— क्रीडा आनन्द प्रमोद के लिए कुत्ते, बेल, सांड, बिल्ले, बाघ, मेना, मुर्गे आदि लडाना, भिडाना, धन कमाने हेतु से दासी नपुंसक, वेश्या आदि को पोषण, असती आदि का पोषण करना यह असती पोषण कर्म है ।

इस प्रकार से व्रती श्रावक को ५ कर्मादान, ५ वाणिज्य, और ५ सामान्य कर्म १५ कर्मादान सर्वथा त्याज्य—वर्ज्य है । अनेक जीवहिंसा आदि महापाप का व्यापारादि न करना, न कराना ।

### इस व्रत में धारने योग्य नियम

- १ सात व्यसनों का त्याग करना ।
- २ पर्वतिथि के दिन हरी वनस्पति (लीलोतरी) का त्याग करना ।
- ३ आद्रा नक्षत्र के बाद आम (केरी) का त्याग करना ।
- ४ कच्चे दूध—दही के साथ कठोल एवं कठोल के पदार्थ द्विदल रूप में न खाना । दही गरम करके भोजन के साथ लेना ।
- ५ आज का भोजन कल के लिए रखकर वासी न खाना ।
- ६ मधु मक्खन आदि न खाना ।
- ७ किसी भी प्रकार की मदिरा शराब—दारू देशी या विदेशी का सर्वथा त्याग करें ।
- ८ मांस एवं मांस से निर्मित मांसाहार की वानगीओं का भी सर्वथा त्याग करें ।



- ९ मांसाहारी होटल में न जावें ।
- १० मांसाहारी मित्र न रखें ।
- ११ अंडे एवं अंडे से निर्मित सभी पदार्थों का त्याग करें ।
- १२ प्राणीजन्य पदार्थों का त्याग करें ।
- १३ प्राणी हिंसा से निर्मित सौंदर्य प्रसाधन के साधनों का सर्वथा त्याग करना ।
- १४ प्राणीज औषधियों (दवाइयों) का त्याग करें ।
- १५ अनन्तकाय—कन्दमूल का सर्वथा त्याग करना ।
- १६ २२ अभक्ष्य का त्याग करना ।
- १७ रात्रि भोजन का त्याग करना ।
- १८ किसी प्रकार का विष (जहर) कभी भी न लेवें ।
- १९ तुच्छ फल, अन्जाने फल आदि का सेवन न करना ।
- २० ब्रेड (पांव या डबल रोटी) बटर का त्याग करना ।
- २१ पर्व तिथि को यथाशक्ति छोटा—बड़ा तप करना ।
- २२ १५ प्रकार के कर्मादान का त्याग करना ।
- २३ प्रतिदिन—रात १४ नियम की धारणा करना ।
- २४ पोंख—पापड़ी न खाना
- २५ प्रतिदिन कम से कम सुबह नवकारशी तथा शाम को चोविहार या तिविहार का पञ्चवखाण अवश्य करना ।
- २६ आषाढ चातुर्मास में पाला, घनिया—कोथमीर—सूका मेवा (बादाम के सिवाय) का त्याग करें ।
- २७ घी, तेल, गुड आदि के बर्तन खुल्ले न रखना ।
- २८ आषाढ चातुर्मास में या हमेशा उबाला हुआ गरम पानी पीना ।
- २९ वृक्ष के फल—फूल—पत्ते—शाखा आदि न तोड़ना ।
- ३० सेन्ट, अत्तर, क्रीम, स्नो, पाउडर, स्त्रे आदि प्राणीज मिश्रित पदार्थ आदि न वापरना ।

३१ वापरने के वस्त्रादि की मर्यादा रखना ।

३२ पर्व तिथि आदि को ब्रह्मचर्य पालना । स्व स्त्री में मर्यादा रखना ।

३३ भोजन में वापरने की वस्तु की मर्यादा रखें । परिमित संख्या एवं प्रमाण में वापरना ।

**इस व्रत के ५ अतिचार**

सच्चित्ते पडिबद्धे, अप्पोलि-दुप्पोलिअं च आहारे ।

तुच्छोसहि भवखणया, पडिबक्कमे देवसिअं सव्वं ॥

१ सचित्त (सजीव) वस्तु खानी, २ सचित्त के साथ मिश्रित या लगी हुई सचित्त प्रतिबद्ध आहार लेना, ३ अपक्व (अर्द्ध कच्चे) आहार खाना, ४ खराब तरीके से पकाई हुई (मिश्रित) वस्तु खानी, ५ कम खाया जाय और ज्यादा फेंका जाय ऐसे तुच्छ बेर ईख दाड़िम आदि तुच्छौषधि का त्याग करना ।

**जयणा—** १४ नियम धारने में सचित्त द्रव्यादि की संख्या प्रमाण आदि धारने में यदि विस्मृति आदि अनुपयोग दशा में कोई भूल हो जाय तो उसमें जयणा । जिस नियम में जो जयणा जितनी रखनी हो वह पहले से रखकर ही पचवक्खाण लेवें । अन्जान में सचित्तादि जीभ पर रख कर चख लिया उसकी जयणा । पर्व तिथि का ख्याल न रहा और नियम भूल गए तो दूसरे दिन कर लेना । अन्जान में भूल से वर्ज्य पदार्थ खाने में आया और जीभ पर आते ही ख्याल आ जाने से थूक देना । आगे सब नहीं खाना । और गुरु महाराज से प्रायश्चित्त लें लेना । इत्यादि जयणा रखते हुए आराधक भाव जरूर बनाए रखना चाहिए ।

**ध्येय—** अनन्त संसार की अनन्त भव परंपरा अनन्त जन्मों में जीव अनन्त पदार्थों का भोग और उपभोग कर लिया है । अब कोई पदार्थ जीव के लिए भोगना शेष नहीं बचा है । अब जो भी पदार्थ भोग रहे हैं वह झूठ खाने, या वमन करने के बाद पुनः खाने के जैसी बात है । और भोग उपभोग यह तो अनन्त तृष्णा की भयंकर आग है । इसमें जितना ही घी डालो सब स्वाहा होता जाएगा । तृष्णा की तृप्ति बड़ी कठिन है 'भोगाः न भुंक्ता वयमेव भुंक्ता' भोग नहीं भोगे गए हमारा ही भोग लग गया । हम ही भोगे गए अतः भोग का त्याग ही श्रेष्ठ है । एक दो सामान्य पदार्थ या भोग आत्मा की गती न बिगाड़ दे महापाप कराके नरक में न फेंक दें । अतः भोगोपभोग परिमाण व्रत इस ध्येय से आवश्यक है ।

## आठवाँ - अनर्थदंड विरमण व्रत— (तीसरा गुणव्रत)

शरीराद्यर्थं दण्डस्य, प्रतिपक्ष तथा स्थितः ।

योऽनर्थं दण्डस्तत्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम् ॥

—शरीरादि के हेतु से जो प्रवृत्ति की उसके दण्ड के रूप में प्रतिपक्षी स्थित है । वह जो अनर्थ अर्थात् निरर्थक दण्ड है उसका त्याग करने रूप यह तीसरा गुणव्रत अनर्थदंड विरमण व्रत है । शरीरादि में आदि पद से यहाँ शरीर क्षेत्र (जगह—जमीन) घर, दुकान, तथा धन—धान्य, कुटुम्ब—परिवार, नोकर—चाकर, पशु—पक्षी आदि जीवन निर्वाहोपयोगी साधनों से बिना कारण के निष्प्रयोजन जो पाप किया जाता है वह अनर्थकारी निरर्थक पाप है । उसके दंड के रूप में होने से अनर्थदंड कहा जाता है । और ऐसी अनर्थकारी निरर्थक पाप की प्रवृत्ति का त्याग करने रूप जो पञ्चवस्त्राण लिया जाय वह अनर्थदंड विरमण व्रत कहलाता है । अर्थात् निष्प्रयोजन निरर्थक पापों का त्याग ! अर्थ का मतलब है प्रयोजन — सकारण । ऐसे अर्थ में लगा पाप अर्थ दंड कहलाएगा । यह अर्थ ४ प्रकार से है— (१) स्वजन (२) शरीर (३) धर्म और (४) व्यवहारादिक का आश्रय ये ४ अर्थ दंड है । मनुष्य जिस कारण से, जिस हेतु से जो ज्यादा प्रवृत्ति करता है वे अपने सगे संबंधि, अपने शरीर की प्रवृत्ति, धर्म और लोक व्यवहार की प्रवृत्ति का मनुष्य के जीवन में ज्यादा उपयोग है । यह प्रवृत्ति सप्रयोजन सहेतुक सार्थक है । लेकिन इसमें विपरीत प्रवृत्ति निरर्थक निष्प्रयोजन है । उसे अनर्थकारी, अनर्थदंड की प्रवृत्ति कहते हैं । यह पाप प्रवृत्ति हुई । अतः ज्ञानिओं ने इसका त्याग करने के लिए व्रत क्रम में आठवाँ और गुणव्रतों में तीसरा अनर्थदंड विरमण व्रत नामक व्रत बताया है ।

अनर्थदण्ड के मूल ४ प्रकार और उपभेद ११

अपध्यान

पापोपदेश

हिंस्रप्रदान

प्रभादाचरण

अशुभ ध्यान

आर्तध्यान ४ रौद्रध्यान ४

आर्त का अर्थ है दुःख पीड़ा, और ध्यान का अर्थ यहाँ पर विचार है । दुःख पीड़ा से छूटने का सतत विचार करना अर्थात् सीधे शब्दों में चिन्ता करना यह आर्तध्यान कहलाता है । इसके ४ भेद हैं । १ अनिष्ट वियोग— मुझे जो नहीं चाहिए, जो मुझे अप्रिय है ऐसे मिले हुए पदार्थ छूट जाएं, और भावि में न मिले ऐसी चिन्ता यह अनिष्ट वियोग है । साथ ही इष्ट का वियोग भी न हो जाय यह चिन्ता है । २ इष्ट संयोग— मुझे जो प्रिय—पसंद है

ऐसे पदार्थ या भोगों का संबंध सतत बना ही रहे हमेशा मिलता ही रहे । जो है वह न छूटे ऐसी सतत इच्छा यह भी चिन्ता—आर्तध्यान है । ३ रोगादि वियोग—रोग टलने की सतत चिन्ता में हाय..... हाय करना । ४ निदानाध्यवसाय (नियाणा) — दैवी भोग सामग्री, चक्रवर्ती की ऋद्धि—सिद्धि आदि तथा पति राग या द्वेष में किसी की प्राप्ति की प्रबल इच्छा से नियाणा बाँधना यह भी आर्तध्यान है । रौद्रध्यान— ५ हिंसानुबंधी— जिसके उपर द्वेष हो या अपनी वस्तु ली हो इत्यादि कारणवश किसी को मारने की क्रूर हिंसक वृत्ति की विचारधारा । ६ मृषानुबंधी— किसी पर कलंक लगाना, आरोप लगाना, चुगली करना । गाली देना आदि हिंसा हो ऐसी उत्तेजक भाषा में झूठ बोलना आदि । ७ स्तेयानुबंधी— चोरी करने की इच्छा रखनी । चोरी में किसी को मारना पड़े तो मारने की इच्छा रखनी यह । ८ विषय संरक्षणानुबंधी (परिग्रहानुबंधी) — धन के रक्षण के लिए किसी पर विश्वास न आने से पर के प्रति “वे भर जाय तो अच्छा” ऐसी दुष्ट खराब विचारधारा यह । अशुभ या अपध्यान के आर्तरौद्रध्यान के ये ८ भेद हैं । निरर्थक अनर्थकारी विचारों से जो पापकर्म का बंध होता है वह अनर्थ दंड है ।

९ पापोपदेश— बैल—घोड़े की खसी करो, जमीन खोदो, शत्रुओं को मारो, युद्ध करो, मशीनें चलाओ, शस्त्रादि बनाओ, नकली रुपए छापो, इत्यादि कार्यों में बिना प्रयोजन के भी किसी को प्रेरणा करें, सलाह दें आदि पापोपदेश हैं ।

१० हिंस्रप्रदान— हिंसा के कारणभूत या इसमें अंग भूत ऐसे शस्त्र, अग्नि, घंटी, मशीन, मंत्र, मूल जड़ी बूटी दवाई, इत्यादि पापारंभ हिंसा कारक वस्तु रखना, लेना, देना, आदि हिंस्रप्रदान ।

११ प्रमादाचरण— स्नान, मर्दन, तैल मालिश, शोभा सुश्रुषा, विलेपन करना, देह शोभा, वैषयिक भोगों में मस्त रहे इत्यादि प्रमादाचरण का ही सेवन करते रहना, और आत्म कल्याणार्थ कुछ भी न करते हुए पर प्रपंच में निंदा कुशली में ही बैठे रहना खेल कूद में ही मस्त रहना, या समय पसार के लिए पत्ते खेलना आदि करना यह भी प्रमादाचरण है । ४ विकथा का त्याग करना— १ स्त्री कथा, २ भक्त—भोजन की चर्चा, ३ देश कथा, ४ राज कथा— में राज कारण की चर्चा इत्यादि ये चारों निरर्थक पाप कर्म बंधानेवाले होने से अनर्थकारी हैं । पशु—पक्षी लडाना, नाटक—सिनेमा—सर्कस आदि में भटकना यह सब अनर्थदंड हैं । इनसे बचना यह अनर्थदंड विरमण नामक ८ वां और तीसरा गुणव्रत है ।

## इस व्रत योग्य छोटे-छोटे नियम

- १ जुगार, शिकार, मांसाहार का सेवन, मदिरा (शराब) पीना, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, चोरी करना आदि सात व्यसनों का त्याग करना ।
- २ मटका, सट्टा, आंकड़ा, फिचर, जुगार, या पैसे से पत्ते खेलना आदि का त्याग करना ।
- ३ लोटरी लेना, खरीदना, जुआ आदि का त्याग करना ।
- ४ विकथा न करने के पञ्चक्खाण करना ।
- ५ नाटक, सिनेमा, सर्कस, टी.वी. पर पिक्चर, वीडियो फिल्म आदि न देखना । देश-विदेशों में घूमने-फिरने देखने न जाना ।
- ६ कुंभ स्नान, गंगा स्नान, नदी, सरोवर तथा समुद्र स्नान न करना ।
- ७ कुत्ते, साँढ, बैल, पाडे, हाथी आदि न लडाना, और तमाशा देखना नहीं ।
- ८ सिंहादि के लिए भक्ष्य प्राणी को भेजकर उसके खाने-मारने के तमाशे को न देखना न करना ।
- ९ किसी अपराधी को पोलीस मारती हो, किसी को फाँसी दी जाती हो तो देखना नहीं ।
- १० राजकारण की निरर्थक चर्चाओं में भाग न लेना ।
- ११ भोजनादि में खाने-पीने में शर्त न लगाना ।
- १२ देव-गुरु-धर्म के सोगन न खाना । गाली-गलौच न करना ।
- १३ पक्षी पालना-या कुत्ते आदि पालने का शोक न रखना ।
- १४ बंदुक, पिस्तोल, तलवार आदि शस्त्र बनाना नहीं, रखना नहीं, चलाना नहीं ।
- १५ हल, कोदाली, कुल्हाड़ी, दातरी तथा तलवार, भाला, धनुष्यादि भी बनाना-रखना-चलाना नहीं ।
- १६ कामोत्तेजक कामवर्धक बातें न करनी, वैसे प्रयोग न करना ।
- १७ अश्लील, बीभत्स, गंदा साहित्य न पढ़ना ।
- १८ राजकारण में, खेल कूद या चुनावदि में शर्त न लगाना ।
- १९ पत्ते, चेस, शतरंज आदि पैसे से या सादे भी न खेलना ।
- २० सत्य-तथ्य न हो ऐसी व्यर्थ निंदा-कुथली न करना ।
- २१ जिन मंदिर की ८४ आशातना से बचना ।

- २२ नारदीवृत्ति से झूठी सलाह देकर या चढ़ाकर किसी को लडाना नहीं ।  
 २३ घोड़े या जानवर मनुष्यों की रेस की योजना न करना, खेल न करना या पैसा लगाना नहीं, सिनेमा के गीतों में, संगीत में व्यर्थ समय न बिगाड़ना ।  
 २४ हँसी—मजाक, विनोद—गप्पे, कव्वाली, या गजलों में रस न लेना ।  
 २५ मल्लयुद्ध, लडाई, कुश्ती, बोक्सींग, फाइटिंग, फ्री स्टाइल कराटे न करना, न देखना ।

### आठवें व्रत के ५ अतिचार

कंदर्पे कुक्कुड़ए मोहरि अहिगरण भोग अइरिते ।

दंडमि अणट्टाए तइअंमि गुणव्वए न्दि ॥

- १ कंदर्प— काम (विषय—भोग), स्व या पर के लिए कामोत्तेजक भाषा, संकेतादि अतिचार रूप है ।
- २ कोकुच्यातिचार— अंभोपांग की विकार प्रेरक चेष्टाएँ करनी, स्व—पर के विकार जागृत हो, वासना भड़के ऐसे प्रयोग चेष्टाएँ ।
- ३ मुखरता— गाली—गलोच की गंदी भाषा बोलना, पापोपदेश करना, अतिवाचालता रखनी यह सब अतिचार है ।
- ४ संयुक्ताधिकरण— बंदुक में गोली डालनी, कुल्हाड़ी में हाथ डालना, आदि शस्त्रादि अधिकरण का त्याग करना चाहिए । अपने को चाहिए उससे ज्यादा अधिकरण रखना नहीं चाहिए ।
- ५ भोगातिरिक्त अतिचार—जरूरियात से ज्यादा भोग—उपभोग योग्य वस्तुओं का संग्रह तथा उपयोग यह अतिचार है ।

उपरोक्त पाँचो अतिचार—दोषों को जानकर उससे बचना चाहिए ।

जयणा— जल्दबाजी में उपयोग न रहने से, नियम याद न आने से कोई भूल हो जाय, कोई दोष लग जाय तो जयणा । नाटक सिनेमा आदि सहेतुक नहीं देखना परन्तु भूल में जयणा या अनिच्छा से दुःख पूर्वक पति के साथ जाना पडा तो जयणा इत्यादि सामान्य रूप से भूल में जयणा ।

ध्येय— आत्मा को धर्म सन्मुख लानी है । अध्यात्म योग पर अग्रसर होना है । निरर्थक पाप कर्मों से बचना है, जीवन विरक्त—वैरागी बनाना है । आत्मा को पापभीरु बनानी है । और अनेक पापों से बचने का, नए पाप कर्म न लगे ऐसे हेतु से बचने के शुभ हेतु से, आत्म कल्याण के ध्येय से इस व्रत का पालन करना यह उचित है ।

## नौवाँ सामायिक व्रत— (प्रथम शिक्षाव्रत)

सावद्य कर्मपक्तस्य, दुर्ध्यानरहितस्य च ।

समभावो मुहूर्तं तद् व्रतं सामायिकाह्वयम् ॥

देशविरती धर्म में श्रावक जीवन योग्य १२ व्रतों में ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत के बाद ४ शिक्षाव्रतों की संयोजना है । शिक्षाव्रत का विभाग यहाँ से शुरू होता है । ४ शिक्षाव्रतों में प्रथम (बारह व्रतों में नौवाँ) सामायिक व्रत है । छः जीवनिकाय की विराधना आदि रूप सावद्य पाप प्रवृत्ति—अविरति से बचकर, पच्चक्खाण करके निरवद्य—निष्पाप—विरति की प्रवृत्ति में आना, तथा दुर्ध्यान—आर्त—रौद्रध्यान आदि छोड़कर समभाव की समता में आना यह सामायिक व्रत है । “करेमि भंते” के पाठपूर्वक सामायिक व्रत है ।

**सामायिक व्रत का नियम—**(१) प्रतिदिन नियमित अखंड रूप से सुबह, शाम, रात में या दिन भर में रोज की १, २, ३, ४, या ५, या १० सामायिक करनी । २ या एक सप्ताह में कुल मिलाकर १५, २० या २५ सामायिक करनी । ३ या १ महिने में कुल मिलाकर १००, १२५ सामायिक करनी । ४ या एक वर्ष में कुल मिलाकर ५०० या १००० सामायिक करनी । इत्यादि रूप से जिस प्रकार से आप संख्या धारना चाहें उस प्रकार से धारणा कर सकते हैं । प्रतिदिन की संख्या धारना आसान है । जिससे भूल न हो । और लिख लें, या सप्ताह के माध्यम से भी धारें । जैसी आपकी इच्छा ।

### सामायिक व्रत के ५ अतिचार—

तिविहे दुष्पणिहाणे अणवट्टाणे तद्वा सइ विहूणे ।

सामाइअ वितहकए पढमे सिक्खावए निदे ॥

- १ मनोदुष्पणिधान— सामायिक में आर्त—रौद्र ध्यान करना, चिंता करनी, कुविकल्प विचारना, दुष्पणिधान पूर्वक करना ।
- २ वचन दुष्पणिधान— सामायिक में सावद्य हिंसा हो ऐसा प्रेरक वचन बोलना, कर्कश वचन बोलना, गाली गसोच करना, या अपशब्द बोलना, कलह करना आदि ।
- ३ काय दुष्पणिधान— सामायिक में नींद लेनी—सोना, लम्बे पैर करके या दीवाल के सहारे से आराम से बैठना, घूमना, फिरना, चलना । आदि काया की हलन—चलन यह अतिचार है ।

४ अनवस्थान—पूरी ४८ मिनट न होने पर भी पारना, दो घड़ी पूरी न होने देना किसी कदर पूरी करना, निर्धारित समय पर न करना, फिर कर लूँगा, बाद में कर लूँगा आदि प्रमाद सेवन इत्यादि अतिचार है ।

५ स्मृतिहीनता—घर दुकान आदि की कार्य व्यग्रता से भूल जाना कि मैंने सामायिक की है ? या नहीं की है ? सामायिक लेने का समय भूल जाना, आदि उपरोक्त पाँच अतिचारों को जानकर उन दोषों से बचना । सामायिक में घर संसार की निरर्थक बातें न करना । इसी तरह १० मन के १० वचन के १२ काया के ऐसे ३२-दोषों से बचने का संकल्प रखना चाहिए । समय तथा नियम होते हुए भी सामायिक न करना, प्रमाद करना, तथा सामायिक में ४ विकथा करनी, आदि अतिचार है । स्त्री आदि के संघट्टे से बचना । चरवला मुहपत्ति—कटासना आदि उपकरण पूरे शुद्ध न रखना । इस तरह अतिचारों से बचते हुए शुद्ध सामायिक करना ।

जयणा—अशक्ति रोगग्रस्तता तथा मुसाफरी आदि के कारण सामायिक न हो तो जयणा । आज करनी भूल जाय तो जयणा, परन्तु आगे—डबल करके नियम पूरा करना । आवश्यक कारण—निमित्तवश जयणा ।

ध्येय—आत्मा समभाव—समता में रहे यह ध्येय रखें । राग—द्वेष कम हो इस ध्येय से करें । अशुभ कर्मों का आश्रय न हो, पुराने कर्मों की निर्जरा हो आत्मा संसार से विरक्त होकर स्वभावदशा में लीन हो, आत्मा साधु तुल्य बनें इस ध्येय से सामायिक करें ।

## दसवाँ देशावकाशिक व्रत— (द्वितीय शिक्षाव्रत)

संक्षेपणं गृहीतस्य, परिमाणस्य दिग्ब्रते ।

यत् स्वल्पकालं तद् ज्ञेयं, व्रतं देशावकाशिकम् ॥ ( धर्म संग्रह )

देसावगासिअं पुण्, दिसिपरिमाणस्य निच्च संखेवो ।

अहवा सव्ववयाणं, संखेवो पइदिणं जो उ ॥ (संबोध प्रकरण)

दिग्ब्रते परिमाणं यत् तस्य संक्षेपणं पुनः ।

दिने रात्रौ च देशावकाशिक व्रतमुच्यते ॥ (योगशास्त्र)

धर्म संग्रह के (१ ला) श्लोक, संबोध प्रकरण के (२ रे) तथा हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र के (३ रे) श्लोक में देशावकाशिक व्रत का स्वरूप बताया है वह इस प्रकार है । पहले जो छट्ठा दिग्परिमाण (दिशा के प्रमाण) का व्रत लिया है । उसमें आजीवन काल के लिए दशों दिशा में जाने को, या भिन्न—भिन्न देशों में, विदेशों में जाने की जो छूट रखी



थी, वह देशों के नाम की हो या, १०००, ५०००, माइलों की संख्या में हो उनका इस दसवें व्रत से संक्षेप करने के लिए कहा है। यद्यपि (अमरीका, जपान आदि) देशों में जाने की (रोगादि कारण, पुत्र—पुत्री को मिलने आदि) कारण प्रसंग पर १, २, विदेशों में जाने की जो छूट रखी भी उसका आज संक्षेप करना यह देशावकाशिक व्रत कहलाता है। क्योंकि आज जबकि वह कारण उपस्थित नहीं है तो फिर निरर्थक उस रखी हुई छूट का दोष फिर क्यों लेना? आज तो जाना नहीं है अतः आज इस दशवें व्रत से संक्षेप कर लिया जाय। उसी तरह सातवें व्रत में भी भोग और उपभोग की सामग्री के पच्वक्खाण में मैंने जो जो बड़ी ज्यादा प्रमाण में छूट रखी है उन सबका आज प्रयोजन न होने से इस दशवें व्रत से संक्षेप कर लेना चाहिए। उसी तरह संबोध प्रकरण के श्लोक के उत्तरार्ध में इस तरह कहा है कि “सव्ववयाणं संखेवो” अर्थात् पहले जिसने सभी ९ व्रत लिये हैं उनमें लम्बे काल की जो बड़ी बड़ी छूटें (जयणा) रखी है। उन सभी का इस दसवें व्रत से संक्षेप करना यह देशावकाशिक व्रत है। अन्य सभी व्रत तो लम्बे काल के लिए या आजीवन के लिए लिये गए हैं, परन्तु यह दसवाँ देशावकाशिक व्रत तो प्रतिदिन, प्रतिरात्रि को धारने के लिए है। जैसे आप १४ नियम रोज धारते हैं, उसी तरह यह देशावकाशिक व्रत पिछले व्रतों में रखी बड़ी छूटों को याद करके संक्षेप करके आज दिन या रात में अब मुझे कितना रखना है? कितना चाहिए? इत्यादि से संक्षिप्तीकरण करने रूप पच्वक्खाण किया जाता है। उदाहरणार्थ अमरीका जाने की छूट रखी होते हुए भी आज दिन में तो नहीं जाना है, रात में भी नहीं जाना है अतः देशावकाशिक का पच्वक्खाण लेकर उस छूट के दरवाजों को बंद कर दिया। इसलिए रोज नवकारशी या शाम को तिविहार, चोविहार का जो पच्वक्खाण करते हैं उसी तरह धारणा करके देसाव गासिक के पच्वक्खाण भी कर लेना चाहिए। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्यजी ने “दिनेरात्रौ” दिन में तथा रात्रौ में इस संक्षेप के पच्वक्खाण करने का कहा है। और गण्टिसहीयं आदि के पच्वक्खाण की तरह यह एक—दो प्रहरादि का भी लिया जा सकता है। प्रतिदिन अपनी जरूरियातें तथा गमनागमन की स्थिति—परिस्थिति का विचार करके यह व्रत लेना चाहिए।

देशावकाशिक व्रत का तीसरा विकल्प है कि— प्राचीन परम्परा से एक दिन में दस सामायिक करने के नियम से भी देशावकाशिक व्रत किया जाता है। आज दिन में मैं १० सामायिक करूँगा ऐसा देशावकाशिक व्रत का पच्वक्खाण करके दिन में १० सामायिक करते हैं। इसमें एक विकल्प ८ सामायिक और २ प्रतिक्रमण = १०। इस तरह १० सामायिक करते हैं, और दूसरा पक्ष सामायिक १० ही होनी चाहिए। दो प्रतिक्रमण अलग

से करें। ऐसा भी मत है। सामायिक में धर्मग्रंथ का वाचन, स्वाध्याय, जाप ध्यानादि करना। इस तरह से १ दिन में १० सामायिकवाले देशावकाशिक व्रत के पञ्चक्खाण आप १ वर्ष में कितनी बार करेंगे उसकी संख्या निश्चित करके भी यह दसवाँ व्रत लिया जा सकता है। १ वर्ष में १५ बार, २० बार या ५० बार इस तरह से १० सामायिक पूर्वक यह देशावकाशिक व्रत करूँगा इस तरह संख्या निश्चित करके यह व्रत लेना चाहिए।

**दसवें व्रत में लगनेवाले ५ अतिचार—**

**आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुगलक्खेवे।**

**देसावगासिअंमि, बीए सिक्खावए निंदे ॥**

- १ आनयन प्रयोग— अपनी धारणा के उपरांत बाहर की भूमि से वस्तु मँगाना, किसी को भेज कर मँगाना यह दोष है।
- २ प्रेध्य प्रयोग— अपनी धारी हुई सीमा के बाहर यहाँ से वस्तु या व्यक्ति को दूर भेजने से यह दूसरा दोष लगता है।
- ३ शब्दानुपात— जोर से ध्वनि करनी, ऊँचे से खासी खानी आदि शब्द संकेत से, धारी हुई सीमा के बाहर से वस्तु या व्यक्ति को बुलानी भेजनी आदि अतिचार है।
- ४ रूपानुपात— “मैं यहाँ हूँ, व्रत में हूँ” ऐसा कहकर या दूरवाले को अपनी रूप—मुँह—हाथादि दिखाकर बोलना जिससे व्यक्ति या वस्तु आ जाए ऐसा करना या ऊपर—नीचे—आदि जाकर दूसरों को देखना आदि अतिचार है।
- ५ पुद्गल प्रक्षेप— स्वयं घर में रहकर भी बाहर की व्यक्ति या नोकर को कंकड़ आदि फेंककर यह वस्तु लानी है, या नोकर को बुलाना या अपना काम करने के लिए याद दिलाना आदि इस अतिचार में गिना जाता है। उपरोक्त पाँचो अतिचार इस दसवें व्रत में लगने की संभावनावाले हैं। अतः बताए हैं। ताकि इस अतिचारों से बचने की भावना रखें।

**इस व्रत में आप क्या करेंगे ?**

- १ छठे दिक् परिमाण व्रत में दिशाओं की तथा देशों की धारी हुई मर्यादा का संक्षिप्तीकरण आज के लिए करना। आज मुझे किस दिशा में कहाँ तक जाना है ? आज कहीं नहीं जाना है अतः उन—उन सभी दिशाओं में न जाने तथा देशों में न जाने के पञ्चक्खाण करना।

- २ अन्य सभी व्रतों में जो ज्यादा जयणा रखी है, उनकी आज आवश्यकता नहीं है, अतः आज के दिन उन सब जयणाओं का त्याग । सभी व्रतों की धारी हुई धारणाओं में आज के दिन और ज्यादा संक्षिप्तीकरण करके पचवक्खाण करना ।
- ३ १४ नियम आज दिनगत, तथा रात्रिगत प्रमाण—मर्यादा के अन्दर धारकर रोज—सुबह शाम देशावकाशिक पचवक्खाण करना ।
- ४ यह दसवाँ व्रत लेना हमेशा के लिए है, परन्तु धारणा रोज की परिस्थिति के अनुसार, अतः अन्य व्रत लेनेवालों के लिए दसवाँ तो लेना ही पड़ता है । अन्य व्रतों के संक्षिप्तीकरण के लिए ।
- ५ आर्यबिल, उपवास, या एकासणा, करके १ दिन में ८ या १० सामायिक करके ऊपर दो प्रतिक्रमण करना । इस तरह वर्ष में १०, २०, १०० बार करना ।

**जयणा—** धारणा धारने में कोई भूल या विस्मृति हो उसकी जयणा और अवसर पर प्रायश्चित्त करके आत्मशुद्धि करना ।

**ध्येय—** विरति धर्म के बहुत समीप ले जानेवाला यह व्रत है । अतः जीवन पर्यन्त की या अमुक वर्ष की अवधि तक लिए हुए व्रतों का भी संक्षिप्तीकरण तथा शुद्धिकरण यह व्रत करता है । अधिक पापों में से बचाकर आत्मा की पापों से रक्षा करता है । आत्मा को अधिक उपयोगवन्त बनाना है । आनन्द—कामदेवादि महा श्रावकों की तरह उच्च कक्षा के श्रावक बनने का ध्येय रखना चाहिए ।

## ग्यारहवाँ पौषधव्रत— (तृतीय शिक्षाव्रत)

आहार—तनु—सत्काराऽब्रह्म—सावद्यकर्मणाम् ।

त्याग पर्य चतुष्टयां, तद्धिदुः पौषधव्रतम् ॥

चतुष्टय्यां चतुर्तादि—कुव्यापार निषेधनम् ।

ब्रह्मचर्य—क्रिया स्नानादि त्यागः पौषधव्रतम् ॥

**पौषध—पोषं=** पुष्टि— धर्म का अधिकार होने से धर्म की पुष्टि को—धृ धातु—धारण करने अर्थ में है । धृ= धारण करना । धर्माधारणा—शुभकरणी से ज्ञान—दर्शन चारित्र्यादि प्रमुख आत्मा के मूलभूत स्वाभाविक गुणों की पुष्टि हो, वृद्धि हो उसको धारण करानेवाला पौषध है । धर्म संग्रह ग्रंथ के उपरि श्लोक में तथा नीचे के योगशास्त्र के श्लोक में समान बातें कही गई हैं । (१) आहार (२) शरीर सत्कार (शोभा), (३) अब्रह्म (मैथुन) सेवन (४)

तथा सर्व सावद्य (हिंसादि) पाप प्रवृत्ति (व्यापार) का त्याग करके, ८, १४, १५, ३०, आदि चतुष्पर्वी में (चार पर्वों) आदि में दिन—रात की विरति धारण करने को पौषधव्रत कहते हैं।

### पौषध

४ प्रहर (दिनके)

४ प्रहर (रात्रिके)

८ प्रहर (दिनरात के)

(१) केवल दिन के ४ प्रहर का पौषध लिया जाय वह दिन का पौषध, (२) केवल रात्रि के ४ प्रहर का पौषध लिया जाय वह रात्रि का पौषध, (३) और जो अहोरात्रि = अहो = दिन, रात्रि = रात, अर्थात् दिन—रात का मिलाकर—४ + ४ = ८ प्रहर का पौषध लिया उसे अहोरात्रि का पौषध कहते हैं। जैसे सामायिक २ घड़ी की होती है। वैसे ही सामायिक ४ प्रहर अर्थात् १२ घंटे की हो— अर्थात् १२ घंटे दिन के या रात के (या २४ घंटे दिनरात के) सामायिक में ही रहना, सावद्य पाप व्यापार का त्याग करके सर्वथा विरति में ही रहना। यह पौषध व्रत है। ऐसा सावद्य पाप प्रवृत्ति के त्याग रूप विरति धर्म की पौषध की आराधना अन्य से बड़ी—ऊँची आराधना है। अतः इसमें आहार—शरीर सत्कार सुश्रुषा—शोभा स्नानादि नहीं करना है। व्यापार बंधा नहीं करना, मैथुन सेवन आदि का इसमें त्याग है। और सावद्य पाप प्रवृत्ति का भी त्याग करना है। ऐसा त्याग करके महीने की मुख्य ८, १४, १५, ३० इन चतुष्पर्वी के दिन या और भी २, ५, ११ आदि तिथियों में श्रावक अवश्य पौषध व्रत ग्रहण करें। या स्वशक्ति अनुसार वर्ष में २५—५० आदि पौषध करने का नियम करें।

सूचना— पौषध तप के साथ ही होता है। अतः पौषधोपवास (पोसहोववास) ऐसा नाम आगम में रखा गया है। अतः उपवास सहित करें तो सर्व श्रेष्ठ है। और शक्ति न हो तो आयंबिल, नीवि, एकासणे के साथ पौषध करें परन्तु इससे नीचे के तप या सर्वथा बिना तप के पौषध नहीं होता है।

### पौषध व्रत के नियम—

- १ प्रत्येक महीने की ८, १४, १५, ३० आदि पर्वतिथि को पौषध करना।
- २ प्रति महीने कम से कम १ या २ पौषध करना।
- ३ वर्ष के (२५—५०)..... इतने पौषध करना।
- ४ पर्युषण में ६४ प्रहर (८ दिन के) पौषध करना।

- ५ ज्ञानपंचमी, मौनएकादशी आदि वार्षिक पर्वदिन में पौषध अवश्य करना ।
- ६ आर्यबिल की ओली या चौमासी चौदश, तथा पूनम आदि पर्वों में पौषध जरूर करना ।
- ७ पौषध लेकर दिन में सोना नहीं ।
- ८ पौषध में स्वाध्याय—पाठ—अभ्यास, जाप—ध्यान, काउत्सर्गादि करना ।
- ९ सोने के संधारे में अधिक उपकरण न वापरना ।
- १० पौषध में विकथा, व्यापार, निंदा प्रपंच न करें ।

**पौषध व्रत के ५ अतिचार—**

**संथारूच्चारविही पमाय तह चेव भोअणाभोए ।**

**पोसहविहि विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥**

- १ संथारा, चक्षु से देखकर बरोबर पडिलेहणादि न करके बिछाना करना—बैठने आदि में अतिचार लगता है ।
- २ संथारा भूमि आदि बिना प्रमाजें या जैसे तैसे किया, पूंजकर या बिना पूंजे करना—बैठना सोनादि में अतिचार लगता है ।
- ३ २४ मांडला की प्रमाजित भूमि में स्थंडिल मात्रादि के लिए जाते समय जीव जंतुओं का ध्यान न रखा, वसति शुद्ध न देखी हो तो अतिचार लगता है ।
- ४ लघु नीति, बड़ी नीति की भूमि की दृष्टि प्रमाजना आदि न करते हुए, या अप्रमाजित भूमि में करना आदि अतिचार है ।
- ५ आहारादि के त्याग पूर्वक ४ प्रकार के पौषधादि विधि पूर्वक न करके अविधि से पौषध करना, देह चिंता, पारणा की चिंता, आदि अविधि करने से यह अतिचार लगता है ।

उपरोक्त पाँचों अतिचार न लगे ऐसा पौषध करना ।

**जयणा—** पौषध लेने तथा पारने का निश्चित समय ध्यान रखना । अचानक अकस्मात् आदि कारण से या अचानक रोगी बनने से, या अचानक ओपरेसन कराना पडा, अस्पताल में भर्ती होना पडा, या किसीकी मृत्यु आदि के प्रसंग पर शीघ्र जाना पडा ऐसी परिस्थिति में पर्व तिथि नियमानुसार आई और पौषध नहीं हो सका तो जयणा । वह रहा हुआ पौषध अनुकूलतानुसार आगेवाली पर्वतिथि, या अगले महिने कर लेना चाहिए । ऐसी जयणा रखनी परन्तु सर्वथा आराधना नहीं छोड़ देनी चाहिए ।

**ध्येय—** श्रावक श्रमणोपासक कहलाता है। श्रमण=साधु को कहते हैं। श्रमणपना=साधुपने का उपासक श्रावक मन में सदा साधुत्व प्राप्त हो ऐसी इच्छा रखता है। अतः वह जब तक सर्व विरतिपना न मिले वहाँ तक श्रावक जीवन में भी साधुधर्म की पालना सामायिक—पौषध से बार बार करता है। चारित्र के अभ्यास के लिए यह पौषध है। भरत चक्रवर्ती और सूर्ययशा राजा आदि आदीश्वर भगवान की परम्परा में अनेक पौषध करते थे। आनन्द, कामदेव श्रावक, सुलषा आदि श्राविका भी काफी प्रशंसनीय पौषध करते थे। अतः श्रावक जीवन में साधुत्व के आस्वाद के रूप में यह पौषध व्रत जो आत्मा में पंचाचार धर्म जो ज्ञानदर्शनादि आत्मगुणरूप है उनकी पुष्टि वृद्धि करता है। कर्म निर्जराकारक है अतः इस ध्येय से पौषध अवश्य करना चाहिए।

### बारहवाँ— अतिथि संविभाग व्रत— (चतुर्थ शिक्षाव्रत)

आहार—वस्त्र—पात्रादेः, प्रदानमतिथेर्मुदा ।

उदीरिते तदतिथि—संविभाग व्रतं जिनः ॥

दानं चतुर्विधाहार—पात्राच्छादनं सन्नानाम् ।

अतिथिभ्योऽतिथि संविभाग व्रतमुदीरितम् ॥

—पूज्यभाव, भक्तिभावपूर्वक सन्मान से अतिथिरूप साधु संत महात्माओं को हर्ष सहित आहार, वस्त्र, पात्र आदि का दान करना यह बारहवाँ अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है। यही बात योगशास्त्र में भी कही गई है कि— अतिथि—मुनि—भगवन्तो को आहार—पात्रादि चार प्रकार के साधनों को देना—प्रदान करना यह अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है।

अतिथि=अ+तिथि— जिसके आने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। ऐसे साधु—मुनिराज। विहारार्थ, गोचर्यार्थ निकले हैं पर कब किस तिथि (दिन) को किसके यहाँ आएंगे यह कुछ भी निश्चित नहीं है ऐसे अतिथि साधु—मुनिराज को संविभाग = समान भाग करके अपने आहार—वस्त्र—पात्रादि अर्पण करना, वहेराना आदि यह इस १२ वे व्रत का स्वरूप है। इस व्रत के आचरण—पालन की परम्परा यह है कि... ८ प्रहर (१ दिन रात) का पौषध करके चतुर्थभक्त उपवास का तप करके, दूसरे दिन पौषध के पारणे के दिन, एकाशन का व्रत करके साधु मुनिराजों को पडिलाभे, आहारादि बहोराए और अतिथि महात्मा ने जितनी बहोरी है उतनी ही स्वयं वापरना यह अतिथि संविभाग व्रत है। इस तरह यह व्रत वर्ष में १०—२०—५० बार जितनी बार करना हो वह संख्या अपने मन में

धारनी और यह व्रत उच्चरना । तथा उपरोक्त विधि पूर्वक धारी हुई संख्यानुसार यह व्रत पालना । संभव है कि शायद वर्ष भर में साधु मुनिराज का योग ही न मिले तो साधर्मिक (स्वधर्मी) बंधु को भोजनादि कराके इस व्रत का पालन करें ।

इस व्रत के ५ अतिचार

सच्चित्ते निस्त्रिवणे, पिहिणे ववएस मच्छरे चेव ।

कालाइक्कमदाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे ॥

- १ सचित्त निक्षेपण— बहोराने योग्य पदार्थों को सचित्त कच्चे पानी आदि पर रख देना, अचित्त को सचित्त के साथ मिश्रित करनी और न बहोरानी यह प्रथम अतिचार है ।
- २ सचित्त पिघान— बहोराने योग्य अचित्त किए हुए फलादि पर ढाँकने आदि हेतु से सचित्त को उपर ढँक देना, रख देना, आदि अतिचार है ।
- ३ पर व्यपदेश— दान के भाव न होने के कारण अपनी वस्तु को भी पराई कहकर न बहोराना भी अतिचार है ।
- ४ मात्सर्यबुद्धिपूर्वक दान— मुनिजन को खपे ऐसी योग्य वस्तु बहोराने में क्रोध—तथा मात्सर्यादि रखे तो वह भी अतिचार है ।
- ५ कालातिक्रम— गोचरी बहोराने का काल बीत जाने पर अब अकाले गोचरी बहोराने का आग्रह करना यह भी दोष है ।

इन अतिचारों को जानकर इनका सेवन न करना और शुद्ध भाव पूर्वक सुपात्रदान देने के भावुक बनना हितावह है ।

जयणा— इस व्रत में जयणा नहीं रखनी है । क्योंकि वर्ष भर के ३६५ दिन में किसी भी दिन कर सकते हैं । और १०—२० बार करने के पच्चक्खाण हो तो बिमारी आदि के कारण कभी भी आगे पीछे कर सकते हैं । अतः जयणा की आवश्यकता नहीं है । फिर भी लम्बी बीमारी में जयणा या लम्बे अरसे के लिए देशान्तर गए तो जयणा । लेकिन व्रती अपनी धारणा को आगे पूरी करने की भावना रखे ।

ध्येय— अनादि—अनन्त काल से जीव के लेने के ही संस्कार बने हुए हैं । अब इस व्रत के पालने से देने के संस्कार बनें इस ध्येय से यह व्रत उपयोगी होगा । शालिभद्रादि के जैसा उत्तम पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जन करने का ध्येय रखें । नयसार ने मुनिजन को

जंगल में दान दिया और सम्यक्त्व पाया और आगे जाकर २७ वें भव में अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी बना । धनसार्थवाह ने साधु मुनिराजों को घी का दान दिया और सम्यक्त्व पाकर १३ वें भव में ऋषभदेव भगवान बना । नाशवंत लक्ष्मी का सुपात्र दान में सदुपयोग करके जीवन सफल बनावें ऐसे पवित्र ध्येय से यह व्रत अवश्य आचरें ।

## बारह व्रत के १२४ अतिचार

### पाँच अणुव्रत—

### अतिचार संख्या

|                                 |   |
|---------------------------------|---|
| १. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत | ५ |
| २. स्थूल मृषावाद विरमण व्रत     | ५ |
| ३. स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत   | ५ |
| ४. स्थूल मैथुन विरमण व्रत       | ५ |
| ५. स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत    | ५ |

### तीन गुणव्रत—

|                         |    |
|-------------------------|----|
| ६. दिक् परिमाण व्रत     | ५  |
| ७. भोगोपभोग परिमाण व्रत | २० |
| ८. अनर्थदंड विरमण व्रत  | ५  |

### ४ शिक्षाव्रत—

|                        |    |
|------------------------|----|
| ९. सामायिक व्रत        | ५  |
| १०. देशावकाशिक व्रत    | ५  |
| ११. पौषघोषवास व्रत     | ५  |
| १२. अतिथि संविभाग व्रत | ५  |
| ज्ञानाचार              | ८  |
| दर्शनाचार              | ८  |
| चारित्राचार            | ८  |
| तपाचार                 | १२ |
| वीर्याचार              | ३  |
| सम्यक्त्व              | ५  |
| संलेषणा                | ५  |

१२ व्रत के कुल

१२४ अतिचार



उपरोक्त सम्यक्त्व मूल बारह व्रत के १२४ अतिचारों को जान लेना और उन अतिचारों (दोषों से बचने का पूरा उपयोग रखना यही धर्म है। इन्हीं १२४ अतिचारों को संकलित करके श्रावक के योग्य वंदितु सूत्र बनाया है। जिसका रोज के प्रतिक्रमण में उपयोग होता है। और इन्हीं १२४ अतिचारों के वंदितु सूत्र के आधार पर श्रावक के बड़े अतिचार बनाए गए हैं। जिसको पक्खी—चौमासी—संवत्सरी के दिन प्रतिक्रमण में बोले जाते हैं और क्षमायाचना की जाती है। माफी माँगी जाती है। व्रतधारी आराधकों को इन अतिचारों से बचने का पूरा ध्यान रखना चाहिए। अतिचारों (दोषों) के भय से व्रत न लेना यह सबसे बड़ा अतिचार है। सबसे बड़ी भारी भूल है। अतः व्रत लेकर अपना जीवन सफल—धन्य बनाना ही लाभकारी—हितकारी है। भवभीरू आत्माओं को चाहिए कि अपने व्रत रूपी रत्न को इस अतिचार रूपी जंग लगी डब्बी में न रखें। व्रत के खपी आराधक भाववाले शुद्ध साधक बनें, सच्चे मोक्षमार्ग के खपी बनें।

धर्मकरणी जिनशासन की प्रभावना तथा रक्षा एवं शासनोन्नति के लिए गीतार्थों की प्रेरणानुसार शुभ कार्य शुभ हेतु से, शुभ भाव से करता रहे और अनेक भव्यात्माओं को ऊँचे व्रतधारी श्रावक बनाओ।

किसी भी प्रकार की भूलें हो गई हो तो उसे लिखकर गुरुमहाराज के पास उसका प्रायश्चित्त लेकर वह प्रायश्चित्त पूरा करके पुनः पवित्र—शुद्ध बनना।

## श्रावक के २१ गुण

१ अक्षुद्रवृत्ति उदार दिलवाला हो, २ स्वरूपवान्, ३ प्रकृतिसौम्य—शांतस्वभावी, ४ लोकप्रिय, ५ अक्रूर—क्रूर—हिंसक वृत्तिवाला न हो, ६ पाप भीरू, ७ अशठ—ठग वृत्तिवाला न हो, ८ लज्जाशील, ९ दयालु, १० माध्यस्थ्य—भावनावाला हो, ११ सदाक्षिण्य, १२ गुणानुरागी, १३ सत्यवादि, १४ सुपक्षयुक्त—सुशील परिवार युक्त, १५ दीर्घदर्शी, १६ विशेषज्ञ निपुण, १७ वृद्धानुगामी—बड़े वृद्धों के मार्ग पर चलनेवाला, १८ विनीत—नम्र, १९ कृतज्ञ—उपकार स्मृति में रखनेवाला हो, २० परोपकारी परहितकारी, २१ लब्धलक्ष्य—सर्व धर्म कार्य में सुशिक्षित हो ध्येय सिद्ध्यर्थ साधना करे। इस प्रकार के उपरोक्त २१ गुण श्रावक के हैं। प्रत्येक श्रावक सर्वगुणसंपन्न बनने का प्रयत्न करें।

साधक के लिए गुणों की पूरी आवश्यकता है। उपरोक्त २१ गुणयुक्त श्रावक बने तो वह स्व और धर्म उभय की प्रशंसा कराता है। अच्छे गुणवान् बनने के लिए इस गुणों को जीवन में विकसाएँ।

## अहिंसा व्रतपालन से लाभ, न पालने से दोष—

श्री संबोध प्रकरण के ग्रन्थ के श्रावक व्रताधिकार की बारहवीं गाथा में कहा है कि— हिंसा के त्याग पूर्वक अहिंसा का पालन करने से १) निरोगी काया, २) सब को मान्य हो ऐसी आज्ञा का ऐश्वर्य, ३) सुन्दर रूप रंग, ४) निष्कलंक यश—कीर्ति, ५) न्यायोपार्जित धन, ६) निर्विकार यौवन, ७) दीर्घ आयुष्य, ८) उत्तम परिवार की प्राप्ति, ९) विनयवंत पुत्रों की प्राप्ति, १०) उत्तम सुखों की प्राप्ति आदि अनेक प्रकार का उत्तम लाभ होता है। इन सब की अपेक्षा—इच्छा प्रायः सभी गृहस्थ रखते हैं। लेकिन अहिंसा पालने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सिर्फ मंदिर में जाकर भगवान के पास माँग लेने में संतोष मान लेते हैं। गुरुओं के पास ऐसे आशीर्वाद प्राप्त करके उपरोक्त फल प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु शुद्ध अहिंसा धर्म का आचरण करने के लिए उद्यमवंत नहीं होते हैं। हिंसा के त्याग और अहिंसा के पालन से इतने लाभ मिलते हैं।

यदि अहिंसा व्रत का आचरण नहीं करते हैं और हिंसा करते हैं तो — १. पंगुपना, २. बावना शरीर, ३. कुष्ठदि रोग ग्रस्तता, ४. रोगी शरीर, ५. भयंकर जीवघातक महारोग, ६. स्वजनादि का वियोग, ७. शोक, ८. अकाल मृत्यु, ९. अल्प आयुष्य, १०. दुःख, ११. दौर्भाग्य, १२. दुर्गति आदि अशुभ फल मिलता है। तिर्यच नरकगति के जन्म धारण करके जीव को बड़ी भारी पाप की सजा भुगतनी पड़ती है। तब महादुःखी होते हैं।

## सत्य के सेवन, असत्य के सेवन से लाभ—दोष—

इस व्रत में असत्य का त्याग करने पूर्वक सत्य बोलने से— १. लोगों में विश्वसनीयता प्राप्त होती है। लोग विश्वास रखेंगे, २. यश कीर्ति अच्छी मिलती है। ३. दूसरे सत्यवादी का वचन मानते हैं। ४. सत्यवादि के वचन को आशीर्वाद रूप—अमोघ मानते हैं। ५. सत्यवादि को सर्वमन्त्र, सर्व योगों की सिद्धि प्राप्त होती है। ६. धर्मादि पुरुषार्थ सत्य के अधीन हैं। वे फलीत होते हैं। ७. प्रतिष्ठा बढ़ती है। व्यक्ति प्रतिष्ठित बनता है। ८. सत्य से रोग—शोकादि का नाश होता है। ९. मनोबल बढ़ाकर सर्वत्र विजयी बनता है। प्रशंसनीय बनता है। १०. भविष्य में स्वर्गादि सुखों की सुंदर गति की प्राप्ति होती है।

ठीक इससे विपरीत... यदि सत्य को छोड़कर झूठ—असत्य बोलनेवाले मृषावादि के लिए संबोधसितरी प्रकरण ग्रंथ में स्पष्ट कहते हैं कि— १. मृषावादि अप्रियभाषी होता है। इसका बोला हुआ किसीको प्रिय—पसंद नहीं आता है। २. सदा तिरस्कार, अपमान

सहन करते रहना पड़ता है । ३. किसी भी तरह से यश—कीर्ति—प्रशंसा कभी प्राप्त ही नहीं होती है । ४. दुर्गंधी शरीर मिलता है । ५. भाषा कटु—कठोर मिलती है । ६. स्वभाव खराब मिलता है । ७. बुद्धिहीन, मूर्ख, मुखरोगी, तुतलाने के रोग, बड़बड़ाने का उन्मादादि रोग होते हैं । मानसिक रोग होते हैं । ८. इस जन्म में भी जीभ काटना, जेल, फाँसी, सजा, आदि अनेक प्रकार की पीड़ा दुःख दुर्गति प्राप्त होते हैं । अतः ऐसे कनिष्ठ फल न पाने हो तो जीवों को निरंतर मृषावाद—झूठ का त्याग करके सत्यवादि बनना ही लाभप्रद है ।

## चोरी से नुकसान तथा अचौर्यवृत्ति से लाभ—

संबोध प्रकरण ग्रन्थ के २३—२४ वे श्लोक में स्तेयवृत्ति—चोरी के नाश से जो लाभ बताए हैं उनमें कहा है कि— अचौर्य वृत्तिवाला जीव १) सब के लिए विश्वसनीय, विश्वासपात्र बनता है । २) प्रशंसनीय—प्रशंसा पात्र बनता है । ३) धनादि की वृद्धि होती है । ४) निर्भयता आती है । ५) गति हमेशा अच्छी सद्गति होती है । ६) बिना चोरी से नीतिपूर्वक प्राप्त किया हुआ धन कभी नष्ट नहीं होता है । अपहरण—चोरी नहीं होती । इस व्रत का पालक भावि में राजा—महाराजादि की ऊँची पदवी भी प्राप्त करता है ।

ठीक इससे विपरीत चोरी करनेवाला—चोरवृत्तिवाला जीव अनेक प्रकार के दुःख पीड़ा पाता है । जेल—फाँसी—आजीवन कारावासादि सजा प्राप्त करता रहता है । पुत्र—पत्नी परिवार का वियोग सहता है । वधादि का भय रहता है । सदा भयग्रस्त रहता है । राजादि के लिए सदा शंका का पात्र रहता है । निश्चिन्तता सुन्दर निद्रादि कभी भी नहीं मिलती है । मृत्यु के बाद परलोक में भी . . नरकगति के भयंकर दुःखों की सजा लम्बे आयुष्य तक भुगतता है । आगे के कई जन्मों तक मच्छीमार, गूंगा—बहरा, आदि बनता है । कई प्रकार के सेंकड़ों दुःख अनेक जन्मों तक जीव भुगतता रहता है ।

## ब्रह्मव्रत के लाभ तथा ब्रह्म सेवन के दोष—

शास्त्रकार महर्षि यहाँ तक शास्त्रों में लिखते हैं कि— १) कोई करोड़ों सुवर्ण मुद्राओं का दान करें, अथवा सोने का मंदिर भी बना दे उससे भी ज्यादा ब्रह्मचर्य व्रत पालने में लाभ बताया है । २) देवता भी ब्रह्मचारियों को नमस्कार करते हैं । क्योंकि देव—गति—देव जाति में ब्रह्मव्रत पालना अत्यन्त कठिन है । ३) ब्रह्मव्रत पालने के लाभ के रूप में उत्तम ठकुराई, ऋद्धि—समृद्धि, स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति, निर्विकारी बल, तथा अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त हो सकता है । कलह करानेवाले, नारदी वृत्ति से कड़्यों को परस्पर लड़ानेवाले नारदजी भी उसी जन्म में मोक्ष में गए उसका एक ही आधार ब्रह्मचर्य व्रत पर है ।

ब्रह्मचर्य व्रत न पालनेवाले अब्रह्म पाप का सेवन करने के विषय में शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि— परस्त्रीगमन में भी वध, बंधनादि की दशा होती है। नरक गति के तीव्र दुःखों को अनेक बार सहन करना पड़ता है। दुराचारी—व्यभिचारियों को जन्मान्तर में नपुंसक बनना पड़ता है। उन्हें भगंदरादि भयंकर व्याधियाँ होती हैं। दुराचारिणी स्त्रियाँ जन्मान्तर में विषकन्यादि बनती हैं। जिसके स्पर्श मात्र से विष के प्रभाव से लोग मरते हैं। शासनपति श्री महावीर प्रभु गौतमगणधर महाराज को कहते हैं कि— हे गौतम ! देवद्रव्य का भक्षण करनेवाले, परस्त्री सेवन करनेवाले जीव को सात बार सातवीं नरक में उत्पन्न होना पड़ता है। (सातवीं नरक में उत्कृष्ट आयुष्य ३३ सागरोपम का है। १ सागरोपम बरोबर = असंख्य वर्ष का काल। ऐसे ३३ सागरोपम वर्षों के लम्बे काल तक और उसमें सातबार सातवीं नरक का आयुष्य मिलना—भुगतना वह भी एक मात्र दुःख में।... अतः सोचिए कितने वर्षों के लम्बे काल तक कितने भय तक जीव को परस्त्री गमन का पाप भुगतना पड़ेगा।)

मैथुन सेवन करने से अपने जैसे ही मनुष्य बनने की योग्यतावाले उत्कृष्ट से नौ लाख असंज्ञी मनुष्य जीवों का घात हिंसा होती है। उसके सिवाय दो इन्द्रियादि असंख्य जीवों असंख्य संमुष्टिम जीवों का नाश होता है। अतः सोचिए, एक बार के मैथुन सेवन से असंख्य जीवों का नाश होता है। पचवक्त्राण आवश्यक निर्युक्ति की चूर्ण के ४ थे व्रत के अधिकार में बताया है कि ब्रह्मचारी उभयलोक में विशिष्ट सुखों की प्राप्ति करता है। तथा अल्पकाल में मुक्तिगामी बनता है।

## परिग्रह के दोष तथा अपरिग्रह के लाभ—

श्री उत्तराध्ययन सूत्र आगम शास्त्र में कहते हैं कि— लोभी व्यक्ति को हिमालय पर्वत के प्रमाण जितना सोना चांदी आदि मिल जाय तो भी संतोष—शान्ति नहीं होती है। क्योंकि इच्छाएँ आकाश जितनी अनन्त हैं। अतः इच्छाओं को मर्यादित करने से पाँचवा परिग्रह परिमाण व्रत का पालन हो सकता है। सर्व सुखों का मूल संतोष है। संतोषी मनुष्य उभय लोक में सुख—शान्ति प्राप्त करता है। जबकि असंतोषी जीव दरिद्रता, दुर्भगता, दासपना आदि भयंकर दुःख बारबार पाता है। महाआरंभी—महापरिग्रही जीव बारबार नरक गति में जाते हैं। वर्तमान काल में शेयर का व्यापार महारंभ महापरिग्रह का ही निमित्त कारण है। फैक्ट्री, कारखाने आदि महारंभ महापरिग्रह रूप है। जो जीव को नरक गति में ले जाते हैं।

## छट्टे व्रत के पालन-अपालन से हिताहित—

१) दिशा—विदिशाओं का त्याग करने का हेतु संतोष की वृद्धि के लिए है। २) अविरति के बिना भी पाप त्यागादि का लाभ मिलता है। व्रत के अभाव से तीव्र असंतोष, अशान्ति, क्लेश—कषाय—कलह प्राप्त होते हैं। सब पापों का मूल ही लोभ है। अतः छट्टे व्रत के सेवन से लोभ का नियंत्रण होता है। तथा संतोष सुख की प्राप्ति होती है। इससे यह छट्टा व्रत पहले और पाँचवें व्रत के लिए ज्यादा हितकारक है।

## सातवें व्रत के पालन-अपालन से गुण-दोष—

कर्म से—जिससे अति तीव्र कर्म बंध हो, लोकनिंदा का कारण हो, वैसे अयोग्य लेन—देन—अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करने से विशेष लाभ होता है। तथा अयोग्य व्यवसायों का भी त्याग करना, तथा अल्प आरंभवाले पदार्थों का प्रमाण मर्यादित करना अच्छा है। अभक्ष्य का भक्षण अनेक रोगों—हिंसादि में कारण बनने से वर्ज्य है। १) रात्रीभोजन, २) परस्त्रीगमन, ३) संधान अचार, और ४) अनंतकायादि का भक्षण ये ४ नरकगति के मुख्य कारण हैं। सचित्तादि में भी जीवहिंसा होती है जिसके कारण परलोक भी बिगड़ता है। रोग—व्याधि के कारण बनते हैं। सात्विक शुद्ध आहार के अभाव में तामसिक—राजसी वृत्ति बढ़ानेवाले आहार से राग—द्वेष—दोषादि की प्रवृत्ति बढ़ेगी। इससे बांधे हुए कर्मों के कारण भवान्तर भी बिगड़ेंगे। कर्म बंध की तीव्रता तथा प्रचुरतादि से बचना इस सातवें व्रत का हेतु है।

## अनर्थदंड पालन-अपालन से गुण-दोष—

चारों प्रकार के अनर्थदंड भयंकर अनर्थकारी हैं। दुर्ध्यान से किसी को इष्ट सिद्धि नहीं है। उल्टे नरकादि के अनिष्ट दुःखों की प्राप्ति होती है। तन्दुल मत्स्य मात्र मन के दुर्ध्यान से ही ७वीं नरक में जाता है। अनर्थकारी = अर्थात् निरर्थक पाप कर्मों से बचना लाभप्रद है। जीवन में कई पाप अनिवार्य—आवश्यक होते हैं। जबकि कई पाप निरर्थक—अनावश्यक होते हैं। दुर्गति से बचने के लिए जीव यदि दो विभाजन करके निरर्थक पापों से बचना चाहे, संकल्प करे तो ५०% पापों से आज बच सकते हैं। पाप से बचने से दुर्गति से बच सकते हैं। अतः अनर्थदंड व्रत के पालन से दुर्ध्यान से बच सकते हैं। दुर्ध्यान—दुर्गति का कारण है। अतः दुर्ध्यान से बचनेवाला दुर्गति से बचता है।

## सामायिकादि ४ शिक्षाव्रत के पालन-अपालन से गुण-दोष—

शास्त्रों में वर्णन आता है कि... लाख खांडी सोने का नित्य दान करनेवाले की अपेक्षा सामायिक करनेवाला श्रेष्ठ गिना जाता है। २ घड़ी की सामायिक करने से श्रावक... ९२ करोड़, ५९ लाख, २५ हजार ९२५  $\frac{१}{४}$  पत्त्योपम का देवायुष्य बांधता है। सामायिक से समता बढ़ती है। और पौषध करनेवाला जीव २७७७७७७७७७७  $\frac{१}{४}$  पत्त्योपम का आयुष्य देवगति का बांधता है। (२७ अब्ज, ७७ करोड़ ७७ लाख, ७७ हजार, ७७७  $\frac{१}{४}$  पत्त्योपम वर्ष) सोने के प्रासाद करने से भी ज्यादा विशेष लाभ तप पूर्वक किये गए पौषध से होता है। देशावकाशिक से निरर्थक अविरति से बचा जाता है। विरति में रहने से पाप के आश्रव से बचा जाता है। अतिथि संविभाग व्रत से—स्वर्ग की प्राप्ति, ऋद्धि—सिद्धि—समृद्धि तथा अन्त में तीर्थंकर नाम कर्म भी उपार्जन होता है। यह दान की प्राधान्यतावाला व्रत है। सुपात्रदान भविष्य में मोक्षफल की प्राप्ति भी कराता है।

इस प्रकार सभी व्रतों के पालन से अनेक प्रकार के गुणों की प्राप्ति, शुभ कर्मों से भवान्तर में भी शुभ की प्राप्ति होती है। न पालने से दोषों का सेवन होता है। और नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है। कई भव बिगड़ते हैं। संसार बढ़ता है। भावी भवों की परंपरा बढ़ती है। संसार चलता ही रहेगा। ऐसे संसार चक्र में घूमते रहने से कभी भी अन्त नहीं आता है। मुक्ति दुर्लभ हो जाती है। अतः व्रतादि पालना लाभप्रद है।

## श्रावक जीवन की दिनचर्या—

जैन कुल में जन्म लेकर हम मात्र जन्म से जैन बने। बाप—दादाओं के जैन धर्म की सुवास के कारण हम भी धर्मी के नाम से पहचाने गए। व्यवहार नय से धर्मक्रिया की करणी करते रहे, इतने मात्र से सच्चे जैन नहीं बने। अब कर्म—धर्म से सच्चे जैन बनना अनिवार्य है। अब हमें धर्म समझकर जैनत्व को शोभास्पद हो ऐसे ही कर्म करना शेष कर्म न करना इस तरह समझकर धर्माचरण करते हुए सच्चे जैन श्रावक बनना चाहिए। अब मात्र गृहस्थी घरबारी ही नहीं अब श्रावक बनने में ही विशेष शोभा है। श्रावक में भी पूर्ण श्रद्धायुक्त—व्रतधारी श्रावक बनना चाहिए। ऐसे श्रावक के जीवन में प्रतिदिन की दिनचर्या कैसी होनी चाहिए? जैसे पुणीया श्रावक जैसे महान उत्तम कक्षा के श्रावक ने अपनी दिनचर्या जीवनी बनाई थी वैसी श्रावक जीवन की दिनचर्या की विचारणा यहाँ प्रस्तुत है—

१) सर्वप्रथम सूर्योदय से ४ घड़ी (१६ मिनट, अर्थात् १ घंटा ३६ मिनट) पहले उठना चाहिए। (आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं कि—सूर्योदय से पहले उठनेवाले का आयुष्य—और बल—बुद्धि बढ़ती है। तथा सूर्योदय के बाद देरी से उठनेवालों का आयुष्य—बल—बुद्धि घटती है। अतः ब्रह्ममुहूर्त में ४ घड़ी सूर्योदय पूर्व उठकर नवकार महामंत्र का स्मरण करना चाहिए।

२) द्रव्य—क्षेत्रादि से स्व आत्मा का विचार करना चाहिए। मैं कौन हूँ? मेरे भगवान गुरु कौन हैं? कैसे हैं? क्षेत्र से मैं कहाँ हूँ? गाँव—शहरादि—गली—घरादि का स्मरण किया जाता है। काल से। दिन में—रात में किस समय में हूँ? आज तिथी—वार आदि का समय। (काल नैमित्तिक धर्मारोचनाओं का स्मरण होता है) भाव से... मैं किस कुल—खानदानी—वंश—जाति का हूँ? किस और कैसे धर्म का हूँ? मुझे कौन कौन से व्रत—नियमादि पालने हैं? इत्यादि का स्मरण करना चाहिए। इस तरह धर्म चिन्ता करनी चाहिए।

३) धर्म के नियमों में प्रथम एक सामयिक करनी चाहिए १) आत्मा है, २) आत्मा नित्य है, ३) कर्म है, ४) कर्म का कर्ता—भोक्ता मैं हूँ, ५) मोक्षप्राप्ति है और ६) मोक्ष प्राप्ति का उपाय रूप धर्म है। इस तरह अपनी आत्मा के साथ भावचिन्तन करते हुए स्वाध्याय करना। प्रभु स्मरण, महामन्त्र जाप आदि तथा स्वाध्याय द्वारा सामायिक करना।

४) प्रातःकालीन राइ प्रतिक्रमण करना विहरमान = विचरते हुए २० तीर्थंकर भगवन्तों की स्तुति—चैत्यवंदन आदि करना। सिद्धक्षेत्र शत्रुंजय सम्प्रेतशिखरजी आदि तीर्थों के चैत्यवंदन स्तवनादि करना। महान पुरुषों, महासतियों आदि का स्मरण करना। फिर मैत्री आदि भावना भानी चाहिए। फिर नवकारशी आदि करने योग्य पञ्चक्खाण धारण करने चाहिए।

५) प्रातः प्रभु दर्शन — जिन मंदिर जाकर... प्रभु दर्शन, वासक्षेप पूजादि करके भावपूर्वक प्रतिमा समक्ष स्तुति, स्तवना, गुणस्तव आदि करके... पञ्चक्खाण लेना। नवकारशी आदि करके... प्रातः माता—पिता वडिलजन के चरणस्पर्श नमस्कारादि करना।

६) गुरुवंदन — उपाश्रय में गुरु भगवंत समक्ष आकर विनम्रभाव से गुरुवंदन करना। (पञ्चक्खाणादि ग्रहण करना) जिनवाणी श्रवणरूप प्रवचन सुनना चाहिए। प्रवचन सुनना श्रावक का नित्य कर्तव्य है।

७) जिनपूजा = परिमित जल से देहशुद्धि आदि करके स्वद्रव्य से पूजा के उपकरणादि लेकर... जिनमंदिर जाकर अद्भुत भक्तिभाव पूर्वक विधिवत् अष्टप्रकारी पूजा करनी चाहिए। भाव पूजा में स्तुति—स्तवनादि प्रभु गुणगान करके जाप—ध्यानादि करके विशेष उपासना करनी चाहिए।

८) जिनपूजा के पश्चात् घर आकर अभक्ष अनन्तकायादि का त्याग करके... गुरु भगवंतों को गोचरी—भिक्षा का सुपात्र दान करके बाद में स्वयं भोजन करें। एकाशनादि व्रत हो तो अति उत्तम। उस रूप से आहारादि करके...

९) अर्थचिन्ता—अब श्रावक अपनी आजीविका हेतु अर्थचिन्ता करें। व्यापार करने जाय। पुत्र—पत्नी—परिवारादि की आजीविका हेतु व्यापार करें। हो सके वहाँ तक सावध त्यागरूप निरवद्य निर्दोष निष्पाप व्यापार करना चाहिए। हिंसादि के त्याग का ही व्यापार श्रेष्ठ है। फेक्ट्री—कारखाने, इंडस्ट्री आदि चलाकर अति महा हिंसा का पाप सिर पर नहीं लेना चाहिए। न्याय नीतिमत्ता का ध्यान रखते हुए न्यायसंपन्न विभवादि का ध्यान रखते हुए महाजन योग्य इज्जत का विचार करके व्यापार करें। आयव्यय की व्यवस्था सुन्दर सुचारु रूप से करें।

१०) शाम को सूर्यास्त पूर्व अपना व्यापार—काम—काज समेटकर अति लोभ न रखते हुए संतोष पूर्वक... शाम को घर आकर यदि शाम का भोजन करना हो तो सूर्यास्त से पूर्व करें। (एकासणे आदि की तपश्चर्या हो तो सवाल नहीं है। और बिआसणादि हो तो सायंकाल को हलका सुपाच्य वालु करें। सूर्यास्त होते ही चौविहार (चारों आहार के त्याग) का पचचखाण करें। न हो सके तो तिविहार का पचचखाण रखकर पानी की अनिवार्यता लगे तो अपवाद सेवन कर अन्य आहारादि से बचे) श्रावक को भी रात्री भोजनादि का सर्वथा त्याग होता ही है।

११) संध्याकालीन जिनमंदिर में तीसरी बार दर्शन—पूजा, आरती—मंगलदीपकादि करना। जिनमूर्ति समक्ष चैत्यवन्दन स्तुति स्तवना—जाप—ध्यानादि करना चाहिए। त्रिकाल दर्शन तथा त्रिकालपूजादि करने का विधान है। भक्ति भावनादि के पश्चात् गुरु भगवंत के पास उपाश्रय में जाकर... सायंकालीन प्रतिक्रमण करना चाहिए। षडावश्यक की क्रियादि करके गुरुसुश्रूषा सेवा भक्ति—वैयावच्च आदि करके, स्वाध्याय—जिनागम—शास्त्र समझना पूछनादि करके घर पर आना चाहिए।



१२) रात्रि धर्मकथा—अपने परिवार के सभी सदस्यों को एकत्रित करके धर्मकथा करनी चाहिए। गुरु भगवंतों से सुनी हुई धर्म की बातें सब को समझानी चाहिए। धर्मग्रन्थ—पुस्तकादि का वांचन करते हुए भी सबको समझाना—सुनाना चाहिए। स्वयं को भी नूतन ज्ञान उपार्जन करना चाहिए।

माता—पिता वडिलजन—बाल—ग्लान—दुःखी—पीडित रोगी की सेवा वैयावच्चादि करके १ प्रहर = ३ घंटे (सूर्यास्त बाद) रात्री (रात्रीका प्रथम भाग बीतने पर) में सोना चाहिए। सोने के पहले स्थुलिभद्रजी, सुदर्शन शेट, जंबुकुमार आदि महापुरुषों का स्मरण करना चाहिए। २४ जिन—गुरु आदि महापुरुषों का स्मरण पूर्वक नमस्कार महामंत्र का स्मरण कर सभी जीवों को खमाकर.. अपने पापों—अपराधों की क्षमायाचना करके निद्राधीन होना चाहिए। दूसरे + तीसरे भाग की २ प्रहर रात्रि शयन—निद्रादि करके चौथे प्रहर की अन्तिम रात्रि में जगकर पुनः धर्मारधना से नए दिन की शुभ शुरुआत करनी चाहिए। ऐसी सुन्दर श्रावक जीवन की दिनचर्या होनी चाहिए। इसमें धर्मारधना, परिवार हित, आजीविका व्यापारादि सब कुछ गृहस्थ जीवन योग्य सारा जीवन व्यवहार समाविष्ट हो जाता है। इस तरह का श्रावक जीवन कितना सुन्दर बनता है। निश्चित बनता है। शास्त्रकार भगवंत ने “मन्हजिणाणं” की सज्झाय में ३६ कर्तव्यों का समावेश करते हुए सुन्दर सज्झाय बनाई है वह यहाँ अवतरित करता हूँ। जिसके स्वाध्याय—चिन्तन—मनन से विशेष लाभ होता है—

मन्ह जिणाणमाणं, मिच्छं परिहरह धरह सम्पत्तं ।

छव्विह आवस्सयंमि, उज्जुओ होइ पइ दिवसं ॥ १ ॥

पव्वेसु पोसहवयं, दाणं सीलं तवो अ भावो अ ।

सज्झाय नमुक्कारो, परोवयारो अ जयणा अ ॥ २ ॥

जिणपूआ जिणशुणणं, गुरुशुअ साहम्मिआण वच्छत्तलं ।

ववहारस्स य सुद्धि, रहजत्ता तित्थजत्ता य ॥ ३ ॥

उवसम विवेग संवर, भासं समिई छज्जीव करुणाय ।

धम्मिअजणसंसग्गो, करणदमो, चरणपरिणामो ॥ ४ ॥

संघोवरि बहुमाणो, पुत्थयलिहणं पभावणा तित्थे ।

सङ्काण किच्चमेयं, निच्चं सुगुरुवएसेणं ॥ ५ ॥

## मन्त्रजिणाणं सज्ज्ञाय में श्रावक के ३६ कर्तव्य—

१) जिनेश्वर प्रभु, गुरुदेवों की आज्ञा का स्वीकार करना । २) कुदेव—कुगुरु—कुधर्म रूप मिथ्यात्व का त्याग करना । ३) सुदेव—सुगुरु सुधर्मरूप सम्यक्त्व का स्वीकार करना । ४) सामायिक, ५) चतुर्विंशतिस्तव, ६) वांदणा, ७) प्रतिक्रमण, ८) कायोत्सर्ग, ९) पञ्चवक्खाण रूप षडावश्यक पालना, १०) पर्व तिथि के दिन पौषघादि लेना चाहिए । ११) दान देना, सुपात्र दान, अनुकंपा दान आदि दान प्रतिदिन देने चाहिए । १२) शील सदाचार—ब्रह्मचर्यादि का पालन करना । १३) तप— जो भी तपश्चर्यादि करने हो वह अवश्य करनी चाहिए । १४) भाव— अनित्यादि १२ भावना, मैत्री आदि ४ भावनाओं का शुभ भावों का चिन्तन करना चाहिए । १५) स्वाध्याय— धर्मशास्त्रों, पुस्तक वाचन, सूत्रार्थादि का स्वाध्याय करना चाहिए । १६) महामन्त्र नमस्कारादि का जाप करना चाहिए । १७) परोपकार के शुभ कार्य करना । १८) आरंभ समारंभ से बचते हुए.. छः जीव निकाय की जयणा पालनी चाहिए । १९) जिन पूजा, अष्टप्रकारी पूजा—दर्शनादि करना । २०) जिनेश्वर प्रभु की स्तुति—स्तवना करनी । २१) गुरुसुश्रूषा—भक्ति—सेवा वैयावर्च्च—तथा आहारदान आदि करना । २२) अपने स्वधर्मों साधर्मिक भाइयों की भक्ति—वात्सल्य, बहुमान करना चाहिए । उनके दुःखों का भी निवारण करना चाहिए । २३) व्यवहार शुद्धि— नैतिकता, सदाचार परायणता, आदि गुणों का आचरण करना । २४) रथयात्रा—वरघोडा आदि द्वारा शासन प्रभावना करनी । २५) तीर्थयात्रा— छरि पालित पैदल संघ में गुरु भगवंतों के साथ या अन्य रीती से भी तीर्थयात्रा करनी चाहिए । २६) उपशम भाव— धर्म के प्राणरूप सप्तताभाव का पालन करना, राग—द्वेष—कषायों से बचकर रहना । २७) विवेक— हेय ज्ञेय और उपादेय रूप विवेक से व्यवहार करना । २८) संवर—कर्मों के आगमन को रोकते हुए संवर धर्म का पालन करना । २९) भाषा समिति— सत्यप्रिय मधुर भाषा बोलनी, निरवद्य—हिंसात्मक कटु—कलहकारी—अपशब्दोंवाली भाषा न बोलनी । ३०) षट्जीवकरुणा— पृथ्वीकायादि छः जीवनिकायों की करुणा दया से रक्षा करनी—जीवदया पालनी । ३१) धर्मीजनसंसर्ग— धर्मी धर्मात्मा को कल्याणमित्र के रूप में रखकर उनके साथ धर्मचर्चा करनी चाहिए । ३२) इन्द्रिय नियंत्रण— पाँचों इन्द्रियों पर संयम पूर्वक नियंत्रण रखना चाहिए । जितेन्द्रिय बनना । ३३) चरणपरिणाम— मुझे कब संयम मिले ? मैं कब दीक्षा ग्रहण करके चारित्री बनूँ ? ऐसी शुभ पवित्र भावना भानी चाहिए । ३४) संघ बहुमान— साधु—साध्वी—श्रावक—श्राविकारूप चतुर्विध संघ की मुक्ति—सन्मान करना चाहिए । ३५) ग्रन्थ लेखन— धर्मग्रंथ शास्त्र पुस्तकादि लिखने

चाहिए । ३६) शासन प्रभावना— संघ यात्रा, उद्यापन, अष्टाहिका महोत्सव, आदि शासन प्रभावना के अनेक कार्य करने चाहिए ।

उपरोक्त ३६ कर्तव्य श्रावक जीवन योग्य बताए हैं । ऐसे कर्तव्यों को करनेवाला श्रावक उत्तम जाति का श्रावक कहलाता है । स्व—पर उभय का कल्याण करता है । द्रव्य—भाव की अपेक्षा से श्रावक के भेद में भाव श्रावक का स्वरूप कहते हैं ।

## प्रकारान्तर से श्रावक के भेद—

यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो, यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम् ।

शृणोति धर्मसम्बद्धामसौ श्रावक उच्यते ॥ (आवश्यकवृत्ति)

आवश्यकवृत्ति में कहते हैं कि... जिसने सम्यग् दर्शन अंगीकार किया हो और जो नित्य धर्मकथा—प्रवचन श्रवण करता हो, तथा जिसने सम्यक्त्व के साथ अणुव्रतादि व्रत उच्चरे हो ऐसा प्रतिज्ञाधारी श्रावक कहलाता है । धर्म क्षेत्र में भी द्रव्य की अपेक्षा भावों की प्रधानता है । अतः जैसा धर्म करनेवाला होगा वैसा श्रावक कहलाएगा । द्रव्यश्रावक और भावश्रावक दोनों भेद होते हैं । तीन भेद शास्त्रों में दर्शित हुए दर्शन श्रावक, मूलगुण श्रावक और उत्तरगुण श्रावक इस तरह श्रावक के तीन भेद भी बताए गए हैं । श्री ठाणांग सूत्र आगम शास्त्र में—

“चउव्विहा समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—अम्मापिइसमाणे, भाइसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे अहवा चउव्विहा समणोवासगा पण्णत्ता तं जहा—आयंससमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरंट समाणे ।”

श्री ठाणांग सूत्र के चौथे अध्ययन के तीसरे उद्देश्य के ३२१ वे सूत्र में कहते हैं कि— श्रावक ४ जैसे होते हैं— १) माता—पिता समान २) भाई समान, ३) मित्र समान, ४) शोक्य समान होते हैं ।

दूसरे तरीके से भी श्रावक ४ प्रकार के होते हैं— १) आदर्श = दर्पण समान, २) ध्वजा समान, ३) स्थाणुसमान, और ४) खरकंटक समान । ये सभी अपने अपने लक्षणानुसार माने जाते हैं । व्यवहार नय उपरोक्त आठों प्रकारों को भावश्रावक की गणना में गिनता है । निश्चय नय की दृष्टि से शोक्य तथा खरकंटक समान इन दो भेदों को द्रव्य और शेष ६ भेदों को भाव श्रावक की कक्षा में मानता है । द्रव्यस्वरूप और भावस्वरूप श्रावक के दोनों भेदों में—उनका आत्मस्वरूप कारणभूत है ।

## भावश्रावक के १७ लक्षण—

कयवयकम्पो तह सीलवं च गुणवं च उज्जुववहारी ।

गुरुसुस्सूसो पवयणकुसलो, खलु सावगो भावे ॥

धर्मरत्न प्रकरण ग्रन्थ में— १) कृतव्रतकर्मा, २) शीलवंत, ३) गुणवंत, ४) ऋजुव्यवहारी, ५) गुरुसुश्रूषक, ६) प्रवचन कुशल, इत्यादिभाव श्रावक के मुख्य लक्षण है—

- १) कृतव्रतकर्मा— धर्म श्रवण, जानना, व्रत ग्रहण करनेवाला, और पालनेवाला इन चारों प्रकारोंवाला भाव श्रावक दृढसंकल्प से व्रत पालनेवाला है ।
- २) शीलवंत— शील—सदाचार उत्तम रिती से पालनेवाला, ६ प्रकार के अवान्तर भेदवाला भाव श्रावक कहलाता है ।
- ३) गुणवंत— स्वाध्याय, विनयादि गुणोंवाला अवान्तर ५ प्रकार के गुणों का धारक भावश्रावक कहलाता है ।
- ४) गुरुसुश्रूषक— उपकारी गुरुदेवों की सेवाभक्ति वैयावच्च उत्तम तरीके से करनेवाला भावश्रावक है ।
- ५) प्रवचन कुशल— सूत्र—अर्थ—उत्सर्ग—अपवाद—भाव—व्यवहारादि ६ तरीकों से प्रवचन श्रवण में कुशल को भाव श्रावक कहा है ।

धर्मरत्नप्रकरण ग्रन्थ में भावश्रावक के संक्षिप्त में १७ लक्षण इस प्रकार दर्शाए हैं—

१. स्त्री का शिकार न बनकर आत्म कल्याण में उद्यमी हो । २. जितेन्द्रिय, ३. धनमूर्ख का त्यागी, ४. संसार के प्रति उदासीन । ५. विषय वासना—काम संज्ञा में आसक्त न हो । ६. आरंभ समारंभ का त्यागी । ७. गृहस्थावास को जेल—बंधनरूप मानकर छूटनेवाला, ८. सम्यग्दृष्टि—अपार श्रद्धालु, ९. गतानुगतिकता आदि लोकाचार का त्यागी, १०. जिनागमों का आदर भाव रखकर जिनाज्ञा का पालक, ११. दानादि धर्म में प्रवृत्त, १२. धर्म क्रिया विधिवत् करने में कुशल, १३. राग—द्वेष से सदा बचकर चलनेवाला, १४. दुराग्रह का त्यागी, १५. स्वजनादि संबंधों को क्षणभंगुर—अनित्य माननेवाला, १६. अनासक्त—संसार के विषय—भोगों आदि सब में आसक्ति न रखता हुआ विरक्ति के भाव से जीवन जीनेवाला, १७. गृहस्थाश्रम जीवन छोड़ने की उत्कंठा से त्याग करने की सदा तीव्र भावना रखनेवाला और श्रमण जीवन स्वीकारने की तीव्र इच्छावाला । उपरोक्त गुणों तथा लक्षणों को जानकर शास्त्र—विहीत आदर्शकोटि का शुद्ध श्रावक बनने का प्रयत्न करना हितावह

है। बाह्य—आभ्यन्तर दोनों प्रकार के हैं। श्रावक के अन्य २१ बाह्य गुण भी बताए हैं प्रकारान्तर से, तथा यहाँ १७ लक्षण भाव श्रावक के बताए हैं। बाह्य २१ गुण आने के पश्चात् भी १७ गुणों की आवश्यकता रहती है।

## नित्यकृत्य—

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायो संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

१. देवाधिदेवपरमात्मा की पूजा—भक्ति करना, २. गुरुभगवन्तों की सेवा सुश्रूषा करना, ३. आध्यात्मिक स्वाध्याय करना, ४. व्रत—विरति पूर्वक संयम साधना सामायिकादि करना ५. तपश्चर्या करना, तथा ६. दान देना आदि छः कर्तव्यों को प्रतिदिन श्रावक को करते रहना चाहिए। इसी तरह पर्वकृत्य जो दर्शाए हैं उनमें— १. अमाग्रि प्रवर्तन, २. साधर्मिक भक्ति, ३. अट्टम तप, ४. चैत्यपरिपाटी, तथा ५. परस्पर क्षमापनादि विशेष रूप से करने चाहिए। वर्षकृत्य के अन्तर्गत ११ वार्षिक कर्तव्य भी विशेष रूप से करने योग्य बताए हैं— १. चतुर्विध संघ भक्ति, २. साधर्मिक वात्सल्य, ३. यात्रा, ४. चैत्यपरिपाटी, तथा ५. देवद्रव्य वृद्धि, ६. महापूजा, ७. रात्रि जागरण, ८. श्रुतशास्त्र बहुमान, ९. उद्यापन महोत्सव, १०. तीर्थ—शासन प्रभावना, और ११. आलोचना—प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करनी। पापों को सर्वथा खपाने के लिए प्रायश्चित्त करके कर्मशुद्धि करनी। तथा पौषधादि विशेष रूप से करना चाहिए इत्यादि पर्व में विशेष रूप से करने योग्य कर्तव्य हैं।

## पाँचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक—

प्रस्तुत सारा अधिकार व्रतादि का स्वरूपादि पाँचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक का बताया है। चौथे गुणस्थान पर आरूढ़ होनेवाला श्रावक मात्र श्रद्धालु होता है। उससे एक सोपान आगे बढ़नेवाला भावुक पाँचवे गुणस्थानपर व्रत—विरति—पञ्चक्खाणवाला, आचरण करनेवाला होता है। देश = अल्प स्वरूप से भी विरति उसमें आती है। अतः श्रावक का जीवन यहाँ पर द्योतित किया है। इससे पाँचवे गुणस्थान का स्वरूप पूर्णरूप से ख्याल में आ जाना चाहिए। यह पढ़कर आप स्वयं ही समझ जाएँगे कि.. मैं स्वयं पाँचवे गुणस्थान पर हूँ या नहीं? मुझे पाँचवा गुणस्थान स्पर्शा है कि नहीं? या यदि मैं देश विरति के पाँचवे गुणस्थान पर चढ़ा हूँ तो कितने अंशों में गुणस्थान के अनुरूप बन पाया हूँ? और कितने अंशों में कमी है? यदि वैसी अवस्था अभी भी पूर्ण रूप में न आई हो तो विशेष

जानकारी प्राप्त करके वैसा बनने के लिए... सतत पुरुषार्थ करना ही चाहिए। इस आदर्श को दृष्टि समक्ष रखकर वैसा बनने के लिए सतत उद्यमशील रहना चाहिए।

आगे के छठे गुणस्थान पर चढ़ने के लिए पहले पूर्व के गुणस्थानों की परिपक्वता आनी ही चाहिए। तो ही आगे बढ़ना सार्थक है। अब पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक से पूर्व की तीव्र मिथ्यात्व के उदयवाली अचरमावर्त काल की अवस्था, फिर मन्दमिथ्यात्ववाली चरमावर्त कालीन अवस्था आदि आपने देखी होगी? पीछे पढ़कर आप समझ गए होंगे? कि कैसी स्थिति थी? उसके पश्चात् ३ करणादि करके आत्मा ग्रन्थिभेद कर सम्यग् दर्शन पाकर जो आगे बढ़ी और उसके बाद विरतिघर बनकर पाँचवे गुणस्थान पर पहुँची इत्यादि सभी प्रकारों में आप स्पष्ट समझ पाते होंगे कि... जीव का कितना विकास हुआ है? किस तरह विकास हो रहा है? किस तरह पाप कर्मों का प्रमाण घटता है और आत्मा का शुद्धिकरण कार्य हो रहा है। इस तरह पूर्ववस्था में और अब ५ वें गुणस्थानवर्ती जीवों में कितना आसमान—जमीन का अन्तर स्पष्ट दिखाई दे रहा है? यह समझ सकते हैं। इससे स्पष्ट ख्याल आता है कि जीव का आध्यात्मिक विकास कितना हुआ है। आत्मा कितनी आगे बढ़ी है? और अभी कितना आगे बढ़ना शेष है? यह और ऐसा स्वरूप समझकर प्रत्येक आत्माएँ आध्यात्मिक विकास साधती हुई आगे प्रगती करने का प्रबल पुरुषार्थ करें और परम्परा से मुक्ति धाम को प्राप्त करें यही अभ्यर्थना...

॥ शुभं भवतु ॥

# साधना का साधक आदर्श साधुजीवन

|                                                      |     |
|------------------------------------------------------|-----|
| चारित्र विण नहीं मुक्ति रे.....                      | ६९१ |
| मोक्षगामी - चारित्रप्रिय हो.....                     | ६९३ |
| आनन्द - कामदेवादि श्रावक.....                        | ६९५ |
| तीर्थकर भी अनिवार्य रूप से दीक्षा लेते हैं.....      | ६९६ |
| दीक्षा के साथ ही मनःपर्यवज्ञान.....                  | ७०० |
| दीक्षा का महत्व.....                                 | ७०१ |
| संयम - दीक्षा का अनुरागी ही सच्चा श्रावक.....        | ७०४ |
| श्रावक के लिए अप्रमत्त भावरूप - छट्ठा गुणस्थानक..... | ७०५ |
| आध्यात्मिक गुणों का विकास ही सच्ची साधुता है.....    | ७०६ |
| मोक्ष प्राप्ति के अनुरूप धर्म.....                   | ७०९ |
| पणासणो के लिए धर्म - नमो.....                        | ७११ |
| मोक्षसाधक महामन्त्र नवकार.....                       | ७१२ |
| सिद्धि के अनुरूप साधु धर्म.....                      | ७१३ |
| गृहस्थ एवं साधु की तुलनात्मक तालिका.....             | ७१४ |
| श्रावक भी साधु तुल्य बन सकता है.....                 | ७१७ |
| गुरु की गरिमा.....                                   | ७१९ |
| ३६ गुणधारक गुरु की श्रेष्ठता.....                    | ७२२ |
| ब्रह्मचर्य के १० समाधिस्थान.....                     | ७२४ |
| अनेक रीत से गुणों का वर्गीकरण.....                   | ७२८ |
| आचार्य के अनेक प्रकार.....                           | ७३० |
| गुणाश्रित स्वरूप.....                                | ७३२ |
| गुणों की व्यवस्था का शाश्वत स्वरूप.....              | ७३४ |
| प्रमाद का स्वरूप.....                                | ७४० |
| भ. महावीर की अप्रमत्तभाव की साधना.....               | ७५० |
| मिथ्यात्वादि बंध हेतुओं से आत्मगुणों का नुकसान.....  | ७५५ |
| अप्रमत्तभाव से निर्जरा.....                          | ७६० |
| प्रमाद से पाप - कर्म की प्रवृत्ति.....               | ७६२ |
| मूर्ख जीवन संस्कृति.....                             | ७६५ |
| प्रमत्त - अप्रमत्त साधु.....                         | ७६७ |
| साधक को अप्रमत्त बनना ही श्रेयस्कृत है.....          | ७७१ |

# साधना का साधक — आदर्श साधुजीवन

सर्वथा शुद्ध—सिद्ध—बुद्ध मुक्त ऐसे अनन्त सिद्धात्माओं के अनन्तगुणों को अनन्तबार नमस्कार करते हुए...

**साधुता के सोपान पर आरोहण—**

जीव पहले गुणस्थान पर सर्वथा विपरीत वृत्तिवाला मिथ्यात्मी था। चौथे गुणस्थान पर आकर सम्यग् दृष्टि सच्चा श्रद्धालु बना। पाँचवे गुणस्थान पर चढ़कर धर्म का आचरण करनेवाला सच्चा धर्मिष्ठ—आराधक बनता है। इस तरह ४ थे, ५ वें इन दोनों गुणस्थान पर श्रावक बनकर रहा। अब श्रावक की भूमिका से भी आगे बढ़ना है। क्योंकि श्रावकजीवन के धर्म की कितनी भी उत्कृष्ट कक्षा की भूमिका प्राप्त की हो फिर भी वह पूर्णस्वरूप नहीं है। अभी भी अपूर्णस्वरूप है। सिद्धि—मोक्ष का स्वरूप प्राप्त करने के लिए.. साधु बनना अत्यन्त आवश्यक है। अतः पाँचवे गुणस्थान के सोपान से आगे एक सोपान और ऊपर चढ़ते हुए छठे गुणस्थान पर पहुँचना है। छठ्ठा गुणस्थान साधु का है। अगर चौदह गुणस्थानों को दो विभागों में विभाजित करना हो तो १ से ५ तक के ५ गुणस्थान गृहस्थी—संसारी के हैं। और ६ से आगे के सभी गुणस्थान संसार के त्यागी साधु के हैं। छठे गुणस्थान के आगे सभी साधु के ही हैं। आगे अनिवार्यरूप से सभी साधु ही होते हैं। साधु के सिवाय आगे के किसी भी गुणस्थान पर कोई अन्य टिक ही नहीं सकता है। अतः साधुता के लिए प्रवेश द्वार समान छठ्ठा गुणस्थान है। अरे, यहाँ तक कह सकते हैं कि मोक्ष के लिए प्रवेश द्वार समान छठ्ठा गुणस्थान है। मोक्ष में प्रयाण की शुभ शुरुआत साधु के छठे गुणस्थान से ही होती है।

**“चारित्र विण नहीं मुक्ति रे”—**

यह पंक्ति अत्यन्त सार्थक सहेतुक पंक्ति है। अर्थ है— चारित्र के बिना मुक्ति की प्राप्ति संभव ही नहीं है। आज दिन तक भूतकाल के अनन्त काल में अनन्त आत्माएँ मोक्ष



में गई है। अतः यह सिद्ध होता है कि.. अनन्त आत्माओं ने चारित्र ग्रहण किया है। चारित्र ग्रहण करनेवालों की संख्या मोक्ष में जानेवाले जीवों की संख्या भी काफी बड़ी है। क्योंकि चारित्र ग्रहण करनेवाले सभी जीव कहाँ मोक्ष में चले जाते हैं? सभी नहीं जाते हैं। कई जीव यहीं देव—मनुष्यादि गति में जाते हैं। अतः धूम—वह्नि की तरह ही व्याप्ति संबंध से यहाँ भी स्पष्ट सत्य कहा जा सकता है कि.. जो जो मोक्ष में गया वह अवश्य चारित्रवंत ही था। परन्तु जो जो चारित्रवंत बने वे सभी मोक्ष में नहीं भी गए हैं। मोक्ष में भी गए हैं और मोक्ष सिवाय की अन्य देव—मनुष्यादि गतियों में भी गए हैं। अतः चारित्र लिया कि सबका मोक्ष हो ही गया, या हो ही जाएगा ऐसा कोई नियम नहीं है। जीवविशेष द्वारा चारित्र धर्म की पालना पर आधार है। लेकिन जो भी मोक्ष में गए हैं वे अवश्य ही चारित्र लेकर मोक्ष में गए हैं। बिना चारित्र धर्म के भूतकाल के अनन्त वर्षों में भी कोई भी मोक्ष में नहीं गया है। सभी चारित्र धर्म पालकर ही मोक्ष में गए हैं। इसीलिए “चारित्र विण नहीं मुक्ति” यह पंक्ति सर्वथा सार्थक है।

### मरुदेवी माता की मुक्ति—

अपवाद रूप में जो दृष्टान्त है वह मरुदेवी माता का है। माता मरुदेवी का मोक्षगमन एक अद्भुत—अनोखी आश्चर्यकारी घटना है। हाथी पर बैठकर मरुदेवी माता भरतजी के साथ आदीश्वर भगवान के दर्शनार्थ जब जा रही थी उस समय अपने पुत्र आदीश्वर भगवान को जो केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस कैवल्य प्राप्ति का दैवी महोत्सव था। समवसरणादि की अनोखी रचना हुई थी.. देवता आए थे। देवदुंदुभियाँ बज रही थी। अष्ट प्रातिहार्यों की रचना हुई थी। इत्यादि प्रकार की अद्भुत अनोखी ठकुराई को देखने के लिए मन्त्राजी की आँखें तरस रही थी। पुत्र ममत्व, मोह जो वर्षों से था वह उत्कृष्ट भावनाओं के चिन्तन की धारा में चढ़ने से पिघलने लगा। भावनाओं के चिन्तन से सहज रूप से मरुदेवी माता की आत्मा ध्यान की धारा में चढ़ गई। और ध्यान में भी उच्च कक्षा के शुक्लध्यान की कक्षा में पहुँच गई और देखते ही देखते चारों घनधाती कर्मों के आवरण टूटते गए और अन्तर्मुहूर्त काल में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही जीव सर्वज्ञ सर्वदर्शी—वीतरागी बन जाता है। ४ घाती कर्मों के क्षय से यह अवस्था प्राप्त होती है। परन्तु शेष ४ अघाती कर्मों में अन्तिम जो आयुष्य कर्म सत्ता में पड़ा था। जिसका कार्य सिर्फ जीने के लिए निर्धारित वर्षों का समय

प्रदान करना है। पिछले जन्म में जीव ने जिस प्रकार का, जितने वर्षों का आयुष्य कर्म बांधा हो उसके अनुसार वर्तमान जन्म में उतने वर्षों का काल मिलता है। मरुदेवी माता को.. एक तरफ केवलज्ञान की प्राप्ति होना.. और दूसरी तरफ आयुष्य कर्म की समाप्ति होना ये दोनों कार्य एक साथ एक ही अन्तर्मुहूर्त के काल में हो गए। अतः माताजी को केवली सर्वज्ञ के रूप में जीने का, यहाँ इसी देह में धरती पर रहने का, ज्यादा समय ही नहीं मिला। सोचिए ! केवलज्ञान—दर्शन—वीतरागता तथा अनन्त शक्ति का सामर्थ्य प्राप्त होने के बाद भी आयुष्य बढ़ा नहीं सके तो फिर हमारे जैसे सामान्य कक्षा के जीवों की तो बात ही कहाँ हो सकती है ? अतः आयुष्य कर्म जो पिछले—पूर्व जन्म में बांधा है उसमें वृद्धि के लिए किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता है। हाँ, भिन्न—भिन्न प्रकार के उपक्रमों के लगने से आयुष्य कम हो सकता है। बीच में ही टूट सकता है। लेकिन बढ़ना संभव नहीं है।

ऐसे समय में एक ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान और मोक्षगमन दोनों क्रियाएँ एक ही साथ हो गई। बीच में समय बहुत कम रहा। अतः अन्तर्मुहूर्त कहा है। अर्थात् मुहूर्त के अन्दर के ही काल में। इस तरह अन्तर्मुहूर्त काल में द्रव्य दीक्षा—वेषादि धारण करना उनके लिए संभव नहीं था। इस दृष्टि से लोक व्यवहार में कहा जाता है कि.. मरुदेवामाता बिना दीक्षा लिए ही मोक्ष में गई। परन्तु भाव चारित्र की काफी ऊँची कक्षा प्राप्त हुई थी। अतः भाव चारित्र की ऊँची कक्षा से मुक्ति की प्राप्ति हुई थी। द्रव्य बेष की अपेक्षावाला चारित्र उनके पास नहीं था। सर्वथा चारित्र का अभाव भी नहीं था। मुक्ति की प्राप्ति चारित्र धर्म के आधार पर ही हुई थी। अतः यह नियम निश्चित ही है कि बिना चारित्र के आज तक कोई मोक्ष में गया नहीं है और भविष्य में भी बिना चारित्र स्वीकार किये कोई मोक्ष में जाएगा ही नहीं। अतः यह निश्चित है कि मुक्ति का आधार चारित्र पर है। और परंपरा से चारित्र का आधार श्रद्धा पर और श्रद्धा—सम्यग्—दर्शन का आधार सम्यग् ज्ञान पर है।

**मोक्षगामी—चारित्रप्रिय हो—**

जो जो मोक्षगामी भव्य जीव है उन सब को चारित्र प्रेमी बनना ही चाहिए। चारित्र प्राण से भी ज्यादा प्रिय होना चाहिए। मोक्षार्थी जीव चारित्र धर्म पर कभी भी द्वेषबुद्धिवाला—दुर्भाववाला नहीं होना चाहिए। मोक्षाभिलाषा तथा संसार से उद्देग

अनिवार्य है। चारित्र संसार के त्यागपूर्वक ही आता है। संसार के प्रति राग—आसक्ति होनी ही नहीं चाहिए। जैन श्रावक मात्र में चौथे सम्यग् दर्शन के गुणस्थान से ही संसार के प्रति अरुचि—अनिच्छा—उद्वेगभाव के बीज बोए जाते हैं। अतः चौथे गुणस्थान पर श्रद्दालु बनने से ही मुक्ति की अभिलाषा तथा संसार के प्रति अरुचि जागृत हो ही जाती है। क्योंकि संसार के प्रति रुचि—प्रेम—आसक्ति और मोक्ष की अभिलाषा परस्पर विरोधि वृत्ति है। अतः संसार की तीव्र रुचि जीव को मुक्तिमार्ग पर अग्रसर होने में रोड़े डालती है। बाधक बनती है। मुक्ति के मार्ग पर सतत आगे बढ़ने की तमन्नावाला श्रावक होता है। श्रावक कक्षा में भी सम्यग्दृष्टि जीव संसार बढ़े, संसार की वृद्धि हो, इसके प्रति उत्सुक नहीं होता है। क्योंकि अनन्त भूतकाल संसाररुचि बनकर बिताते आए हैं। मिथ्यात्व में सदा ही संसार रुचि रही थी। संसार की वासना अन्दरूनी—आन्तर मन में पड़ी हुई थी। अतः मिथ्यात्व में संसार खूब बढ़ाया, खूब बिगाड़ा, तथा खूब संसार की मजा लूटी। संसार के सुख—भोग काफी भोगे। मिथ्यात्व के घर में रहकर पाप में खूब मजा मानी—भोगी। इस तरह पाप कर्मों में सुख की वृद्धि रखकर इस विपरीत वृत्ति से काफी मजा पाप करते हुए मानी, भोगी। परिणाम स्वरूप मिथ्यात्व के भाव की खूब पुष्टि की। मिथ्यात्व पापकर्मों में मजा—सुख भोगने से ज्यादा पुष्ट—मजबूत होता ही जाता है। इसीलिए पाप में सुख, पाप प्रवृत्ति में मजा, ये विचार और ऐसी करणी सर्वथा छोड़ देनी चाहिए। यही ज्यादा हितावह है।

चौथे गुणस्थान पर सम्यग् दर्शन पाने के पश्चात् अब विचारधारा—मानस—बुद्धि सर्वथा बदल जाती है। परिणाम स्वरूप संसार के प्रति रुचि—आसक्ति काफी घटती जाती है। दूसरी तरफ मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा—रुचि तीव्र—तीव्रतर बढ़ती ही जाती है। मुक्ति की तमन्ना बलवत्तर बनती है। यद्यपि पाँचवे गुणस्थान पर व्रती विरतिधर बनता है और संसार में ही रहता है। गृहस्थाश्रमी बनकर ही जीता है परन्तु अब भावना—मन सर्वथा बदल जाता है। मजबूरी है और संसार में रहना पड़ता है। संसार में जबरदस्ती रहना पड़ता है। या किसी परिस्थिति के, संयोगों के आधीन बनकर रहना पड़ता है इसलिए विकल्प नहीं है। ऐसी मजबूरी से संसार में रहना पड़ता है। जैसे एक नव परिणीत युवती को पति के व्यापारार्थ विदेशगमन प्रसंग पर बिना किसी विकल्प के मजबूरी से घर में रहना पड़ता है। क्या करें ? बहुत तीव्र इच्छा होते हुए भी नहीं जा सकती है अतः रहने के लिए मजबूरी है। एक नोकर को काम नहीं भी करना है फिर भी क्या करे ? मजबूरी है।

इस तरह बिना मन के, भाव के श्रावक संसार में रहता है। मन से तो मुक्ति की तीव्र अभिलाषा—तमन्ना रहती है। मन संसार छोड़ने के लिए, चारित्र की प्राप्ति के लिए तडपता है और शरीर—देह से उन्हें संसार में रहना पड़ता है। अतः मजबूरी से रहते हैं। आसक्ति से तृष्णा से नहीं रहते हैं। ऐसी श्रावक जीवन की मनोभावना तीव्रता बढ़ने पर... छूटे गुणस्थान पर पहुँचने की भूमिका बनती है।

### आनन्द—कामदेवादि श्रावक—

ढाई हजार वर्ष पूर्व... श्री वीर प्रभु के परम उपासक श्रमणोपासक आनन्द, कामदेव, शंख, शतक, महाशतकादि १० श्रेष्ठ श्रावक थे। ४५ आगमों में ११ अंगसूत्रों में ७ वाँ अंग सूत्र उपासक दशांग सूत्र है। उपासक शब्द श्रावक के अर्थ में प्रयुक्त है। इस आगमशास्त्र में आनन्द श्रावकादि १० श्रावक के जीवन चरित्रों का अद्भुत वर्णन है। उन्होंने कैसा जीवन जिया? किस तरह गृहस्थाश्रम में वे व्रतधारी शुद्ध श्रावक बने? उनका त्याग कैसा था? कितना था? आराधना—साधना उन्होंने कैसी की? कामदेव नामक श्रावक ने तो अपनी पौषधशाला में पौषध में ध्यान में रहकर अपनी पत्नी की तरफ से तथा आए हुए अन्य उपसर्गों को कितनी दृढ़ता के साथ सहन किया? इत्यादि अद्भुत वर्णन है। आनन्द श्रावक के त्याग का वर्णन सुनते ही हमारे रोम रोम खड़े हो जाय और अहोभाव से मन नतमस्तक हो जाय। एक साधु की तुलना में भी श्रेष्ठ कक्षा का उनका त्याग गिना जाता है। तथा व्रत पालन की दृढ़तादि अद्भुत कक्षा की देखी जाती है। इतना अद्भुत त्याग तथा व्रतादि देखने से लगता है कि साधुता की, भाव-कक्षा की भूमिका भी अद्भुत आई हो। स्वयं गणधर गौतमस्वामी जब आनन्द के घर भिक्षार्थ पधारे... तब आनन्द के तप—त्यागादि धर्म की अनुमोदना की है। आनन्द को श्रावकाश्रम में रहते हुए ही अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था।

आश्चर्य तो इस बात का है कि इतना सब कुछ त्यागादि होते हुए भी आनन्द श्रावक दीक्षा क्यों नहीं ले सका? कामदेव श्रावक पत्नी के कारण खड़ी हुई विपरीत परिस्थिति के बंधन में बंधे हुए थे परन्तु आनन्द श्रावक के लिए क्या परिस्थिति थी? अवधिज्ञान हो जाने के पश्चात् भी आनन्द दीक्षा क्यों न ले सका? यह खोज का विषय जरूर है। अत्यन्त उत्कट भावना और वैसा तदनुरूप जीवन बना लेने के पश्चात् भी गृहस्थाश्रम जीवन की ऐसी किसी प्रकार की परिस्थिति के आधीन थे जिसके कारण वे संसार से न छूट सके

यह निर्विवाद है। परन्तु आनन्द—कामदेवादि श्रावकों का श्रावकाश्रम का जीवन इतना ऊँचा आदर्श जीवन था कि जिनका स्मरण कर आज भी सदियों तक इस आदर्श को दृष्टि समक्ष लक्ष्य के रूप में रखकर प्रगति की जा सकती है। वैसा जीवन बनाया जा सकता है।

**तीर्थकर भी अनिवार्य रूप से दीक्षा लेते हैं—**

अन्तिम जन्म में निश्चित रूप से तीर्थकर भगवान् बननेवाले सभी तीर्थकर माता के गर्भ में थे तब से ही मति—श्रुत—अवधि इन तीनों ज्ञानों से युक्त ही थे। जन्मजात तीन ज्ञान पूर्ण—संपूर्ण होने के पश्चात् उन्हें दीक्षा लेने की क्या आवश्यकता पड़ी? क्या वे दीक्षा न लेते तो भगवान् नहीं बन पाते? जैन धर्म के सिवाय किसी अन्य धर्म के भगवान् दीक्षा—चारित्र्य लेते हैं ऐसा वर्णन उनके धर्म ग्रन्थों में है ही नहीं। न तो भगवान् राम ने दीक्षा ली हो, सर्वसंग का त्याग कर घर संसार छोड़कर दीक्षा—चारित्र्य लेकर साधना की हो ऐसा कोई वर्णनवाल्मीकि रामायण में नहीं है। (हाँ, जैन रामायण में भगवान् श्रीराम दीक्षा लेकर साधना करके मोक्ष में जाते हैं ऐसा वर्णन है) भागवत् पुराण में भी भगवान् श्रीकृष्ण को संसार का त्याग करके सर्वसंग मुक्त चारित्र्यधर्म दीक्षा का जीवन अंगीकार करते हुए नहीं दर्शाया है। लीला प्रधान जीवन श्रीकृष्ण का बताकर उन्हें सब प्रकार की लीला करते हुए बताया है। विलासी जीवन का चित्रण किया है। शिवजी शंकर का चरित्र तो अनोखा ही बताया है। उनके जीवन में भी महाभिनिक्रमण करके संसार को छोड़कर चारित्र्यग्रहण करते हुए नहीं बताया गया है। शिवपुराण में शिव—शंकर का जीवन पढ़ने पर सेंकड़ों आश्चर्य खड़े हो जाते हैं। उनमें भगवान् स्वरूप मानने में सेंकड़ों प्रश्न खड़े हो जाते हैं? परमात्मा—परमेश्वर की कसौटी पर कसने से भगवन्त के अनुरूप चारित्र्य—दीक्षा का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्माजी—विष्णु आदि के जीवन में भी वैसा चारित्र्य का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है। अतः हिन्दु धर्म में भगवान् बनने के लिए चारित्र्य—धर्म अनिवार्य नहीं बताया है। इस्लाम धर्म में कुरानादि धर्मग्रन्थों में चारित्र्य धर्म—दीक्षा की कोई विचारणा ही नहीं है। ख्रिस्ती धर्म में बाइबिल आदि धर्मग्रन्थों में भी दीक्षा—संसार त्याग—आदि की बातें मानी ही नहीं गई है। बौद्ध धर्म में... तथागत भगवान् श्री बुद्ध ने संसार का त्याग किया है। महाभिनिक्रमण करके निकले जरूर हैं, परन्तु उनके चारित्र्य धर्म का स्वरूप उनकी विचारधारानुरूप है। संसार से विरक्त जरूर है।

चौबीस ही तीर्थंकर सभी पूर्वोपार्जित प्रबल पुण्योदय से राजकुल में उत्पन्न हुए हैं। राज ऋद्धि-सिद्धि सम्पत्ति-समृद्धि उनके परिवार में काफी अच्छी थी। पानी की जगह दूध की नदीयां बहती थीं। फिर किस बात की कमी थी ? यहां तक कि...वर्तमान चौबीसी के २४ तीर्थंकरों में से १६, १७, १८ वे श्री शान्तिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरुनाथ इन ३ तीर्थंकर भगवंतों को तो ६ खंड का चक्रवर्तीपने का राज्य मिला था। लाखों वर्षों का काफी लम्बा आयुष्य मिला था। इस अवनितल पर चक्रवर्ती सर्वोत्कृष्ट कक्षा के वैभवी ऐश्वर्यशाली पुरुष गिना जाता है। अमाप ऋद्धि-सिद्धि सम्पत्ति और समृद्धि उनके पास रहती है। फिर भी वे मात्र समृद्धि के कारण भगवान नहीं कहलाते हैं। आखिर उनको भी सम्पूर्ण वैभव-ऐश्वर्य का सर्वथा त्याग करना ही पड़ता है। तथा महाभिनिष्क्रमण करके दीक्षा लेनी ही पड़ती है। निर्जराकारक धर्म करते हुए कर्मक्षय करने पर ही मुक्ति मिलती है। ऐसे थे १६वे शान्तिनाथ, १७वे कुंथुनाथ तथा १८वे अरुनाथ भगवान। ये तो तीर्थंकर भगवान थे। इन्होंने पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया था, अतः भगवान बनकर मोक्ष गए। लेकिन किसीने यदि तीर्थंकर नामकर्म नहीं भी उपार्जन किया हो फिर भी चक्रवर्ती बनते हैं। तथा छ खंड समस्त समृद्धि का त्याग करके दीक्षा लेकर निर्जरा धर्मोपासना करते हुए सर्व कर्म क्षय करके मोक्ष में जाते हैं। अन्यथा नहीं।

### भगवान बनने के लिए दीक्षा ग्रहण - शाश्वत आचार

अन्तिम भव (जन्म) में भगवान बनना है। पूर्व के तीसरे जन्म से तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करके साथ ले आए हैं। अतः उन्हें संसारवास का त्याग करके दीक्षा ग्रहण करना अनिवार्य है। तीर्थंकर भगवान के लिए यह नित्य शाश्वत आचार धर्म है। व्यतीत अनन्त भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर भगवान हुए हैं, उनमें से कोई एक भी भगवान ऐसे नहीं हुए जिन्होंने दीक्षा न ली हो। ठीक इसी तरह आगामी अनन्त भविष्यकाल में भी जो भी कोई भगवान बनेंगे वे निश्चित रूप से संसार का त्याग करेंगे और दीक्षा लेंगे। तब जाकर मोक्ष जाएंगे। इस तरह जैन धर्म में तीर्थंकर भगवान बनने के लिए दीक्षा ग्रहण एक शाश्वत नियम है। दुनिया के किसी अन्य धर्म में ऐसी कोई नियमबद्ध व्यवस्था ही नहीं है, इतना ही नहीं, दीक्षा ग्रहण तीर्थंकर भगवान के जीवन में एक कल्याणक के रूप में मानाया जाता है। जो सर्व के लिए कल्याणकारी प्रसंग होता है, उसे कल्याणक कहते हैं। हर किसीके जीवन की घटना कल्याणकारी नहीं बनती है, लेकिन तीर्थंकर भगवान के जीवन के जन्म से मृत्यु तक के प्रमुख पांच प्रसंग कल्याणकारी होने के कारण पंच कल्याणक के रूप में मनाए जाते हैं। १) च्यवन कल्याणक :- जिसमें भगवान बननेवाली आत्मा स्वर्ग से उतरकर इस अवनितल पर माता की कुक्षी में आती है। २) साडे नौ माह गर्भावस्था में रहकर जन्म लेने के प्रसंग को जन्म कल्याणक कहते हैं। ३) संसार, गजपाट वैभव, पुत्र-पत्नी परिवार का, धन-सम्पत्ति आदि का त्याग करके संसार से महाभिनिष्क्रमण करके दीक्षा लेने के प्रसंग को दीक्षा कल्याणक कहते हैं। ४) भारी तपश्चर्या, ध्यानादि साधना, ६९७

उपसर्ग सहनादि करके चारों घाती कर्मों का क्षय करके कैवल्य की प्राप्ति करने के प्रसंग का । अलजान कल्याणक कहते हैं। ५) अन्त में शरीर का त्याग करके आठों (सर्व) कर्मों का क्षय करके निर्वाण प्राप्त करके मोक्ष में जाने के प्रसंग को निर्वाण कल्याणक कहते हैं। इस तरह भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों कालों में अनन्त ही तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन में ये पांच कल्याणक प्रसंग अनिवार्य रूप से होते ही रहते हैं। अतः शाश्वत स्वरूप है, इन पांचों कल्याणक प्रसंगों का । इन पांच में दीक्षा भी एक है अतः निश्चित रूप से जैन धर्म के तीर्थंकर भगवान दीक्षा ग्रहण करते ही है। तत्पश्चात् ही वे भगवान बनेंगे।

भगवान बननेवाले कभी घर में बैठे-बैठे केवलज्ञान नहीं पाते हैं। भगवान न बननेवालों के लिए ऐसा कोई शाश्वत नियम नहीं है। भरत जैसे चक्रवर्ती आदि कई घर में गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही केवलज्ञान पा गए। लेकिन दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ही मोक्ष में जाते हैं। आखिर मोक्ष-मुक्ति के लिए दीक्षा लेना अनिवार्य है। चाहे कोई भी हो। राजा हो या महाराजा, स्त्री हो या पुरुष, जिस किसीको भी मोक्ष पाना हो उनके लिए दीक्षा ग्रहण करना अनिवार्य है। ऐसा जैन धर्म का अद्भूत-अनोखा नियम है, सिद्धान्त है। दीक्षा का इतना बड़ा महत्व होने के कारण सैंकड़ों स्त्री-पुरुष आज की तारीख में भी दीक्षा लेते हैं। संसार का परित्याग करते हैं। तप और त्याग के पाया (फाउन्डेशन) पर जैन धर्म की इमारत सुरक्षित निर्माण हुई है अतः आज दिन तक बिना डिगमिगाए खड़ी है।

दीक्षा की इतनी प्राधान्यता होने के कारण ही असंख्य वर्षों के बाद भी दीक्षा ग्रहण की प्रक्रिया चल रही है। विश्व के समस्त धर्मों के सभी भगवानों के बीच एक मात्र जैन तीर्थंकर भगवन्त ही दीक्षा लेकर भगवान बने हैं। अन्य कोई भी भगवान ऐसी प्रवृज्या ग्रहण करके भगवान नहीं बने हैं। विश्व के धर्मों का विश्लेषण २ विभाग में कर सकते हैं। १) भोगवादी नीतिवाले धर्म, तथा २) त्याग वृत्तिवाले धर्म। भोगवादी नीतिवाले धर्म के भगवानों को वैभवी ऐश्वर्य युक्त दर्शाए गए हैं। जबकि त्याग वृत्ति की नींव वाले धर्मों में भगवान को विरक्त वैरागी दर्शाए गए हैं। जैन तीर्थंकर भगवान गृहस्थ जीवन में राजा-महाराजा-चक्रवर्ती थे। अमाप धन-सम्पत्ति एवं समृद्धि युक्त वैभवी ऐश्वर्यवाले ही थे। छह खंड के मालीक चक्रवर्ती जो हजारों राजाओं के सर्वोपरि महान राजा थे उनके पास क्या कमी थी ? वे ऐसे वैभवी जीवन में भगवान नहीं बनें। ऊपर से राज-पाट-वैभव ऐश्वर्य एवं पत्नी-पुत्र-परिवारादि सब कुछ त्याग करके...संसार से महाभिनिष्क्रमण करके प्रवृज्या ग्रहण करके जंगलों में निकल पड़े। तप-ध्यानादि साधना द्वारा कर्मक्षय करके स्वयं भगवान बने। तथा तीर्थंकर भगवान बनकर भी उन्होंने सबको दीक्षा लेने के लिए उपदेश अपनी देशना में देते रहे। परिणाम स्वरूप सैंकड़ों स्त्री-पुरुष दीक्षा ग्रहण करते रहे। इतना ही नहीं, तीर्थंकर भगवन्तों ने जिस चतुर्विध संघ की स्थापना की उसे भी श्रमण प्रधान संघ रखा। मोक्षलक्षी धर्म में चास्त्रि धर्म की प्राधान्यता ही अनिवार्य रूप से उपयोगी एवं उपकारी है। इस आधार पर ही असंख्य वर्षों के बाद भी आज दिन तक दीक्षा ग्रहण की परंपरा अखंड रूप से चल रही है।

## ऐश्वर्य विलासिता क्यों?—

मान लो की वे दीक्षा न ग्रहण करे और गृहस्थाश्रम में ही रहकर धर्मोपदेश करे, धर्म स्थापना करे तो क्या आपत्ति है ? ज्ञान तो उनके पास भी पूरा ही है । प्ररूपणा—प्रतिपादन में कोई क्षति नहीं रहती है । गृहस्थाश्रम में तो वैसे भी राजराजेश्वर महाराजाधिराज है ही .. सर्वजन मान्य भी है ही । फिर मान लो घर में ही एक तरफ अलग से रहकर— वैसे वैभवी—वैभवशाली, ऐश्वर्यशाली भगवान बनकर धर्मोपदेश नहीं कर सकते हैं ? कई धर्मवाले अपने अपने भगवानों को वैभवशाली, ऐश्वर्यशाली, भोगी, विलासी बताकर ही उनके पास धर्म प्रवर्तन—धर्मप्रतिपादन करवाते हैं । श्री राम, श्रीकृष्ण, स्वामिनारायण पंथवालों ने भी अपने भगवान वैसे माने हैं । यहाँ कर्नाटक राज्य में बसवेश्वर—बसव को भगवान मानकर उनको भी वैभवी, ऐश्वर्यशाली, विलासी—भोगी बताया है । वैसा वर्णन बहुत ज्यादा किया है । इसलिए वैसा ही चित्रण किया है । और वे धर्मस्थापना धर्मोपदेश करते हैं । जैसे वे स्वयं भगवान हैं, वैसा ही उनका उपदेश है । उस धर्मोपदेश में भी त्याग की बात ही नहीं आएगी । अतः त्यागप्रधान धर्म वे नहीं बताएँगे । भोगप्रधान धर्म और भोगप्रधान भगवान वैसी विचारधारा उनकी है । ऐसी ही विचारधारा पर चलनेवाले आज भी कई भगवान हैं । आज जो भगवान बनते हैं, वे वैभवशाली—ऐश्वर्यशाली विलासी, भोगी जीवन जीने की ही ज्यादा चेष्टा करते हैं । पुणे में हुए रजनीश इसी रास्ते पर चलें और खूब ऐश्वर्य—भोगने की वैभवी बनने की अपनी लालसा, भोगलालसा के आधार पर जीने की, भोगों की आधीनता जगत को दिखाई । वैसा खूब रंगीला—विलासी जीवन जगत के सामने दिखाया ।

क्या वे इतना भी नहीं जानते थे कि .. यह सारा भोग विलास, ऐश्वर्य—वैभव सब क्षणिक है, नाशवंत है, अल्पकालिक है, भौतिक है, पौद्गलिक है । इससे क्या फायदा ? भोग कितने भी भोगते जाओ .. आखिर न तो कोई तृप्ति होनेवाली है, और न ही कोई संतोष होनेवाला है । इससे कोई फायदा नहीं है । आसक्ति मिटनेवाली नहीं है । भोग तो क्या भोगे जाय ? हम ही पूरे भोगे चले जाएँगे । यही हालत इन भोग—भोगियों की, भोगवादियों की हुई है ।

## त्याग धर्म की आवश्यकता—

इसके बजाय चारित्र धर्म का मार्ग सदा ही श्रेयस्कर है । संसार के त्याग का दीक्षा ग्रहण स्वरूप त्यागधर्म का मार्ग सर्वश्रेष्ठ—श्रेयस्कर है । जैन तीर्थंकर अरिहंत भगवानों



ने इसी त्यागमार्ग का स्वीकार किया और वैसा ही त्यागमय, त्यागप्रधान जीवन जीकर बताया। वैसे ही त्याग के धर्म का प्रतिपादन किया है। धर्मस्थापना में त्याग धर्म = अर्थात् साधुधर्म सर्वसंग परित्यागरूप विरती प्रधान धर्म ही जगत को दिखाया है। इसीलिए दीक्षा—चारित्रधर्म अस्तित्व में आया। और आज हजारों वर्षों के बाद भी आचार परंपरा में विरतिप्रधान त्यागधर्म जगत में प्रचलित हुआ है। जिसका जैन साधु आज भी सुंदर पालन करते हैं, जैन साधु त्याग की जीवन्त मूर्ति है। उनके जीवन में भोग—भोगेच्छा—विलासिता, ऐश्वर्य—विलासिता का स्पर्शमात्र भी नहीं है। वे त्यागमूर्ति हैं। त्यागमय उनका आदर्श जीवन है, अतः संसार में कहा जाता है कि— त्याग का ऊँचा आदर्श देखना हो तो जैन साधु को देखना चाहिए। इसका सारा श्रेय जिनेश्वर तीर्थंकर भगवंतों को है।

### दीक्षा के साथ ही मनःपर्यवज्ञान—

तीर्थंकर भगवान जो भी दीक्षा लेते हैं उन्हें दीक्षा लेते ही चौथा मनःपर्यवज्ञान भी प्राप्त होता ही है। यह अनिवार्य नियम ही है कि दीक्षा लेते ही चौथा मनःपर्यवज्ञान प्राप्त होता है। मति आदि तीन ज्ञान तो पहले से जन्म से ही है, और चौथा मनःपर्यव ज्ञान भी दीक्षा लेते ही होनेवाला है। सोचिए ! तीर्थंकर भगवंतों के लिए यह एक अद्भुत अनोखी शाश्वत व्यवस्था है कि... जब वे दीक्षा ग्रहण करेंगे... तब उनको निश्चित रूप से मनःपर्यवज्ञान प्राप्त होगा ही। इस प्रकार के मनःपर्यव ज्ञान से जगत् के समस्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मनवाले समनस्क जीवों के मनोगत भावों को जान सकते हैं, समझ सकते हैं।

आखिर मनःपर्यवज्ञान का दीक्षा—चारित्र के साथ ऐसा क्या घनिष्ठ संबंध है ? कैसा अद्भुत कार्य—कारण भाव संबंध है ? जन्य—जनकभाव संबंध है। जब तक तीर्थंकर प्रभु संसार का त्याग नहीं करते हैं, दीक्षा नहीं ग्रहण करते हैं, तब तक मनःपर्यव ज्ञान होने की कोई संभावना ही नहीं है। आज दिन तक किसी भी तीर्थंकर भगवान को गृहस्थाश्रम के संसार में रहे—रहे बैठे—बैठे मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हुआ नहीं है। अरे, ऐसा कोई अच्छेरा—आश्चर्यकारी घटना भी नहीं घटी है कि गृहस्थाश्रम में बैठे बैठे मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हुआ हो। अपवाद के रूप में भी किसी तीर्थंकर को ऐसा नहीं हुआ है। गृहस्थाश्रम में बैठे बैठे मनःपर्यव ज्ञान भी नहीं हुआ, और केवलज्ञान भी नहीं हुआ। जब वे दीक्षा लेंगे तब ही मनःपर्यवज्ञान प्राप्त होगा। और साधु जीवन में साधना करते हुए चारों घनघाती कर्मों का सर्वथा संपूर्ण क्षय करेंगे तभी ही केवलज्ञान प्राप्त होगा। अतः इन दोनों प्रकार

की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए तीर्थंकर भगवंतों को भी दीक्षा लेनी अत्यन्त आवश्यक है ।

### दीक्षा का महत्व—

उपरोक्त वर्णन से ही आप समझ गए होंगे की दीक्षा—चारित्र्य धर्म का विरति प्रधान त्याग धर्म का कितना ज्यादा महत्व है ? ऐसी महिमा दीक्षा की गाते हुए महापुरुषों ने लिखा है कि—

दीक्षा मोहहरी महोदयकरी, दीक्षा त्रिलोकार्चनी;  
दीक्षा शुद्धिकरी विषादहरणी, दीक्षा च शिक्षावनी ।  
दीक्षा श्रीजिनसेविता गुणगणैर्दीक्षा सदा पूरिता;  
तां श्री क्षान्तियुतां भवान्तपदवीमाराध्य जग्मुर्जनाः ॥

ऐसी दीक्षा मोह माया—ममत्व का हरण करनेवाली है । अर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय करनेवाली है । आत्मा का महान उदय—अभ्युदय करनेवाली दीक्षा है । सचमुच यह दीक्षा तीनों लोक में पूजित—सन्मानित है । यह दीक्षा आत्मशुद्धि करनेवाली है, संसार जन्य सभी विषाद—खेद—दुःखों को दूर करनेवाली है । ऐसी ही दीक्षा शिक्षा की आधारभूमि है । दीक्षा का प्रतिपादन प्ररूपणा करनेवाले तीर्थंकर भगवंतों ने मात्र उपदेश करके दूसरों को दीक्षा लेने के लिए कह दिया है ऐसा भी नहीं है । उन्होंने स्वयं पहले यह दीक्षा अंगीकार की है । स्वीकार की है । आचरण किया है फिर जगत को बताई है । सचमुच ऐसी दीक्षा अनेक गुणों के समूहों से भरी हुई है । गुणों की खान है । ऐसी क्षमा—समतादि गुणों से परिपूर्ण दीक्षा जो भव संसार की अन्तिम पदवी स्वरूप है । इसकी आराधना—उपासना करके अनन्त जीव मोक्ष में गए हैं । अपना कल्याण कर चुके हैं । और भावि भविष्य के अनन्त काल में जितने भी मोक्ष में जाएँगे वे सभी दीक्षा ग्रहण करके ही जाएँगे ।

ऐसी श्री तीर्थंकर प्ररूपित दीक्षा की महिमा अनन्तगुनी है । त्यागप्रधान ऐसी दीक्षा का स्वरूप जैन धर्म के सिवाय संसार के अन्य किसी भी धर्मों में नहीं मिलता है । संभव ही नहीं है । दीक्षा के लिए प्रव्रज्या शब्द प्रयुक्त है । इसके आगे पूजनीय पूज्यवाची—आदरवाची भागवती शब्द लगाकर .. “भागवती प्रव्रज्या” कहते हैं । सतत ऐसी दीक्षा की प्राप्ति जनम—जनम हो इसके लिए प्रार्थना करनी चाहिए ।

## दीक्षा-प्रव्रज्या का स्वरूप—

बाह्य संस्कृति प्रधान हिन्दु धर्म में, संन्यास कहते हैं। जैन धर्म में दीक्षा प्रव्रज्या कहते हैं। इन दोनों की यदि तुलना की जाय तो आसमान—जमीन का अन्तर इसमें स्पष्ट दिखाई देता है। धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों पर आधारित आचार संहिता के बल पर दीक्षा की समाचारी बनी है। तदनुरूप ही आचार विचार की संयोजना हुई है। उन आचारों में—अहिंसा—सत्य—अस्तेय—ब्रह्मचर्य—अपरिग्रहादि सिद्धान्तों की प्राधान्यता है। इन सिद्धान्तों को जीवन में चरितार्थ करते हुए कैसे पूर्णरूप से, शुद्धरूप से पालना यह देखना है। सर्वथा पाप कर्मों से कैसे बचना, नए पाप सर्वथा न करना तथा पुराने किए हुए पाप कर्मों का कैसे क्षय करना यह प्रधान लक्ष्य रहता है। चरमसाध्य मोक्ष की प्राप्ति का है अतः उसके अनुरूप चारित्र धर्म है। साधनारूप आचरणा ऐसी होनी चाहिए जो साध्य के अनुरूप पूरक हो। साध्य की प्राप्ति करा सके। इसलिए साध्य का लक्ष्य रखकर वैसा अनुरूप चारित्र धर्म होना चाहिए। जैन शासन में यह सिद्धान्त यथार्थ चरितार्थ हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। जबकि मोक्ष का सिद्धान्त यथार्थ सिद्ध करके तदनुरूप संन्यासादि इतर धर्मों में सर्वथा शुद्ध लगता है कि नहीं यह देखने जैसा है। विचारणीय है। इसके लिए आवश्यक है कि सर्व प्रथम मोक्ष का स्वरूप कैसा है यह निर्धारित करना चाहिए। मुक्ति का चरम सत्यस्वरूप निश्चित होना जरूरी है। उसके पश्चात् ही तदनुरूप साधना निश्चित होती है। तब जाकर साधक का सही स्वरूप सत्य ठहरता है।

## पाँचवे से छठे गुणस्थान पर आरोहण—

आध्यात्मिक विकास की श्रेणि पर चढ़ता हुआ और क्रमशः आगे बढ़ता हुआ जीव पाँचवे देशविरति गुणस्थान पर जो विरतिधर श्रावक बना था वहाँ से एक कदम आगे बढ़कर छठे प्रमत्त विरतगुणस्थान पर पहुँचता है। जैसे एक ही स्कूल में पढ़ते हुए पाँचवी कक्षा से कोई विद्यार्थी पास होकर छठी कक्षा में जाता है। उसी तरह मोक्षार्थी मुमुक्षु आत्मा राग—द्वेष—विषय—कषाय की प्रवृत्ति के पापों की मात्रा कम करके पाँचवे गुणस्थान पर आरूढ़ होता है। देशविरतिधर श्रावक बनता है। वहाँ पर विरतिधर्म का आचरण करता हुआ... अनेक पापों को न करने की प्रतिज्ञा करता है। पापों को त्याग करता है। लेकिन गृहस्थाश्रम के कारण सभी पापों का संपूर्ण त्याग नहीं हो पाता है। हाँ, पाप छोड़ने ही चाहिए, छोड़ने जैसे ही हैं, पाप हेय—त्याज्य ही हैं। ऐसे संस्कार—भाव, और श्रद्धा तो जीव ने चौथे गुणस्थान पर... जगा लिए थे। उसी भाव का अमलीकरण—आचरण पाँचवे

गुणस्थान पर आकर . . श्रावक बनकर किया । जैसा सिद्धान्त था वैसी तदनुरूप श्रद्धा जगाई और श्रद्धा के अनुरूप अपनी मान्यता—ज्ञानकारी आदि ज्ञानानुरूप बनाई । हिंसादि पाप कर्मों का जितना संभव हो सके उतना त्याग श्रावक ने अपनी मर्यादा में रहकर किया । लेकिन फिर भी कई पाप कर्म ऐसे हैं, जिनसे श्रावक के लिए सर्वथा बचना असंभव था । वे पाप कर्म गृहस्थ जीवन में चलते रहे । होते रहे । हाँ, श्रावक को श्रद्धा के आधार पर पापकर्मों के स्वरूप का अच्छी तरह ख्याल रहता है और सर्वथा छोड़ने की ही भावना रहती है । ऐसे पापों को करते हुए भी मन में पापों के प्रति कोई आनन्द नहीं रहता है । आदर—सद्भाव भी नहीं रहते हैं । और न ही तथाप्रकार के पाप कर्मों को करने में कोई मजा आती है । ऐसी उत्तम कक्षा की पापभीरुता बढ़ती है । यही उस श्रावक की आत्मा को आगे बढ़ाने में सहयोगी बनती है ।

पापों के प्रति आदर—आनन्द और पाप की प्रवृत्ति में मंजा मानने की वृत्ति, पाप कर्म करके सुखी बनने की वृत्ति हमेशा मिथ्यात्वों—नास्तिक की होती है । ये मिथ्यात्वों के लक्षण में हैं । इसके ठीक विपरीत सम्यग् दृष्टि जीव के मन में अलग ही विचारधारा है । जो वह सम्यग् सच्ची विचारणा है । पापों को पाप ही मानता है । पापकर्मों को हेय त्याज्य हं मानता है । पाप करके सुखी बनने के, सम्यक्त्वों पाप की प्रवृत्ति में मजा—सुख—आनन्द कभी भी नहीं मानता है । सर्वथा वर्ज्य है । इसी सर्वज्ञ वचन को सर्वथा सत्य स्वरूप स्वीकारता है । श्रद्धा रखता है । हाँ, इतना जरूर की चौथे गुणस्थान पर ही ऐसे ऊँचे भाव बन चुके थे । परन्तु उस समय चारों तरफ की परिस्थितियों में फँसा हुआ था । कुछ मोहनीय कर्मादि भारी कर्मों का उदय बड़ा भारी था । मानसिक कमजोरी आदि कारणों के अधीन होकर पाप प्रवृत्ति का त्याग नहीं कर पाया । परन्तु जैसे ही पाँचवे गुणस्थान पर जीव आया कि पहले पापों का त्याग करने की प्रवृत्ति शुरू कर दी । लेकिन पाँचवे पर भी मर्यादा रही । सभी पाप सर्वथा नहीं छोड़ पाया परिस्थिति वश । गृहस्थाश्रम—पत्नी—पुत्र परिवारादि तथा आजीविकादि के आधीन होकर परवशता में भी पाप प्रवृत्ति करनी पड़ी . . की भी सही, लेकिन . . उसमें रस नहीं रहा । आनन्द सुख या मजा नहीं मानी । यह विशेषता श्रद्धा—सम्यग् दर्शन के कारण रही । फिर भी ऐसे श्रावक के रोज के मनोरथ बड़े, ऊँचे रहे आगे बढ़कर साधु बनने के ऊँचे भाव रहे । ऐसी ऊँची भावना में कभी श्रावक सोचता है कि . . .

कहिये परिग्रह छांडशुं रे, लेशुं संयम भार ।

श्रावक चिंते हुं कदाचित करीश संथारो सार ॥

... मैं भी कभी संसार का यह सारा परिग्रह छोड़ूँगा, और कभी तो संयम ग्रहण करूँगा ? कभी मैं भी संथारा करूँगा ? इस प्रकार श्रावक अपने मन में मानसिक भावना बनाता है और बढ़ाता है । “संयम कबही मिले ससनेही प्यारे” .. अपने प्यारे स्नेही को कहता हुआ श्रावक कहता है कि मुझे संयम—चारित्र कब मिले .. मैं चारित्र कब ग्रहण करूँ ? ऐसे ऊँचे मनोरथ श्रावक को सदा ही रहने चाहिए ।

### संयम-दीक्षा का अनुरागी ही सच्चा श्रावक—

जैसे एक विद्यार्थी जिसके दिल में सतत आगे बढ़ने की ही इच्छा रहती है । फेल होकर बैठे रहने की कुंठित धारणा नहीं रहती है । पाँचवी क्लासवाला सतत छट्टी कक्षा में जाने की तीव्र इच्छा रखता है । वही होशियार उत्साही विद्यार्थी कहलाता है । ठीक उसी तरह मोक्षमार्ग पर आरूढ साधकों में श्रावक पाँचवे गुणस्थान (कक्षा) का और साधु छठे प्रमत्त गुणस्थान पर है । सिर्फ एक ही गुणस्थान (कक्षा) का अन्तर है । यह कोई बड़ा अन्तर नहीं है । वैसे दोनों एक ही स्कूल के दो कक्षा के विद्यार्थियों की तरह है । एक ही मोक्षमार्गरूपी गुणस्थानों की स्कूल के पाँचवे और छठे गुणस्थानवर्ती साधक हैं । दोनों ही अपने अपने गुणस्थान पर अपने अपने प्रमाण में साधना करनेवाले साधक हैं । मात्र साधना के प्रमाण में अन्तर जरूर है ।

श्रावक के आगे की कक्षा साधु की है । साधु श्रावक से एक क्लास (गुणस्थान) आगे है । मोक्ष प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़नेवाले साधकों में साधु श्रावक से थोड़ा आगे बढ़ चुका है । अतः श्रावक भी आगे बढ़ने की स्पर्धा में सतत साधु धर्म की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है । मन में भावना तो उत्तम श्रमणधर्म की नित्य बढ़ती हुई हो और काया से संसार के व्यवहार में .. श्रावक धर्म की मर्यादा पालता हो ऐसा साधक श्रावक ही आगे बढ़ सकता है । अपने संसार में ज्यादा आसक्त न रहकर श्रावक सदा साधु धर्म स्वीकारने—पालने के ऊँचे मनोरथ रखे तो ही आगे विकास हो सकेगा । दूसरी तरफ साधु धर्म की तीव्र इच्छा रखने से फायदा यह है कि .. श्रावक वापिस नीचे नहीं गिरता है । चढ़ेगा तो ऊपर ही चढ़ेगा परन्तु नीचे नहीं गिरेगा । सभी गुणस्थान मनोगत भाव की परिणति की प्राधान्यतावाले हैं । और मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण मन सदा ही चंचल—चपल ज्यादा रहता है । ऐसी चंचलता—चपलता के समय भटकते भटकते मन मोहनीय कर्म के, राग—द्वेष के, विषय—वासना के, कषाय के, सेंकड़ों विषयों में ही ज्यादा भटकता है । इसके कारण यह समस्या है और कोई कारण नहीं है । ऐसे भटकने के समय

यदि मन हलके निमित्त पाकर उन्हीं में मग्न हो गया तो नीचे गिरने में देर नहीं लगेगी । पतन बहुत जल्दी होता है । इसलिए सतत साधुता की प्राप्ति की झंखना रखनेवाला श्रावक ही सच्चा साधक श्रावक कहलाता है ।

### श्रावक के लिए अप्रमत्तभावरूप — छट्ठा गुणस्थान—

दृष्टि समक्ष आदर्श सदा ही उत्कृष्ट कक्षा का होना चाहिए । तो ही उस उद्देश्य की प्राप्ति तक पुरुषार्थ किया जा सकता है । परन्तु आदर्श यदि ऊँचा न रहे तो निम्नश्रेणि की कक्षा के निमित्त उद्देश्य रह गए तो फिर वैचारिक भूमिका नीचे गिर जाती है । व्यवहार में भी कहा जाता है कि .. जैसा संग वैसा रंग । संगत में व्यक्ति खराब रही तो उसके असर का रंग भी हल्की कक्षा का ही लगेगा । इस तरह अच्छे व्यक्ति का भी पतन ही होता है । श्रावक का पाँचवा गुणस्थान चौथे और छठे के बीच है । एक तरफ चौथा और दूसरी तरफ छट्ठा । विकास यात्रा के सोपान ऊपर चढ़ने के क्रम के होते हैं । इसलिए पाँचवे के नीचे चौथा श्रद्धा का गुणस्थान है । इसलिए पाँचवे पर से श्रावक नीचे भी उतरे तो सिर्फ चौथे सम्यग् दर्शन के गुणस्थान तक ही आकर रुके । इससे फिर ज्यादा नीचे उतर जाय तो बड़ा अनर्थ हो जाय । पहले मिथ्यात्व की कक्षा में पहुँच जाएगा । इसलिए सदा ही आदर्श ऊँचा रखना चाहिए ।

घड़ी का लोलक जिस तरह ऊपर की दिशा तरफ थोड़ा चढ़ता है और क्षणभर में वापिस नीचे आ जाता है । फिर चढ़ने का प्रयत्न करता है, लेकिन वापिस नीचे आ जाता है । ऐसी ही स्थिति प्रमाद की कक्षा में सदा रहती है । श्रावक पाँचवे से नीचे भी उतरे तो चौथे पर आकर रुके । परन्तु श्रद्धा से ज्यादा नीचे पतन तो होना ही नहीं चाहिए ।

श्रावक मानसिक भूमिका में थोड़ी अप्रमत्तता लाए तो एक गुणस्थान आगे भी बढ़ सकता है । गुणस्थान आध्यात्मिक भावना के बल पर है । परिवर्तन होना—न होना यह मानसिक भावों पर आधारित है । भले ही आचार पालन से श्रावक पाँचवे पर गिना जाय लेकिन अप्रमत्त भाव के ऊँचे आदर्श आ जाय तो छठे साधु के गुणस्थान पर भी भावों से पहुँच सकता है । इससे श्रावक को बहुत लाभ है । छठे गुणस्थान की मन से भी जितनी बार स्पर्शा हो जाय उतनी बार बड़ा उत्तम लाभ होता है । कर्मक्षय निर्जरा का तथा अनुमोदना का भी लाभ होता है । आश्रव के निरोधरूप संवरधर्म का लाभ होता है । तदाकार मन बनता है । भाव से उस प्रकार के परिणाम बनते हैं । अतः ऐसी कक्षा में श्रावक भाव से साधु बनता है । भाव की कक्षा कहीं भी बैठे .. किसी भी स्थान पर बैठे प्राप्त की

जा सकती है। इसलिए आदर्शभूत ऊँचे ऐसे गुणस्थानों की स्पर्शना भाव से नित्य करनी चाहिए।

विरतिधर श्रावक के पाँचवे गुणस्थान से यदि थोड़ी देर के लिए भी श्रावक साधु के छठे गुणस्थान का स्पर्श भी करे तो भी वह उतनी देर अप्रमत्त बनता है। क्योंकि श्रावक की कक्षा से साधु हजार गुनी ऊँची कक्षा में है। इसलिए भाव से भी श्रावक उस छठे गुणस्थान की साधु की कक्षा का स्पर्श करे, चिन्तन करे, झंखना—तमन्ना करे तो श्रावक उतने समय ऊँची कक्षा की अप्रमत्तता प्राप्त कर सकता है। अपने देशविरति के व्रतों से महाव्रतों की ऊँची भावना बना सकता है।

यहाँ मात्र साधु के आचार—विचार से मतलब नहीं है, मुख्य लक्ष्य तो.. मोक्षमार्ग का है। मोक्ष की प्राप्ति की दिशा में वह कितना आगे बढ़ता है, यह महत्व का है। इसलिए श्रावक की कक्षा में रहकर भी अप्रमत्त बनने का लाभ मिलता हो तो क्यों नहीं साधुता के भाव बनाना? अवश्य बनाना चाहिए। भाव चारित्र्य का भी ऊँचा लाभ मिलता है। इसलिए छठे गुणस्थानवाले साधु को जैसे सातवें गुणस्थान पर जाने से अप्रमत्त कक्षा की प्राप्ति का लाभ मिलता है वैसे ही श्रावक को पाँचवे से छठे पर आने में अप्रमत्तता का लाभ मिलता है। इसलिए श्रावक को हमेशा ही छठे पर पहुँचने का भाव बनाना चाहिए। अप्रमत्तता की कक्षा लाने योग्य पुरुषार्थ करना चाहिए।

### आध्यात्मिक गुणों का विकास ही सच्ची साधुता है—

यह सारी प्रवचनमाला आध्यात्मिक विकास पर ही है। आत्मा संबंधि विषय के चिन्तन की प्रक्रिया आध्यात्मिक कक्षा है। आध्यात्मिक में सब कुछ आत्मा संबंधी ही है। अब आत्मा में और क्या है? मात्र गुणों के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। और उन गुणों को ढककर बैठे हुए कर्म के आवरण है। कर्म भी किस पर है? सिर्फ गुणों पर। यदि गुण ही मूलभूत नहीं होते तो कर्म किस पर लगते? आत्मा ही न होती तो कर्म करता ही कौन? इसलिए आत्मा के कारण कर्मों का अस्तित्व है, परन्तु कर्म के कारण आत्मा का अस्तित्व नहीं है। मुक्त अवस्था में कर्म सत्ता नहीं है तो भी आत्मा का अस्तित्व वहाँ पर पूर्ण रूप से है ही। इसलिए ऐसा नहीं कह सकते हैं कि जहाँ जहाँ आत्मा है वहाँ वहाँ कर्म है? नहीं। मोक्ष में आत्मा है, परन्तु वहाँ कर्म नहीं है। जहाँ जहाँ कर्म है, वहाँ वहाँ आत्मा अनिवार्यरूप से निश्चित ही है। इसमें संदेह नहीं है। क्योंकि आत्मा के बिना कर्म करे कौन? जब आत्मा ने कर्म किये ही नहीं थे तब वह मात्र जड़ कार्मण वर्गणा के रूप में

परमाणु स्वरूप में ही पड़े थे। वैसे पड़े हुए जड़ परमाणु आत्मा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं। वे स्वयं जड़ हैं। परन्तु आत्मा स्वयं पापादि की प्रवृत्ति करके कर्म उपार्जन करती है। पापादि की प्रवृत्ति के मलीन विचारों में जो राग—द्वेष होते हैं, क्लेश—कषाय होते हैं उनके साथ जैसे आर्त—रौद्रध्यान के अध्यवसाय हो और जैसी कृष्ण—नीलादि लेश्या हो अर्थात् विचारों में शुभाशुभ की तरतमता हो उसके आधार पर आश्रय हुए कर्मण वर्गणा के उन पुद्गल परमाणुओं को आत्मा स्व—प्रदेशों के साथ एकरसीभाव करती है अर्थात् बंध करती है। इसे कर्मबंध की प्रक्रिया कहते हैं। ऐसे बंध के बाद ही उन कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को कर्म कहते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कर्म की कर्ता आत्मा ही है। आत्मा न हो तो या फिर कुछ करे ही नहीं तो कर्म का अस्तित्व हो ही नहीं सकता है। अतः जहाँ कर्म है वहाँ आत्मा जरूर—अनिवार्यरूप से है ही। कर्मसत्ता के अस्तित्व में कारणभूत अस्तित्व आत्मा का है। आत्मा का अस्तित्व इस तरह भी सिद्ध होता है।

ऐसी जीवात्मा अनेक गुणों का समूहात्मक पिण्ड है। कर्मण वर्गणा के पिण्डस्वरूप आत्मा नहीं है। क्योंकि कर्मण वर्गणा के परमाणु तो मात्र बाहर से आए हुए हैं, और अल्प कालीन संबंध से रहे हैं। जैसे ही उनका काल समाप्त हुआ कि वे निकल जाएँगे। फिर आत्मा का अस्तित्व तो रहेगा ही। अतः ऐसी आत्मा जो ज्ञानादि स्वगुणों का समूहात्मक पिण्ड स्वरूप है। उसके ज्ञान—दर्शन—चारित्रादि गुणों का विकास करना ही आध्यात्मिक विकास है। ऐसे आध्यात्मिक विकास की भूमिका साधु जीवन में श्रेष्ठ कक्षा की प्रगट होती है। अतः साधु जीवन को आध्यात्मिक साधनाकारी जीवन बताया है। सिद्धिमार्ग के साधक तो साधु हैं। ऐसे साधु अपनी समता—क्षमा—नम्रता—सरलता—संतोष—वैराग्यादि अनेक गुणों को विकसित करने की साधना करते रहते हैं, और आध्यात्मिक विकास साधते रहते हैं। इनके विकास में अवरोधक बननेवाले वैसे कर्म के आवरणों को दूर हटाना और उनके बीच से अपनी साधना का मार्ग खुल्ला करना, निष्कण्टक बनाते हुए साधना करते करते.. आगे बढ़ते बढ़ते साध्य प्राप्ति की सिद्धि प्राप्त करने का लक्ष्य रहता है।

### संवरधर्मप्रधान साधुजीवन—

जीवादि नौ तत्त्वों में संवर—निर्जरा के तत्त्व बताए हैं। ये धर्म प्रधान तत्त्व हैं। धर्म संवर प्रधान होता है और निर्जरा लक्ष्य होता है। निर्जरा फलरूप—परिणाम स्वरूप है।



संवर में कर्मों के आगमन को रोकने की प्रक्रिया है। आगमन जा आश्रव स्वरूप है, जिससे आत्मप्रदेशों पर सतत कर्म रज के पुद्गल परमाणु आते ही रहते हैं। इस आश्रव के निरोधरूप संवर धर्म की प्रधानतावाला श्रमणजीवन है। इसलिए मुख्यरूप से साधु का जीवन के आचार—विचार सबको लक्ष में रखकर बनाए गए हैं। अतः साधु का जीवन ही ऐसा बना दिया गया है कि पाप के आश्रव को अवकाश ही नहीं मिल सकता है। पाप की एक भी प्रवृत्ति साधु के लिए नहीं है। यह लक्ष ही साध्य है। इस संवर के सिद्धांत पर बने हुए सभी आचार—विचार साधु को पाप से बचानेवाले हैं, और साधना करानेवाले हैं। ऐसी सुन्दर व्यवस्था का सारा श्रेय तीर्थंकर परमात्मा को है। वे स्वयं सर्वज्ञ वीतरागी थे तो वैसी सुन्दर व्यवस्था कर सके। अन्यत्र सर्वत्र इस दोनों का अभाव साफ दिखाई देता है।

संवर आचार में, व्यवहार में, और साध्यरूप परिणाम—फल में निर्जरा का लक्ष्य है। अर्थात् जीवन जीते हुए नए पाप एक भी नहीं करना और दूसरी तरफ जन्म—जन्मान्तर—भूतकाल के जितने भी पाप कर्म लगे हुए हैं उनको सर्वथा क्षय करना ऐसा जीवन जिसको मिले वह साधु। इसीलिए साधु का जीवन सर्वश्रेष्ठ है। और मोक्ष के अनुरूप—अनुकूल है।

संवर क्या है? आश्रव के निरोधरूप है। आश्रव में पाप कर्मों का आगमन है। सतत होना है। जबकि संवर में उनका निषेध है। निरोध है। इसलिए साधु का जीवन एक तरफ आश्रव के निरोधरूप अर्थात् पापकर्म के सर्वथा निषेधरूप है। और दूसरी तरफ निर्जरा की प्रवृत्तिरूप है।

### प्रवृत्ति—निवृत्ति प्रधान धर्म या विधि—निषेधरूप धर्म—

प्रवृत्ति विधेयात्मक होती है। जिसमें कुछ करना रहता है। निवृत्ति निषेधात्मक होती है। जिसमें करने का त्याग होता है। अतः साधु का जीवन इन दोनों की मिश्रण अवस्था का है। अब किसकी प्रवृत्ति करना और किसकी निवृत्ति करना? यही मुख्य विषय है। इसमें स्पष्ट है कि पाप की निवृत्ति करना है। पाप कर्मों का सर्वथा निषेध करना है। और कर्मक्षयरूप निर्जरा के अनुरूप संवर धर्म का करना यह प्रवृत्ति स्वरूप है। धर्म हमेशा ही विधि—निषेध उभयात्मक होता है। विधि में करने योग्य विधेय धर्म किया जाता है। जबकि ठीक इससे विपरीत निषेध में न करने योग्य पापों का सर्वथा त्याग रहता है। अर्थात् पाप प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग, तथा आध्यात्मिक गुणों का विकास करने की शुभ प्रवृत्ति, या आत्मिक गुणों पर लगे हुए आवरणरूप कर्मों का क्षय करके गुणों का विकास करने की

प्रवृत्ति करनेरूप विधि—निषेधरूप उभयस्वरूपात्मक धर्म है। पाप प्रवृत्ति के त्याग को ही आश्रव के निरोधरूप संवर धर्म कहा है। इस सिद्धांत के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि साधु का जीवन संसार के किसी भी प्रकार के पापों की प्रवृत्तिवाला सर्वथा न हो। संपूर्णरूप से उन पाप कर्मों की निवृत्तिरूप होना चाहिए। इस तरह एक ही सिक्के की दो बाजु की तरह साधु का जीवन भी प्रवृत्ति—निवृत्तिरूप उभयधर्मात्मक बताया है।

### मोक्षप्राप्ति के अनुरूप धर्म—

संसार में अनेक प्रकार के लक्ष्य हैं—साध्य हैं। उन—उन साध्यों की प्राप्ति के अनुरूप—अनुकूल साधना को सभी ने धर्म कहा है। अतः साधना का जितना ज्यादा महत्व नहीं है, उससे अनेक गुना ज्यादा महत्व साध्य का है। अतः साध्य के निश्चितिकरण पर पूरा आधार है। मीमांसकों ने स्वर्ग का साध्य ज्यादा रखा है। इसलिए स्वर्ग प्राप्ति के अनुरूप यज्ञ—याग—होम—हवन की साधना को कर्मकाण्ड कहा है। उसे अनिवार्य माना है। इस तरह स्वर्ग के साध्यवाले अनेक मिलेंगे। सुख के साध्यवाले पुण्योपाजन करने की साधना को धर्म कहेंगे। सुख में भी इहलौकिक, लोकोत्तर आदि अनेक प्रकार हैं। सांसारिक सुखों की उपलब्धि का साध्य भी अनेकों का है अतः उन्होंने उनकी रचना भी तदनुरूप बनाई है। कईयों ने विघ्नक्षय, निर्विघ्नता का लक्ष्य रखकर उसके अनुरूप साधना को व्यवहार में लाया। कईयों ने रोग निवृत्तिरूप आरोग्य—स्वास्थ्य प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर तदनुरूप साधना की व्यवस्था की। कईयों ने दुःख निवृत्ति को साध्य बनाकर उसके अनुरूप साधना बनाई। इस तरह सबके अलग अलग साध्य रहे और उसके अनुरूप साधना की व्यवस्था बैठाई।

लेकिन जैन शासन में सिद्धत्व—मोक्ष की प्राप्ति को ही एक मात्र अन्तिम साध्य कहा है। इसके सिवाय दूसरे साध्य का ही निषेध है। हाँ, यदि चरम साध्य को न साध सके तो वह बीच में किसी भी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है। यह चरम साध्य मोक्ष की प्राप्ति का जो है उसे ही नवकार जैसे महामन्त्र में स्पष्ट दे दिया, ताकि प्रत्येक साधक जो भी नवकार महामन्त्र की साधना करे उनका लक्ष्य साफ—स्पष्ट बना रहे। इस लक्ष्य—साध्य का वाचक नमस्कार महामन्त्र के पहले एवं सातवे पद में इस साध्य के अनुरूप साधना की प्रक्रिया दी है। दूसरे पद को साध्य बताया है। जब साध्य बताएँगे तो साधना भी तदनुरूप बतानी ही चाहिए। वही बताई है। वैसी ही बताई है।

प्रथम पद “नमो अरिहंताणं” में स्पष्ट व्युत्पत्ति से साध्य का ख्याल आता है। अरि = अर्थात् आत्मा के कर्मशत्रु जो राग—द्वेष—क्लेश—कषाय—क्रोध—मान—माया—लोभ—कामरूप जो कर्म है वे ही आत्मा के अरि अर्थात् शत्रु हैं। आत्मा के विषय की आध्यात्मिक प्रक्रिया है, अतः इसमें कहीं भी बाह्य व्यक्ति शत्रुरूप नहीं है। बाह्य शत्रु कोई भी व्यक्तिविशेष होती है। उन्हें शत्रु माने तो पुनः कर्म का बंध होगा—द्वेषबुद्धि बनेगी। अतः बाह्य शत्रु तो यहाँ अपेक्षित ही नहीं है। इसी कारण मात्र अभ्यन्तर कक्षा के शत्रु—अरि के रूप में आत्मा के ही कर्मों को गिना है। कर्मों की प्रवृत्तिरूप राग—द्वेषादि को अरि बताया है।

ऐसे अरियों—कर्मशत्रुओं का हनन करने अर्थात् नाश—क्षय करने की क्रिया को ‘अरिहन्त’ शब्द से द्योतित किया है। इसमें ‘हन्त’ यह क्रियावाची शब्द हनन करने—नाश करने—क्षय करने के अर्थ में है। इससे स्पष्ट अर्थ की ध्वनि प्रथम पद में निकलती है कि अपने राग—द्वेषादि कर्मरूप अरियों—शत्रुओं का सर्वथा हनन—नाश करनेवाले ऐसे “अरिहन्त भगवान्” को नमस्कार हो।

### सर्वपापवर्णनासणो—

सर्व = अर्थात् सब, पाव = पापकर्म, तथा पणासणो अर्थात् प्रनाशन। प्रकृष्टेन नाशनं = प्रनाशनं। इस संस्कृत स्वरूप का प्राकृतरूप “पणासणो” है। तीन शब्दों के संयोजन से बने हुए नवकार महामन्त्र के इस सातवें पद में सर्वथा—सब पापकर्मों का क्षय—नाश करने का लक्ष्य है। पणासणो यह क्रियावाची पद है। क्रियात्मकता से साधना की प्रक्रिया स्पष्ट होती है कि क्या करना है? किसका नाश करना है? इसके लिए पापकर्म का वाचक ‘पाव’ शब्द दिया गया है। कितने पाप और उनका कितने प्रमाण में क्षय करना इसके लिए ‘सर्व’ शब्द दिया है। ‘सर्व’ शब्द संख्यावाची अर्थ में सब पापों का क्षय करने की बात करता है। जब क्षय—नाश करने ही बैठे हैं तो फिर थोड़े पापों का नाश करना और थोड़े पाप पुनः शेष रखना, ऐसे क्यों? मोक्ष का ही लक्ष्य होता है, उस समय थोड़े—थोड़े पापकर्मों के क्षय का सवाल ही नहीं रहता है। इसलिए ‘सर्व’ शब्द मोक्ष का द्योतक है। जितने हैं उतने सब—सभी पापकर्मों का नाश करना ही लक्ष्य है। और सभी पाप कर्मों का मात्र नाश ही नहीं, वह भी सर्वथा संपूर्णरूप से नाश करना है। अतः सर्व शब्द दोनों अर्थों को स्पष्ट करता है। सभी कर्मों का तथा सर्वांश में सर्वथा नाश करना है।

नश्-नाश् धातु के साथ “प्र” उपसर्गवाची अक्षर व्याकरण के नियमानुसार लगा है। “प्र” उपसर्ग—प्रकृष्ट—उत्कृष्ट अर्थ में प्रयुक्त है। यह नाश क्षय करने क्रिया की उच्चता गुणवत्ता को प्रकट करता है। जैसे चंड के आगे “प्र” उपसर्ग लगाकर प्रकृष्ट अर्थ में “प्रचण्ड” शब्द बनाया गया है। चण्ड शब्द तीव्रता के अर्थ की जोतना द्योतित करता है उससे कई गुना अधिक तीव्रता के अर्थ को प्रचण्ड शब्द द्योतित करता है। इसी तरह यहाँ पर नाश के आगे “प्र” उपसर्ग इसी अर्थ में है। प्रनाशन अर्थात् प्रकृष्ट नाश करना है। नाश करते समय थोड़ा सा अंशमात्र भी रह न जाय ऐसा नाश करना प्रनाश है। जितने भी पाप कर्मादि है उन सब का समूल सर्वांशिक नाश करने की प्रक्रिया को प्रनाश कहा है। इस अर्थ में पणासणो शब्द प्रयुक्त है। इस तरह सव्व शब्द और पणासणो शब्द दोनों मिलकर अशुभ पाप—कर्मों का सर्वथा सर्वांश में समूल नाश करने की प्रक्रिया को लक्षित करते हैं।

आत्मप्रदेशों पर से सभी कर्मों की कर्मण वर्गणा का नाश—क्षय करने की प्रक्रिया को शास्त्रकार भगवन्तो ने निर्जरा कहा है। निर्जरा वियोगकारक है। अलग करनेवाली है। जो कर्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों पर लगी हुई है, उन सबका नाश करना, क्षय करना अर्थात् आत्मा से अलग करना, दूर करना, वियोग करना इसे निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा मोक्षसाधक धर्म है। जितने—जितने प्रमाण में कर्मों का क्षय— निर्जरा होती है उतने प्रमाण में आत्मा मोक्ष के नजदीक—समीप पहुँचती है। यही सही प्रक्रिया है। सही साधना है।

पहले “नमो अरिहंताण” पद में अर्थ की जो ध्वनि निकलती है, वही और वैसे ही समान अर्थ की ध्वनि “सव्वपावण्णासणो” के सातवें पद में भी निकलती है। दोनों ही पद समान अर्थ प्रतिपादित करते हैं। अतः दोनों पदों का अर्थ साधक के लिए साध्य बन जाता है। वही साधनारूप धर्म बन जाता है। और उसके अंग साधन बन जाते हैं। इस तरह साध्य—लक्ष्य को द्योतित करनेवाले इन दोनों पदों के अर्थ को — मर्म को — रहस्यार्थ को समझकर प्रत्येक साधक को सही अर्थ में नवकार महामन्त्र की उपासना करनी चाहिए। नवकार महामन्त्र के प्रत्येक उपासकों — आराधकों को अपने संकल्प में यह साध्य स्थिर—निश्चल करना चाहिए। तभी साधना फलवती—फलदायी बनकर साध्य को सिद्ध कर सके।

‘पणासणो’ के लिए धर्म— ‘नमो’—

इसी नवकार मन्त्र में सर्व प्रथम प्रयुक्त ‘नमो’ शब्द धर्मरूप है। नमस्कार के आचरणरूप धर्म की महत्ता इस महामन्त्र में देकर मन्त्र की महानता सिद्ध की है।

अरियों—कर्मशत्रुओं का हनन करना—या प्रकृष्ट नाश—प्रनाश करना आदि का आधार धर्म पर है। धर्म की तथाप्रकार की साधना से ही पापनाश संभव है। ऐसे कर्मनाशकारक धर्म के प्रवेश द्वार समान नमस्कार का स्वरूप है। 'नमो' पद उसी नमस्कार के अर्थ का द्योतक है।

अब आप ही सोचिए ! आत्मा पर लगे सैंकड़ों पाप कर्मों का क्षय—नाश करने का सामर्थ्य नमस्कार में है। प्रबल शक्ति नमस्कार में है। इसलिए इस महामन्त्र में नमस्कार की ही प्राधान्यता होने से नमस्कार(नवकार) महामन्त्र नामकरण किया है। अन्यथा अरिहंत मन्त्र, या सिद्धमन्त्र, या अन्य किसी भी नाम से नामकरण करते लेकिन वैसा न करते हुए नमस्कार महामन्त्र नाम रखा गया है। जब पाप कर्मों का इतना भयंकर स्वरूप है। ये इतने भारी कर्म हैं जो अनादि—अनन्त काल से आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराते हैं। आत्मा को अपनी पक्कड़ में जकड़ कर रखा है। ऐसे कर्मशत्रु का सर्वथा समूल नाश क्षय करने का सामर्थ्य जिसमें है, वैसा नमस्कार धर्म है। कर्म निर्जरा—क्षय करनेवाला और वह भी सामान्य नहीं प्रकृष्ट कक्षा की निर्जरा करानेवाला समर्थ—सशक्त नमस्कार “नमो धर्म” है। नमस्कार निर्जरा कारक धर्म है। और कर्मक्षयरूप निर्जरा की परंपरा में मोक्षफल की प्राप्ति होती है। अतः नमस्कार मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला द्योतक है। ऐसा सामर्थ्य जिस नमस्कार का है, तथा ऐसा सुन्दर अद्भुत रहस्यार्थ जिसके पदों का है, ऐसे महामन्त्र नवकार को सही अर्थ में सच्चे अर्थ में समझकर उपासना साधना भी सही करनी चाहिए।

### मोक्षसाधक महामन्त्र— “नवकार”—

निर्जराकारक “नमस्कार” और दो—दो पदों के रहस्यार्थ में कर्मक्षय का साध्य जिस महामन्त्र में है, उस नमस्कार महामन्त्र की उपासना मोक्षसाधक अर्थ में ही करनी चाहिए। यदि स्वरूप कर्मक्षय और मोक्षप्राप्ति का हो, और हम उपासना यदि अन्य हेतुओं के लिए करें तो पुनः साधना गलत—विपरीत सिद्ध होती है। विरुद्धाचरण का दोष ज्यादा लगेगा। कर्मक्षय—नाश कारक तथा मोक्षसाधक अन्य कोई भी उद्देश्य—साध्य या लक्ष्य बनाया जाय तो वह आत्मा को मोक्षफल से वंचित ही रखेगा। अतः ऐसे नवकार की महानता सिद्ध करने में नमो के मोक्षदायक फल, एवं कर्मक्षय कारक अर्थ का योगदान बहुत बड़ा है। ऐसे महामन्त्र का तुच्छफलों की प्राप्ति के लिए उपयोग करना भी टुच्छता है। संसार के उद्देश्यों को साधना, सांसारिक मनोकामनाएँ सिद्ध करने के लिए, या भौतिक—पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति के लिए, या नगण्य गौण विघ्नों के, दुःखों के निवारण हेतु नवकार जैसे

महामन्त्र का उपयोग करना एक दुरुपयोग सिद्ध हो जाएगा । जिस नवकार की सही सार्थक आराधना से सर्वश्रेष्ठ सर्वोत्तम फलरूप कर्मक्षय, पाप—नाश—एवं मोक्षप्राप्ति की उपलब्धि हो सकती है, वह प्राप्त न कर के उससे उतरती कक्षा के फलों की प्राप्ति करना और वह भी महान नवकार जैसे महामन्त्र से करना यह कहाँ तक उचित है ? सही है ? अतः सही समझकर आत्मा को सही भावों की तरफ मोड़नी चाहिए । सच्ची साधना सच्चे अर्थ में ही करने का लक्ष्य बनाना चाहिए, उसी में हित है ।

### सिद्धि के अनुरूप साधु धर्म—

साधु धर्म के आचार—विचार, साधु का तप—त्याग, व्रत—महाव्रत, सारी आचार संहितादि जो भी, जैसा भी और जितना भी साधु धर्म है वह सारा सिद्धि के अनुरूप है । अर्थात् सिद्धत्व प्राप्त कराने के अनुरूप है । लक्ष्य यही है कि मोक्ष में जो है, जैसा है, उसे पाने के लिए पुरुषार्थ यहाँ से ही प्रारंभ किया जा सकता है । अन्यथा मोक्ष में जाकर कर्मक्षयादि नहीं किया जाता है । जो कुछ करना है, पाना है वह सब यहाँ पर ही पाना है और बाद में ही मोक्षमें जाना है । साधु मोक्ष के बहुत समीप है । संसार के समीप नहीं है । संसार से तो सर्वथा विरक्त—विमुख हो ही चुका है और मोक्ष के समुख बन चुका है । तभी वह साधुत्व पाया है । अतः साधु की समस्त साधना मोक्ष के अनुरूप—अनुकूल है ।

साधु के जीवन में, रहन—सहन, आचार—विचार तथा खान—पानादि सब विषयों में इतना प्रतिबन्ध, त्यागादि क्यों लाया गया है ? इसका उत्तर एक ही है कि साधु का पुनः संसार में पतन न हो जाय परन्तु संसार से बचे, पापकर्म बंध से बचे और मुक्ति—मोक्ष की तरफ सदा उन्नत रहे । मोक्ष प्राप्ति की एक ही दिशा में अग्रसर रहे । उन्नत—समुख रहे यही सर्वथा हितावह एवं श्रेयस्कर है, कल्याणकारक है ।

संसार से छूटकर जो साधु बना है उसके लिए महाव्रत आदि की व्यवस्था करके समस्त पापों का संबंध ही छुड़ा दिया है । पापों की प्रवृत्ति ही सर्वथा बंद कर दी है । अतः कोई पाप साधु को करना ही नहीं है । और दूसरी तरफ कर्म क्षय—निर्जरा के लिए अद्भुत तपश्चर्या आदि की धर्माश्रयना जोड़ दी गई है । इससे साधु का धर्म संवर एवं निर्जरा प्रधान ही बना दिया गया है । इसीसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी । अन्यथा संभव नहीं हो पाएगा । इसलिए मोक्ष में जो जो भी प्राप्त करना है, मोक्ष के लिए जो जो भी प्राप्त करना है वह सब साधक को यहाँ पर प्राप्त करना है । अतः साधु को वैसा मोक्ष के अनुरूप साधक जीवन बनाना है । इसी अर्थ में साधु की व्याख्या भी सही बैठती है कि— “सिद्धि मार्ग”

साध्नोतीति साधु = सिद्धि—मोक्ष के मार्ग की जो सम्यग् उपासना करता है वह साधु कहलाता है। इससे विपरीत असाधु कहलाएगा।

सिद्धि के प्रति श्रद्धा तो चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर ही जग गई थी। बना ली थी। सच्ची श्रद्धा—सचोट श्रद्धा बनने के बाद श्रद्धा के विषय में तो साधु निश्चित हो चुका है। ज्ञान—समझ भी वैसी पक्की बना ली है। अब तदनुरूप आचरण ही करना है। अतः चारित्राचार की शुद्ध आचरणा छठे गुणस्थान से साधु बनकर शुरु करता है। और आगे बढ़ता है। यहाँ से साधु के विकास की कक्षा शुरु होती है।

### गृहस्थ एवं साधु की तुलनात्मक तालिका—

घर—गृहस्थीवाले गृहस्थ के जीवन का जो स्वरूप होता है ठीक उससे विपरीत प्रकार का साधु जीवन होता है। गृहस्थ के आचरण से सर्वथा विलक्षण प्रकार के आचार—विचार साधु जीवन के होते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर दोनों में अन्तर बहुत बड़ा है। इस तुलनात्मक तालिका को देखने से दोनों के बीच का अन्तर व भेद स्पष्ट ख्याल में आएगा—

#### गृहस्थ जीवन

- १) गृहस्थी—घरबारी (आगारी)
- २) स्त्री—पत्नी का रागी
- ३) स्त्री सुख का रागी
- ४) धन—संपत्ति के बिना न चलना।
- ५) मिल्कतादि का मालिक, व्यवस्थापक।
- ६) हिंसादि की प्रवृत्ति के द्वार खुल्ले हैं।
- ७) आजीवन आरंभ—समारंभी।
- ८) छःजीवनिकाय की रोज हिंसा।

#### साधु जीवन

- १) गृहस्थाश्रम का त्यागी, गृहत्यागी  
अणगारी
- २) स्त्री—पत्नी का सर्वथा त्यागी।
- ३) स्त्री का स्पर्श—मात्र भी न करना।
- ४) धन—संपत्ति का स्पर्श—मात्र भी वर्ज्य है।
- ५) त्यागी साधु—मिल्कत का स्वामी—हक न हो।
- ६) सूक्ष्म हिंसादि के द्वार भी बन्द रखे हैं।
- ७) आयुष्य भर आरंभ—समारंभ का त्यागी।
- ८) षड्जीवनिकाय की हिंसा का सर्वथा त्यागी।

९) रात्रि में भी जलपान—भोजन कर लेता है ।

१०) झूठ के बिना व्यापारादि नहीं चलता है ।

११) ब्रह्मचर्य पालना असंभव लगता है ।

१२) चोरी के कई प्रकारों का सेवन ।

१३) पुत्र—पुत्री परिवार—प्रपंच—व्यवहार ।

१४) पानी—अग्नि—वनस्पति का उपयोग ।

१५) रसोई बनाकर भोजन करना ।

१६) स्वयं अपनी रसोई बनाकर जीमना ।

१७) अपरिमित वस्त्रादि का संग्रह करना ।

१८) परिग्रह परिमाण का हिमायती ।

१९) यान—वाहनों की भरमार ।

२०) पद—सत्ता प्रतिष्ठा के पीछे पागल ।

२१) लोभ वृत्ति को बढ़ाकर सब संग्रह करना ।

२२) घर—मकान—दुकानादि बनाना—बेचना ।

२३) गृहस्थी आजीविका के लिए व्यापार करें ।

२४) न्याय—नीतिमत्ता भी खो बैठता है ।

९) आजीवन रात्री जलपान—भोजन का सर्वथा त्यागी ।

१०) आजीवन झूठ का संपूर्ण त्याग ।

११) साधु आजीवन अखण्ड ब्रह्मचारी रहते हैं ।

१२) सर्वथा स्तेयवृत्ति का त्याग ।

१३) पुत्र—पुत्री—परिवार प्रपंचादि सर्वथा नहीं है ।

१४) कच्चे पानी, वनस्पति—अग्नि के स्पर्श का भी त्यागी ।

१५) जीवन में कभी भी रसोई बनाना ही नहीं ।

१६) गोचरी—भिक्षा लाकर आहार करना ।

१७) सीमित—मर्यादित वस्त्र देह रक्षार्थ रखना ।

१८) सर्वथा अपरिग्रही—त्यागी निर्ग्रथ ।

१९) यान—वाहन त्यागी—पादचारी, पैदलविहारी ।

२०) पद—सत्ता—प्रतिष्ठा का भी त्यागी—निस्पृही ।

२१) निर्लोभ वृत्ति से लोभ द्वारा संग्रह न करना ।

२२) अपने लिए घर—मकान—दुकान कुछ भी न रखें ।

२३) साधु को किसी भी प्रकार का व्यापार त्याज्य है ।

२४) न्याय—नीति का पूरी तरह पालन करें ।



- २५) ऐश्वर्य—वैभव—भोगविलास का प्रदर्शन करनेवाला ।  
 २६) हीरे मोती रत्न—सोने—चांदी का संग्रही ।  
 २७) धातु पात्र बर्तनादि का संग्रही—उपयोगी ।  
 २८) रंग—बिरंगी फैशनेबल अनेक कपडोंवाला ।  
 २९) घर बंगले में आजीवन रहनेवाला ।  
 ३०) ज्ञान—ध्यान—साधना की रुचि रखता है ।  
 ३१) अभक्ष्य—अनन्तकाय का त्याग कर सकता है ।  
 ३२) स्नान, शोभा, देहसुश्रूषा के बिना न रहनेवाला ।  
 ३३) १८ पापस्थानों का सेवन करनेवाला ।

- २५) ऐश्वर्य—वैभव—भोगविलास का सर्वथा त्यागी ।  
 २६) हीरे—मोती—रत्न—सोने—चांदी का सर्वथा त्यागी ।  
 २७) धातु पात्र का त्यागी—काष्ठपात्री ।  
 २८) रंगरहीत शुद्ध श्वेत वस्त्रधारी (बिना सीए हुए) ।  
 २९) मठाधीश न बनकर सर्व धर्मार्थ परिभ्रमण ।  
 ३०) ज्ञान—ध्यान—योग साधना में प्रवीण ।  
 ३१) अभक्ष्य—अनन्तकाय का सर्वथा त्यागी ।  
 ३२) स्नान, शोभा, देहसुश्रूषा का सर्वथा निषेध ।  
 ३३) १८ ही पापस्थानों का त्याग करनेवाला ।

इस तरह गृहस्थ और साधु के जीवन में कितना अन्तर—भेद है ? दोनों के बीच कितनी साम्यता—वैषम्यता है, दोनों का जीवन कैसा है यह स्वरूप इस तुलनात्मक तालिका के पढ़ने से ख्याल आ सकता है । एक की पूर्व दिशा है तो दूसरे की सर्वथा पश्चिम ही है । साधु उत्तर में ऊपर चढ़ता है तो गृहस्थी दक्षिण की तरफ नीचे उतर रहा है ऐसा लगता है । लेकिन गृहस्थ को ऊँचे आदर्श का लक्ष्य रखकर आगे बढ़ने से साधु जीवन अच्छी तरह प्राप्त हो सकता है । उपरोक्त तुलना में जैन श्रमण के साधु जीवन को केन्द्र में रखकर तुलना की गई है । अन्य धर्मों संन्यासी—बाबा—फकीर के साथ तुलना नहीं की है । जैन साधु का जीवन संन्यासी—बाबा—फकीरों से भी हजार गुना ज्यादा त्यागी होता है । त्याग की कक्षा में श्रेष्ठतम जीवन जैन साधु का होने से, वैसे उनके व्रत—महाव्रत नियम—सिद्धान्तादि होने से त्याग की आदर्श मूर्ति समान जैन साधु होने से तुलना उनके साथ की गई है । यह भेद वैसे अनुभव सिद्ध भी है । फिर भी कोई भी व्यक्ति

संन्यासी—बाबा—फकीरादि के जीवन के स्वरूप को देखकर जैन साधु का भी जीवन देखकर अच्छी तरह अभ्यास करके तुलना कर सकते हैं ।

**श्रावक भी साधुतुल्य बन सकता है—**

सामाङअ—वय—जुत्तो, जाव मणे, होइ नियम—संजुत्तो ।

छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाङअ जत्तिआ वारा ॥ १ ॥

सामाङअम्मि उ काए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।

एएण कारणेणं, बहुसो सामाङअं कुज्जा ॥ २ ॥

— श्रावक सामायिक करके पूरी होने पर पारने के समय उपरोक्त सूत्र बोलता है । इसी सूत्र से सामायिक पारी जाती है । इस सूत्र में एक सामायिक का आचरण करनेवाला श्रावक कितना लाभ प्राप्त करता है ? और किस कक्षा में पहुँचता है ? इसका सुन्दर विवरण दिया है । कहते हैं कि ... सामायिक व्रत से युक्त ऐसा व्रती श्रावक जब तक मन में इस सामायिक के नियम—व्रत से युक्त होता है अर्थात् जब तक सामायिक में है तब तक अशुभ पाप—कर्मों का छेद करता है । नाश करता है । जितनी बार सामायिक करता है, सामायिक में रहता है, उतनी बार अशुभ पाप कर्मों का छेदन करने का अर्थात् निर्जरा का लाभ प्राप्त करता है । और सामायिक करनेवाला व्रती श्रावक जब तक सामायिक में रहता है तब तक साधु तुल्य—साधु के समकक्ष कहलाता है । साधु जैसा ही कहलाता है ।

वैसे सामायिक चारित्राचार का धर्म है । यह चारित्रधर्म साधु जीवन का धर्म है । साधु पूर्ण चारित्रपालक है । इसलिए साधु की सामायिक—दीक्षा आजीवन भर—मृत्यु की अन्तिम श्वास तक है । जबकि गृहस्थाश्रम में रहनेवाले श्रावक की सामायिक दो घड़ी = ४८ मिनिट के समय की अल्पकालीन है । अतः “जावनियम” की प्रतिज्ञा है । आखिर घरबारी—गृहस्थी है अतः अल्पकाल = दो घड़ी की भी सामायिक करे तो साधु के समकक्ष अवस्था प्राप्त होती है श्रावक को । साधु जैसे आजीवन स्त्री स्पर्श का त्यागी होता है, धन संपत्ति का त्यागी होता है, कच्चे पानी, अग्नि, वनस्पति आदि का त्यागी होता है, ठीक उसी तरह दो घड़ी की सामायिक में श्रावक भी स्त्री—पुत्री—पत्नी आदि का स्पर्श भी न करे ऐसा नियम है, धन—संपत्ति का भी स्पर्श न करे, कच्चे पानी, अग्नि, वनस्पति आदि का भी स्पर्श सर्वथा न करना ऐसा नियम है । अतः इन समान आचार की व्यवस्था के पालन से श्रावक भी सामायिकावस्था में साधु तुल्य गिना जाता है । इसी कारण से श्रावक को भी बार—बार सामायिक करनी चाहिए । ऐसा विधान किया जाता है । बात भी सही

है। सामायिक यह चारित्र—दीक्षा का ही संक्षिप्त—लघु स्वरूप है। गृहस्थाश्रमी जीवन में उद्यमशील गृहस्थ सैकड़ों कार्यों में—प्रपंच में व्यस्त होने के कारण सतत दिनभर १८ पापों की प्रवृत्ति में रहता है अतः उसे अपने पापों का छेदन करने के लिए.. प्रतिदिन सामायिकादि अवश्य करनी ही चाहिए। तो ही पापनिवृत्ति संभव है। इस तरह पाँचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक को भी छठे गुणस्थानक के साधु धर्म का आस्वाद चखना चाहिए। रसास्वाद से अनुभूति होती है। इसलिए श्रावक साधु के आचारों का पालन करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। परन्तु साधु को श्रावकाचार पालने की आवश्यकता नहीं रहती है। क्योंकि साधु का आचार श्रावक के आचार से हजार गुना ज्यादा ऊँचा श्रेष्ठ कक्षा का है। इसलिए साधु यदि श्रावकाचार पालने का विचार करे तो उसे एक गुणस्थान नीचे उतरना पड़ता है। इसमें साधु को नुकसान है। जबकि श्रावक यदि साधु के आचारों का पालन करे उसे एक गुणस्थान ऊपर चढ़ने का मौका मिलता है। अत्यंत लाभ होता है। आगे विकास होता है। इसलिए श्रावक साधना के क्षेत्र में साधु को अपना गुरु मानता है। मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग—धर्म पर चढ़ने पर के लिए... अग्रसर होने के लिए, आगे बढ़ने के लिए, आध्यात्मिक विकास के लिए श्रावक साधु को अपना गुरु मानता है। मार्गदर्शक—उपदेशक मानता है। इसीलिए गुरु के आगे धर्म का विशेषण जोड़कर “धर्मगुरु” नाम दिया गया है। ऐसे धर्मगुरु का कर्तव्य है कि स्वयं मोक्ष की तरफ प्रयाण करते हुए आगे बढ़ते ही जाय, ऊपर उठते जाय। मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ते हुए श्रावक को भी आगे बढ़ाते ही जाय। साथ लेकर आगे बढ़े, और आगे बढ़ाए।

### गुरु पद की व्यवस्था—



तत्त्वत्रयी रूप देव—गुरु—धर्म इन तीन तत्त्वों की व्यवस्था में देव तत्त्व में अरिहंत और सिद्ध इन दो भगवानों का स्थान है। इसी तरह दूसरे गुरु तत्त्व में आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन की व्यवस्था की गई है। और धर्म तत्त्व में—दर्शन—ज्ञान—चारित्र—तथा तप इन चार धर्मों की व्यवस्था की गई है। इस तरह से दो देव + तीन गुरु + और चार धर्म मिलाकर नवपद (नौ पदों) की व्यवस्था बैठाई गई है। इन

नौ पदों को गोलाकार—चक्राकार स्वरूप में स्थापित करके सिद्धचक्र नामकरण दिया गया है। इस नवपदरूप सिद्धचक्र में अरिहंत भगवान को केन्द्र की कर्णिका में बिराजमान किये हैं। उनके ठीक ऊपर दूसरे सिद्ध पद की स्थापना है। ये दोनों देव तत्त्व हैं। इसके बाद गुरु तत्त्व का क्रम है। इसमें तीसरे आचार्य पद की व्यवस्था बाईं तरफ की पंखुड़ी में है। नीचे की दिशा की पंखुड़ी में उपाध्याय चौथे पद की व्यवस्था की गई है। उसके पश्चात् पाँचवे साधु पद की व्यवस्था अरिहंत के दाईं तरफ की पंखुड़ी पर की गई है। यहाँ तक दो देव और तीन गुरु मिलाकर पंच परमेश्वरी की स्थापना की गई है। आगे के चार पदों में चार धर्मों की स्थापना क्रमशः है। छठे—दर्शन, ७ वें ज्ञान, ८ वें चारित्र, ९ वें तप पद की स्थापना है। इस तरह नौ पद रूप सिद्धचक्र का स्वरूप है। इनमें तीन गुरुओं का स्थान है।

**गुरु की गरिमा—** गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

‘गु’शब्दस्त्वन्यकारः ‘रु’शब्दस्तन्निरोधकः।

एतदुक्तं समासेन, गुरुशब्दयोरर्थः ॥

गुरु शब्द में ‘गु’ अक्षर अन्यकारवाची है। और ‘रु’ अक्षर अन्यकार को रोकने अर्थ में निरोध करने अर्थ में है। इस तरह संक्षिप्त रूप से गुरु शब्द का अर्थ है कि... अज्ञानरूपी अन्यकार को दूर करके ज्ञान रूपी प्रकाश को फैलाना। किसी को भी सम्यक् ज्ञान देना। इसी को प्रसिद्ध श्लोक में और स्पष्ट किया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।

नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

अज्ञानरूपी तिमिर = अन्यकार से अन्धे जो जीव हैं उनकी ज्ञानरूपी अञ्जन की शलाका (सली) से अन्ध की आँखों में लगाकर ज्ञान रूपी नेत्रों का उद्घाटन—उन्मीलन करनेवाले ऐसे जो गुरु होते हैं उनको नमस्कार किया गया है। अर्थात् अज्ञान को हटाकर सच्चे सम्यग् ज्ञान के चक्षु जो खोलनेवाले हैं ऐसे गुरु को नमस्कार किया गया है। गुरु का कार्य ही यह है कि जीवों को सम्यग् ज्ञान देकर सम्यग् सच्चे मार्ग पर लाना। उसे मोक्ष के मार्ग पर आगे बढाना।

लेकिन दूसरे जीवों को सम्यग् ज्ञानादि देने के पहले वे स्वयं उस ज्ञान को पाए हुए होने चाहिए। स्वयं पहले मोक्षमार्ग पर होने ही चाहिए। तो ही दूसरों का कल्याण कर सकेंगे। अन्यथा “स्वयं नष्टा परान्नाशयति” जैसी स्थिति होगी। स्वयं गुरु भी मोक्षमार्ग

के रास्ते से पथभ्रष्ट है और दूसरों को भी मोक्षमार्ग से भ्रष्ट कर देंगे । भ्रष्टका देंगे । एक माता या पिता अपने संतान का जितना ज्यादा नुकसान नहीं कर पाएँगे उससे हजार गुना ज्यादा नुकसान एक गुरु करेंगे । माता—पिता संतान के परम हितैषी होते हैं । लेकिन माता की दृष्टि संतान के शरीर तक केन्द्रित रहती है । शारीरिक विकास तक ही माता का लक्ष्य रहता है । पिता बौद्धिक विकास तक सीमित रहता है । परन्तु उस संतान की आत्मा के आध्यात्मिक विकास के लिए कौन जिम्मेदार है ? अतः चार प्रकार के गुरुओं की व्यवस्था में अन्त में अन्तिम धर्मगुरु ही आध्यात्मिक विकास करते हैं ।

### चार प्रकार के गुरु—

१. माता गुरु, २. पिता गुरु, ३. विद्यागुरु, और अन्तिम चौथे ४. धर्मगुरु है । इस तरह चार प्रकार के गुरुओं की व्यवस्था दृष्टिगोचर है । पुत्र को जन्म दे चुकने के बाद... माता जब संस्कार देने का काम करती है संतान को अच्छे—ऊँचे संस्कारों से संस्कारित करती है तब माता भी एक गुरु के स्थान पर बैठती है । बाल्यकाल में बालक छोटा होता है तब तक माता की जिम्मेदारी ज्यादा होती है । वहाँ तक माता का लक्ष्य संतान के शरीर तक सीमित रहता है । लेकिन जैसे जैसे बड़ा होता जाता है उसका बौद्धिक विकास, विलास करने की जिम्मेदारी भी उसके पिता की बढ़ती जाती है । पिता का भी योगदान काफी ऊँचा रहता है । इस दृष्टि से पिता दूसरे क्रम पर गुरु बनते हैं ।

पुत्र को जब पाठशाला में भेजा जाता है तब शिक्षक भी उसे विद्या—शिक्षा देकर सुशिक्षित करते हैं । अतः वे विद्यागुरु कहलाते हैं । विद्यादाता विद्यागुरु में भी दो प्रकार के होते हैं । एक तो व्यवहारिक शिक्षा—स्कूल—कॉलेज की देनेवाले, और दूसरे धार्मिक शिक्षा देनेवाले हैं । वे भी विद्यागुरु हैं । अन्त में उस जीव की आत्मा के उत्थान—कल्याण करनेवाले चौथे धर्मगुरु कहलाते हैं । ऐसे धर्मगुरु का स्थान अत्यन्त ऊँचा है । सही कल्याण तो वे ही करेंगे ।

इन धर्मगुरुओं में भी सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनों ही कक्षा के होते हैं । जो स्वयं ही मोक्षमार्ग के पथ से भ्रष्ट है और अपना ही आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाए हैं वे मिथ्यात्वी हैं । आचार—विचार के ऊँचे आदर्श को वे अभी तक जो छू भी नहीं पाए हैं, त्याग की ऊँची कक्षा पर अभी तक जो चढ़ ही नहीं पाए हैं, ज्ञान और ध्यान की सही सच्ची दिशा ही जो अभी तक समझ ही नहीं पाए हैं, आत्मा—परमात्मा—कर्म—धर्म और मोक्ष तक का स्वरूप भी अभी तक जो स्वयं ही समझ नहीं पाए हैं वे क्या दूसरों को समझाएँगे ?

और क्या दूसरों का कल्याण कर पाएँगे ? ऐसे वेषधारी संन्यासी—बाबा—फकीर—जोगी आदि कई बैठे हैं जो स्वयं ही मोक्ष मार्ग पर नहीं हैं, अरे ! जो स्वयं अभी तत्त्व-मोक्ष मार्ग को पहचान ही नहीं पाए हैं ऐसे मिथ्यात्वी पथभ्रष्ट गुरु क्या करेंगे ? किसका कल्याण करेंगे ? संभव ही नहीं है अतः “स्वयं नष्टा परान्नाशयति” की कहावत चरितार्थ लगती है ।

### सच्चे धर्मगुरु—

दूसरे सम्यक्त्वी—सम्यग्दृष्टि मोक्षगामी—मोक्षमार्गी ऐसे जैन श्रमण—साधु जो आत्मा—परमात्मा—कर्म—धर्म और मोक्ष आदि तत्त्वों का, जगत् और इस सृष्टि का वास्तविक स्वरूप समझकर बैठे हैं, चरम सत्य, जो अच्छी तरह जानकर बैठे हैं ऐसे आत्मार्थी मोक्षार्थी ही सच्चे धर्मगुरु कहलाने योग्य हैं । स्वयं अपनी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं और अन्य जीवों को भी मोक्ष प्राप्ति का बिल्कुल शतप्रतिशत शुद्ध सच्चा मार्ग दिखाना और उस मार्ग पर चढ़ाना—चलाना आदि का उत्तम काम करनेवाले महापुरुष हैं ऐसे महात्मा सच्चे धर्मगुरु हैं । आध्यात्मिक विकासरूप मोक्षमार्ग के गुणस्थानों पर चढ़ते हुए छठे—सातवें सर्व विरति के गुणस्थानों पर चढ़कर जिन्होंने अपना विकास काफी ऊँची कक्षा तक कर लिया है । और जो दूसरों को भी सतत इसी ऊँचे आदर्श पर लाने के लिए पुरुषार्थरत हैं । संसार के पापों के जो सर्वथा त्यागी हैं, त्याग साधना में जगत में सर्वश्रेष्ठ हैं । और तपमार्ग से आत्म शुद्धि की काफी ऊँची कक्षा तक जो पहुँच चुके हैं ऐसी तप और त्याग की संस्कृति के संस्कारों से सुवासित जिनका ऊँचा जीवन है . . सचमुच जो त्याग की जीवंतमूर्ति है, और जो तपोमूर्ति है, ऐसे धर्मगुरु से ऊँचे दूसरे कौन मिल सकते हैं ? संभव ही नहीं है ।

### धर्मगुरुओं में तीन प्रकार की व्यवस्था—

इस ऊँचे आदर्श को सम्प्राप्त सच्चे धर्मगुरुओं में तीन विभाजन करके अलग अलग व्यवस्था की गई है । १. आचार्य २. उपाध्याय और ३. तीसरे साधु । सच देखा जाय तो ये तीनों साधु ही हैं । आचार्य और उपाध्याय दोनों मूल में तो साधु ही हैं । मात्र पद—अधिकार की व्यवस्था से वे आचार्य—उपाध्याय हैं । लेकिन मूलतः वे साधु ही हैं । जैसे एक सर्जन डॉक्टर है, दूसरा जनरल प्रेक्टीशनर डॉक्टर है, तीसरा कोई आँख या कानादि अंग विशेष का स्पेशलिस्ट विशेषज्ञ हो ऐसे सभी डॉक्टर मूलतः तो डॉक्टर ही हैं । लेकिन जनरल प्रेक्टीशनर्स की अपेक्षा विशेषज्ञ और सर्जन की कक्षा ज्यादा ऊँची है । दूसरे दृष्टान्त में कोई राजा प्रधानमंत्री है, कोई राष्ट्रपति है, कोई राज्यमंत्री है, और कोई सामान्य जनता के रूप में व्यक्ति है । ऐसी सभी प्रकार की व्यक्तियों में व्यक्तित्व सामान्यरूप

से है। भारतीय नागरिकत्व भी सब का सामान्य है। सभी समान रूप में मनुष्य ही है। फिर भी पद और सत्ता की दृष्टि से वे ऊँची कक्षा में हैं। ऊँचे पद पर है इसलिए... उत्कृष्ट कक्षा के कहे जाते हैं।

ठीक इसी तरह जैन शासन रूपी राज्य व्यवस्था में आचार्य—उपाध्याय एवं साधु इन तीन की व्यवस्था की गई है। आचार्य भगवंत प्रेसिडेंट—राष्ट्रपति के स्थान पर हैं। उपाध्यायजी महाराज प्रधानमंत्री की सत्ता पर बिराजमान हैं। तथा अन्य मंत्रियों के जैसे साधु महाराज हैं। या पहले राज्य में राजा—मंत्री—सेना आदि की व्यवस्था थी। जैन शासनरूपी राज्य में राजा के समकक्ष आचार्य भगवंत हैं। राजा के मुख्य सचिव स्वरूप (प्रधान) मंत्री स्वरूप उपाध्यायजी महाराज हैं। तथा सेना जो कार्यशील है, या जनता के जैसी व्यवस्था के स्थान पर साधु महाराज हैं। इस तरह आचार्य—उपाध्यायजी महाराज व्यवस्था की दृष्टि से सत्ता के पद पर आरुढ़ है। परन्तु मूलतः वे भी साधु ही हैं। मात्र पद—पदवी की दृष्टि से वे ऊँचे हैं। ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों परमेष्ठियों की स्थापना गुरु पद पर की है।

### ३६ गुणधारक गुरु की श्रेष्ठता—

जैन शासन में एक अनोखी व्यवस्था है। भगवान को भी पहचानने के लिए गुणों के द्वारा परीक्षा करने के लिए कहा और इसी तरह गुरु की परीक्षा करने के लिए गुणरूप कसौटी का पाषाण दिया है। यदि इन ३६ गुणों के धारक हो तो ही उनको गुरु मानना अन्यथा नहीं। ऐसा विधान जैन शास्त्रों ने करके गुरु का स्थान गुणयुक्त ऊँचा श्रेष्ठ ही रहने दिया है। गुरु की गरिमा गिरने नहीं दी। ऐसे ३६ गुणों का स्वरूप पंचिन्दिय सूत्र में इस प्रकार दिया है—

पंचिन्दिय संवरणो, तह नवविह बंधवेर गुत्तिधरो ।

चठविह कसाय मुक्को, इअ अट्टारस गुणेहिं संजुतो ॥ १ ॥

पंच महव्वय जुतो, पंच विहायार पालण समत्थो ।

पंच समिओ ति गुत्तो— छत्तीस गुणो गुरु मज्झ ॥ २ ॥

५ इन्द्रियों का संवरण करनेवाले,

९ प्रकार की बह्यचर्य की वाड के धारक,

४ प्रकार के क्रोध—मान—माया—लोभादि कषायों के त्यागी,

१८ इस प्रकार के १८ गुण और...

- +५ प्रकार के महाव्रतों को धारण करनेवाले,
- ५ पंचविघ आचारों का उत्तम पालन करनेवाले,
- ५ प्रकार की समितिओं का सुंदर आचरण करनेवाले,
- ३ मन—वचन—और काया के तीनों योगों की ३ गुप्तिवाले,
- ३६ ऐसे छत्तीस गुणों के धारक मेरे गुरु भगवंत हैं ।

उपरोक्त इस छोटे से पंचिदिय—गुरुस्थापना सूत्र में गुरु कैसे होने चाहिए ? उनके स्वरूप को दर्शाने के लिए ३६ गुणों का विश्लेषण दिया है । जो जितेन्द्रिय हो अर्थात् पाँचों इन्द्रियों को काबु में रखनेवाले हो, स्वयं इन्द्रियों के गुलाम न होकर उनको अपने वश में रखने वाले गुरु होने चाहिए । क्योंकि इन्द्रियों का गुलाम सब प्रकार के पाप कर लेता है । अतः पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों के सुख—भोगों को भोगने की वृत्ति के सेंकड़ों पापों से बचे हुए गुरु श्रेष्ठ कक्षा के होने चाहिए । संसार के संसारी जीव इन्द्रियों के गुलाम होकर—उनके अधीन होकर सेंकड़ों पाप करते हैं ।

इसी तरह ब्रह्मचर्य पालने में सक्षम—समर्थ होने चाहिए । जब सारी दुनिया अब्रह्म—आचरण में डूबी हुई है ऐसी परिस्थिति में गुरु सारी दुनिया के अब्रह्म सेवन के दुराचार—व्यभिचार के पाप से ऊपर उठे हुए ... विलक्षण कक्षा के ही होने चाहिए । ब्रह्मचारी ही जगत् का सर्वोच्च—सर्वश्रेष्ठ कक्षा का विलक्षण व्यक्तित्व धारक होता है । ऐसे ब्रह्मचर्य को शुद्धतम कक्षा का पालने के लिए ... शास्त्रकारों ने जो ब्रह्मचर्य की नौ वाडों का अनेखा स्वरूप बताया है वह इस प्रकार का है । १) हास्यादि पूर्वक स्त्रीकथादि विकथा का त्याग करना । २) स्त्री—नपुंसकादि के समानासन पर बैठना तक नहीं । ३) स्त्री के अंगोपांग आदि को कामेच्छा की तीव्रतावाली दृष्टि से देखना भी नहीं । ४) स्त्री—पुरुषों की कामक्रीडा—रतिक्रीडा—हाव—भावादि दीवार के पीछे छिपकर या छेदादि द्वारा भी नहीं देखना चाहिए । ५) भूतकाल में गृहस्थाश्रम में पहले स्त्री के साथ के भोग—संभोगादि का पुनःस्मरण चिन्तन भी नहीं करना । ६) कामवर्धक, वासना के उत्तेजक आहार—सरस स्वादिष्ट—गरिष्ठ भोजन का भी सर्वथा त्याग करना चाहिए । ७) इसी तरह अति आहार, रात्रिभोजन आदि भी साधु के लिए सर्वथा वर्ज्य है । ८) स्त्री—नपुंसकादि जहाँ बैठे हो वहाँ दो घड़ी तक बैठना नहीं, उसके आसन पर भी नहीं बैठना । तथा ९) शरीर शोभा, देह सुश्रूषा, अंग विभूषादि भी नहीं करनी चाहिए ।

इस प्रकार ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य पालने के लिए सहयोगी—सहकारी ऐसी नौ वाडों का स्वरूप बताया है । एक किसान बीज बोकर उस खेती की रक्षा करने के लिए



जैसे चारों तरफ काटों की वाड बनाकर रखता है। जिससे खेती—पाक सुरक्षित सुव्यवस्थित रह सके। किसी भां पशुओं—मनुष्यों आदि द्वारा उसे नुकसान न पहुँचे, ऐसा लक्ष रखकर काँटे की वाड बनाई जाती है ठीक उसी तरह मोक्षमार्ग की साधना के मार्ग में आगे बढ़नेवाला साधक जो साधु बनकर जगत का गुरु बना है उसे इन ब्रह्मचर्य की नौ वाडों का पालन करना ही चाहिए। जिससे ब्रह्मव्रत का अच्छी तरह पालन हो सके।

### ब्रह्मचर्य के १० समाधिस्थान—

इन नौ वाडों के जैसे श्री उत्तराध्ययन शास्त्र आगम में १० प्रकार के समाधिस्थान बताए हैं—

इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बंधचेरसमाहिट्टाणा पण्णत्ता—जे भिक्खु सोच्चा निसम्म संजम बहुले, संवर बहुले, समाहि बहुले गुत्ते गुत्तिदिए गुत्तबंभवारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ॥ ३ ॥

तं जहा विवित्ताइं सयणासणाइं सेविज्जा से निग्गंथे। १) णो इत्थीपसु पंडगसत्ताइं सयणासणाइं सेविता हवइ... से निग्गंथे। २) णो इत्थीणं कथं कहेत्ता हवइ से निग्गंथे। ३) णो इत्थीहिं सद्धि सन्निसिज्जागए विहरित्ता हवइ—से निग्गंथे। ४) णो इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मनोरमाइं अलोएत्ता णिज्झाइत्ता हवइ, से निग्गंथे। ५) णो इत्थीणं कुडुंतरंसि वा दूसंतरंसि वा भित्तिरंसि वा कूइयसइं वा रुइयसइं वा गीयसइं वा हसियसइं वा थाणियसइं वा कंदियसइं वा विलवियसइं वा सुणित्ता भवइ, से निग्गंथे। ६) णो इत्थीणं पुव्वरयं वा पुव्वकीलियं वा अणुसरित्ता हवइ, से निग्गंथे। ७) णो पणीअं आहारं आहारेत्ता हवइ से निग्गंथे। ८) णो अइमायाए पाणभोअणं आहरेत्ता हवइ, से निग्गंथे। ९) णो विभूसाणुवाईं हवइ, से निग्गंथे। १०) णो सइ—रूव—रस—गंध—फासाणुवाईं हवइ से निग्गंथे।

सुधर्मास्वामी गणधर भगवंत अपने शिष्य जंबुस्वामी को कह रहे हैं— हे जंबु ! स्थविर भगवन्तों ने ब्रह्मचर्य के ये १० समाधिस्थान बताए हैं— इनका साधु को श्रवण करके, सुन कर हृदय में अवधारण करके, संयम बहुल, संवर बहुल, समाधि बहुल, गुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त ब्रह्मचारी और सदा ही अप्रमत्त बनकर मोक्षमार्गपर विहार करनेवाले बनना चाहिए।

वे दश समाधिस्थान इस प्रकार हैं— १) स्त्री—पशु—नपुंसक रहित शयन और आसन का साधु सेवन करें। सहित का सेवन—उपयोग न करें। २) जो स्त्रीकथा न करें

वह साधु है । ३) जो स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे वह साधु है । ४) स्त्रियों की मनोहर आकर्षक मनोरम—आह्लादक इन्द्रियों का दर्शन—स्मरण—तथा चिंतन आदि न करें वह साधु है । ५) जो दिवालों—खिडकियों के पीछे छिपकर या परदे के पीछे से भी छिट्टों आदि में से रतिक्लीडा—प्रणय कलह आदि न देखे वह साधु है । ६) पूर्वकाल में स्त्रियों के साथ जिन भोगों को भोगा है उसका सर्वथा स्मरण न करें वह साधु है । ७) जो धी आदि विगड़ियों से भरपूर आहार न करें वह साधु है । ८) प्रमाण—परिमाण का उत्तलघन करके अतिमात्रा में आहार न करे वह साधु है । ९) शरीर की शोभा बढ़ाने के साधनों द्वारा जो शरीर की शोभा नहीं बढ़ाता है वह साधु है । और अन्तिम १०) जो स्त्रियों के मनोहर शब्द—रूप—रस—गंध और स्पर्शादि विषयों में आसक्त नहीं होता है वह साधु है ।

इस तरह उपरोक्त दश प्रकार के समाधि स्थान हैं । जो नौ प्रकार की वाड के साथ पूरी तरह साम्यता रखते हैं । इनका पूर्णरूप से अच्छी तरह पालन करनेवाला साधक समाधिभाव में स्थिर रहता है । उसे फिर असमाधि अस्थिरता—चिंतादि दोषों में जाने की आवश्यकता ही नहीं रहती है । समाधिभाव आत्मा के लिए बहुत ही ज्यादा उपयोगी है ।

#### ४ कषायों से रहित जीवन—

गुरुपद पर बिराजमान आचार्य, उपाध्याय या साधु के जीवन में क्रोध—मान—माया तथा लोभ इन चारों कषायों की स्थिति सर्वथा क्षीणप्राय हो जानी चाहिए । कषाय स्व गुण घातक होते हैं और कषायों का व्यवहार करने पर दूसरों को भी नुकसान पहुँचाते हैं व्यवहार में । अतः गुरु के जीवन में कषायों की सर्वथा मंदता होनी चाहिए ।

५ इन्द्रियों का संवरण, नियंत्रण + ९ ब्रह्मचर्य की वाड का पालन और ४ कषाय की मुक्तता ५ + ९ + ४ = १८ । इन १८ गुणों से युक्त गुरु का जीवन हो । तथा ... दूसरे प्रकार से और १८ गुणों का मिश्रण करते हुए कहते हैं कि—

५ महाव्रत से युक्त हों— जिससे पाँचो बड़े पाप छूट जाते हैं—

- १ प्राणातिपात विरमण महाव्रत से — प्राणी हिंसारूप पाप से छूटता है ।
- २ मृषावाद विरमण महाव्रत से — झूठ — असत्य का पाप छूटता है ।
- ३ अदत्तादान विरमण महाव्रत से — चोरी स्तेयवृत्ति का पाप छूटता है ।
- ४ मैथुन विरमण महाव्रत से — अब्रह्म — मैथुन सेवन का पाप छूटता है ।
- ५ परिग्रह परिमाण विरमण महाव्रत से — अति संग्रहखोरी का पाप छूटता है ।

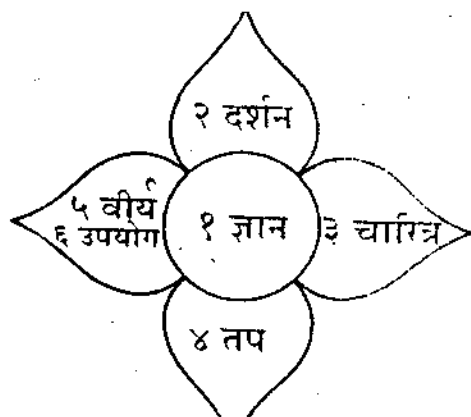
इस तरह पापों की प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग करने रूप पाँच महाव्रतों के पालन करनेवाले ही धर्मगुरु कहलाते हैं ।

**पाँच प्रकार के आचारों का पालन करनेवाले—**

आत्मा के मूलभूत गुण १) ज्ञान, २) दर्शन, ३) चारित्र, ४) तप, तथा ५) वीर्य हैं । ये गुण ही आत्मा की पहचान हैं । अतः इन्हें ही लक्षण भी कहा है—

**नाणं च दंसणं चेद, चरित्तं च तवो तथा ।**

**वीरियं उवओगो य, एअं जीवस्स लक्खणं ॥**



ज्ञान—दर्शन—चारित्र—तप—  
वीर्य—उपयोग ये ही जीव के लक्षण हैं । गुण द्रव्य का भेदक स्वरूप है । अन्यद्रव्य से स्वद्रव्य का भेद कराते हैं । अतः गुण ही लक्षण कारक बन जाता है । आत्मा इन गुणों की मिश्रित—सम्मिलित पिण्डरूप है । आत्मा ज्ञानादि से सर्वथा अभिन्न है । ऐसे गुणों का व्यवहार में आचरण करना उसे धर्म कहते हैं । गुणों के

विकास के लिए... गुणों पर के आवरण का निवारण करने के लिए भी... उन गुणों का ही उपयोग हो ऐसा आचरण करना ही धर्म कहलाता है । पाँच गुणरूप धर्म का पंचाचार रूप धर्म है । यही आध्यात्मिक धर्म साधना है । गुरु पदारुढ आचार्य—उपाध्याय तथा साधु महाराजों को १) ज्ञानाचार, २) दर्शनाचार, ३) चारित्राचार, ४) तपाचार, और वीर्याचार इन पाँचों आचारों को पालने में समर्थ होना चाहिए । पंचाचार के पालन की ऐसी आध्यात्मिक साधना में लीन हो वे साधु कहलाते हैं ।

**पंच समिओ—ति गुत्तो—**

पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त ऐसे गुरु महाराज होने चाहिए । सम्यग् पूर्वक जीवों की रक्षा करते हुए जीव—जन्तुओं की हिंसा—विराधना से बचते हुए आने—जाने रखने—बैठने उठने—बोलने आदि की प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं ।

ऐसी पाँच समितियाँ इस प्रकार हैं— १) इर्यासमिति— मार्ग में जीवरक्षा का पालन करते हुए जयणा पूर्वक चलना—आना—जाना । २) भाषासमिति— बोलते हुए भी सुननेवाले किसी भी जीव को दुःख न हो, किसी के मन में दुःख होवे ऐसी भाषा भी बोलकर मानसिकी हिंसा भी न करना यह भाषा समिति है । विवेक पूर्वक बोलने आदि का व्यवहार करना । ३) एषणा समिति— साधु भिक्षा—गोचरी आदि के लिए आए—जाए ऐसी आहार की गवेषणा में भी दोषों के सेवन से बचे उसे एषणा समिति कहते हैं । ५) आदान—भंड—मत्त निक्खेवणा समिति— वस्तु—वस्त्र पात्रादि उपकरण भी जयणा पूर्वक रखना—लेना—उठाना—आदि की क्रिया करे जिसमें किसी भी जीव की हिंसा—विराधना न हो ।

ऐसी पाँच समितियों का शुद्ध पालन करना यह भी गुरु पद पर बिराजमान गुरु का आचार है । साथ ही मन—वचन और काया ये तीन जो योम हैं । इन योगों से प्रतिक्षण हम व्यवहार करते हैं । १) मन से सोचने—विचारने का, २) वचन योग से बोलने का भाषाकीय व्यवहार, ३) काया—शरीर से शारीरिक—कायिक व्यवहार । इन तीनों योगों के तीनों व्यवहार में सम्यगपूर्वक अशुभ योगों का त्याग करने पूर्वक शुभ योगों की प्रवृत्ति करने को गुप्ति कहते हैं । “सम्यग् योग निर्गमो गुप्ति” तत्त्वार्थ में ऐसा पाठ है ।

उपरोक्त पाँच समिति और तीन गुप्ति मिलाकर आठ को “अष्टप्रवचन माता” कहा जाता है । श्री उत्तराध्ययन सूत्र आगम शास्त्र में— इन अष्टप्रवचन माता का २४ वें अध्ययन में विस्तृत वर्णन किया है ।

अद्वयवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।

पंचेव य समीइओ तओ गुत्तीउ अहिआ ॥

जैसे एक माता अपने संतान को शिक्षा तथा संस्कारों से सुसंस्कारित करती है, उसे सम्य बनाती हुई सब सीखाती है और इस तरह अपने संतान को सुयोग्य बनाती है । इस तरह मातृत्व का कर्तव्य निभाती है । ठीक इसी तरह ये पाँच समितियाँ और ३ गुप्तियाँ रूप अष्टप्रवचन माता नूतन दीक्षित मुनि को आचार धर्म सिखाना और सिखाकर उन्हें सुशिक्षित सुसम्य सुयोग्य साधु बनाने का काम करती हैं । अतः इसे “माता” की उपमा दी गई है ।

इस तरह ५ इन्द्रिय संवरण + ९ ब्रह्मचर्य की वाड + ४ कषाय रहितता, = १८, + ५ महावतयुक्त, + ५ पंचाचार पालन + ५ समिति + ३ गुप्ति धारण इस तरह ३६

गुणों के धारक ऐसे गुरु महाराज होते हैं। इनमें पहले १८ और बाद में दूसरे १८ इन ३६ गुणों की जो व्यवस्था की है उनमें... आभ्यन्तर मानसिक भूमिका के आचरण की प्रधानतावाले पहले १८ गुण हैं। और दूसरी गाथा में बाह्य आचार धर्म के पालन रूप शेष १८ गुण हैं। इस तरह बाह्य—आभ्यन्तर भाववाले ३६ गुण हैं। इससे स्पष्ट होता है कि साधु मात्र बाह्य दृष्टि से ही न हो आभ्यन्तर कक्षा की भावना से भी वह पूर्ण रूप से साधु हो। ऐसे गुणधारक गुरु का स्वरूप निर्णीत किया गया है। इन गुणों के धारक जो भी हो वे मेरे गुरु हैं ऐसा सूत्र की अंतिम पंक्ति में कहा है। ऐसा नहीं कहा है कि इन गुणों के धारक हो वे आचार्य कहलाते हैं। ऐसा पाठ नहीं है। यह आचार्य उपाध्याय या साधु विशेष का वर्णन करनेवाला सूत्र नहीं है, परन्तु तीनों का सम्मिलित स्वरूप दशनिवाला गुरुपद वाची सूत्र है। गुरु में तीनों आ रहे हैं।

यहाँ ३६ गुणों की संख्या आने के कारण वैसी सादृश्यता के कारण भ्रान्ति खड़ी कर दी गई कि ये ३६ आचार्य के ही गुण हैं। ऐसा उचित नहीं लगता है। ये ३६ गुण उपाध्याय में भी होने आवश्यक ही हैं। इसी तरह ये ३६ सभी गुण साधु में भी होने आवश्यक ही हैं। अतः यह सर्व सामान्य गुण हैं जो तीनों में समान रूप से होने अनिवार्य हैं। अतः ये प्राथमिक कक्षा के गुण हैं। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि इन ३६ गुणों में से ब्रह्मचर्य की वाङ्मय के ९ गुण कम कर देने पर साधु के २७ गुण आ जाएंगे। नहीं! यह भी उचित नहीं है। क्योंकि साधु को भी ब्रह्मचर्य की नौ वाङ्मय पालनी अनिवार्य है। उसी तरह उपाध्यायजी के लिए भी पालनी अनिवार्य ही है। क्योंकि तीनों ही मूलभूत साधु तो हैं ही। अतः ये ३६ गुण गुरु पद के रखे जाय यही उत्तम है। मात्र आचार्य पद के ये ३६ गुण रखने यह उचित नहीं लगता है।

अतः ये ३६ अनिवार्य प्राथमिक गुण रखकर फिर आगे उन उन परमेष्ठि के गुणों की संख्या रखने से सही संख्या आएगी। इस तरह करने पर ऐसी संख्या आएगी—

- \* आचार्य महाराज— मूलभूत गुरुपद के ३६ गुण + आचार्य पद के ३६ गुण
- \* उपाध्यायजी महाराज— मूलभूत गुरुपद के ३६ गुण + उपाध्यायपद के २५ गुण
- \* साधु महाराज— मूलभूत गुरुपद के ३६ गुण + साधुपद के २७ गुण

**अनेक रीत से गुणों का वर्गीकरण—**

इस तरह शास्त्रों में एक तरीके से गुणों के संग्रहरूप छत्तिसी आदि बताई है— ३६ गुणों की छत्तिसी। २५ गुणों की पच्चिसी, और २७ गुणों की सत्ताविंसी (सत्ताइसी)। एक

। तरीके से ३६ गुण, फिर दूसरे तरीके से और ३६ गुण, फिर तीसरे तरीके से ३६ गुण । इस तरह ३६ तरीके से भिन्न भिन्न दृष्टि से ३६—३६ गुणों की छत्तीसीयाँ बनाई हैं । कहा है कि—

**छत्रीश छत्रीशी गुणे, युगप्रधान मुणींद ।  
जिनमत परमत जाणता, नमो नमो ते सूरिंद ॥**

वीशस्थानक विधि के ग्रन्थ में तीसरे आचार्य पद के दोहे में उपरोक्त बात करते हुए कहा है कि— ऐसे ३६—३६ गुणों की ३६ छत्तीसीयाँ इकट्ठी करने पर  $३६ \times ३६ = १२९६$  कुल गुण होते हैं । इसी तरह उपाध्यायजी महाराज के जो २५ गुणों की २५ पच्चीसियाँ हो तो  $२५ \times २५ = ६२५$  गुण होते हैं । और इसी तरह साधु के भी २७ गुणों की २७ सत्ताईसियाँ की जाय तो  $२७ \times २७ = ७२९$  गुण होते हैं । इनमें अपने पद के गुण तथा गुरु होने के नाते के प्राथमिक ३६ गुण मिलाकर गुणों की संख्या में वृद्धि की गई है । ३६ गुण आचार्य भगवंत के निश्चित हैं । ऐसे ३६ गुणों का एक समूह आचार्य के गुण बराबर है । परन्तु उत्कृष्ट कक्षा से ऐसे भी आचार्य महाराज होते हैं जिनके उत्कृष्ट से ३६ छत्तीसियों के हिसाब से १२९६ गुण भी होते हैं । परन्तु जघन्य से ३६ गुण होने अनिवार्य हैं ।

इसी तरह उपाध्यायजी के २५ गुणों का एक समूह और ३६ गुण मूलभूत गुरुपद के होने आवश्यक हैं । एक तरीके से २५ गुणों का समूह होना ये जघन्य गुण हैं । और उत्कृष्ट रूप से उपाध्यायजी के २५—२५ गुणों के समूहात्मक पच्चीसियों के आधार पर ६२५ गुण होते हैं । लेकिन कम से कम २५ गुण होने ही चाहिए । इसी तरह साधु भगवंत के बारे में भी समझना चाहिए । २७ गुण साधु पद के, और मूलभूत गुरु पद के ३६ गुण इस तरह दोनों होने चाहिए । उत्कृष्ट साधुता की कक्षा के शिखर पर पहुँचे हुए साधुओं में २७ तरीके से २७ सत्ताईसियों के आधार पर ७२९ गुणों की भी संभावना है । इस तरह इन गुणों के धारक ऐसे गुरु भगवंत होते हैं ।

आचार्य भगवंत की ३६ तरीके की ३६ छत्तीसियों में एक छत्तीसी पंचिदिय सूत्र की भी हो सकती है । इनमें से तीनों की एक एक गुणसमूहात्मक छत्तीसी आदि यहाँ पर दी जाती है ।

## आचार्य के अनेक प्रकार—

शास्त्रों में आचार्य भगवन्त नय—निक्षेपादि दृष्टि से अनेक प्रकार के दर्शाए हैं । १) नामाचार्य, २) स्थापनाचार्य, ३) द्रव्याचार्य, ४) भावाचार्य आदि भेद दर्शाए गए हैं । भावाचार्य सर्वाधिक गुणवाले होते हैं । क्रमशः गुणों की न्यूनता नामाचार्य में होती है । इसी तरह उपाध्याय एवं साधु के भी नामसाध्वादि भेद—प्रभेद से स्वरूप समझना चाहिए । उत्कृष्ट आचार्य—भावाचार्य कहलाते हैं । जिनमें सब गुणों की विद्यमानता होती है । नामाचार्यादि में सभी गुणों की विद्यमानता नहीं भी होती है ।

## आचार्य पद के ३६ गुणोंकी एक छत्तीसी—

|                          |                         |                           |
|--------------------------|-------------------------|---------------------------|
| १) प्रतिरूप गुणधारक,     | २) तेजस्वी गुणधारक,     | ३) युगप्रधान गुणधारक      |
| ४) मधुरवाक्य गुणधारक     | ५) गम्भीरता गुणधारक     | ६) सुबुद्धि गुणधारक       |
| ७) उपदेश तत्परता गुणधारक | ८) अपरिश्रावि गुणधारक   | ९) चन्द्रवत्सौम्य गुणधारक |
| १०) विविधाभिग्रमति       | ११) अविकथ गुणधारक       | १२) अचपल गुणधारक          |
| गुणधारक                  |                         |                           |
| १३) संयमशील गुणधारक      | १४) प्रशांतहृदय गुणधारक | १५) क्षमा गुणधारक         |
| १६) मार्दव गुणधारक       | १७) आर्जव गुणधारक       | १८) निर्लोभित गुणधारक     |
| १९) तपोगुणयुक्त          | २०) संयम गुणयुक्त       | २१) सत्यगुणधारक           |
| २२) अकिंचन्य गुणयुक्त    | २३) ब्रह्मचर्य गुणयुक्त | २४) शौच गुणधारक           |
| २५) अनित्यभावना भावुक    | २६) अशरण भावना भावुक    | २७) संसार भावना भावुक     |
| २८) एकत्व भावना भावुक    | २९) अन्यत्व भावना भावुक | ३०) अशुचि भावना भावुक     |
| ३१) आश्रव भावना भावुक    | ३२) संवर भावना भावुक    | ३३) निर्जरा भावना भावुक   |
| ३४) लोक स्वभाव भावना     | ३५) बोधिदुर्लभ भावना    | ३६) धर्मसाधक अरिहंता      |
| भावुक                    |                         |                           |

आदि दुर्लभ भावना भावित इस तरह आचार्य भगवन्त के ३६ गुणों के समूहवाली एक छत्तीसी के ३६ गुण यहाँ दिये हैं । ऐसी दूसरी—तीसरी आदि छत्तीसियाँ भी गुणों के भण्डार समान हैं ।

## उपाध्याय पद के २५ गुण—

उपाध्यायजी महाराज जो मुख्यरूप से वाचक—पाठक कहलाते हैं । ज्ञानदान का ही मुख्य कार्यक्षेत्र है उनका । पठन—पाठन करना । सूत्रार्थ की वाचना देनेवाले वाचक

स्वरूप में है। अतः उपाध्यायजी के समस्त गुण ज्ञान—शास्त्रादि संबंधी है। ११ अंगसूत्र + १२ उपांग सूत्रों को पढ़ने—पढ़ानेवाले उपाध्यायजी तथा क्रिया विशिष्टता एवं पूर्व के अध्यासी इस तरह भी २५ गुणों के धारक उपाध्यायजी महाराज कहलाते हैं।

- १) आचारांग सूत्र पाठक २) सूत्रकृतांग सूत्र पाठक ३) स्थानांग सूत्र पाठक  
 ४) समवायांग सूत्र पाठक ५) भगवती सूत्र पाठक ६) ज्ञाता सूत्र पाठक  
 ७) उपासकदशांग सूत्र पाठक ८) अन्तकृद्दशांग सूत्र पाठक ९) अनुत्तरोपपातिक सू.  
 १०) प्रश्न व्याकरण सूत्र. ११) विपाक अंग सूत्र पाठक १२) उववाइ उपांग सूत्र.  
 १३) रायपसेणि उपांग सूत्र. १४) जीवाभिगम उपांग सूत्र. १५) पत्रवणा उपांग सूत्र.  
 १६) जंबूद्वीप पत्रति सूत्र. १७) चन्द्रप्रज्ञप्ति उपांग सूत्र. १८) सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र पाठक  
 १९) निरयावली उपांग सूत्र. १८) कप्पिआ उपांग सूत्र. २१) पुष्पिआ उपांग सूत्र.  
 २२) पुष्फचूलिआ उपांग सू. २३) वह्निदशा उपांग सूत्र. २४) द्वादशांगीश्रुत उपांग.  
 २५) द्वादशांगी श्रुत—अर्थ उपांग सूत्र पाठक

इस तरह ११ अंग और १२ उपांग सूत्रों के पठन—पाठन के पाठक आधार पर २५ गुण होते हैं। दूसरी तरह ११ अंगसूत्र और १४ पूर्व शास्त्रों के पठन—पाठन के आधार पर भी ११ + १४ = २५ गुण होते हैं। यह दूसरी पच्चीसी दूसरे प्रकार से होगी।

### साधु पद के २७ गुण—

पंचपरमेष्ठियों में पाँचवे पद पर साधु भगवंतो की गणना की गई है। साधु महात्मा भी अपने पद के २७ गुणों के धारक होते हैं। वे २७ गुण निम्न प्रकार हैं।

- १) पृथ्वीकाय रक्षक २) अप्काय रक्षक ३) तेउकाय रक्षक  
 ४) वायुकाय रक्षक ५) वनस्पतिकाय रक्षक ६) त्रसकाय रक्षक  
 ७) प्राणातिपात विरमण ८) मृषावाद विरत ९) सर्वतः अदत्तादान विरत  
 महाव्रत धारक  
 १०) सर्वतः मैथुनविरमणव्रती ११) सर्वतः परिग्रह त्यागी १२) सर्वतः रात्रिभोजनत्यागी  
 १३) ४ कषाय निग्रहकारी १४) स्पर्शेन्द्रिय विषय त्यागी १५) रसनेन्द्रियविषयत्यागी  
 १६) घ्राणेन्द्रिय विषय निग्रही १७) चक्षुर्इन्द्रियविषयत्यागी १८) शीतादि २२ परीषह  
 सहिष्णु  
 १९) श्रोत्रेन्द्रिय विषय त्यागी २०) क्षमादिगुण धारक २१) भावविशुद्धि धारक



- २२) मनोयोग शुद्धि धारक    २३) वचन योग शुद्धिधारक    २४) काय योग शुद्धि धारक  
 २५) मरणान्त उपसर्गसहिष्णु    २६) संलीनता गुणधारक    २७) निर्दोष संयमयोग युक्त

दूसरी तरह से २७ गुणों की व्यवस्था—

- |                                      |                             |                            |
|--------------------------------------|-----------------------------|----------------------------|
| १) प्राणातिपातविरमण<br>महावती        | २) मृषावादविरत              | ३) अदत्तादानविरत           |
| ४) मैथुनसर्वथाविरत                   | ५) परिग्रहत्यागी            | ६) रात्रिभोजनत्यागी        |
| ७) पृथ्वीकायरक्षक                    | ८) अप्कायरक्षक              | ९) तेउकायरक्षक             |
| १०) वायुकायरक्षक                     | ११) वनस्पतिकायरक्षक         | १२) त्रसकायरक्षक           |
| १३) एकेन्द्रियसर्वजीवरक्षक           | १४) द्विन्द्रियसर्वजीवरक्षक | १५) तेइन्द्रियसर्वजीवरक्षक |
| १६) चतुरिन्द्रियसर्वजीवरक्षक         | १७) पंचेन्द्रियसर्वजीवरक्षक | १८) लोभादिकषायनिग्रही      |
| १९) क्षमाशील                         | २०) शुभभावनाभावुक           | २१) मनोगुप्तिधारक          |
| २२) प्रतिलेखनादि शुद्ध<br>क्रियाकारक | २३) संयमयोगयुक्त            | २४) वचनगुप्तिधारक          |
| २५) शीतादि २२ परिषह<br>सहिष्णु       | २६) मरणान्तउपसर्गसहिष्णु    | २७) कायगुप्तिधारक          |

इस तरह दूसरे तरीके से भी २७ गुण हुए ! उपरोक्त दोनों सत्ताईसियों को देखने पर थोड़े से गुणों का अन्तर आता है, परन्तु सत्ताइसी का प्रकार थोड़ा बदल जाता है ।

**गुणाश्रित स्वरूप—**

गुरु पद पर बिराजमान आचार्य, उपाध्याय एवं साधु महाराज इन तीनों में गुणों की ही प्राधान्यता है । अतः गुणों के एक मात्र आधार पर आश्रित ही तीनों का जीवन है । आश्रित है । व्यक्ति आश्रित या द्रव्याधार या नामाश्रित कोई महत्त्व नहीं है । वैसी प्राधान्यता मिलने पर गुण स्वरूप गौण हो जाता है, और आगे का सारा महत्त्व कमजोर हो जाता है । अतः एक मात्र गुणों की प्राधान्यतावाला जीवन ही सुंदर है ।

ऐसे ऐसे गुणों का होना आवश्यक है । ऐसे और इतने गुण होने चाहिए तो ही आचार्य कहलाएंगे । या फिर तो ही उपाध्याय कहलाएंगे, या तो ही वे साधु कहलाएंगे । उस उस पद पर पहुँचने के लिए ये ये गुण होने चाहिए । ऐस ऐसे गुण होने चाहिए यह कौन निर्णय करता है ? किसने ये नियम बनाए ? इत्यादि विचारणा के उत्तर में स्पष्ट है कि तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवंतों ने ही शासन की स्थापना की है । उन्होंने ही धर्म की, तीर्थ की,

चतुर्विध संघ की व्यवस्थापना की है। अतः केन्द्रीभूत आधार तीर्थकरों का ही है। साधु साध्वी—श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना रूप तीर्थस्थापना तीर्थकर परमात्मा ने ही की है। तीर्थकर शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी अर्थ—भाव को स्पष्ट एवं पुष्ट करती है— तीर्थ करोति इति तीर्थकर। जो तीर्थ बनाते हैं वे तीर्थकर।

तीर्थकर बनने के बाद कोई भी तीर्थकर सर्वज्ञ भगवान् जाति व्यवस्था या संप्रदाय स्थापना नहीं करते हैं। वे मात्र धर्मतीर्थ की ही स्थापना करते हैं। किन्तु हिन्दु धर्म में मनुस्मृति ग्रंथ में जाति व्यवस्था करने का काम भगवान् को सौंपा गया है। १ ब्राह्मण, २ शूद्र, ३ क्षत्रिय और ४ वैश्य इस प्रकार चार वर्णों की व्यवस्था स्थापना भगवान् ने की ऐसा वर्णन मनुस्मृति में है। सच देखा जाय तो ऐसी स्थापना करने की कोई बात ही सत्य नहीं लगती है। कर्म के संसार में जो जीव जैसी पाप कर्म की प्रवृत्ति करता है उसको उसीके किये हुए पापकर्मों के उदय में वैसा फल मिलता है। पाप के फल रूप उस जीव को वैसी जाति—कुल—गोत्रादि प्राप्त होते हैं। किये हुए कर्म ही एक मात्र कारण है। ये शब्द भगवान् महावीर प्रभु ने अपनी देशना में स्पष्ट कहे हैं। जो उत्तराध्ययन शास्त्र में संग्रहित है वे इस प्रकार है—

एगया खत्तिओ होई, तओ चंडाल बुक्कसो ।

तओ कीड पर्यगो अ, तओ कुंथु पिवीलिआ ॥ उत्तरा ३/४

चार गति और पाँच जाति के इस ८४ लक्ष जीव योनियों के संसार में परिभ्रमण करते हुए जन्म—मरण धारण करते हुए कभी जीव क्षत्रिय बनता है तो कभी जीव चंडाल बनता है। और किये हुए कर्मानुसार कभी कीट—पतंग—तथा कभी कुंथुआ नामक छोटे से जन्तु तथा चींटी आदि भी बनता है। इस प्रकार कृत कर्मानुसार जन्म—मरण धारण करता ही रहता है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

कम्मुणा वइसो होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा ॥ उत्तरा २५/३३

किये हुए कर्मानुसार कोई जीव ब्राह्मण बनता है। कृत कर्मानुसार ही कोई क्षत्रिय होता है, कोई वैश्य और कोई शूद्र भी बनता है। तो अखिर किये हुए कर्मानुसार ही बनता है। कई बार जातिभेद करके जीव हल्की जाति में जाकर जन्म लेते हैं। अपने कुल का अभिमान करनेवाले कई जीव जन्मान्तर में शूद्ररूप से चण्डाल, हरिजन, भंगी, आदि कुल गोत्र में जन्म लेते हैं। यह तो अपने अपने किये हुए कर्मानुसार फल रूप है। इसलिए

किसी ईश्वर के हाथ में यह फल नहीं है । कोई ईश्वरकृत व्यवस्था नहीं है । यह तो कर्म कृत व्यवस्था है ।

न वि मुंडिण समणो, न उंकारेण बम्भणो ।

न मुणीरण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ॥ उत्तरा २५/३०

भ. महावीर प्रभु तो स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कहते हैं कि... सिर मुंडाने मात्र से कोई श्रमण—साधु नहीं कहलाता है । और न ही उंकार मात्र का आचरण कर लेने से कोई ब्राह्मण कहलाता है । और जंगल अरण्य में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं कहलाता है । इसी तरह कोई जंगल में पेड़ के पत्ते ही लपेट कर (कुशचीर—वस्त्र) कपड़े के रूप में पहनने मात्र से तापस—नहीं बनता है । ये तो चिन्ह मात्र है । ये तो दुनिया को देखने के लिए पहचान मात्र है । इतने मात्र से कोई मुनिपना या तापसपना आ नहीं जाता है । निरर्थक है । श्री वीर प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि—

समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो ।

नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥ उत्तरा २५/३१

गुणाश्रित जीवन बताते हुए प्रभु फरमाते हैं कि... क्षमा—समता के रखने से ही श्रमण साधु बनता है, कहलाता है । और शुद्ध नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही ब्राह्मण कहलाता है । ज्ञान के क्षेत्र में भी सम्यग् ज्ञान प्राप्त करनेवाला ज्ञानी ही मुनि कहलाने योग्य होता है, और बाह्य आभ्यंतर शुद्ध तपश्चर्या करने से ही तपस्वी तापस बन सकता है । अन्यथा नहीं । गुणों के आधार पर परमात्मा ने कितनी अद्भुत—अनोखी व्यवस्था की है ।

**गुणों की व्यवस्था का शाश्वत स्वरूप—**

आचार्य—उपाध्याय एवं साधु इन तीन पदों की गुणों के आधार पर.. शाश्वत.. व्यवस्था है । भूत—वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सदाकाल यही तीन व्यवस्था हैं । इनके इसी तरह ३६, २५, और २७ गुण हैं । यहाँ नाम—जाति—संप्रदाय आदि की कोई व्यवस्था ही नहीं है । किसी को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है । यह एक मात्र गुण आधारित व्यवस्था है । पंच परमेष्ठि के १०८ गुणों में अरिहंत के १२ तथा + सिद्ध के ८ मिलाकर देव तत्त्व के २० ही गुण हैं । जबकि आचार्य के ३६ + उपाध्याय के २५ + तथा साधु के २७ कुल मिलाकर गुरु तत्त्व के ८८ गुण होते हैं । इस तरह देव तत्त्व के — २० और गुरु तत्त्व के — ८८ गुण मिलाकर १०८ कुल होते हैं । इन पंचपरमेष्ठी के १०८ गुणों के

आधार पर १०८ मणके की माला की व्यवस्था की गई है। ये १०८ मणकों पर गुणों का ही जाप करना चाहिए। गुणों का स्मरण करना चाहिए। गुणों के स्मरण पूर्वक पंचपरमेष्ठियों का जाप स्मरण करना ही सच्चा शुद्ध जाप है। यह गुणात्मक व्यवस्था त्रैकालिक शाश्वत है सदा काल यही स्वरूप स्थिर रहता है। तीनों काल में आचार्य—उपाध्याय साधु की व्यवस्था एवं स्वरूप में कहीं कोई फरक नहीं पड़ा। नवकार महामंत्र के पाँच परमेष्ठि भगवंतों में तीसरे, चौथे और पाँचवे परमेष्ठी के रूप में तीनों गुरु भगवंत हैं। नवकार महामंत्र जो अनादि—अनन्तकालीन शाश्वत है उनमें देव गुरु की स्थापना भी शाश्वत है। अतः आचार्यादि—साधु पर्यन्त सभी गुरु पद भी नित्य—शाश्वत हैं। तीनों काल में यह स्वरूप एक जैसा ही है और रहेगा।

**गुणों का शुद्ध आचरण ही धर्म है—**



धर्म का आधार गुणों पर है और गुणों का आधारभूत केन्द्र स्थान चेतनात्मा द्रव्य है। चेतनगत = आत्मगत गुण ज्ञानादि आत्मा में ही रहते हैं। ज्ञान—दर्शन—यथाख्यात चरित्र, तप और अनन्तवीर्य ये आत्मा के मूलभूत गुण हैं। यद्यपि ये गुण कर्म के आवरण से आच्छादित होने के कारण प्रकट नहीं हैं। हाँ, कर्म के आवरण से आच्छादित होने पर भी सर्वथा—संपूर्ण—पूर्णरूप से सर्वांश में

ढके हुए नहीं हैं। जैसे घने काले मेघ कितने भी ढके हुए हो फिर भी सूर्य के प्रकाश की प्रभा तो फैलती ही है। इस फैली हुई प्रभा के कारण दिन और रात में आसमान—जमीन के जितना अन्तर रहता है। रात्रि के गाढ़ तिमिर जैसा दिन की प्रभा का अन्धेरा नहीं होगा। ठीक इसी तरह आत्मा रूपी सूर्य पर कर्म रूपी घने काले बादलों का आवरण छा भी जाय तो भी वह सर्वांश में सर्वथा आत्मा को ग्रस्त नहीं करता है। आशिक आत्मगुणों का प्रकाश प्रकट रहता है। इसी कारण आत्मा अपने अस्तित्व को टिकाकर रहती है। इसलिए आत्मा के ज्ञानादि गुणों का व्यवहार आशिक रूप में प्रकट रहता है।

आत्मा के मुख्य ज्ञानादि गुणों के आधार पर वर्तमान में वैसा आचरण—व्यवहार—वर्तन करना यह आत्मधर्म है, आध्यात्मिक धर्म है, ऐसे धर्म का नाम रखा है “पंचाचार”। पाँचो आचार का सुव्यवस्थित पालन आचरण करना। जैसे फूलों को धागे से गूँथकर माला बनाई जाती है। धागा सबके बीच अनुगत रहता है। मणकों को धागे में पिरोकर माला बनाई जाती है। इन सभी मणकों में जैसे धागा अनुगत रहता है ठीक इसी तरह ज्ञान—दर्शन—चारित्र—तपादि पुष्प या मणकों रूपी गुणों की माला में वीर्याचार का धागा अनुगत रहता है। वीर्य आत्मा का एक ऐसा गुण है जो आत्मा को ज्ञानादि सभी गुणों की प्रवृत्ति में शक्ति प्रदान करता है, आत्मबल है। इसकी शक्ति के संचार से ज्ञानादि सब प्रदीप्त होते हैं। प्रकट रूप से प्रवृत्ति करते हैं।

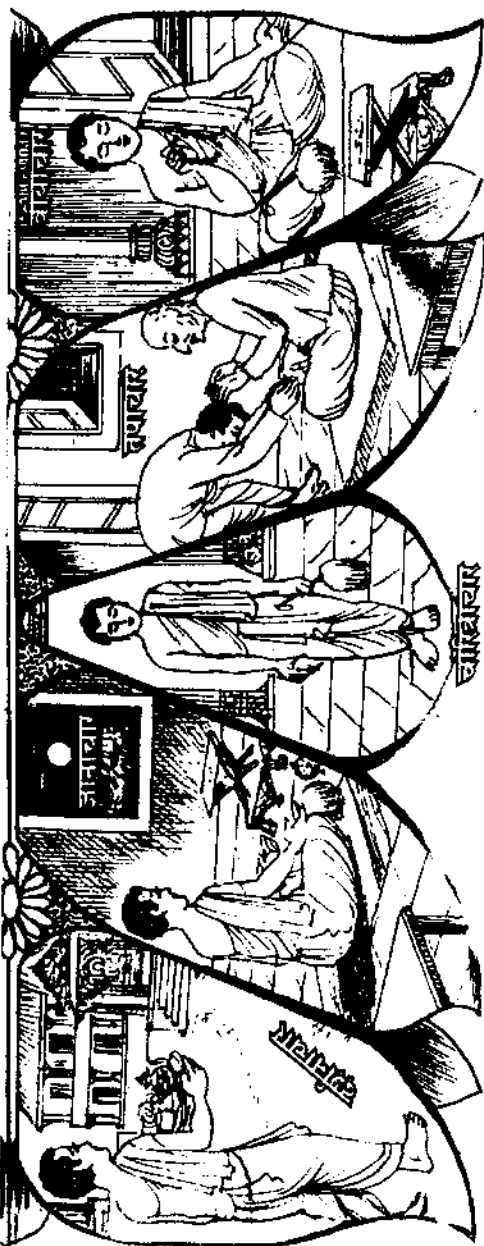
ज्ञान गुण से पदार्थों—तत्त्वों आदि को जानने का काम होता है। दर्शन गुण से आत्मा सभी पदार्थों को देखती है। दर्शन और ज्ञान के बीच अर्थात् जानने और देखने की क्रिया में पहले कौन और बाद में कौन का भेद निकालना बड़ा ही मुश्किल है। कई जीव जानने के पश्चात् देखते हैं तो कई जीव देखने के पश्चात् जानते हैं। पहले देखने की वृत्ति रहती है फिर जानने की वृत्ति रहती है। लेकिन कई जीवों में सीधे ही ज्ञान की प्रवृत्ति बढ़ने पर वे सीधे ही जानने का लक्ष रखते हैं। न भी देखे तो भी चलता है।

वैसे दर्शन भी ज्ञान की प्राथमिक भूमिका ही है। दर्शन का कार्य भी आत्मा तक ज्ञान पहुँचाना है, परन्तु वह देखकर या पाँचों इन्द्रियों के द्वार से पहुँचाता है। अतः दर्शन का ज्ञान सामान्याकार ज्ञान है, विशेष नहीं है। जबकि ज्ञान का कार्य विशेषाकार है। यह किसी भी पदार्थ का ज्ञान विशेषरूप में ग्रहण करता है। उदा. किसी वृक्ष को देखने मात्र से जो ज्ञान होगा वह सामान्य होगा—यह किसका वृक्ष है? कैसे पत्ते हैं? कैसे फल हैं? इत्यादि विशेषाकार का स्वरूप दर्शन में निर्णीत नहीं होता है। जबकि ज्ञान में विशेषाकार निर्णय होता है। इन्द्रियों द्वारा अन्य सामान्याकार दर्शन का कार्य सामान्य बोध करने का है। ज्ञान गुण से मतिपूर्वक विश्लेषण करना, चिन्ता—चिन्तनादि करके पदार्थों का स्वरूप विशेषरूप से जाना जाता है। इस तरह ज्ञान और दर्शन दोनों ही आत्मा तक ज्ञान पहुँचाने का ही काम करते हैं। ये गुण रूप हैं। अब इनका ही आचरण करना है। इसके लिए आचाररूप धर्म बनाया है।

पाँचो आचार की विविध प्रकार की प्रवृत्ति धर्म के विविध आचरणरूप में है।

१) ज्ञान गुण के अनुरूप आचरण को ज्ञानाचार कहा है। ज्ञानाचार के पालन के लिए की जाती मुख्य प्रवृत्तियों में १) व्याख्यान देना, सुनना, २) सूत्र-अर्थ पढ़ना-लिखना, सीखना, वाचना लेना, देना, स्वाध्याय करना, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परावर्तना, धर्मकथा रूप पाँचों प्रकार का स्वाध्याय करना। महामंत्र नवकार का जापादि करना, विनय-विवेक का पालन करते हुए ज्ञानी गीतार्थ गुरुजन, वडीलवर्ग सबके प्रति शिष्टाचार-सभ्य आचार का पालन करना आदि, ज्ञान के आदान-प्रदान-चिन्तन-मनन-श्रवणादि ज्ञानाचार के अनेक प्रकार हैं।

२) दर्शनाचार के क्षेत्र में-जिन-जिनेश्वर परमात्मा के दर्शन करना। प्रभुपूजा, जिनभक्ति आदि श्रेष्ठ कक्षा का दर्शनाचार है। गुरु दर्शन-वंदनादि दर्शनाचार की क्रिया है। तीर्थों की यात्रा करना, माला जापादि, स्तोत्रपाठ, स्तुति-स्तवनादि दर्शनाचार का धर्म है।



- ३) चारित्र्याचार विरति प्रधान होने से इसमें सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषधादि विरतिधर्म के आचरण की गणना होती है। यह व्रतविरति रूप धर्म है।
- ४) तपाचार के दो भेद हैं— १) बाह्य तप, और दूसरा आभ्यंतर तप है। इन दोनों में ६—६ प्रकार हैं। १) अनशन—उपवासादि रूप है। २) उणोदरी = कम खाना, ३) वृत्ति संक्षेप, ४) रस त्याग, ५) कायक्लेश, ६) संलीनता ये ६ प्रकार के बाह्य तप हैं।
- १) उपवास आयंबिल एकासणा—बिआसणा—नवकारशी, पोरिसी, साढपोरिसी—पुरिमट्ठ—अवड्ड तथा—चौविहार—तिविहार आदि सभी पच्चक्खवाणों की गणना बाह्य तप में होती है। ३) वृत्ति संक्षेप में इच्छाओं को सीमित—मर्यादित करनी होती है। कम संख्या में द्रव्य—वस्तुएं लेनी। ४) रस स्वादादि का त्याग करना आयंबिल जैसा अलूना आहार लेना। ५) विहारादि द्वारा काया को कष्ट देना, क्षुधादि सहन करके काया को कष्ट देना। ६) संलीनता—अंगोपांग को संकुचित कर रखना। तथा मन—वचन—काया को, एवं कषायों को भी संकुचित कर के रखना संलीनता है। इस तरह बाह्य तप के ६ प्रकारों को तपाचार कहा गया है।
- २) आभ्यंतर तप में १) प्रायश्चित्त, २) विनय, ३) वैयावच्च, ४) स्वाध्याय, ५) ध्यान और ६) कायोत्सर्ग ये सभी आभ्यंतर तपाचार हैं। १) अपने किये हुए पापों को धोने के लिए पश्चात्ताप की भावना से प्रायश्चित्त करना, गुरुदेव के पास आलोचना करके पूरी करना यह प्रायश्चित्त आभ्यंतर तपाचार है। २) देव—गुरु आदि का विनय करना—नम्रता के आचरण को आभ्यंतर तप कहा है। वैयावच्च बाल—ग्लानादि की सेवा—सुश्रुषा करनी। ४) वाचना—पृच्छनादि पाँच प्रकार से स्वाध्याय करना। ५) धर्मध्यान शुक्लध्यानादि की ध्यान साधना उत्कृष्ट आभ्यंतर तप है। तथा छट्ठा कायोत्सर्ग का भेद है। इस तरह तपाचार के आचरण में इन १२ प्रकार की तप साधना होनी चाहिए।
- ५) वीर्याचार = यह आत्मा की अखूट शक्ति के खजाने स्वरूप है। यह गुण माला में धागे की तरह अनुगत गुण है। जैसे व्यक्ति में जान रहती है, और मुडदे में जान नहीं रहती है। जान रहित मुडदा जैसे सर्वथा निष्क्रिय रहता है। कोई क्रिया नहीं कर सकता है। ठीक इसी तरह वीर्याचार गुण की शक्ति के संचार बिना ज्ञान दर्शन और

चारित्र—तपादि सभी जान रहित मुडदे के जैसे हो जाते हैं। बेजान स्थिति हो जाती है। ज्ञानादि के अंदर अप्रमत्त भाव, भाव विशुद्धि नहीं आती है। खमासमणे आदि में शुद्धि नहीं आती है। अतः शक्तिसंचार के लिए आत्मा के वीर्य गुण के आधार पर वीर्याचार के आचरण की आराधना करनी चाहिए।

इस तरह पंचाचार के पालन पूर्वक की साधना में विचरते हुए साधक, साधु महात्मा सिद्धि गति की प्राप्ति के साध्य को साधते हुए मोक्षमार्ग पर अग्रसर होते हैं। पाँचों आचार की पालना उनमें पूर्णरूप से होनी ही चाहिए।

### छठे गुणस्थान का नामकरण—

श्रद्धा चौथे गुणस्थान से प्राप्त कर जीव आगे बढ़ा। विरति धर्म का श्रीगणेश पाँचवे गुणस्थान से हुआ। अतः विरति के संस्कार श्रावक की कक्षा से ही प्रारंभ हो चुके हैं। हाँ, वहाँ विरति का प्रमाण अत्यन्त अल्प था। लेकिन छठे गुणस्थान पर आते आते अधूरी—अपूर्ण विरति पूर्ण बन गई। अर्थात् देश विरति सर्व विरति बन गई। आंशिक विरति सर्वांशिक विरति बन गई। स्थूल विरति थी वह छठे पर सूक्ष्म विरति बन गई। इस तरह विरति के क्षेत्र में विकास होता ही गया। छठे गुणस्थान पर साधु पूर्ण विरतिधर श्रेष्ठ कक्षा में पहुँच गया है। इसलिए आरम्भ समारंभ हिसादि जन्य सैकड़ों पापकर्मों से साधु बच गया है।

छठे गुणस्थानक का नाम प्रमत्त संयत गुणस्थान है। सर्वविरतिधर का गुणस्थान है। इसका ही प्रमत्त विरत गुणस्थान नामकरण भी किया है। इस छठे गुणस्थान के नाम के आगे “प्रमत्त” विशेषण लगाया है। शेष संयत या विरत शब्द तो सर्व विरति के ही सूचक हैं। अतः इन शब्दों के प्रयोग में कोई आपत्ति ही नहीं है। गुणस्थानक की पूर्ण स्थिति के सूचक नाम है। परन्तु ‘प्रमत्त’ विशेषण ने इस गुणस्थानवर्ती साधक साधु की प्रमादग्रस्तता को सूचित की है। प्रमाद यद्यपि विपरीताचरण नहीं भी कराता है फिर भी जो शुद्ध आचरण करना है उसमें न्यूनता रहती है।

सच देखा जाय तो प्रमाद साधना के क्षेत्र में प्रगति करनेवाले की गति मन्द कर देता है। साधक को कमजोर कर देता है। साधना के मोक्ष मार्ग में रोड़े डालकर साधक को अटकाना—रोकना यह प्रमाद का काम है। अतः प्रमाद बाधक है। मार्गरोधक है। ऐसे अवरोधक प्रमाद के आधीन बननेवाला साधक साधना में तीव्रता नहीं ला सकता है। जितनी साधना करनी हो उतनी कर भी नहीं सकता है अतः आगे निर्जरा का पूरा फल भी



नहीं पा सकता है। उदाहरणार्थ साधु उपवासादि तप भी करें परन्तु उसमें भी प्रमादादि के अधीन होकर निर्जरा का फल कम कर देता है। जैसे अप्रमत्त बनकर यदि उपवास किया जाय तो शत प्रतिशत पूरा फल पाता है और यदि प्रमादग्रस्त रहकर उपवास करे तो ५०% फल भी मुश्किल से पाए। इसलिए प्रमाद की उपस्थिति घातक है।

### साधु के लिए दो गुणस्थान—

१) छट्ठा प्रमत्तसाधु, २) सातवाँ अप्रमत्त साधु

जैसे श्रावक के लिए चौथा तथा पाँचवा ये दो गुणस्थान हैं। वैसे ही साधु के लिए छट्ठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान हैं। वैसे देखा जाय तो छट्ठे गुणस्थान पर साधु बनने के बाद १४ वे अन्तिम गुणस्थान तक सभी साधु के ही गुणस्थान हैं। इस तरह १४ में से ९ गुणस्थान साधु के हैं। सर्वत्र मूलभूत अवस्था साधु की ही रहती है। फिर भी व्यवहार चारित्र की प्रधानता के आधार पर छट्ठे और सातवें इन दो गुणस्थानों पर साधु की गणना विशेष रूप से की जाती है। यद्यपि ये दोनों गुणस्थान साधु के ही हैं, दोनों गुणस्थान पर साधु समान रूप से रहता है। फिर प्रमाद ने दोनों साधु की अवस्था में भेद किया। अतः छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधु को प्रमत्त—प्रमादि साधु कहा और सातवें गुणस्थानवर्ती साधु को एक कदम आगे—ऊपर चढ़ा हुआ अप्रमत्त—अप्रमादि साधु कहा। यही मुख्य भेद है दोनों के बीच में। अतः प्रमाद भेदक है। प्रमाद—कारणभूत है। प्रमादग्रस्तता दोष है। और प्रमाद रहितता गुण है। अप्रमत्त भाव में सदा जागृति—सावधानी पूरी रहती है। बस, वही जागृति और सावधानी छट्ठे गुणस्थान में प्रमाद के कारण नहीं रहती है। अतः यह प्रमाद क्या है? कैसा है? इसे भी पहले पहचानना अत्यन्त आवश्यक है।

### प्रमाद का स्वरूप—

व्यवहार की चालु भाषा में सामान्य आलस्य के अर्थ में ही प्रमाद समझा जाता है। यह प्रमाद का प्राथमिक सामान्य अर्थ है। परन्तु आगे आध्यात्मिक धारणा की कक्षा में प्रमाद को मात्र शारीरिक आलस्य न समझकर विशेष अर्थ में समझा गया है। शारीरिक आलस्य यह प्राथमिक सामान्य कक्षा का है। निद्रा—सोते रहने आदि की प्रवृत्ति भी प्रमाद ही है, परन्तु यह शारीरिक कक्षा का प्राथमिक प्रमाद मात्र है। जब इससे ऊपर उठकर मानसिक—आध्यात्मिक कक्षा के प्रमाद की मीमांसा की जाय तब वह मात्र आलस्य या निद्रा के रूपमें ही सिमित नहीं रहता है। आत्मिक कक्षा पर पहुँच जाता है। आत्मा के गुणों का विकास न करना प्रमाद है। आत्मा पर लगे कर्मों के गाढ़ आवरणों को दूर न

करना, दूर करने के लिए पुरुषार्थ न करना प्रमाद है। अर्थात् निर्जरा करने की शक्ति—समर्थता पूरी होते हुए भी न करना यह प्रमाद है।

याद रखिए... प्रमाद वही सेवन करता है जिसके पास शक्ति—सामर्थ्य—गुणादि पूरी तरह हैं। सबका खजाना है और फिर भी वह प्रमाद करता है यह मानसिक प्रमाद है। यदि वह चाहे तो अपने खजाने का पूरा उपयोग कर सकता है। जैसे एक अरबपती गर्भश्रीमंत व्यक्ति जिसके पास धन—संपत्ति आदि अपार हैं, अपरिमित है वह व्यापारादि में अप्रमत्त नहीं रह पाता है। ज्यादा सक्रिय नहीं रह पाता है... हाँ... होता है... देखेंगे... आराम से सोचेंगे... होगा... अरे अभी इतनी क्या जल्दी पड़ी है? जाएँगे... उठेंगे... इत्यादि वाचिक प्रमाद भाषा में सुनाई देता है। यह वाचिक प्रमाद की कक्षा है। वह मन के साथ जुड़ता है। मानसिक प्रमाद की कक्षा खड़ी करता है। मन शरीर के साथ जुड़ा है। अतः मन के जरिए प्रमाद शरीर पर उतरकर कायिक बन जाता है। परिणाम स्वरूप काया आलस्य से भारी बन जाती है। शेठ लेटा ही रहता है। पड़ा रहता है। स्फूर्ति नहीं आती है।

ठीक इसी तरह प्रमादग्रस्त साधु की भी यही और ऐसी ही स्थिति बनती है। साधु भी अपने पंचाचार आदि धर्म के नियमों को पूरी तरह जानता है, समझता है। उसे पूरा ख्याल है। सब कुछ कर भी सकता है। परन्तु प्रमाद उसे घेर लेता है और वह मृत—मुड़दे की तरह निष्क्रिय निर्वीर्य होकर आलसी बन जाता है। हाँ, अभी करूँगा, उठूँगा, जाऊँगा, देखूँगा ऐसा प्रमादी मानस बनाकर अपनी साधना में निष्क्रिय हो जाता है। अपना खुद का अहंकार भी हमें प्रमादि—आलसी बना देता है। वहाँ देरी आदि करना यह अभिमान के भाव से होता है। इस तरह अहंकार भाव का कषाय भी व्यक्ति के प्रमाद का कारण बन जाता है। जो आज के वर्तमान काल में फैशन जैसी बात बन रही है ऐसा देखने में आता है।

मानसिक प्रमाद विचारतंत्र में घूमता है। विचार ही ऐसे बन जाते हैं कि... हाँ... हाँ... होगा... देखूँगा, सोचूँगा, विचार होगा तो करूँगा। मन में आएगा तो आपको हाँ करूँगा। मुझे शायद कभी पसंद पड़ेगा तो ऐसा कभी करूँगा। इस तरह मानसिक प्रमाद के कारण ऐसे व्यक्ति का *Strong mind* नहीं बन पाता है। निर्णायक शक्ति उसके पास नहीं रहती है। *Will power* नहीं बन पाता है। उल्टा ऐसी व्यक्ति कभी कभी *Depression* में भी चली जाती है।

वाचिक भाषा के प्रमाद के भी कई प्रकार हैं। बोलने में भी उसके पास शब्दों की प्रचुरता नहीं रहती है। बोलने में जवाब देने में बहुत ही ज्यादा प्रमादि बनता रहता है। ऐसे लोग भी मानसिक तनावग्रस्त होते होते मनोरोग के शिकार बनते जाते हैं। भाषा शैथिल्यता का दोष बढ़ता जाता है। कायिक—शारीरिक शैथिल्य सबसे ज्यादा भयंकर कक्षा का होता है। मन शरीर से और शरीर मन से जुड़ा है। *Psychosomatic* स्थिति में दोनों एक दूसरे से संलग्न होने के कारण मन की असर शरीर पर पड़ती है। कभी भी कायिक प्रमाद अकेला नहीं होता है। यह मानसिक प्रमाद के कारण ही होता है। काया अपने आप ही वैसी प्रमादि नहीं रहती है। परन्तु मानसिक प्रमाद के कारण ही काया वैसी प्रमादग्रस्त बन जाती है।

आत्मा पर लगे अन्तराय कर्म के पाँचवे भेद वीर्यान्तराय कर्म के उदय के कारण जीव प्रथम मानसिक प्रमादि ज्यादा बनता है। फिर वही उसकी काया पर उतरकर काया को भी वैसी बना देता है। प्रमादि व्यक्ति की काया धीरे—धीरे स्थूल बनती जाती है। क्योंकि पड़े—पड़े लेटे—लेटे शरीर का पाचन तन्त्र बिगड़ जाता है। चरबी जमा होती जाती है। और धीरे धीरे शरीर और ज्यादा भारी—वजनदार बनता जाता है। फिर तो उठने बैठने आदि में भी काफी तकलीफ होने के कारण व्यक्ति मानसिक आलस्य को और बढ़ाता है। क्योंकि शरीर को वह किसी भी प्रकार की तकलीफ देना ही नहीं चाहता है। इसलिए काया और ज्यादा स्थूल बनती जाती है। ज्यादातर ऐसी स्थिति श्रीमंतों के घरों में देखी जाती है। ज्यादा श्रीमंताई भी इस दृष्टि से अभिशाप है। ऐसा शरीर किस काम का जो स्वयं के लिए ही काम न आए। और शरीर को अपने कामों को करने में सहायक न बना सके तो क्या फायदा? यह मानसिक—वाचिक—कायिक प्रमादियों की स्थिति है। अतः प्रमाद कितना खतरनाक है इसकी भयंकरता का स्वरूप ख्याल में आता है। अगर संसार के व्यवहार में प्रमाद के कारण ऐसी स्थिति हो जाती है। तो सोचिए! मोक्षमार्ग पर अग्रसर जो साधु साधक बना हुआ है उसकी प्रमाद के कारण कैसी स्थिति होती होगी? कल्पना करिए। यहाँ आध्यात्मिक विकास में बाधक—अवरोधक बननेवाले प्रमाद का विचार करें—

**साधक के लिए बाधक प्रमाद—**

मज्जं विसय कसाय, निदा विकहा य पंचहा भणिया।

एए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे ॥ ११ ॥

| प्रमाद |      |          |        |       |            |
|--------|------|----------|--------|-------|------------|
| १      | २    | ३        | ४      | ५     |            |
| मद     | विषय | कषाय     | निद्रा | विकथा |            |
| ८ +    | २३ + | ४ (१६) + | ५ +    | ४ +   | = ४४ या ५६ |

मद, विषय, कषाय, निद्रा, और विकथा ये ५ प्रकार के मुख्य प्रमाद हैं। इनके अवान्तर भेद—४ कषाय मूल गिनने पर ४४ भेद होते हैं और यदि अवान्तर १६ कषाय गिने तो ५६ प्रभेद होते हैं। कर्म के विभाजन की दृष्टि से देखने पर मद, विषय, कषाय और विकथा ये चारों मोहनीय कर्म के घर के हैं। और एक मात्र निद्रा यह दर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण है।

### १. मद—

वैसे मद कषायों के घर के अभिमान का ही रूपान्तर—प्रकारान्तर है। लेकिन ८ प्रकार के विषयों में विशेष रूप से अहंकार होता है। अतः ये मद कहे जाते हैं।

जाति-लाभ-कुलैश्वर्य-बल-रूप-तप-श्रुतैः।

कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥

| ८ मद    |     |        |         |    |     |    |         |
|---------|-----|--------|---------|----|-----|----|---------|
| १       | २   | ३      | ४       | ५  | ६   | ७  | ८       |
| जाति मद | लाभ | कुल मद | ऐश्वर्य | बल | रूप | तप | श्रुतमद |

(१) जातिमद— जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और श्रुत (ज्ञान) आदि आठ प्रकार से मुख्यरूप से मान-अभिमान किए जा सकते हैं। जिन निमित्त कारणों से मनुष्य मान-अभिमान कर सकता है वे संभाव्य ८ स्थान इस श्लोक में गिनाए गए हैं। (१) उच्च जाति को प्राप्त मनुष्य अपने से नीचेवाले—नीच जातिवाले को देखकर ईर्ष्या—अभिमान आदि करता है। (२) लाभ मद— धन संपत्ति—सत्ता—पद—प्रतिष्ठा—यश—कीर्ति का लाभ होना, मिलता ही रहना, बढ़ते ही रहना, इत्यादि प्रकार के लाभ से मनुष्यों के मन में मान-अभिमान बढ़ता ही जाता है। (३) ऐश्वर्यमद— पूर्व पुण्य उपार्जन के कारण आगामी काल में धन—धान्य—भोग—विलास, ऐश्वर्य की विपुल

साधन सामग्री प्राप्त हो विलासी—आरामी जीव बन जाय इस निमित्त में भी लोगों का अभिमान जगता है । (४) बल मद—शक्ति ताकत ज्यादा बढ़ने पर भी मनुष्य को इसका अभिमान चढ़ता है, अपनी शक्ति से वह दूसरे को डराता—दबाता है । इसमें भी शस्त्र—अस्त्रादि साधन—सामग्री की शक्ति को पाकर जीव मदिरा पिलाए गए शराबी, बन्दर की तरह कूदने लगता है । यह भी मान—अभिमान की स्थिति है । (५) रूप मद—देह सौन्दर्य शरीर का रूप—लावण्य—सौन्दर्य आदि पूर्वपुण्य के कारण अच्छा मनभावन मिला, तो दूसरे कुरुषों को देखकर अपने रूप का अभिमान बढ़ता है और वह उस बड़े हुए अभिमान के कारण अपने रूप का प्रदर्शन करने लगता है । अच्छा या खराब रूप—रंग यह जन्मांतरीय कर्मों की देन है । इसमें भी नश्वर—नाशवंत काया का रूप है, जो आज नहीं तो कल, एक दिन मिट्टी में मिलनेवाली है, आग में जलकर राख बननेवाली है । ऐसी मल—मूत्र की भरी हुई और एक चमड़ी की चद्दर से ढकी हुई इस काया के रूप—रंग का क्या अभिमान करना ? इससे पुनः पतन होता है । (६) कुल मद—उच्च नीच गोत्र—(कुल) में जन्म मिलने पर भी जीवों के मन में अभिमान आ जाता है । मृत्यु के बाद किस जाति कुल, वंश—खानदानी या गोत्र में जन्म मिलेगा, यह हमारे पूर्वोपार्जित गोत्र कर्म के आधीन है । जैसे कर्म बांधे होंगे वैसे कुल में जन्म मिलेगा । फिर भी उच्च गोत्र या कुल में जन्म मिलने पर जीव मान—अभिमान करे यह सर्वथा अनुचित है । (७) तप मद—पूर्वजन्मों की आराधित तप—त्याग की संस्कारधारा पर आधारित इस जन्म में भी तप—त्याग के संस्कार उदय में आ सकते हैं, और उनके कारण हम तप—त्यागादि न्यूनाधिक करने लगे, या दूसरों की अपेक्षा यदि हमारी तपश्चर्या—प्रमाण में ज्यादा भी होने लगे तो हमें उसका अभिमान नहीं करना चाहिए । अपने—अपने कर्म के कारण भिन्न—भिन्न प्रकार के जीवों को भिन्न—भिन्न प्रकार की काया मिलती है । किसीको सशक्त शरीर तो किसीको अशक्त शरीर, किसीको रोगी काया मिलती है तो किसीको निरोगी काया मिल सकती है, जिसके आधार पर कोई तप—त्याग ज्यादा कर सके तो कोई कम कर सके । परन्तु ऐसा देखकर तपस्वी को भी अपने तप निमित्त मान—अभिमान नहीं करना चाहिए । (८) श्रुत (ज्ञान) मद—जीव मात्र कर्माधीन है । जन्म—जन्मांतर में उपार्जित ज्ञान—अज्ञान की कर्म प्रकृति के कारण किसी जीव को श्रुत शास्त्रादि का ज्ञान ज्यादा मिलता है तो किसी जीव को अज्ञानादि का उदय ज्यादा रहता है । कोई मंदमति तो कोई तीव्रमति रहता है । ऐसे में ज्यादा ज्ञानवाले ज्ञानी जीव को भी कभी अभिमान नहीं करना चाहिए । यह ज्ञान भी अभिमान लाने में एक सहायक कारण बन सकता है । अतः इससे भी बचना लाभप्रद है ।

इस प्रकार संसार में मान-अभिमान के प्रमुख आठ निमित्त कारण हैं। इनके आधार पर, या इनकी विशेष प्राप्ति के कारण जीव अभिमान करने लग जाता है, परन्तु श्लोक की दूसरी पंक्ति में पू. कलिकालसर्वज्ञजी साफ-साफ शब्दों में कहते हैं कि— “कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः” ऐसे मद-मान-अभिमान करनेवाला जीव पुनः हीन दशा प्राप्त करता है। कर्मशास्त्र का यह प्रसिद्ध नियम है कि जीव जिस वस्तु का अभिमान करता है कालान्तर या जन्मान्तर में वही वस्तु उसे हीन-विपरीत मिलती है। अतः यह समझकर भी सर्वथा अभिमान से बचने का ही प्रयत्न करना हितावह है।

### २३ विषय—

| इन्द्रियनाम        | अंग   | विषय         | प्रकार                                |
|--------------------|-------|--------------|---------------------------------------|
| १. स्पर्शेन्द्रिय— | चमडी— | स्पर्श—      | ८ शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मृदु आदि |
| २. रसेन्द्रिय—     | जीभ—  | रस—          | ५ तीखा, खट्टा, मीठा, कड़वा, तूरा      |
| ३. घ्राणेन्द्रिय—  | नाक—  | गंध—         | २ सुगंध, दुर्गंध                      |
| ४. चक्षु इन्द्रिय— | आंख—  | रूप (वर्ण)   | ५ लाल, नीला, पीला, काला, सफेद         |
| ५. श्रवणेन्द्रिय—  | कान—  | ध्वनि (शब्द) | ३ सचित्त, अचित्त, मिश्र               |
| २३                 |       |              |                                       |

पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों में आसक्त होना यह आत्मभाव स्वभावमग्नता भूलने का बड़ा प्रमाद है। क्योंकि जीव जब जब इन पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों के आधीन होगा तब तब जीव विशेष रूप से कर्म उपार्जन करेगा। क्योंकि इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति जीव सुखैषणा के कारण ही करता है। जीव ने कर्मसंयोगवश ऐसा मान रखा है कि इन्द्रियों से ही सुख मिलता है। इसलिए संसारी जीव इन्द्रियों के गुलाम बनकर उनके आधीन बनकर विषयों में आसक्त होकर कर्म उपार्जन करता है। उपार्जित कर्म के उदय में आने पर भारी दुःखादि सहन करने पड़ते हैं। इस तरह पुनः संसार चक्र चलता ही रहता है। इन्द्रियां पाँचों जड हैं, शरीर सर्वथा जड है। अरे ! मन भी जड है। और पाँचों इन्द्रियों के २३ विषय—तथा उन विषयों के सभी पदार्थ जड पौद्गलिक हैं। इसलिए जड पुद्गल पदार्थ जो नाशवंत है उनसे शाश्वत सुख प्राप्त करने की इच्छा एक चेतन ज्ञानवान् आत्मा करे यह कहाँ तक उचित है? इसलिए स्वस्वरूप-आत्मभाव-स्वभावमग्नता छोड़कर—भूलकर पर जड पुद्गल पदार्थों के आधीन होना, उनमें सुख प्राप्ति की आशा रखना, ऐसी सुखैषणा को पूर्ण करने के लिए रात दिन प्रयत्न करना यह सब प्रमाद की ही

क्रिया है। आत्मा जितनी अप्रमत्त भाव से स्व स्वभाव में मस्त रहें उसमें जितना चिदानन्द—ज्ञानानन्द प्राप्त होता है उतना पुद्गल पदार्थ के आधीन होने पर कभी भी मिलनेवाला नहीं है। फिर भी मोहवश—अज्ञानवश जीव ने भ्रान्ति से वैसा मान लिया है और इसी कारण पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों की क्षणिकता—विनाशिता होते हुए भी सुख—बुद्धिसे उनमें आसक्त होकर सुखप्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। यही दुःखास्पद है। परन्तु सुख मिलना तो दूर रहा ऊपर से जीव एक—एक विषय के आधीन होकर दुःखी—दुःखी हो जाता है।

**एकैकविषयसंगाद् रागद्वेषातुरा विनष्टास्ते ।**

**किं पुनरनियमितात्मा जीवः पञ्चेन्द्रियवशार्तः ॥ ४७ ॥**

वाचक मुख्यजी स्वर्चित प्रशमरति ग्रन्थ में यहाँ तक कहते हैं कि पाँच इन्द्रिय के २३ विषयों में से एक—एक विषय में आसक्त बने हुए जीव हिरन—मछली—तीतली आदि नाश पाते हैं तो फिर जिसको पाँचों इन्द्रियाँ एक साथ मिली हैं और उन पाँचों के आधीन—आसक्त बनकर जीनेवाले मनुष्य की क्या हालत होगी ? इन्द्रियों के वश—अधीन होनेवाला अपना विनाश—पतन करता है।

**न हि सोऽस्तीन्द्रियविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतृषितानि ।**

**तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षाण्यनेकमार्गप्रलीनानि ॥ ४८ ॥**

क्या इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं ? इस विषय में कहते हैं कि कितने भी विषय भोगों को भोगने वाली इन्द्रियाँ कभी तृप्त नहीं होती हैं। क्या अग्नि कभी भी घी पीकर तृप्त—संतुष्ट होती है ? शान्त होती है ? नहीं। ठीक वैसे ही ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने सभी विषयों को अनन्त बार भी भोग ले, पा ले तो भी कभी भी तृप्त नहीं हो सकती। सदा ही सुखकारक विषयों के लिए तरसती रहेगी। उदा. कितने भी मनपसंद मीठे पदार्थों को खाकर जीभ तृप्त हो ही नहीं सकती है। वह जीभ सदा ही तरसती रहती है। ऐसी ही हालत सभी इन्द्रियों की है। अतः इन्द्रियों के आधीन बनना—गुलाम बनना और इन्द्रियों के विषयों में ही सुख पाने की धारणा रखना यह मोक्षार्थी जो आध्यात्मिक विकास की दिशा में गतिशील एवं सक्रिय है उसके लिए ऐसी इन्द्रियों की गुलामी और विषयासक्ति बाधक बनती है। पतनकारक बनती है। यह प्रमाद का विषय है—प्रकार है। और कर्मबंध का कारण है अतः सर्वथा वर्ज्य है।

### ३. कषाय—

| कषाय      |       |          |            |          |      |
|-----------|-------|----------|------------|----------|------|
| १<br>राग  |       |          | २<br>द्वेष |          | २    |
| माया<br>४ |       | लाभ<br>४ | क्रोध<br>४ | मान<br>४ | ४    |
| अन.       | अप्र. | प्र.     | संज्वलन    |          | = १६ |

माया-लोभ-कषायश्चेत्येतद्रागसंज्ञितं द्वन्द्वम् ।

क्रोधो-मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥

पाँच प्रकार के प्रमादों में तीसरा प्रमाद स्थान कषाय है। कष = संसार और आय अर्थात् लाभ अर्थात् जिससे सतत संसार की वृद्धि हो संसार बढ़ता ही रहे उसे कषाय कहते हैं। कषाय का मूल उद्गम स्थान है राग और द्वेष। इन राग-द्वेष के ही अवान्तर भेद के रूप में रागभाव से बने हुए माया और लोभ ये दो कषाय हैं। जबकि क्रोध और मान का समावेश द्वेष के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार के ये चार कषाय हैं।

काल मान—एवं प्रमाणादि की दृष्टि से ये क्रोधादि चार कषाय पुनः १६ प्रकार के हैं। १) अनन्तानुबंधि २) अप्रत्याख्यानीय, ३) प्रत्याख्यानीय, और ४) संज्वलन ये ४ प्रकार के हैं। क्रोधादि प्रत्येक चार—चार प्रकार के हैं। अतः  $४ \times ४ = १६$  अवान्तर प्रकार हैं। शास्त्रकार भगवंतों ने अवान्तर गुणाकार से १६ के ६४ प्रकारों की भी गणना की है।

स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है कि... स्व = आत्मा, भाव = गुण। स्व शब्द आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। आत्मा के जो ज्ञानादि गुण हैं उन भावों में मस्त रहना इसे ही स्वभाव कहते हैं। जैसे पानी का मूलभूत स्वभाव है—शीतल। शीतलता पानी में सदाकाल ही रहती है। उष्णता कृत्रिम है। बाहर से आती है। अग्नि के संयोग से उष्णता—गर्मी आती है लेकिन वह गर्मी कब तक? जब तक अग्नि का संयोग रहेगा तब तक। अग्नि का निमित्त दूर होते ही पानी धीरे धीरे शीतल—ठंडा होने लगता है। पुनः अपने मूलभूत शीतल स्वभाव में आ जाता है। ठीक इसी तरह चेतनात्मा अपने मूलभूत स्वभाव से नम्र, सरल, संतुष्ट, वीतराग, ज्ञानी, क्षमाशील, समता युक्त है। क्रोधादि आत्मा का स्वभाव नहीं है। ये तो विभाव है। वि = विकृत—विपरीतभाव को विभाव कहते हैं।



अपनी आत्मा के मूलभूत क्षमा, समतादि गुणों के स्वभाव के ठीक विपरीत भाव को विभाव कहा है। अर्थात् क्षमा—समतादि मूलभूत स्वभाव के विपरीत विभाव रूप में क्रोध—मानादि आए हुए हैं। ठीक आत्म गुणों के = क्षमादि के उल्टे ही क्रोधादि हैं। अतः इनको विपरीत भाव = विभाव कहा है। और वि को विकृति अर्थ में भी लें तो भी अर्थ, इस प्रकार बनता है। विकृत भाव = विभाव 'जैसे दूध' में नींबू का रस डालने से दूध फट जाता है। विकृति आ जाती है। ठीक उसी तरह आत्मा के क्षमा समतादि गुण रूप दूध में विकृति आने रूप क्रोधादि हैं।

शान्त सरोवर में जैसे ही एक कंकड़ कोई डाल दे... तो पूरे सरोवर के जल में खलबली मच जाती है। चारों तरफ का शान्त जल हिल जाता है। वमल पैदा होता है। वमल की लहरें गोलाकार स्थिति में... किनारे तक पहुँच जाती हैं। पानी की शान्ति—स्थिरता भंग हो जाती है। ठीक इसी तरह हमारे शान्त मनरूपी सरोवर में यदि किसीके क्रोध का एक शब्द भी आ जाता है तो, एक गाली कोई बोल देता है तो उसके एक शब्द से हमारे मन के विचारों में आन्दोलन शुरू हो जाता है। विचारों में बड़ा भारी तूफान आता है। मन की शान्ति खो जाती है। शान्ति भंग हो जाने के बाद कषायों की तीव्रता बढ़ती जाती है। लेश्या और ही बिगड़ती जाती है। आर्त—रौद्रध्यान के अध्यवसायों में और ज्यादा तीव्रता आ जाती है। परिणाम स्वरूप भारी कर्म बंध हो जाता है। इस तरह प्रमाद कर्मबंध का बड़ा भारी कारण बन जाता है। इसी कारण से कषाय प्रमादरूप है।

आत्मा को कर्म बंधाने में कषाय का सबसे बड़ा भाग है, हाथ है। कर्मबंध में भी ज्यादा तीव्रता लाने का काम कषायों का है। क्रोधादि कषायों में जैसे जैसे तीव्रता आती जाती है उसी तरह आत्मा के कर्मबंध में भी तीव्रता, अत्युत्कटता आती है। इतना ही नहीं रसबंध में तीव्रता भी कषायों के कारण आती है। अतः यह विभाव दशरूप कषाय आत्मभाव से = स्वभाव से सर्वथा विपरीत है, विकृत है।

जैसे उबला हुआ गरम पानी सदा काल ही गरम नहीं रहता है। आखिर १—२, ४ घण्टों के बाद ठंडा होता ही है। क्योंकि शीतलता ही पानी का मूलभूत स्वभाव है। गरमी अग्नि के संयोग से आती है ठीक उसी तरह आत्मा में कषाय बाहरी निमित्तों से, संयोगों से आता है। किसी ने हमको गाली दी तो हमें क्रोध आया, किसी ने हमारा अपमान किया तो हमें क्रोध आया। कहीं हमारी निर्धारित धारणा—इच्छा पूरी नहीं होने पर भी हमें कषाय आता है। हमारे क्रोधादि में वृद्धि होती है। परन्तु अग्नि का संयोग हटने से पानी धीरे—धीरे शान्त हो जाता है। लेकिन मनुष्य का स्वभाव बहुत विचित्र है। बाहरी निमित्त या कारण

के हटने पर भी उसके मन का संघर्ष नहीं टलता है। मन में मानसिक कषाय की धारा चलती ही रहती है। यदि क्षमायाचनादि करके हम पुनः अपने गुणों में लौट आए तो ही उन कषायों से बच सकते हैं। अतः अत्यन्त आवश्यक है कि हम पुनः पुनः आत्म निरीक्षण करते रहें। जाप—ध्यान—आत्म चिन्तन की सन्धि प्रदान करते हैं जिससे अपने कषायों की गलती का ख्याल आता है। और पश्चाताप आदि के भाव जगने की संभावना काफी बढ़ती है। जिससे बचने—सुधरने के निमित्त बढ़ते हैं। ऐसे कषाय का कर्मबंध कारक स्वरूप समझकर... प्रमाद रूप में इसे अच्छी तरह पहचानकर यथाशीघ्र इससे छुटकारा पाने का संकल्प करना चाहिए।

#### ४ निद्रा प्रमाद—

पाँच प्रमादों में चौथे क्रमांक पर निद्रा प्रमाद की गणना की गई है। निद्रा भी आत्मा के लिए एक प्रमाद ही है। प्रमाद को कर्मबंध का प्रबल हेतु कहा है। आत्मा अपने मूलभूत स्वभाव से न तो नींद लेने के स्वभाववाली है और न कोई उसे नींद आती ही है। नहीं। सम्भव ही नहीं है। परन्तु कर्मग्रस्त संसारी आत्मा की स्थिति कैसी होती है? आत्मा का स्वभाव स्वगुणों पर केन्द्रित है। और कर्म आत्मप्रदेशों पर लगकर आत्मा के मूलभूत गुणों को सर्वथा आच्छादित कर देता है। ढक देता है। गुण ढके की बाहरी व्यवहार कर्मजन्य सर्वथा विपरीत ही होता है। आत्मा का गुण ज्ञान का होता है तो कर्म उसे विपरीत करके व्यवहार में अज्ञानी—विपरीतज्ञानी—मिथ्यात्वी बना देता है। कर्म का काम ही है आत्मा के गुणों को सर्वथा उल्टा विपरीत ही करना। आत्मा को जैसे आहार भोजनादि की आवश्यकता नहीं है और न ही आत्मा को भूख—प्यास लगती है। लेकिन क्षुधा वेदनीय आदि कर्मों ने आत्मा को भोजन, खाने, पीने के पीछे ऐसा लट्टु कर दिया है कि अब उससे बचना असंभव लगता है।

इसी तरह चेतनात्मा को नींद लेना—सोने आदि की कोई आवश्यकता ही नहीं है। लेकिन दर्शनावरणीय कर्म ने आत्मा को निद्राधीन प्रमादि बना दी। अब सोते रहना, नींद लेना, तथा तन्द्रा वगैरे से ग्रस्त रहना आदि सिखा दिया। ज्ञानमय—ज्ञानपूर्ण ऐसी आत्मा को सोने की जब कोई आवश्यकता ही नहीं है तब निद्रा दर्शनावरणीय कर्म ने आत्मा को निद्राधीन कर दी। अब आलस्य प्रमाद में लेटे रहने में ही उसे मजा आती है।

जब जब यह चेतनात्मा इस तरह निद्राधीन होकर सोती ही रहेगी तब तब निश्चित रूप से नये कर्म उपार्जन करेगी। कर्मों की शृंखला चलती ही रहेगी। दूसरी तरफ आत्मा

निद्राधीन रहेगी। उस समय अपनी कर्म निर्जरा नहीं कर पाएगी। अतः उस प्रमाद ग्रस्तता के कारण आत्मा को निर्जरा न करने का भारी नुकसान होगा। निद्राधीन अवस्था में उपयोग शून्य होकर चेतना को रहना पड़ेगा।

कर्म शास्त्र में निद्रा भी पाँच प्रकार की दर्शायी है। १ निद्रा, २ निद्रा—निद्रा, ३ प्रचला, ४ प्रचला—प्रचला, ५ स्त्यानर्धि। इन पाँचों प्रकार की निद्राओं के अलग—अलग लक्षण बताए हैं। कर्मशास्त्र से जानने चाहिए। कई जीवों को निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का इतना भारी उदय होता है कि... वे बैठे बैठे ही नींद लेने लगते हैं। उदा. के लिए... व्याख्यान श्रवण करते हुए जब नींद आने लग जाय तो उस प्रमाद के कारण... आत्मा कितना किमती ज्ञानलाभ गवां देती है। उसे कितना नुकसान होता है। प्रवचन जो प्रकृष्ट वचन है। कितना ऊँची कक्षा का ज्ञान उसमें प्राप्त होता है। जिनेश्वर परमात्मा की तारक जिनवाणी का लाभ होता है। आगमिक तत्त्वों की जानकारी प्राप्त होती है। सीधे ही हमारी आत्मा को मन को स्पर्श करती है क्योंकि संबोधन ही सीधा हमारी चेतना को होता है। इससे हमारी चेतना जागृत हो सकती है। ऐसी सुवर्ण सन्धि हम निद्रा—तन्द्रा के प्रमाद में गवां देते हैं।

इस नींद के प्रमाद के कारण हमने स्वयं ने ही हमारी आत्मा को ज्ञानलाभ का अन्तराय (विघ्न) खड़ा किया। इससे लाभान्तराय कर्म उपार्जन हुआ। ज्ञान की प्राप्ति के विषय में ज्ञान से वंचित रहे। अतः ज्ञानावरणीय कर्म का भी बंध पड़ा। दर्शनावरणीय कर्म तो उदय में है ही... और पुनः नई शृंखला चली। पुनः कर्मपरंपरा बढ़ती ही गई। इस तरह निद्रा के प्रमाद ने अनेक कर्मों की जाल में आत्मा को फसाई। ऐसी निद्रा के प्रमाद को समझकर ही छोड़ना चाहिए। निद्रा प्रमाद से बचने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए।

### भ. महावीर की अप्रमत्तभाव की साधना—

प्रमादग्रस्तता का यह छट्टा गुणस्थान साधु का है। छट्टे गुणस्थान पर साधु प्रमत्त = प्रमादि है। अतः प्रमादावस्था में दोष ज्यादा लगने की संभावना रहती है। प्रमाद भी कर्मोदयजन्य है। अतः कारणभूत को जड़मूल में से उखाड़कर फेंकने के लिए... प्रबल पुरुषार्थ करना ही चाहिए। भगवान महावीर प्रभु ने ३० वर्ष के भर यौवनकाल में महाभिनिष्क्रमण किया... संसार का त्याग करके दीक्षा ग्रहण की। आगार से आणगार बनें। तब वे भी पहले छट्टे गुणस्थान पर ही आरूढ़ हुए। प्रमत्त साधु ही बने, लेकिन छट्टे गुणस्थान पर रहकर उन्होंने अप्रमत्त भाव लाकर सातवें गुणस्थान पर ही ज्यादा से ज्यादा रहने का समय निकाला। अप्रमत्त बनने के लिए उन्होंने घोर तपश्चर्या करने का मार्ग

अपनाया । १२ ॥ वर्ष में उग्र तपश्चर्या की । १ वर्ष के ३६० दिन के हिसाब से १२ ॥ वर्ष के कुल ४५०० दिन होते हैं । इतने दिनों में श्री वीर प्रभु ने १८० उपवास एक बार किया । अर्थात् छमासी तप और वह भी चारों आहार के त्यागपूर्वक चौविहारे उपवास के साथ किये । पानी तक सर्वथा नहीं पिया । फिर दूसरी बार... १७५ उपवास किये... वे भी चौविहारे उपवास किये । एकमासी, दो मासी, तीन मासी, और चार मासी आदि उपवासों की तपश्चर्या भी काफी ज्यादा की । भगवान ने छट्ट— दो उपवास से कम तो तपश्चर्या की ही नहीं । और किसी भी उपवास में पानी तक नहीं लिया । इस तरह १२ ॥ वर्ष के ४५०० दिन के साधना काल में भगवान ने ४१५१ दिन तो उपवास ही उपवास किये । ये सुनकर अवकल काम न करें... हम सोच भी न पाएं इतनी प्रबल तपश्चर्या की । सचमुच यह हमारी बुद्धि के परे की बात है । ४५०० दिन में से... ४१५१ उपवास के दिन घटा देने से सिर्फ ३४९ दिन ही शेष रहते हैं । इतने ३४९ दिन प्रभु के पारणे के दिन हैं । इतने दिन ही प्रभु ने आहार—पानी लिया और शेष सभी दिन उपवास में बिताए । सोचिए, कितनी उत्कृष्ट कक्षा की उग्र तपश्चर्या थी ?

उपवास करके अशक्त होकर हम तो घर जा कर सो भी जाते हैं । अशक्तता शरीर को निष्क्रिय—निस्तेज बना देती है । जबकि भू महावीर ने तो इतनी अप्रमत्त भावना से साधना की कि... उन्होंने १२ ॥ वर्षों में नींद तक न ली । मात्र २ घड़ी ४८ मिनट ही सिर्फ नींद ली ! शायद आप कहेंगे कि वे तो भगवान थे । अरे ! इतना तो सोचिए कि भगवान थे, का मतलब यह तो नहीं होता है कि लोखंडी शरीर था । नहीं ! हमारे जैसे मनुष्य ही थे । मनुष्य तो औदारिक शरीरधारी होते हैं । वैसे प्रभु भी माता पिता से जन्म लिये हुए औदारिक देहधारी ही थे । आश्चर्य तो और ज्यादा इस बात का होगा कि ४५०० दिन तक भगवान जमीन पर पालखी लगाकर बैठे तक नहीं । चौबीसों घण्टे अप्रमत्तभाव में खड़े ही रहते थे । ज्यादातर कायोत्सर्ग मुद्रा में रहकर आत्मध्यान की धारा में विहरते ही रहते थे । यह हमारी बुद्धि से सोचने पर संभव ही न लगे, परन्तु महावीर के जीवन की आश्चर्यकारक घटनाओं में है । जब प्रभु को नींद ही नहीं लेनी है, तो फिर जमीन पर सोने का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है । जगत का सबसे बड़ा आश्चर्य यह कहलाता है । शायद इससे बड़ा या इसके जैसा आश्चर्य संसार में वापिस बनेगा कि नहीं यह भी एक आश्चर्य है ।

केवलज्ञान के दिन वैशाख शुद्धि १० को प्रभु सन्ध्या के समय वीरासन में पैरों को उत्कट रखकर बैठे और ध्यान साधना की । अन्त में केवलज्ञान—केवलदर्शनादि सब प्रभु

ने पाया। केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद तो आयुष्य भर प्रभु को नींद लेने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। क्योंकि नींद का कारणभूत जो दर्शनावरणीय कर्म था वह सर्वथा क्षय ही हो चुका है। अतः कर्म के अभाव में कर्मजन्य दोषों का भी सर्वथा अभाव ही रहेगा।

इस तरह परमात्मा की अभूतपूर्व साधना ने अप्रमत्तभाव में प्रतिक्षण काफी अच्छी वृद्धि की। एक तरफ तपश्चर्या की उप्रता, दूसरी तरफ बिना नींद के अप्रमत्त रहने का योग, तीसरी तरफ जमीन पर बैठना तक नहीं, सोना तक नहीं इतनी उत्कृष्ट कक्षा की अप्रमत्तता, चौथी तरफ सतत कायोत्सर्ग मुद्रा में ही स्थिर रहना, पाँचवी तरफ एकाकी विहार करते रहना, छठी तरफ सतत ध्यान की धारा में ऊपर ही ऊपर चढ़ते रहना, सातवीं तरफ सभी परिषहों को हसते हुए सहन करना, आठवी तरफ मरणान्त उपसर्ग जो जो हो रहे थे, किये जा रहे थे उन सब का प्रतिकार न करते हुए अपने शुभ अध्यवसायों में तल्लीन रहना इतनी सब आश्चर्य कारक अवस्थाएं इकट्ठी होने पर परमात्मा बनने की प्रक्रिया से प्रभु महावीर काफी आगे बढ़े। और वैशाख शुदि १० के दिन शुक्ल ध्यान की धारा में चढ़कर श्री वीर प्रभु ने चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान—केवलदर्शन वीतरागतादि गुणों को प्राप्त किया। ऐसी थी परमात्मा वीर प्रभु की अप्रमत्तता।

### १ प्रमादस्थान—विकथा—

मनुष्य समनस्क मन युक्त प्राणी है। अतः विचार शक्तिसहित है। विचारक को वाचा का उपयोग करके भाषा के माध्यम से अपने विचार दूसरों के सामने रखने का मन सदा ही बना रहता है। ज्यादा बोलने से व्यक्ति वाचाल बन जाता है। बोलना गलत नहीं है। परन्तु अनुपयोगी निरर्थक और वह भी ज्यादा प्रमाण में बोलते रहना बहुत ही गलत है। स्व और पर दोनों के लिए अहितकर है। ऐसे बोलनेवाले व्यक्तियों के लिए चार विषय बहुत बड़े हैं १) स्त्री कथा, २) भक्त कथा ३) देश कथा, ४) और राजकथा। कथा का अर्थ कथन करना—बोलना। ये चार प्रकार की विकथाएं बताई गई हैं। वि कथा कहने का तात्पर्य यह है कि विपरीत कथा = विकथा, या विकृतिकारक कथा = विकथा। जो आत्मा के लिए सर्वथा विपरीत है। कर्मक्षय करानेवाली नहीं परन्तु कर्मबंध करानेवाली होने के कारण विपरीत है। या हमारी आत्मा में गुणों की वृद्धि न करती हुई विकृति करनेवाली है। इसलिए विकथा है। विकथा के चारों विषय मोहनीय कर्म के विषय हैं। मोह—माया—विषय—कषाय की वृद्धि करनेवाले विषय हैं। याद रखिए, जो जो

विषय—कषाय मिथ्यात्व की वृद्धि करनेवाले विषय हो वे सभी मोहनीय कर्म के ही विषय होते हैं। उन विषयों को लेकर यदि आत्मा अपनी ज्ञान शक्ति उसमें खर्चती है तो निश्चित पुनः मोहनीय कर्मादि कर्मों का बंध होता ही जाएगा। पुनः उनके उदय से वैसी प्रवृत्ति चलती रहेगी।

१) स्त्री कथा— स्त्री संबंधी सभी मोहनीय के विषयों की बढा—चढाकर बातें करते रहना। स्त्री के रूप—रंग—सौंदर्य की बातें, शृंगार की शृंगारिक बातें, हास्यादि पूर्वक हैसी—मजाक करने की वृत्ति, वासना—कामेच्छा के कारण करने की बातें। कटाक्षादि के विषय, स्त्री विषय मोहक वर्णन करते रहना, गप्पे लगाते हुए बैठे रहना, कामकला की बातें करते रहना इत्यादि मोहवश स्त्री विषय की सभी बातें स्त्री कथा कहलाती हैं। जो कर्मबंधकारक है।

२) भक्तकथा— यहाँ संस्कृत का भक्त शब्द भोजन अर्थ में प्रयुक्त है। भोजन भी मोहनीय कर्म का विषय है। मोह ममत्व में प्रिय—अप्रिय पसंद—नापसंद के सैकड़ों पदार्थ रहते हैं। किसको क्या प्रिय है? यह सब अलग—अलग विषय है। कई लोग इकट्ठे होकर बैठते हैं और उस विषय में कल्पना के घोड़े दौड़ाते हुए विचारों को करने में मस्त रहते हैं। आज क्या खाएँगे? कल क्या खाएँगे? होंगकॉग—सिंगापुर जाएँगे तब वहाँ क्या खाएँगे? वहाँ से खाने को क्या लाएँगे? इत्यादि विषयों की चर्चा चलती रहती है। खाने के भोज्य पदार्थ मिष्ठान्न, नमकीन आदि सैकड़ों किसम के पदार्थ हैं। फिर भी व्यक्ति उन पदार्थों में से कितने खाकर पेट भरेगा? लेकिन जीभ के रसविषयक पदार्थों की तीव्र इच्छा बढती ही रहती है। कई लोग खाने—पीने के विषय में स्पर्शा रखते हैं। फिर उसमें समय व्यतीत करते हैं। आत्मिक दृष्टि से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता है, निर्जरा भी नहीं, संवर भी नहीं। अतः यह भोजन संबंधी विकथा करके निरर्थक पाप कर्म उपार्जन करने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं बचता है।

३) देश कथा— देश विदेश—क्षेत्र—नगर, गांवों की, घूमने फिरने के क्षेत्र की बातें करने में निरर्थक समय व्यतीत करते रहने से पुनः कर्मबंध होता ही रहता है। कई बार लोग मिलकर बैठ जाते हैं और ज़मकर देश—विदेश की बातें करते रहते हैं। कभी अमरिका की बातें की, तो कभी जापान के शहरों की बातें की। वहाँ हॉटल—थियेटर ऐसे हैं, वैसे हैं, इत्यादि विषयों में बातें करते समय बिता दिया। परन्तु आखिर लाभ—फायदा कुछ भी नहीं हुआ। इस तरह देशकथा भी प्रमादाचरण है।

४ राज कथा—*Politics* राज्य तंत्र, राजा, मंत्री वर्ग, अधिकारी, अफसर, कर्मचारी वर्ग आदि राजकथा के विषय हैं। चुनाव होना, चुनाव में विजयी होना, आदि हार जीत के विषयों को लेकर गप्पे लगाते रहते हैं। समय व्यतीत करते रहते हैं। आज के वर्तमान काल में जबकि राजतंत्र सर्वथा भ्रष्ट हो चुका है, राजनीति—राजकारण सर्वथा निम्नस्तर पर नीचे उतर रहा है ऐसी स्थिति में इसकी चर्चा विचारणा करते रहना यह कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होगा? जबकि अच्छे ऊँची कक्षा के सज्जन लोग राजकारण में पैर रखने के लिए भी तैयार नहीं हैं ऐसे गुंडाशाही राजतंत्र के सैकड़ों विषयों की कितनी भी चर्चा की जाय तो भी अपनी आत्मा को क्या लाभ? आध्यात्मिक दृष्टि से ये विषय हमारे लिए कोष कषाय कारक ही सिद्ध होंगे। और कर्म बंधाने के सिवाय किसी लाभ के नहीं होंगे? अतः इसे प्रमादाचरण कहा है।

उपरोक्त चार विकथा के पाँचों प्रमाद के भेद में भी काफी ज्यादा समय व्यतीत करके जीव निरर्थक कर्म उपार्जन कर रहे हैं। इसी तरह पाँचों प्रकार के प्रमाद १) मद २) विषय, ३) कषाय, ४) निद्रा और ५) विकथा आत्मा के लिए रती भर भी लाभदायी नहीं सिद्ध होते हैं। ये कर्मबंध कारक ही हैं। अतः मोक्षार्थी—मुमुक्षु के लिए सर्वथा व्यर्थ है। ऊपर से अधःपतन करानेवाले हैं। उसमें भी छठे गुणस्थान पर आरूढ़ हुए ऐसे विरक्त साधु—सन्त महात्मा के लिए प्रमाद के सभी विषय निरर्थक हैं। नुकसान कारक हैं। अतः ये सर्वथा वर्ज्य हैं। ऐसे प्रमाद के विषयों में साधु जितना डूबा हुआ रहेगा उतना ही वह प्रमादि—प्रमत्त कहलाएगा। यद्यपि छठ्ठा गुणस्थानक प्रमाद का ही घर है। फिर भी प्रमाद से बचकर आगे बढ़ना बहुत जरूरी है।

**प्रमाद एक बंधहेतु—**

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥

तत्त्वार्थ ८/१

उमास्वाति वाचकमुख्यजी ने तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबंध के ५ हेतु बताए हैं। १) मिथ्यात्व, २) अविरति, ३) प्रमाद, ४) कषाय ५) योग। इन पाँच प्रकार के कर्मबंध के हेतुओं से कर्म का बंध होता है। १) मिथ्यात्व देव—गुरु—धर्म—तत्त्व से सर्वथा विमुख करके विपरीत विचारणा कराके कर्मबंध का हेतु बनता है। २) पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों में आसक्त रहकर षट्काय के जीवों की रक्षा रूप विरति न धारणकर अविरतिधर बनने से भी भारी कर्मबंध होता है। अतः यह अविरति भी कर्मबंध का कारण बनती है। ३) प्रमाद— १) मद, २) विषय, ३) कषाय, ४) निद्रा, ५) विकथारूप पाँचों प्रकार का प्रमाद

और उसकी प्रवृत्ति आत्मा को भारी कर्म बंधाने में कारणरूप बनती है । ४) कषाय राग द्वेष क्रोध मान माया और लोभरूप सभी कषाय आत्मा को भारी कर्म बंधाने में कारण रूप ही बनते हैं । अन्य सभी पाप प्रवृत्ति आदि में कषाय मुख्य अनुगत कारणरूप है । और अन्त में— ५) योग मन—वचन—काया के अशुभ—शुभ योग आत्मा को कर्म का बन्ध कराने में हेतु हैं । हाँ, अशुभ योग अशुभ पाप

कर्म बंधाएगा, जबकि शुभयोग शुभ पुण्यकर्म बंधाएगा । लेकिन कर्म बंध में कारण बनता है । इस तरह पाँचों प्रकार के बंध हेतुभूत ये मिथ्यात्वादि जो सतत हमारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं ये भारी कर्म बंधाकर आत्मा को कर्मग्रस्त — कर्म की जंजीर में बांधकर जकड़कर रखता है । उन सब की प्रवृत्तियाँ भी सतत चलती रहती हैं । इसके कारण आत्मा पुनः इनमें फँसकर रहती है । पुनः कर्म का बंध, पुनः बंधे हुए कर्म का उदय, पुनः उदय में दुःख की स्थिति, पुनः दुःख के उदय में वैसी पाप की प्रवृत्ति करना, पुनः कर्म बांधना, पुनः कर्म का उदय होता रहे । इस तरह कर्म संयोग का यह विषयक्र सतत चलता ही रहता है । कहीं भी छुटकारा होने की संभावना नहीं दिखती है । ये पाँचों बंध हेतु आत्मा के लिए क्या नुकसान करते हैं ? कैसा नुकसान करते हैं यह भी देखना जरूरी है ।

**मिथ्यात्वादि बंध हेतुओं से आत्मगुणों का नुकसान—**

**बंध हेतु**

**आत्म गुणघात—**

१) मिथ्यात्व

सम्यक्त्व गुण को रोकता है ।

२) अविरति

विरति—व्रत—पच्चक्खाण रोकता है ।

३) प्रमाद

अप्रमत्तभाव को रोकता है ।

४) कषाय

वीतराग भाव को रोकता है ।

५) योग

अयोगी अवस्था को रोकता है ।





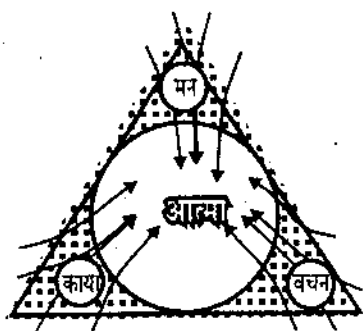
इस तरह पाँचों कर्मबंध के हेतु आत्मा के तथाप्रकार के गुणों पर आक्रमण करते हैं। गुणों का घात करते हैं। गुणों को दबा देते हैं। आच्छादित करके ढक देते हैं। आत्मा का मूलभूत गुण सम्यक्त्व है। सम्यग् दर्शन—यथार्थ सत्य स्वरूप को धारण करनेवाली है आत्मा। लेकिन मोहनीय कर्म के बंध—उदय से मिथ्यात्व की प्रवृत्ति से कर्मण वर्गणा के पुद्गल—परमाणु ग्रहण करके आत्मा

भारी कर्म उपार्जन करती है और परिणाम स्वरूप आत्मा के सम्यक्त्व गुण को ढककर मिथ्यात्व की प्राधान्यतावाली बना देती है। बस, अब मिथ्यात्व के कारण वैसी विपरीत प्रवृत्ति ही होगी।

२) आत्मा का गुण है विरति। विरति के स्वभाव के कारण षट्जीवनिकाय की विराधनारूप आरंभ—समारंभ की प्रवृत्ति करने का कोई कारण ही नहीं खड़ा होता है। लेकिन मोहनीय कर्म—के बंध और उदय से... जीव वैसी अविरति की पाप प्रवृत्ति करके पुनः कर्म उपार्जन करके अपने विरति के गुण को ढक देता है।

३) अप्रमत्तभाव सदा आत्मा का गुण है। आत्मा का अपने ज्ञानादि गुण में सदा मस्त रहना, तल्लीन रहना, स्वभाव रमणता में लीन रहना यह अप्रमत्तभाव है। ऐसा अप्रमत्त भाव का गुण प्रकट होने पर आत्मा अद्भुत कर्मनिर्जरा करती है। लेकिन प्रमाद का बंध हेतु अनेक प्रकार से प्रमाद की प्रवृत्ति कराके जीव को कर्म से बांधती है। अतः प्रमाद बाहरी पापकारक है।

४) वीतरागभाव सर्वथा निष्कषायभाव यह आत्मा का अनोखा गुण है। आत्मा स्वस्वभाव में तो वीतरागी ही होनी चाहिए। परन्तु क्या हो? संसार के व्यवहार में देहधारी यह जीव.. अनेक प्रकार से क्रोधादि कषायों को करके भारी कर्म बांधता है। अब कषाय के आधीन होकर जीव प्रतिदिन कषायों की प्रवृत्ति करके भारी कर्म उपार्जन करता रहता है। परिणाम स्वरूप कर्म बांधकर अपने वीतराग भाव को भी सर्वथा खत्म कर देता है। और संसार के व्यवहार में जीव कषायी कहलाता है। क्रोधी, मानी, मायावी—लोभी इत्यादि के रूप में जीव की प्रसिद्धि होती है।



५) अयोगी— सचमुच देखा जाय तो स्वतंत्र चेतनात्मा शुद्ध अयोगी है। योग रहित अयोगी स्वरूप। १) मन २) वचन और ३) काया ये तीन योग हैं। १) मनोयोग से सोचने विचारने की क्रिया होती है। २) वचन योग से बोलने आदि का भाषा का व्यवहार होता है। ३) काययोग से—चलने—उठने—बैठने—खाने—पीने—आदि की सभी क्रियाएँ होती हैं। इन तीनों योगों के बीच आत्मा फँसी हुई है। तीनों ही योग

कर्मजन्य हैं। आत्मा इन तीनों योगों के आधीन होकर ही सोचने—विचारने—बोलने—तथा व्यवहार करने की प्रवृत्ति कर सकती है। अन्यथा संभव नहीं है। विचार, वाणी—और वर्तन ये तीनों प्रवृत्तियाँ मन—वचन—काया के तीनों योगों के आधीन हैं। अतः इनके जरिए ही होती है। अतः जब तक ये तीनों योग हैं, प्रवृत्तिशील हैं तब तक आत्मा संसार में योगी कहलाएगी और जिस दिन तीनों योगों का निरोध हो जाएगा उस दिन आत्मा अयोगी होगी। अयोगी—अर्थात् योगरहित होने के बाद आत्मा सिद्ध हो जाती है। ऐसी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा को कोई मन—वचन—काया की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः उसके लिए सोचने विचारने आदि किसीकी आवश्यकता ही नहीं रहती है। चूँकि वहाँ केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की पूर्णावस्था है। अतः सवाल ही नहीं खड़ा होता है।

इस तरह १) सम्यक्त्व २) विरति ३) अप्रमत्त ४) वीतरागता और ५) अयोगी आदि सभी गुणों के घातक के रूप में पाँचों प्रकार के कर्मबंध के हेतु १) मिथ्यात्व, २) अविरति, ३) प्रमाद, ४) कषाय और ५) योग हैं।

**गुणस्थानघातक बंध हेतु—**

आध्यात्मिक विकास के १४ गुणस्थानक हैं। क्रमशः इन गुणस्थानों पर चढ़ती हुई आत्मा अपना विकास साधती हुई अग्रसर होती है। आगे बढ़ती है। परन्तु मिथ्यात्वादि पाँचों कर्मबंध के हेतु गुणस्थानों पर अवरोधक बनकर बैठ जाते हैं। जीव को आगे बढ़ने से रोकते हैं। पहला बंध हेतु—मिथ्यात्व पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर ही रोक लेता है। मिथ्यात्व आत्मा को आगे बढ़कर चौथे गुणस्थान पर जाने चढ़ने ही नहीं देता है। चौथे गुणस्थान पर जाय तो सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय। सम्यक्त्व का चौथा गुणस्थान है। परन्तु

गाढ मिथ्यात्व आत्मा को आगे बढ़ाकर चौथे पर जाने ही न दे तो क्या करना ? मार्ग में अवरोधक है ।

इसी तरह व्रत विरति पाँचवे गुणस्थान से शुरू होती है । पाँचवा श्रावक का देशविरति का गुणस्थान है यहाँ की विरति स्थूल है । और छठे गुणस्थान पर साधु की अवस्था प्राप्त होती है । अतः सर्वविरति का छठ्ठा गुणस्थान है परन्तु अविरति का बंध हेतु एवं अविरति की आरंभ—समारंभ की प्रवृत्तियाँ चेतन को आगे बढ़ने ही न दे, पाँचवे, छठे गुणस्थान तक पहुँचने ही न दे । तो जीव आगे विकास कैसे करें ? अविरति पहले से चौथे गुणस्थान तक प्रधान रूप से रहती है । यही अविरति का क्षेत्र है । हाँ, इतना जरूर कि मिथ्यात्व के गुणस्थान पर अविरति के प्रमाण की अपेक्षा चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर अविरति का प्रमाण काफी कम जरूर रहेगा । फिर भी रहता जरूर है । यह अविरति भी आत्मा के विकास को रोकती हुई आगे नहीं बढ़ने देती है ।

३) प्रमाद के बंध हेतु की सत्ता एक से लगाकर छठे गुणस्थान तक है । अतः प्रमाद छठे गुणस्थानक से आगे बढ़ने नहीं देगा । आगे सातवें गुणस्थानक से सभी गुणस्थान अप्रमत्तभाव के हैं । इसलिए प्रमादग्रस्त जीव तो आगे के गुणस्थानों पर जा ही नहीं सकता है । वहाँ प्रमाद के कारण टिक ही नहीं सकता है । इसलिए वह छठे गुणस्थान तक जाकर रुक जाता है । इस तरह प्रमाद अप्रमत्त भाव का नाहक अवरोधक है । आगे बढ़ने में विकास साधने में बाधक है । प्रमाद फिर वापिस पीछे गिराता है । अधःपतन करता है ।

४) कषाय १ से लेकर १० गुणस्थान तक सत्ता में रहता है । इसलिए इसके १० घर हो गए । ७ वें गुणस्थान से अप्रमत्त बनकर भी जो आगे बड़े उनको कषाय ने अपनी चुंगल में फसा दिया । क्रोध—मान—माया—लोभ इन चारों कषायों की अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन चारों कक्षा ने मिलकर १६ भेद बनाए । और परस्पर एक दूसरे के साथ गुणाकार करने पर ६४ भेद बनाता है । ऐसे कषाय मिथ्यात्व के गुणस्थान पर तीव्रतम कक्षा के होते हैं । लेकिन जैसे जैसे आत्मा गुणस्थानों पर आगे बढ़ती जाती है कषायों की मात्रा घटती जरूर जाती है । कम होते होते आत्मा को और आगे बढ़ाने में मदद करते हैं । दसवां गुणस्थान सूक्ष्म संपराय लोभ का है । कषाय के अन्तिम स्वरूप लोभ का अन्तिम अस्तित्व १० वे गुणस्थान तक रहता है । उपशम श्रेणीवाले जीव को तो ११ वे गुणस्थान पर भी कषायों की थप्पड़ खानी पड़ती है और वहाँ से गिरकर नीचे पतन के गर्त में जाना पड़ता है । १२ वाँ क्षीणमोह गुणस्थान सर्वथा क्षपक श्रेणि का है । अतः संपूर्ण रूप से कर्मों का क्षय करके ही जीव १२ वे पर आया

है। अतः उसकी सत्ता में एक भी कषाय नहीं है। सर्वथा जडमूल से मोहनीय कर्म—कषायों का सफाया कर दिया है। अब अंश मात्र भी अवशिष्ट नहीं है। अतः अन्त में वीतरागता का गुण प्रकट हो जाता है। परन्तु वीतरागता के पहले तक अर्थात् १० वें — ११ वें गुणस्थान तक कषायों का कार्यक्षेत्र रहता है। इतने प्रबल कषाय आत्मा को यहाँ तक अर्थात् मुक्ति के किनारे तक लाकर रख देंगे। लेकिन वीतरागता का स्वाद चखने नहीं देंगे। इस तरह कषाय मुक्ति के मार्ग में अवरोधक — बाधक है।

५) योग— कर्मशास्त्र का सिद्धान्त ऐसा है कि . . . “जोगा पयडिपएसं ठिई—अणुभागं कसायओ कुणइ” — जहाँ तक योग होंगे वहाँ तक कर्मबंध भी होगा ही। मन—वचन—काया रूप योग से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है। कषाय से स्थितिबंध तथा रसबंध होता है। इस तरह समय समय कर्मबंध होता ही रहता है। योग की सत्ता प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से १३ वे सयोगि केवलि गुणस्थान तक है। १३ वे गुणस्थान पर केवलज्ञानी सर्वज्ञ बने हुए परमात्मा को भी मन—वचन—काया के योगों का व्यापार (क्रिया—प्रवृत्ति) तो करनी ही पड़ती है। केवली को भी आहारादि ग्रहण करना पड़ता है अतः यह भी काययोग की प्रवृत्ति से ही होगा। भाषा प्रयोग से बोलना भी पड़ता है अतः वचनयोग की क्रिया हुई। इस तरह त्रिकरण योग की प्रवृत्ति के कारण प्रदेशबंध १३ वे गुणस्थान तक भी होता ही है। यद्यपि उस ऊँची कक्षा तक राग—द्वेषादि कषाय की स्थिति नहीं है इसलिए बंधस्थिति लम्बी होनेवाली नहीं है। फिर भी योग के कारण प्रदेशबंध प्रकृतिबंध होता है। यहाँ पर ऐर्यापथिक बंध होता है। सांपरायिक बंध जो कषायजन्य है वह अब नहीं होगा। क्योंकि कषाय की सत्ता का ही सर्वथा अभाव है। अतः जब तक योग की क्रियाएँ चालु रहेगी तब तक निर्वाण—मोक्ष भी होना संभव नहीं है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए १३ वे गुणस्थान के बाद उन्हें योगनिरोध की क्रिया करके अयोगी होना पड़ेगा। तभी मोक्ष संभव होगा। इस तरह त्रिकरण योग की सत्ता १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान से १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान तक रहती है।

इस तरह पाँचों प्रकार के बंध हेतु आत्मा के गुणों का अवरोध करते हुए किन—किन गुणस्थान पर कहाँ तक रहते हैं और कितना नुकसान करते हैं यह ख्याल उपरोक्त विवरण पढ़ने से आएगा। अतः उन उन गुणस्थान पर उस प्रकार के कर्मबंध हेतु से बचना अनिवार्य है। तभी आगे के गुणस्थान पर प्रगति होगी। अन्यथा पुनः कर्मबंध होता रहेगा और शायद पीछे गमन भी करना पड़े। विकास पुनः रुक जाएगा। यह प्रक्रिया तो चलती ही

रहती है। प्रमाद के गुणस्थान पर कर्मबंध के हेतु की प्राधान्यता रहती है। अतः बचने के लिए भी अप्रमत्त होना जरूरी है।

**अप्रमत्त भाव से निर्जरा—**

प्रमत्तावस्था और अप्रमत्तावस्था ऐसी दो अवस्थाएं हैं। इन दोनों में प्रमत्तावस्था—प्रमादग्रस्तता की स्थिति में कर्मबंध की मात्रा ज्यादा होती है। प्रमाद स्वयं ही बंधहेतु है और प्रमाद करने के स्वयं प्रमाद के सहजीवी—सहवर्ती कषाय आदि भी साथ ही आ जाते हैं। अतः कर्म का बंध भी दुगुना—चौगुना होता है। इसलिए प्रमादावस्था कर्मबंध की प्राधान्यतावाली अवस्था है। जबकि प्रमाद से छूटकर—बचकर आत्मा जब अप्रमत्त बनती है... और जितनी देर तक अप्रमत्त रहती है उतनी देर तक कर्मबंध से बचकर रहती है। उस समय निर्जरा = कर्मक्षय की प्रवृत्ति ज्यादा होगी। और निर्जरा की मात्रा भी अप्रमत्त भाव में ज्यादा रहेगी।

इसलिए जब... जब आत्मा आध्यात्मिक गुणों की साधना में अप्रमत्त बनेगी तब तब निर्जरा—कर्मक्षय का प्रमाण ज्यादा रहेगा। यही तो हमारा लक्ष्य है। साध्य है। हमारी की जाती हुई धर्मासाधना के पीछे मुख्य हेतु रहना ही चाहिए। यदि हम धर्मासाधना में अप्रमत्तभाववाले जागृत न हुए और वीर्याचार का पालन करते हुए धर्मक्रिया न की तो क्रिया करने मात्र से निर्जरा का प्रमाण नहीं होगा। इसलिए स्वभाव-रमणारूप आत्मैकलक्ष बनाकर अप्रमत्तता लानी लाभकारक है। जब जब जीव निर्जरा—कर्मक्षय ज्यादा करता है तब तब वह अप्रमत्तभाव में विचरण कर रहा है यह स्पष्ट ख्याल आएगा। किसी भी साधक महात्मा की धर्मासाधना—क्रिया को देखते ही ख्याल आ जाता है कि प्रमत्तता है या अप्रमत्तता है।

यदि प्रमत्तावस्था में धर्मक्रिया—साधना करता है तो उसके कारण व्यग्रचित्त की स्थिति आती है। व्यग्रचित्त पुनः अप्रमत्तता को आने नहीं देता है और फिर से कर्मबंध के निमित्त खड़े हो जाते हैं। इसलिए जब जब जीव प्रमादग्रस्त होता है तब तब कर्मबंध के निमित्त ज्यादा बढ़ते हैं। और निर्जरा नहीं होती है। ठीक इससे विपरीत जब जब आत्मा अप्रमत्त बनती है तब तब निर्जरा का प्रमाण बढ़ता है। कर्मक्षय ज्यादा होता है। इसलिए बार—बार अप्रमत्त बनना ही ज्यादा लाभप्रद है।

१ से ६ गुणस्थान तक प्रमाद की बहुलता है। उसमें भी पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर प्रमाद जितना ज्यादा है। १००% है, वह धीरे—धीरे आगे बढ़ने पर प्रतिशत—मात्रा

में कम होता ही जाता है। इस तरह चौथे सम्यक्त्व गुणस्थान पर आने के बाद प्रमाद का प्रमाण २०% से ३०% कम हो जाता है। मोक्ष का लक्ष बन जाने के कारण आत्मा मोक्ष तरफ प्रयाण करने के लिए उत्सुक है। यद्यपि पुरुषार्थ पूर्ण नहीं भी है फिर भी मिथ्यात्व से प्रसित होकर पीछे गिरने के लिए नीचे उतरने के लिए वह तैयार नहीं है। पाँचवे गुणस्थान पर विरतिधर्म की साधना शुरू कर देने के बाद प्रमादावस्था का प्रमाण कम करते करते आत्मा आगे बढ़ती है। इस तरह कर्मबंध की मात्रा घटाती जाती है। और एक कदम आगे बढ़ने पर... छठे गुणस्थान पर चढ़कर जब साधु बन जाती है आत्मा तब विरति भी देश से सर्व बन जाती है। अपूर्ण से पूर्ण बन जाती है। इसलिए प्रमाद का भाव घटाने से ही आत्मा अपूर्णता से पूर्णता पर आरूढ़ हो सकती है। देश (न्यून) से सर्व—संपूर्ण की कक्षा में प्रवेश होता है। यह प्रमाद का प्रमाण घटने के कारण ही संभव हो सकता है। बात सही है। परन्तु अभी तक संपूर्ण अप्रमत्तावस्था नहीं आयी है। इसलिए पुनः कर्मबंध की संभावना ज्यादा है।

छठे गुणस्थानक से आगे साधु जब सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर चढ़ जाता है, तब अप्रमत्त बन जाता है। बस सातवें से १४ वें तक के आगे के सभी गुणस्थान अप्रमत्त अवस्था के ही हैं। इसीलिए सातवें गुणस्थान से आगे तक जितने प्रमाण में निर्जरा होती है उतनी निर्जरा की मात्रा... सातवें के पहले नहीं होती है। कम होती है। अतः मात्रा बहुत कम रहती है। और सामने कर्म का बंध भी काफी ज्यादा होता है १ से ६ गुणस्थान तक। सातवें गुण से आगे सब गुणस्थान पर निर्जरा का प्रमाण भी काफी ज्यादा बढ़ जाता है। और कर्मबंध का प्रमाण बहुत घट जाता है। कर्मबंध का प्रमाण घटना और कर्मक्षय निर्जरा का प्रमाण बढ़ना यही साधना की श्रेष्ठता का लक्षण है। यदि इससे विपरीत—उल्टा हो जाय अर्थात् कर्मबंध का प्रमाण बढ़ जाय और कर्मक्षय निर्जरा का प्रमाण घट जाय तो वह आराधक साधक नहीं विराधक हो जाता है। विराधक पुनः कर्म बांध कर संसारचक्र में परिभ्रमण करने के लिए चला जाता है। अतः द्रव्य से वेषधारी साधु मात्र बनने की अपेक्षा भावसाधु बनना ज्यादा उत्तम है। वही अप्रमत्तावस्था में ज्यादा जा सकता है और टिक सकता है। रह सकता है। इसलिए साधु बनने के बाद भी प्रमत्त से अप्रमत्त बनना ज्यादा श्रेयस्कर है। साधु बनना तो आसान है। लेकिन प्रमत्त से अप्रमत्त बनना बहुत ही कठिन है। लेकिन कठिन होने पर भी यही साधना तो पड़ेगा। अन्यथा पुनः प्रमाद में चला जाएगा तो कर्मबंध ज्यादा करके पुनः भवभ्रमण में भटक जाएगा।

## प्रमाद से पाप-कर्म की प्रवृत्ति—

तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकार वाचकमुख्यजी ने सूत्र में लिखा है कि— “प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा” तत्त्वाः ७/८ “कषायादिप्रमादपरिणतात्मना कायादिकरणव्यापार-पूर्वकप्राणव्यपरोपणरूपत्वं, प्रमत्तकर्तृकयोगमाश्रित्य प्राणव्यपरोपणरूपत्वं, प्रमादयुक्त-योगमाश्रित्य प्राणव्यपरोपणरूपत्वं द्वेषबुद्ध्याऽन्यस्य दुःखोत्पादनरूपत्वं वा हिंसायाः लक्षणम् ॥ आर्हद् दर्शनदीपिकाकार भी हिंसा के शत लक्षण बताते हुए लिखते हैं कि— कषायादि प्रमाद के रूप में परिणत आत्मा द्वारा शरीरादि करण की प्रवृत्ति द्वारा होता हुआ प्राणों का नाश हिंसा रूप है । अथवा प्रमत्त कर्ता के योग के आश्रित होने से प्राण का नाश होना “हिंसा” है । अथवा प्रमाद से युक्त ऐसे योग के आलंबन से होता हुआ प्राण का नाश “हिंसा” कहलाता है । तथा द्वेषबुद्धि से किसी को दुःखी करने रूप प्रवृत्ति हिंसा कहलाती है ।

साधु जो सर्व विरतिधर है उसका सारा आधार ही अहिंसा पर है । यदि हिंसा है तो विरति नहीं अविरति है । और अविरति विरति की सर्वथा विरोधि है । अतः साधु की शोभा विरति में । अविरतिधर होना और साधु होना परस्पर विरोधाभासी है । इसलिए साधु हो वह निश्चित रूप से विरतिधर ही है । और मात्र विरतिधर ही नहीं... सर्वविरतिधर हो तो ही साधु की साधुता श्रेष्ठ कक्षा की हो सकती है । यदि साधु बनकर भी सर्वविरति न ला सके... और अविरतिधर ही रहे तो पुनः हिंसादि पापों की प्रवृत्ति चलती ही रहेगी । इस तरह पुनः कर्मबंध होता रहेगा ।

झूठ बोलने से बचना, या चोरी करने से बचना, या अब्रह्म—मैथुन सेवन से बचना बहुत ही आसान है लेकिन सर्वथा—संपूर्ण रूप में हिंसा—अविरति का त्याग करना और पूर्ण अहिंसक बनना सबसे ज्यादा कठिन है । जगत के अन्य सभी साधुओं की तुलना में जैन साधु ने अपने जीवन में आचार—विचार के क्षेत्र में, वाणी—व्यवहार और वर्तन के क्षेत्र में हिंसादि का सर्वथा संपूर्ण त्याग करके रखा है । स्थूल हिंसा का त्यागी तो जैन श्रावक भी बना है । इसलिए श्रावक का पाँचवा गुणस्थान है । और साधु उससे भी एक कदम आगे बढ़ा हुआ है इसलिए निश्चित रूप से साधु को तो श्रावक से भी ज्यादा ऊँचे आचार—विचार रखने ही चाहिए । ऊँचे आचार के क्षेत्र में ऊँची कक्षा की अहिंसा का पालन करना ही चाहिए । श्रावक स्थूल-हिंसा का त्याग करता है तो साधु को तो उससे भी ज्यादा सूक्ष्म-सूक्ष्मतम हिंसा का त्याग करना ही चाहिए । जो साधु बनकर भी श्रावक

जितनी हिंसा का भी त्याग न कर सके वह साधु विरति के क्षेत्र में श्रावक से भी नीचे गिर जाएगा ।

जैन साधु की सूक्ष्मतम अहिंसा की तुलना में अन्य जैनेतर साधुओं की इतनी ज्यादा सूक्ष्मतम अहिंसा की साधना दृष्टिगोचर नहीं होती है । जैन गृहस्थों को भी नदी—तालाब स्नान का निषेध अहिंसा की दृष्टि से किया गया है । जबकि जैनेतर संन्यासियों के लिए तो नदीस्नान, तालाबस्नान आदि को ज्यादा पुण्यकारी बताकर और ज्यादा प्रवृत्ति को वेग दिया गया है । पानी में असंख्य जीव हैं । आलु—प्याजादि की साधारण—वनस्पति में अनन्त जीवों का अस्तित्व बताया है । जिसे जैन श्रावक भी त्याज्य समझकर त्याग करता है । एक मात्र ज्यादा जीवों की हिंसा से बचने के हेतु से ही ऐसा करता है । परन्तु जैनेतर संन्यासियों के लिए तो इतना भी वर्ज्य नहीं है । अनन्त जीवों की सत्ता के अस्तित्व की बात ही उन्होंने उनके धर्म में नहीं रखी है । अतः जो सिद्धान्त में ही नहीं है वह आचार में कहाँ से आएगी ? अग्नि में जीवों का अस्तित्व मानकर उसका स्पर्शमात्र भी जैन साधु सर्वथा नहीं करते हैं । इसी तरह कच्चे शीत जल का स्पर्श भी आयुष्य भर नहीं करते हैं । पंखा—वातानुकूलादि वायुकाय की हिंसा विराधनादि जैन साधु आजीवन नहीं करते हैं । जबकि जैनेतर संन्यासियों के जीवन में इस बात का विचार मात्र भी नहीं है । वहाँ अग्नि का स्पर्श उपयोग, यज्ञ—याग—होम—हवनादि रोज का माना गया है । पानी के बिना तो उन्हें एक दिन भी नहीं चलता है । पानी के बिना उनकी सन्ध्या भी नहीं हो सकती है । तर्पणादि में पानी का उपयोग सबसे पहले है ।

जैन साधु की प्रतिदिन की जाती आवश्यक क्रिया रूप प्रतिक्रमणादि में किसी भी प्रकार के पानी आदि के उपयोग की आवश्यकता ही नहीं बताई है । इस तरह सूक्ष्म अहिंसा पालने के अनुरूप—अनुकूल जैन साधु के जीवन के आचार—विचार की व्यवस्था बैठाई गई है । जबकि जैनेतर संन्यासियों की आचार संहिता में सूक्ष्मतम अहिंसा को स्थान नहीं है । जैन श्रावक जो व्रतधारी बनता है उसकी तुलना में उतनी अहिंसा का पालक भी संन्यासी नहीं होता है ।

जैन साधु की आचार संहिता में वनस्पति के फल—फूल तरकारियाँ अनाजादि सभी का स्पर्श मात्र भी आजीवन पर्यन्त निषिद्ध किया गया है । क्योंकि अनाज—फल—फूल—तरकारियाँ आदि सब में जीवों का अस्तित्व माना गया है । (इसका वर्णन आगे के अध्यायों में काफी किया गया है । वहाँ से पढ़कर समझना चाहिए ।) जीवों का अस्तित्व होने के कारण उनका स्पर्शादि उपयोग—उपभोग किया जाय तो जीवहिंसादि



का दोष लगेगा । अतः आजीवनपर्यन्त उपयोग सर्वथा निषिद्ध कर दिया गया है । जबकि जैनैतर संन्यासियों मौलवियों पोप और पादरियों आदि के जीवन में इस विषय की कल्पना तक नहीं की गई है । बौद्ध भिक्षुओं की आचार संहिता में भी इसकी कल्पना तक नहीं है ।

जैन साधुओं के लिए पशु-पक्षियों का स्पर्श उपयोग-सवारी आदि सब कुछ सर्वथा वर्ज्य है । शंकराचार्यों आदि के लिए तो पशुओं की सवारी आदि शोभा मानी जाती है । जैन साधु के सिवाय जगत के सभी संन्यासी आदि के लिए पशु-पक्षी अस्पृश्य नहीं हैं । उनकी सवारी आदि का उपयोग भी वर्ज्य नहीं है । जैन साधु यान-वाहनादि का उपयोग भी सर्वथा वर्ज्य रखकर आजीवन पर्यन्त पैदल विहार ही करते हैं । ऐसा उनका आचार धर्म बनाया गया है वह एक मात्र अहिंसा-जीवदया-प्राणिरक्षा की दृष्टि से ही है । जबकि जैनैतर संन्यासियों आदि के जीवन में इसका रतीभर विचार मात्र भी नहीं है ।

ख्रिस्ती पोप-पादरियों तथा इस्लामी मौलवियों आदि के जीवन में एकेन्द्रिय जीव-पानी-अग्नि-वनस्पति आदि के जीवों की रक्षा का तो सवाल ही नहीं है । अरे, वे तो मांसाहारी हैं । अण्डे-मुर्गी-मछली-मांसादि के भोजन का भक्षण तो उनके जीवन में रोज का है । अतः सोचिए, जैन साधु का जीवन और आचार संहिता उनकी अपेक्षा हजारों गुनी ऊँची क्षितिज पर है । जैन साधु के शिखर की ऊँचाई को हासिल करने में हजारों जन्म-शायद उन्हें लग सकते हैं । जो जैनसाधु आजीवन पर्यन्त सर्वथा रात्रिभोजन के त्यागी होते हैं । सूर्यास्त हो जाने के बाद ... दूसरे दिन के सूर्योदय के पहले-बीच के काल में आहार तो क्या पानी तक नहीं लेते हैं । कितनी भी बिमारी हो या कैसी भी स्थिति हो लेकिन आहार-औषधि तथा पानी-दूध आदि किसी भी पदार्थ का मृत्यु के संकट तक सर्वथा त्याग ही होता है ।

आजीवन पर्यन्त नंगे पैर-पैदल चलकर समस्त हिन्दुस्तान के कोने-कोने में परिभ्रमण करना शायद अब जैन साधु के सिवाय जगत के किसी भी धर्म-संप्रदाय के साधु में है ही नहीं । सर्वथा पादचारी-पैदलविहारी जैन साधु का जीवन सचमुच हिमालय के एवरेस्ट के शिखर पर है । इतना ही नहीं ... महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् आजीवन पर्यन्त साधु जीवन में अपने सिर दाढ़ी मूँछ के बालों को अपने ही हाथों से खींचकर निकाल देने रूप ऐसी केशलुंचन (लोच) की क्रिया प्रति वर्ष करनेवाले जैन साधु के सिवाय कोई दिखाई भी नहीं देते हैं । शायद किसी के लिए सुनकर भी आश्चर्य हो परन्तु जैन साधु के जीवन के आचार की यह विशेषता सदाकालीन है ।

इस तरह त्याग एवं तपश्चर्या के क्षेत्र में जैन साधु का अजोड जीवन है। ऐसा उत्कृष्टतम त्यागी तपस्वी जीवन अन्य किसी संप्रदाय के साधु-संन्यासी का है ही नहीं। वर्तमान विज्ञान के जेट युग में भी जैन साधु का जीवन अत्यन्त ऊँचे आदर्श पर है। इस विषय में बलिहारी है परमात्मा की, जिन्होंने उतनी ऊँची कक्षा की आचार संहिता बनाई है। यहाँ तो मात्र स्थूल दृष्टि से ऊपर-ऊपर का वर्णन किया है। परन्तु और गहराई में जाकर सूक्ष्म स्वरूप एवं आंतरिक जीवन की विशेषताएं लिखने में तो स्वतंत्र ग्रन्थ बन सकता है। वैसे “धर्मसंग्रह” नामक ग्रन्थ में काफी अच्छा वर्णन मिलता है। इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें अनोखा अद्भुत वर्णन मिलता है। परन्तु जैन साधु का जीवन मात्र शास्त्रों में वर्णनात्मक ही है ऐसा भी नहीं है। शास्त्रानुसारी जीवन्त मूर्तिरूप जैन साधु का आदर्श जीवन इस भीषण कलियुग में भी दर्शनीय है।

### सुदीर्घ जीवन्त संस्कृति—

विश्व में अनेक संस्कृतियाँ पनपी और काल के गर्त में विलीन भी हो गई। प्राचीनतम संस्कृतियों में बिना किसी विकृतियों के अखण्ड रूप से जीवन्त रहने वाली यदि कोई संस्कृति हो तो वह एक मात्र श्रमण संस्कृति है। आर्यावर्त भारत देश में वैदिक एवं श्रमण ये दो संस्कृतियाँ सनातन काल से अस्तित्व में हैं। वैदिक संस्कृति के प्रमुख अनुयायी ब्राह्मणादि हैं। जबकि श्रमण संस्कृति के सूत्रधार जैन एवं बौद्ध दोनों गिने जाते हैं। बौद्ध संस्कृति जितनी स्वदेश में पली, इसकी अपेक्षा ज्यादा विदेशों की धरती पर पलने का अवसर मिला। देश-क्षेत्र-काल-भावादि की असर प्रत्येक संस्कृति पर पड़ती ही रही है। इसी काल की थपेड़े खाती हुई बौद्ध एवं वैदिक संस्कृतियों में आसमान-जमीन का परिवर्तन आ चुका है। अपने मौलिक स्वरूप को संभालने में भी वे संस्कृतियाँ लडखडाती रही।

जैन श्रमण संस्कृति के आद्यप्रणेता तीर्थंकर भगवान रहे हैं। स्वयं संसार के सर्वथा त्यागी विरक्त एवं आत्मारथी रहे। अतः ऐसे तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित श्रमण संस्कृति में तप-त्याग की ऊँचाई काफी ऊँची रही। क्योंकि वे स्वयं भोगप्रधान वृत्तिवाले नहीं थे। जिस जिस धर्म के प्रणेता भगवान ही भोगप्रधान जीवन व्यतीत करनेवाले रहे उनकी प्ररूपणावाले धर्म में तप-त्याग की छाया नाममात्र भी नहीं रही। अतः वे भोगप्रधान संस्कृतियाँ रही। जबकि जैन संस्कृति के पुरस्कर्ता चौबीसों तीर्थंकर परमात्मा ही उत्कृष्ट कक्षा का त्याग-तप प्रधान जीवन जीनेवाले थे। उनमें भोगेच्छा अंशमात्र भी नहीं रही।

अतः उनकी संस्थापित इस संस्कृति में भोग ऐश्वर्य विलासिता आदि का नाम निशान तक नहीं आया, एक मात्र त्याग—तप ही आया ।

दूसरी तरह इस जैन संस्कृति को कर्म की खीटि पर बांधकर टिंगाई गई है । अतः कर्मप्रधान जैन धर्म में कर्मक्षय एवं कर्म से बचने का ही लक्ष प्रधान रूप से रहा है । जगत के अन्य धर्मों की संस्कृतियाँ ईश्वरप्रधान रही हैं । वहाँ ईश्वर ही सब कुछ कर्ता—हर्ता—संहर्ता—सर्जनहार आदि के रूप में माना गया है । अतः कर्म की सर्वथा गौणता करके ईश्वर को ही प्राधान्यता दी गई है । ठीक इसके विपरीत जैन संस्कृति की तप—त्याग प्रधान संस्कृति का मुख्य कर्मप्रधानता के कारण है । जैन धर्म ने सारी बागडोर जीवात्मा के हाथ में ही दे दी है । ईश्वर के हाथ में कोई सत्ता ही नहीं रखी । अतः ईश्वर को सृष्टि का कर्ता—हर्ता—संहर्ता आदि किसी भी स्वरूप में न मानकर उपास्य—आराध्य तत्त्व के रूप में ही माना गया है । कर्म से बचने के लिए कर्मक्षयार्थ—निर्जरा—संवर प्रधान सिद्धान्त की धारा का आधार होने के कारण तथा मोक्षैकलक्षी होने के कारण आध्यात्मिक संस्कृति है । जगत् की किसी भी संस्कृति की तुलना में जैन संस्कृति वास्तविक स्वरूप में जितनी आध्यात्मिक है उतनी और कोई दूसरी संस्कृति शायद ही मिलेगी । अतः आत्मार्थी मोक्षार्थी होने के कारण जैन संस्कृति में तप—त्याग का आदर्श काफी ऊँचा है ।

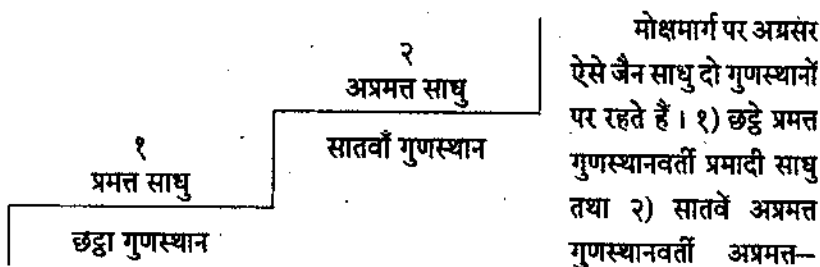
सनातन काल के हजारों—लाखों वर्षों से इस श्रमण संस्कृति को परंपरा के प्रवाह में अखण्ड रूप से प्रवाहित करने का श्रेय उत्कृष्ट कक्षा के श्रमणों, साधुओं और श्रावकों को है । हजारों वर्षों तक सर्वथा विकृतियाँ न आने देते हुए इस संस्कृति को जीवन्त रखने में अखंडित रखने में जैन साधु तथा श्रावकों का काफी ऊँचा योगदान रहा है । आज भी है । मूलगुणों में विकृति न आने का कारण उनकी ऊँची आचारसंहिता है । त्याग—तप की प्राधान्यता है । भोगप्रधानता में सेंकड़ों विकल्प है । जबकि त्याग प्रधानता में विकल्पों को अवकाश नहीं है । वहाँ संकल्प ही बलवान होता है । ऊँचे आदर्शभूत सिद्धान्तों के कारण, तथा उनके विशुद्ध आचरण के कारण जैन संस्कृति की परंपरा आज भी अखण्ड रूप से चल रही है । इतनी प्राचीन और इतने ज्यादा लम्बे सुदीर्घ काल तक चलनेवाली यह विश्व की एक अनोखी संस्कृति है । इसपर किसी की छाया तक नहीं है ।

इसी कारण उपवासदि तप भगवान आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर ने तथा भगवान महावीर स्वामी ने जैसा जिस तरह का किया था, ठीक वैसा ही उपवास आज हजारों—लाखों वर्षों के बाद भी हो रहा है । उपवास में आहारादि की कोई विकृति अभी तक नहीं घुसी है । इसी तरह तीर्थंकर एवं गणधर भगवन्तों की तरह के पादविहार आज भी है । केशलुंचन

आज भी बिना किसी शस्त्रादि साधनों के आज भी हाथों से ही हो रहा है। अरे ! १० वर्ष की उम्र के बाल साधु से लेकर ८० वर्ष की उम्र तक के वृद्ध साधु एवं स्त्री साध्वी सभी केशलुंचन प्रतिवर्ष २ बार करते—कराते ही हैं। जैन साधु—साध्वीजीयों के वेश में आजदिन तक कोई फैशन नहीं आई। क्योंकि सीये हुए वस्त्र ही नहीं पहनने हैं अतः फैशन को अवकाश ही नहीं रहा। रात्री भोजन का, पानी आदि का सर्वथा त्याग जो रहा है वह भी अखण्ड परंपरा में आज भी चल रहा है। इस तरह जैन संस्कृति के ऊँचे आदर्शों को अखण्ड रूप से परंपरा के रूप में टिकाने का, सुरक्षित रखने का श्रेय जैन साधु—साध्वीयों श्रावक—श्राविकाओं को है।

तथा वर्तमान में ऐसे विशुद्ध आचारों की शृंखला जो जीवंत है इससे भविष्य में भी इसकी अखण्ड परंपरा चलने की संभावना काफी ऊँची है। हाँ, इतना जरूर है कि... संख्या की दृष्टि से प्रमाण में जरूर कम रहेगा फिर भी अस्तित्व का लोप नहीं होगा। कलियुग कलिकाल के पाँचवे आरे के २१००० वर्ष में से ढाई हजार वर्ष तो व्यतीत हो चुके हैं। अभी १८५०० वर्ष और शेष बचे हैं। इस काल में भी यह संस्कृति जीवंत रहेगी। विश्व में एक ऊँचा—अनोखा—अनूठा आदर्श सदा बना रहेगा।

### प्रमत्त—अप्रमत्त साधु—



जागृत साधु। जिस तरह घड़ी का लोलक चलता है, कभी ऊपर चढ़ता है फिर नीचे उतरता है। ठीक इसी तरह साधु कभी कभी अध्यवसायों की विशुद्धि के आधार पर अप्रमत्त कक्षा में चढ़ जाता है। लेकिन अप्रमत्त कक्षा बहुत ज्यादा सुदीर्घ काल तक रहती नहीं है। अनादि कालीन प्रमादग्रस्तता के संस्कार बड़े भारी रहते हैं। पूर्वकाल में बंधे हुए कर्मों का जोर बड़ा भारी रहता है। आखिर पूर्व कर्मों के उदय के बीच ही साधु बना है, साधुता का पालन कर रहा है। पूर्वकर्मों के उदय के साथ ही जी रहा है। वर्तमान की यह साधुता उसने प्रबल पुरुषार्थ के बल पर प्राप्त की है। इसलिए आज वह जीव... विशेष रूप से

अपना ज्ञानबल, तपोबल, क्रियाबल बढ़ाकर ही पूर्व कर्मों के उदय के साथ लड़ रहा है। उससे मुकाबला करता हुआ जी रहा है। हाँ, ... हो सकता है कि वर्तमान का पुरुषार्थ कमजोर पड़े और उसके सामने पूर्व कर्म का उदय ज्यादा तीव्र हो जाय ऐसी स्थिति में साधक ज्यादा प्रमादग्रस्त बन जाता है। दूसरे भंग में वर्तमान पुरुषार्थ ज्यादा तीव्र हो जाय और पूर्व कर्म का उदय कमजोर हो जाय ऐसी स्थिति में साधक बाजी जीत जाता है। तीसरे भंग में वर्तमान का पुरुषार्थ और पूर्वकर्म का जोर दोनों ही कमजोर हो जाते हैं। ऐसे कई जीव हैं जिनके जीवन में यह स्थिति है। और चौथे भंग में दोनों ही सबल—सशक्त हो जाते हैं। आपने कई जीवों की ऐसी स्थिति भी देखी होगी कि जो द्विधा में पड़ जाते हैं, क्या करूँ ? यह करूँ कि यह ? इस द्विधा में किसको प्राधान्यता दूँ ? यह स्थिति दोनों की समान्तर स्थिति में बनती है।

इस तरह चार भंग बनते हैं। इन चार भंगों में सर्वश्रेष्ठ भंग एकमात्र दूसरा भंग है जिसमें पूर्वकृतकर्म का उदय कमजोर हो जाय और वर्तमान पुरुषार्थ उससे हजारों गुना ज्यादा हो जाय। तभी साधक बाजी जीत सकता है। अब यह भी सोचिए कि ... क्या यह अवस्था अपने आप जाएगी ? या आप स्वयं बनाओगे ? अपने आप आने का इंतजार करने की अपेक्षा साधक को चाहिए कि ... वह स्वयं ऐसी अवस्था निर्माण करें। इंतजार कम करीए कि— पूर्व कर्म का उदय कमजोर होगा तभी मैं पुरुषार्थ करूँगा ? नहीं। साधक का मार्ग तो यह है कि वह पूर्वकृत कर्म के उदय की चिन्ता न करे। वर्तमान में अपने हाथ में बाजी जीतने के लिए प्रबल पुरुषार्थ ही एक मात्र उपाय है। अतः इसको ही ज्यादा तीव्र करूँ, बस फिर तो सब जीत साधक की ही है।

### मोहनीय कर्म और आत्मज्ञान—

आत्मा के ८ कर्मों में मोहनीय कर्म बड़ा भारी कर्म है। इसकी २८ प्रकृतियाँ हैं। यह सतत उदय में रहकर अनेक प्रकार के नाटक नचाता है। इसका उदय सतत रहता है। इसको कम—क्षीण करने की शक्ति एक मात्र आत्मा के ज्ञान में ही है। और ज्ञान भी ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दबा हुआ पड़ा है। ऐसी स्थिति में आत्मा कमजोर होकर कर्मों के सामने घुटने टेक देती है। जब जब चेतन जीव मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से ग्रस्त रहता है तब तब प्रमादि—प्रमादग्रस्त रहता है। और जब जब चेतन—जीव—आत्मा के मूलभूत ज्ञान को विकसित करता है, बढ़ाता है, तब तब वह अग्रमत्त बनता है। बस, यही छुट्टे और सातवें गुणस्थान में अन्तर है। छुट्टे प्रमत्त गुणस्थान में मोहनीय कर्म के

उदय की तीव्रतादि के कारण... साधक कषायादि की प्रवृत्ति में मूढ़ हो जाता है। परिणाम स्वरूप प्रमादि बन जाता है। और सातवें गुणस्थान पर आत्मज्ञान का उपयोग बढ़ाकर मोहनीय कर्म के सामने लड़ने का प्रबल पुरुषार्थ करे वह अवस्था सातवें अप्रमत्त गुणस्थान की है।

महामहोपाध्यायजी “अमृतवेल की सज्जाय” में फरमाते हैं कि—

चेतन ! ज्ञान अजुवालीए, टालीए मोह संताप रे।

चित्त डम डोलतु वालीए, पालीए सहज गुण आप रे ॥

— चेतन जीव को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि— हे चेतन ! तू अपने आत्मज्ञान का उजाला कर... उसे बढ़ा.. बस इसीसे तू अपने मोहनीय कर्म का संताप टाल सकता है। दूर कर सकता है। मोहनीय कर्म के उदय के कारण जो तेरा चित्त—मन डोलता है, चंचल—चपल बनकर भटक रहा है उसे तू तेरे आत्मिक ज्ञान से मोड़ सकता है। बदल सकता है। अपने सहज गुणों का पालन भी अच्छी तरह कर सकता है। मोहनीय कर्म के उदय की तीव्रता के कारण चित्त डगमगा जाता है। और मोह का संताप बढ़ जाता है यही तो प्रमाद की स्थिति है। इसके उपाय के रूप में अपनी आत्मा के सहज गुणों का पालन करने के लिए महापुरुष यहाँ पर उपदेश दे रहे हैं। छठे गुणस्थानवर्ती प्रमादरूपी बीमारी को दूर करने की दवाई सातवें गुणस्थान के अप्रमत्तभाव की ही है। यही प्रक्रिया उपरोक्त सज्जाय की गाथा में दर्शायी है। साधक इसका खूब मन्थन—चिन्तन करके इसमें से मक्खन निकाल सकता है।

**अप्रमत्तभाव के लिए गौतम को संबोधन—**

जैन संघ के आद्यगुरु, परमगुरु जो गौतमस्वामी हैं वे परमात्मा महावीर प्रभु के प्रथम गणधर शिष्य थे। गणधर बनना कोई सामान्य कक्षा की बात नहीं है। यह बहुत बड़ी ऊँचाई प्राप्त करने की बात है। ऐसे गौतम जो ३० वर्ष तक प्रभु महावीर के साथ रहे। भगवान का साथ तक नहीं छोड़ा, छाया तक नहीं छोड़ी। ऐसे गौतम जो द्वादशांगी के रचयिता श्रुत—शास्त्रों के सागर थे। सर्वथा संपूर्ण रूप से श्री वीर प्रभु को समर्पित थे। प्रभु के चरणों की शरण स्वीकार करके आजीवन पर्यन्त सजग—जागृत आत्मा के प्रहरी थे। ऐसे गौतम को भी प्रमाद छोड़ने के लिए, प्रमाद न करने के लिए, और अप्रमत्त बनने के लिए भगवान ने उपदेश देते हुए कहा है—

दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाणं अच्चए ।

एवं मणुआण जीविअं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १० ॥

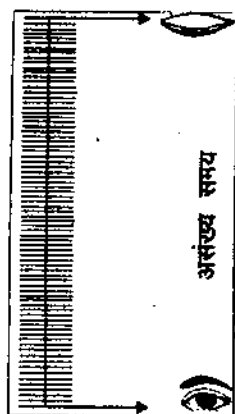
— जिस तरह वृक्ष पर का पत्ता जीर्ण—शीर्ण बनकर गिर पड़ता है । उसी तरह रात्रि—दिन के समूहात्मक वर्षों का काल व्यतीत होने पर स्थिति समाप्त होनेसे चेतनात्मा भी देह छोड़कर चली जाती है ऐसा मनुष्यों का जीवन क्षणभंगुर है अतः हे गौतम, एक समय मात्र का भी प्रमाद मत करना ।

दुल्लहे खुलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।

गाढा य विवाग कम्मणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १०/४ ॥

पुण्यशून्य सभी जीवों के लिए असंख्य जन्मों के बाद भी मनुष्य जन्म प्राप्त करना महादुर्लभ है । और दूसरी तरफ मनुष्य गति विधातक प्रकृतिरूप कर्मों के उदय का विनाश = क्षय करना बहुत कठिन है । इतने भारी कर्म बहुत जल्दी खपाने अशक्य है । अतः हे गौतम, एक समय मात्र भी प्रमाद मत करना ।

इस तरह चरमतीर्थपति श्री महावीर प्रभु अपनी अन्तिम देशना स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र के १० वें अध्ययन के ३७ श्लोकों में गौतम गणधर को संबोधित करते हुए प्रमाद न करने और अप्रमत्त बनने के लिए उपदेश देते हैं । भगवान के इस संबोधन से गौतम को बिल्कुल बुरा नहीं लगा । सोचिए, जो गौतम ५० हजार शिष्यों के गुरु हैं, जो स्वयं गणधर हैं, द्वादशांगी के रचयिता हैं वे क्या प्रमाद करेंगे ? प्रमादग्रस्त रहेंगे ? कितने ज्यादा अप्रमत्त होंगे ? फिर भी भ. महावीर ने गौतम को प्रमाद न करने के लिए... कहा... बार बार कहा ।



भगवान के संबोधन के जो शब्द हैं उन शब्दों में देखिए... “समयं गोयम ! मा पमायए” “हे गोयमा समयं मा पमायए ।” “हे गौतम ! एक समय मात्र का भी प्रमाद मत करिए । संबोधन के इन शब्दों में ‘समय’ शब्द बड़ा ही महत्व का है । इसका रहस्य ऐसा है कि . . . ‘समय’ कालवाची शब्द है । यह कालवाची सूक्ष्मतम इकाई का सूचक है । एक बार आँखों की पलकें द्रुतगति से बन्द कर खोलने जितने काल में

असंख्य समय बीत जाते हैं। इतनी तीव्र गति होती है आँख फरकने की कि जिसमें समय का ख्याल भी नहीं आता है और उसमें असंख्य समय बीत जाते हैं। इतने असंख्य समयों में से एक समय मात्र का भी प्रमाद न करने का प्रभु उपदेश दे रहे हैं। अप्रमत्त भाव लाने के लिए कह रहे हैं। देखा जाय तो बात भी सत्य है। इतने ज्यादा तीव्र मोहनीय कर्म के उदय में इतना ज्यादा चंचल—चपल यह मन जो एक समय भी स्थिर नहीं रह सकता है ऐसी स्थिति में एक समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना, अर्थात् प्रत्येक समय—समय अप्रमत्त बनकर रहना अत्यन्त असंभव—अशक्यसा लगता है। आत्मिक कक्षा के उस स्तर की बात है। जिस स्तर पर प्रतिक्षण—क्षणप्रति पल—पल, प्रति समय आत्मा “अप्रमत्त” रह सके तो कितनी अमाप कर्म निर्जरा होगी। प्रमाद कर्म बंधानेवाला है तो अप्रमत्तभाव कर्मों की ढेर सारी निर्जरा करानेवाला है। अप्रमत्त साधक ही इतनी अद्भुत निर्जरा करके आगे बढ़ सकता है। अन्यथा संभव ही नहीं है।

### अप्रमत्त भाव—

यह जीव संसार के पापकर्म के कार्यों में, कर्म के उदय काल में, कर्म बांधने के समय तो कई बार अप्रमत्त बन जाता है। जैसे धर्म ध्यानादि ध्यान है वैसे ही आर्त—रौद्र ध्यान भी ध्यान ही है। चित्त की एकाग्रता ध्यान की अवस्था है। यह एकाग्रता अप्रमत्तावस्था है। पाप कर्म करने में भी जीव अप्रमत्त स्थिर बनता है। और कोई पाप कर्म से बचने में भी अप्रमत्त बनता है। संसार में सब प्रकार के जीव हैं। पाप कर्म करने में अप्रमत्त बनने वाला जीव उस अप्रमत्तता में हजार गुने ज्यादा कर्म बांधेगा। इसी तरह पाप कर्मों का क्षय करने में निर्जरा करने में लगा साधक हजार गुनी ज्यादा निर्जरा कर्मक्षय करेगा। दोनों तरह है। दोनों दिशा है। यदि कोई जमीन की गहराई में नीचे उतरना चाहे तो वह कई माइलों तक जा सकता है। या फिर आकाश में ऊँची उड़ान भरना चाहे तो आकाश में भी काफी ऊपर कई माइलों तक जा सकता है। ऊपर और नीचे की दोनों दिशाएं हैं। जिसको जहाँ जाना हो जा सकता है। इसी तरह प्रमाद और अप्रमाद की दोनों दिशाएं हैं। कर्म बंध और क्षय करने की दोनों दिशाएं हैं। जिसको जहाँ जाना हो वहाँ जीव जा सकता है। कोई रोकनेवाला नहीं है। जो जैसा करेगा वह वैसा भरेगा। क्रियानुरूप फल है।

साधक को अप्रमत्त बनना ही श्रेयस्कर है—

पमायं कम्पमाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।

तब्बमावदेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥ सूत्र० १-८-३ ॥



— सूत्रकृतांग आगम में आसक्ति को प्रमाद और अनासक्ति को अप्रमाद कहा है । आसक्तिवाला प्रमादि जीव बाल कहलाता है और ठीक इससे विपरीत अनासक्तिवाला जीव अप्रमादि—पंडित कहलाता है । अतः प्रमाद की बाल्यावस्था—बाल चेष्टा में से अप्रमत्तभाव की पंडित की कक्षा में आना आगे का विकास है ।

“अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहु जागरो”— धम्मपद में कहते हैं कि प्रमादियों के साथ रहने का अवसर आने पर अप्रमत्त रहने का कहा है और सुषुप्त—अज्ञानियों के साथ रहना पड़े तो वहाँ विशेष रूप से जागृत सावधान रहना चाहिए । “भारंडपक्खी इव अप्पमत्ते” भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त रहना चाहिए । पक्षियों में यह एक विशेष पक्षी है । इसमें एक गुण है वह— अप्रमत्तता का । अतः उसके एक गुण को भी साध्य बनाकर सीखने के लिए महापुरुष उपमा के लिए उसका दृष्टान्त देते हैं । किसी का भी उत्तम गुण ग्राह्य होता है ।

प्रमाद को कर्म का आश्रय कहा है और अप्रमाद को संवर धर्म कहा है । अप्रमत्त भाव के संवर धर्म का फल कर्मक्षय रूप निर्जरा है ।

सव्वओ पमत्तस्स भयं । सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं ॥ अ. १/३/४/२— प्रमादि को सब तरफ से भय रहता है । अप्रमत्त जीव को किसी ओर से भी कोई भय नहीं रहता है ।

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी, णो वीससे पंडिए आसुपण्णे ।

घोरा मुहूर्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खीव चरेऽपमत्ते ॥ उल. ४/६ ॥

— आशुप्रज्ञ विवेकवान पंडित पुरुष सुषुप्तों के बीच भी जागृत रहे । प्रमादि न बने । काल अत्यधिक भयंकर है । शरीर अशक्त है इसलिए भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त बनकर विचरे ।

जं कल्लं कायव्वं णरेण अज्जेव तं वरं काठं ।

मच्चू अकधुण्हिअओ, न हु दीसइ आवधंथो वि ॥ बृ. भा. ४६७४ ॥

जो करने योग्य कर्तव्य कल करना है, वह आज ही कर लेना अच्छा है । मृत्यु अत्यन्त निर्दय है । अर्थात् मौत किसी पर दया नहीं करती है । वह कब आकर दबोच ले, मालूम नहीं । क्योंकि मृत्यु आती हुई दिखाई नहीं देती है ।

सुवति सुवतस्स सुयं, संकियं खलियं भवे पमत्तस्स ।

आगरमाणस्स सुयं, धिर परिचितमण्यमत्तस्स ॥ बृ. भा. ३३८४ ॥

सोते रहनेवाले प्रमादि का ज्ञान भी सोता ही रहता है। प्रमादि का ज्ञान शंकित एवं स्खलित हो जाता है। जो अप्रमत्तभाव से जागृत रहता है उसका ज्ञान सदा स्थिर एवं परिधित—समुपस्थित रहता है। सच ही कहा गया है शास्त्रों में— “पमाय मूलो बंधो भवति”— नि. पू. ६६८९. प्रमाद मूलक ही कर्म का बंध है। अर्थात् प्रमादग्रस्त जीव ही ज्यादा कर्म बांधता है। कर्म से लिप्त होता है।

इस तरह छठे प्रमाद गुणस्थान, तथा सातवें अप्रमत्त गुणस्थान का वर्णन प्रमाद—अप्रमाद की विषयता के अनुरूप किया है। प्रमाद का स्थान साधना के क्षेत्र में कैसा है और अप्रमाद का स्थान साधना के क्षेत्र में कैसा है ? इसका स्पष्ट ख्याल साधक को आ सकता है। गुणस्थानों की इस स्कूल में साधक को सदा आगे—आगे का रास्ता ही विशेष दिखाया जाता है। आत्मा के गुणों के विकास से ही साधक की आगे प्रगति हो सकती है। आध्यात्मिक विकास हो सकता है। यद्यपि छठे गुणस्थान पर साधु प्रमत्त है लेकिन छठे से पिछले नीचे के गुणस्थान तक की जो अवस्था थी उससे तो काफी अच्छी ऊँची कक्षा तुलना में छठे गुणस्थानवर्ती आत्मा की है। हाँ, आगे के सातवें अप्रमत्त की तुलना में जरूर निम्न श्रेणी की कक्षा है। इसके लिए ऊपर चढ़ाने के लिए... आगे बढ़ाने के लिए आगे—आगे की श्रेष्ठ कक्षा का वर्णन किया गया है। हमेशा आदर्श ऊँची कक्षा का सर्वोत्तम श्रेष्ठ ही होना चाहिए।

जो साधक छठे गुणस्थानक पर चढ़ चुका है इससे उसको और भी आगे बढ़ाना है अतः ऊँची कक्षा का आदर्श सामने रखा है। साधु की साधुता ऊँची कक्षा की है। सर्वश्रेष्ठ है। सर्वोत्तम है। इसलिए छठे गुणस्थान पर पधारे हुए साधक साधु का तथा आगे सातवें गुणस्थान पर पहुँचने के लिए उस भूमिका का सर्वोत्तम स्वरूप दिखाया है। दोनों गुणस्थानों तथा दोनों गुणस्थानवर्ती साधकों का वर्णन यहाँ किया है। यह पढ़ने से स्पष्ट स्वरूप ख्याल में आ सकता है। कर्म की दृष्टि से बंध—उदय—उदीरणा—सत्ता आदि का वर्णन आगे के गुणस्थानों के विवेचन के अवसर पर किया जाएगा।

सभी आत्माएं अप्रमत्त साधक बनें यही शुभ भावना।

# आत्मशक्ति का प्रगटीकरण

|                                                      |     |
|------------------------------------------------------|-----|
| दुर्जय मोह कर्म.....                                 | ७७५ |
| वमन को घाटना.....                                    | ७७७ |
| मोहवश ज्ञानदृष्टि के बंध द्वार.....                  | ७७९ |
| संसार एक मोह का मदिरालय.....                         | ७८१ |
| चेतन को हितशिक्षा.....                               | ७८२ |
| आखिर मन क्या है ?.....                               | ७८३ |
| तत्त्वज्ञानाधारित आचार-व्यवहार.....                  | ७८८ |
| मन और आत्मा में भेद.....                             | ७८९ |
| भ्रान्तिवश अज्ञान.....                               | ७९५ |
| पदार्थों का यथार्थ सत्य बोध, उसे कौन रोकता है ?..... | ७९७ |
| आध्यात्मिक विकास में बाधक मोहनीय कर्म.....           | ८०० |
| क्या आत्मा का घात संभव है ?.....                     | ८०२ |
| गुणघातक मोहनीय कर्म.....                             | ८०३ |
| स्वभावघातक मोहनीय कर्म.....                          | ८०५ |
| स्वभाव रमणता और विभाव भ्रमणता.....                   | ८०६ |
| संसार बढ़ानेवाले कषाय.....                           | ८०८ |
| सभी कर्मों का कारणभूत कर्म.....                      | ८१० |
| आश्रव और बंध के बीच समानता.....                      | ८१४ |
| आश्रव और बंध हेतुओं में मोहनीय कर्म.....             | ८१६ |
| १८ पापों से ८ कर्म का बंध.....                       | ८२० |
| मोहनीय कर्म की प्रकृतियां.....                       | ८२२ |
| संसार की समस्त प्रवृत्तियां मोहमूलक है.....          | ८२३ |
| ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया.....                     | ८२६ |
| भावपाप ही कर्मरूप है.....                            | ८३१ |
| वृत्ति - प्रवृत्ति - प्रकृति.....                    | ८३२ |
| कर्म जाल से मुक्ति.....                              | ८३४ |
| मो = मोह, क्ष = क्षय, मो + क्ष = मो + क्ष.....       | ८३६ |
| १८ पापस्थानकों में विभाजन.....                       | ८४० |
| मोहनीय कर्म के क्षय का लक्ष्य और साधना.....          | ८४४ |
| एक मोहनीय कर्म के क्षय की साधना.....                 | ८४५ |
| किमका क्षय पहले करें ?.....                          | ८४६ |

## आत्मशक्ति का प्रगटीकरण

सर्वथा निमोही—विमोही वीतरागी सर्वज्ञ प्रभु श्री महावीर स्वामी के चरणारविन्द में अनन्तानन्त वन्दनावली पूर्वक...

बलादसौ मोहरिपुर्जनानां ज्ञानं विवेकं च निराकरोति ।

मोहाभिभूतं हि जगद्भिनष्टं तत्त्वावबोधोदपयाति मोहः ॥

प. पू. अध्यात्मविद् चिरन्तनाचार्यजी म. स्वरचित “हृदय प्रदीप” महान ग्रन्थ में मोह का अनोखा वर्णन करते हुए काफी महत्वपूर्ण सूचक संकेत करते हुए लिखते हैं कि—यह मोहरूपी शस्त्र जबरदस्ती मनुष्यों के ज्ञान व विवेक का नाश करता है। और सचमुच मोह से पराभव प्राप्त यह सारा जगत् ही नाश की गर्त में गिरा है। ऐसा भयंकर दुर्दान्त मोह एकमात्र तत्त्वों के विशिष्ट बोध से नष्ट होता है।

**दुर्जेय मोह कर्म—**

संसार में बाह्य सिद्धियाँ पाना आदि सब कुछ साधना आसान है परन्तु एक मात्र संपूर्ण मोहनीय कर्म को जीतकर विजय पाना और सर्वथा निमोही बनना अत्यन्त दुष्कर है। संसार में जेल का भी बन्धन बड़ा नहीं है परन्तु मोह का बंधन जेल न होते हुए भी जेल जैसी ही हालत बनाकर जीव को परेशान करता है। बंदिस्त बनाकर भवभ्रमण कराता है। जेल की काल मर्यादा है। परन्तु मोह की कोई काल अवधि ही नहीं है। कितने भव भटकाता रहे इसका कोई ठिकाना ही नहीं है। अनन्त भव इस संसार में बीत चुके हैं परन्तु अभी भी हमारी मोह निद्रा कम भी नहीं हुई वैसी की वैसी उतनी ही बनी हुई है। अतः अत्यन्त दुर्जेय है।

मोहपाश में बंधे हुए जीव निरन्तर पराभव अनुभव करते हैं। आत्मा मोहनीय कर्म के सामने हार अनुभवती हुई अनन्त जन्मों से, अनन्त काल से चली आ रही है। लेकिन आज दिन तक भी उसे मोह से न तो तृप्ति हुई है, और न ही मोह से विरक्ति पैदा हुई है। मोह की तृप्ति अर्थात् असीम—अमाप—अपरिमित मोह का उपभोग कर लेने के बाद भी

जगत में तीनों काल में आज दिन तक क्या किसी को तृप्ति—संतोष हुआ है ? छः खण्ड का मालिक चक्रवर्ती, ६४ हजार स्त्रियों का उपभोग करता है, छः खण्ड की सुख—सम्पत्ति वैभव—भोग—विलास साधन—सामग्रियों आदि का उपभोग कर लेने के पश्चात् भी, और अनेक तरीकों से अनेक बार भी उपभोग कर लेने के बाद भी तृप्ति—संतोष कहाँ हुआ है ? समुद्र जैसे पानी से भरता नहीं है, अग्नि जैसे घी—तेल से भी तृप्त नहीं होती, वैसे ही स्त्री पुरुष कामक्रीडाओं से सन्तुष्ट नहीं होते हैं, पशु आहार से तृप्त नहीं होते, स्वर्ग के देवता भी सुखों को वैभव—ऐश्वर्य को असंख्य वर्षों तक भोगकर भी तृप्त नहीं होते हैं। वही स्थिति मनुष्य की भी है।

एक तरफ सीमित—परिमित आयुष्य है, उसमें भी निरूपक्रमता नहीं अपितु सोपक्रमता है। ऐसा सोपक्रम आयुष्य कब तूट जाय, कब समाप्त हो जाय इसका कोई ख्याल नहीं है, और संसार के सुख भोग जितने भी भोगने हैं वे अनन्त—असीम—अमाप—अगणित हैं।

सुख—भोग भोगने के लिए मोह की उपस्थिति नितान्त आवश्यक है। बिना मोहवृत्ति के एक भी भोग भोगा नहीं जाता है। स्त्री को भोगने में भी यदि उदासीनता आ जाय तो स्त्री भी नहीं भोगी जा सकती। और प्रिय मनोज्ञ खाद्यपदार्थ खाने में भी यदि उदासीनता—उपेक्षा आ जाय तो वह भी खाना संभव नहीं है। वस्त्रादि परिधान करने में यदि चित्त की व्यग्रता आ जाय तो वह भी निरर्थक लगते हैं। और गहने आभूषण पहनने आदि के विषय में उपभोगवृत्ति तब शान्त पड़ जाती है जब अभाव हो जाय। इस तरह पाँचों इन्द्रियों के २३ विषय जो भोगने की अत्यन्त उत्कंठा होती है वे सब एक मात्र मोह की उपस्थिति में ही भोगे जा सकते हैं। उसके सिवाय संभव नहीं है।

यह जीव अनन्त भवों के संसार चक्र में परिभ्रमण करते करते अनन्त बार राजा—महाराजा बना है। शेट—साहुकार बना है। अरे ! वासुदेव—प्रतिवासुदेव भी बना है। और चक्रवर्ती तथा देवलोक का अधिपति देवेन्द्र भी बना है और इन सब प्रकार के जन्मों में अनेक बार काफी लम्बे बड़े—बड़े आयुष्य भी पाए हैं। सैंकड़ों वर्षों तक के लम्बे आयुष्य काल में प्रबल पुण्य के उदय से सुख—सम्पत्ति, स्त्री—पुत्र परिवार, धन—माल, खाद्य, पेय सामग्री, भोगोपभोग की सामग्री, ऐश्वर्य भोगविलास की सुख सम्पत्ति राज्यादि की सत्ता—पद—प्रतिष्ठा आदि के मान सम्मान की सामग्रियाँ आदि विपुल प्रमाण में प्राप्त की, और उसे भोगने में भी कोई कमी नहीं रखी। इस तरह यह जीव मोह—ममता—वासना

का कीड़ा बनकर अनन्त जन्म बिताता रहा। इतने अनन्त भोगों को भोगकर न तो कोई तृप्ति आई और न ही कोई विरक्ति—उदासीनता आई। फिर भी भोगता ही गया।

### वमन को चाटना—

गत अनन्त जन्मों में जीव के पास भोगने के पदार्थ तथा सुख सामग्रियाँ अनन्त थी। एक एक जन्म भी काफी बड़े—बड़े कई वर्षों के हुए। उन जन्मों में जीव ने अनन्त गुने पदार्थों का भोग—उपभोग किया है। और पाँचों इन्द्रियों के विषयों का भोग—उपभोग जीव ने अनन्त बार किया है। संसार में मात्र दो ही पदार्थ हैं। एक जड़ और दूसरा है चेतन। जड़ पदार्थ वस्तु के रूप में जीव के भोगने के काम आती रही। जबकि दूसरा चेतन तत्त्व किसी व्यक्ति के रूप में उपभोग हेतु भी सामने आया। एक स्त्री व्यक्ति को उपभोग की साधन सामग्री मानकर अपनी वासना के खेल को खेलने का खिलौना मात्र मानकर कामेच्छा—भोगेच्छा की तृप्ति को पूर्ण करने के लिए आयुष्य भर भुगतता ही रहा। चक्रवर्ती के जन्म में ६४ हजार स्त्रियों का उपभोग एक व्यक्ति चक्रवर्ती करता ही रहा। उसमें भी पद्मिनि जैसी स्त्रियों का उपयोग असंख्य बार कर चुकने के पश्चात् भी आज दिन तक जीव को तृप्ति संतोष—शान्ति कहाँ हुई है?

आज भी तृष्णा आसक्ति इतनी ज्यादा भरी पड़ी है कि... शायद भूखे शेर की तरह किसी भी भोग्य—उपभोग्य पदार्थों को देखते ही टूट पड़ता है।

थोड़ा और गौर से गहराई में जाकर सोचिए... भूतकाल के जन्मों में हमारे पास असंख्य पदार्थ थे। भोगते—भोगते पदार्थ कहाँ समाप्त होते हैं? पदार्थ तो जड़ है। निर्जीव है। कोई निर्जीव पदार्थ अपनी तरफ से सुख नहीं देता है। परन्तु जीव उसमें सुख की बुद्धि मानकर उस पदार्थ को भोगता हुआ सुख प्राप्त करने की इच्छा रखता है। अतः सुख वस्तु में नहीं जीव की वृत्ति में है। पदार्थ भोगे या न भी भोगे, वस्तु बची या समाप्त हुई कोई ख्याल नहीं है। लेकिन जीव की मृत्यु हो गई। कर्मानुसार दूसरी गति में गया। वही भोगेच्छा वापिस साथ आई। पुनः भोगने लगा। क्या आपको ऐसा नहीं लगता है कि... एक बार भोगे हुए पदार्थ जो हमने छोड़ दिये—अधूरे छोड़कर मर गए आज उन पदार्थों को पुनः भोगना यह वमन करके पुनः चाटने बराबर नहीं है। ऐसा झूठा पुनः भोगना यह कहाँ तक उचित है?

हम मर जाते हैं। मृत्यु पाकर चले जाते हैं। परन्तु धन—संपत्ति—भूकान आदि तो यहीं पड़े रहते हैं। कई चीजें वर्षों तक भी नष्ट नहीं होती हैं। हम ६०—७०—८० वर्ष की

छोटी सी जिन्दगी बहुत जल्दी बिताकर.. जीवन समाप्त कर चले जाते हैं और रुपए के सिक्के हजारों वर्षों तक पड़े रहते हैं। आखिर मरने के बाद भी कभी कभी, कहीं न कहीं, कोई न कोई तो उपयोग करेंगे ही। इसमें तो संदेह ही नहीं है। वस्तु कहाँ पड़ी रहती है? उसका उपभोग करनेवाले सैंकड़ों बैठे हैं। एक युवति के पीछे भी हजारों लोग अपनी वृत्ति बिगाड़ते हैं। बस, यह संसार इसी तरह चलता रहता है।

### सुख-भोगों का त्याग—

मोह बुद्धि रखकर अपनी सुखैषणा की वृत्ति से जीव वस्तु और व्यक्ति में सुख भोगने की बालिश चेष्टा करता है। वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति जो मोहदशा—रागभाव जीव की वृत्ति में पड़े हैं वे ही जीव को खींचते हैं। उनमें मोहित करते हैं। मोहभाव—रागभाव ही भोगने के लिए आकर्षित करता है। मन को खींचता है। जीव के पास अपना आध्यात्मिक बल नहीं है, मोहवश आत्मज्ञान दशा की जागृति नहीं है इसी कारण से जीव खींचा जाता है। सामान्य जीवों की बात कहाँ करें? बड़े बड़े जो भगवान बननेवाले... जो भगवान बन बैठे हैं वे भी खींचे गए। त्याग भाव उनमें भी नहीं आया और वे भी सुख—भोगों को भोगने के पीछे आसक्त बन गये। परिणाम स्वरूप वैभवी—ऐश्वर्यशाली और विलासी जीवन उन्होंने बनाया और अपनी भोगेच्छा को परकाष्ठा पर पहुँचाने की कोशिश की। धनाढ्य और श्रीमंताई का दिखावा काफी ज्यादा किया। अपनी अमाप ऊँची संपत्ति से भी दुनिया की आँखों में धूल डालकर अपने को लोगों द्वारा पूजाया। प्रतिष्ठा—यश—कीर्ति प्राप्त की और वाह वाही लूटने के पीछे खूब लड़ु बने। लेकिन अफसोस कि वे इसी में रह गए। सबकुछ भोग भी न सके। अतृप्त भोगेच्छा में ही कालकवलित हो गए। दुनिया के सामने अपने ऐश्वर्य और वैभवी—विलासी जीवन का आदर्श छोड़ गए। आखिर दुनियाँ के लोगों की जब आँख खुली तब समझ में आया लेकिन “अब पछताए क्या होत है जब चिड़िया चुन गई खेत”।

जैन तीर्थंकर जिनेश्वर भगवान आज दिन तक अनन्त हुए। अन्तिम चौबीसी जो अभी हुई है उनमें हुए चौबीस तीर्थंकरों को भी देखने से यह स्पष्ट होता है कि वे सब सर्वोत्कृष्ट त्याग की मूर्ति थे। उनके पास गृहस्थाश्रमी जीवन में अमाप—असीम और अनेक गुना था। फिर भी अन्तरात्मा में ज्ञान इतना प्रचुर मात्रा में था की उन्हें कभी भी.. भोगने की अतृप्तता लगी ही नहीं। वैभव—ऐश्वर्य और विलासिता को सर्वथा तिलांजली देकर चरम सीमा के त्याग को जीवन में अपनाया। यौवनकाल में जब भोग—सुख भोगने

के दिन थे उस समय उसका त्याग करके महाभिनिष्क्रमण करके संसार छोड़कर निकल पड़े। संयम स्वीकार कर जंगलों में एकान्त में सही साधना की। घोर तपश्चर्या की। उपसर्ग सहन किये। कर्मों की निर्जरा की और अन्त में वीतरागता, सर्वथा निर्मोहदशा, सर्वज्ञतादि प्राप्त की और अन्त में मुक्ति भी प्राप्त की।

इस तरह अनन्तकाल तक जिनके त्याग की सुवास सदा काल प्रसरती रहेगी... ऐसे त्याग का ऊँचा आदर्श जगत् के सामने रखकर गए। जैन तीर्थंकर भगवन्तों के जितना इतना ऊँचा आदर्शभूत त्याग जगत् में किसी भी भगवानों में दिखना भी संभव नहीं है। अतः भोग सुखदाता नहीं परन्तु त्याग ही सुखदाता है यह सिद्ध करके भगवन्तों ने दिखाया है।

### शालिभद्र का त्याग—

इतिहास काल के महान वैभवी, विलासी, ऐश्वर्यशाली शालिभद्र हुए। उनके चरणों में लक्ष्मी दासी बनकर रहती थी। प्रतिदिन की ९९ पेटीयाँ स्वर्ग से उतरती थी। सच्चा लाख रुपए के रत्नकंबल के टुकड़े कर जिनकी पत्नीयाँ स्नान पश्चात् शरीर पोछकर यूँही खाल में बहा देती थी। ३२ स्त्रियाँ जिनकी पत्नी के रूप में सदा उपस्थित रहती थी। और सातवें मंजील की हवेली से नीचे उतरना भी जिनके लिए भुनासिब नहीं था। फूलों की पंखुडियों की शय्या—गद्दी भी जिन्हें खूँचती थी ऐसे वैभवी जीवनवाले भोगोपभोगों को भोगनेवाले शालिभद्रजी उनमें आसक्त न होकर एक दिन संसार का त्यागकर संयमी साधु बन गए। इतना ही नहीं त्याग की पराकाष्ठा पर पहुँच कर उन्होंने पर्वत की शीला पर अनशन करके संथारा कर दिया। यह था उनका त्याग। उनका सुख—भोग—विपुल साधन—सामग्रियाँ जितनी ज्यादा नहीं प्रशंसी गई उससे हजार गुना ज्यादा उनकी त्याग की उत्कृष्टता हजारों वर्षों तक आज भी मुक्त कंठ से गाई जा रही है। धन्य थे वे जो हजारों वर्षों के भविष्य के लिए... त्याग का आदर्श जगत् समक्ष रखकर गए हैं। अतः वे अमर बन गए हैं।

### मोहवश ज्ञानदृष्टि के बंध द्वारा—

“अहं—भमेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्यकृत्।”

पू. महामहोपाध्यायजी “ज्ञानसार” ग्रन्थ में स्पष्ट कहते हैं कि... जीव ने अनादि—अनन्त काल से एक मात्र एक ही मन्त्र का जाप अखण्डरूप से निरन्तर किया है।



करता ही रहा है। और वह मन्त्र है—“अहं—मम”। मैं और मेरा”। यह मोहनीय कर्म का मन्त्र है। संसार में अनन्त ही जीव—अनन्तकाल से अनन्तबार इस मोहमन्त्र का जाप सदा काल अखण्डरूप से करते ही आए हैं। न तो किसी ने बताया है। और न ही किसी ने सिखाया है। परन्तु अनादि मोहसिद्ध यह मन्त्र सदाकाल ही चलता आ रहा है। बस, मैं और मेरा। इसके सिवाय दूसरी बात ही नहीं। इस मोह के मन्त्र में डूबा हुआ जीव इसमें से बाहर कब और कैसे निकले? सचमुच, इस मोहमन्त्र ने आत्मा के ज्ञान दृष्टि के दरवाजे ही बन्द कर दिये हैं। अतः जीव किर्तव्यमूढ बन गया है। विवेक दृष्टि खो बैठा है। रात—दिन—प्रतिक्षण... प्रतिपल जीव की यही विचारणा रही है। और अजपाजप की तरह निरन्तर चल रहा है।

शराबी से भी ज्यादा खतरनाक मोह का नशा होता है। हम सदा अपने मोहनीय की पुष्टि संतुष्टि के लिए ही सबकुछ करते रहते हैं। परिणाम स्वरूप मोह की जड़ें और गहरी जाकर ज्यादा मजबूत होती जाती हैं। मोहपाश का बन्धन ज्यादा तीव्र गाढ़ बनता है। सचमुच, मोह की माया का कोई पार नहीं है। मछली जिस तरह खाने के मोह में जाल में फसती है ठीकै उसी तरह यह जीव भी मोह की जाल में सदा फसता ही जाता है। हे साधक! तुझे तो मोह विजेता बनना है। मोहाधीन—मोहवश नहीं, मोह अपनी आत्मा का सबसे बड़ा भयंकर शत्रु है। नुकसानकारक है।

मोहनीय कर्म ने अपनी लम्बी—चौड़ी विशाल सेना में... अनेक सैनिक रखे हैं। रागरूप सेना भी मोह के पास है और द्वेषरूप सेना भी मोह के पास है। कब किसका उपयोग करना है और कब किसका? कभी राग के सैनिकों को... माया लोभ, हास्य, रति, राग—कामादि को आगे करता है। क्योंकि ये सब अनुकूल है। रागादि अनुकूल मोह सुखकारक है। सुखदाता है। अतः अच्छे मोठे लगते हैं। द्वेष प्रतिकूल है। लेकिन फिर भी मोह ने अंर्णभी एक दूसरी द्वेष की सेना भी काफी लम्बी रखी है। द्वेष में क्रोध, मान, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा मिथ्यात्वादि की बड़ी सेना रखी है। इस तरह २८ प्रकृतियों के बने हुए इस मोह ने अपनी विशाल सेना के रूप में अपने हाथ—पैरों—शस्त्रादि का विस्तार करके... बड़ा भयंकर संसार खड़ा कर दिया है। आत्मा को एक तरफ अन्दर बैठा दी है उसको उसका कोई काम करने ही नहीं दे रहा है। उसके किसी गुण को भी प्रगट होने नहीं देता है। आत्मा का गला ऐसा घोट दिया है कि उसके ज्ञान की आवाज को उठने ही नहीं देता है। आवाज बाहर आने ही नहीं देता है। अनन्त शक्ति की मालिक आत्मा किर्तव्यमूढ होकर मोहनीय कर्म के आधीन होकर न करने का करती रहती है।

जिस मोहनीय कर्म को जीव ने स्वयं ही राग द्वेष करके बांधा है। उपार्जित किया है वही मोहनीय कर्म आज इस आत्मा को परेशान कर रहा है।

सचमुच, यह संसार मोहनीय कर्म की रंगभूमि है। राग और द्वेष के पात्र बनकर नाटक खेलनेवाले जीव मोहनीय कर्म का संवाद बोलते रहते हैं। एक परिवार में पत्नी—पुत्र—पति—भाई बहनादि जितने भी स्वजन संबंधी इकट्ठे हुए हैं वे सभी मोहवश रंगमंच पर मोहनीय कर्म का नाटक करते रहते हैं। कभी कोई राग का तो कभी कोई द्वेष का पात्र बनते हैं। कोई क्रोध—मान करते हैं तो कभी कोई द्वेषबुद्धि से लड़ते झगड़ते रहते हैं। बस, इसी का नाम संसार है। सचमुच समस्त संसार मोहनीय कर्म का ही है, मोह से ही बना है, मोह से ही चलता भी है और मोहनीय कर्म से ही बिगड़ता भी है। और मोह से ही संसार बढ़ता भी है।

**संसार एक मोह का मदिरालय—**

**विकल्पचकैरात्मा, पीतमोहाऽऽसबोह्यम्।**

**भवोच्चतालमुत्ताल प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥ ५ ॥**

—विकल्परूपी मदिरा—पात्रों से सदा मोह रूपी—मदिरा का पान करनेवाली जीवात्मा, सचमुच जहाँ हाथ ऊँचे कर तालियाँ बजाने की चेष्टा की जाती है वैसे संसाररूपी मदिरालय का आश्रय लेता है। मोहनीय कर्म को शराबी जैसी उपमा दी है। जैसे शराबी नशा की ग्रस्त अवस्था में विवेक खो बैठता है ठीक उसी तरह चेतनात्मा मोहरूपी मदिरा के नशे में विवेक—भान भूल जाती है। ऐसे अनन्त मोह के नशेड़ी जीवों के कारण यह सारा संसार ही मदिरालय जैसा है। और सभी जीवों को मोह का नशा चढ़ा हुआ है। किसीको राग का, तो किसीको द्वेष का, तो किसीको विषयवासना का नशा चढ़ा हुआ है। कहीं कोई स्त्री, युवति, युवक के पीछे पागल बनकर बावरी की तरह घूमती रहती है, तो कहीं कोई युवक विषयवासना की काम की पीड़ा से पीड़ित होकर भोगेच्छा को संतोषने के लिए किसी स्त्री—युवति के पीछे या परस्त्री के पीछे पागल बनकर घूम रहा है। उन्माद पागलपन मोह वासना का इतना भयंकर है कि... कहीं कोई धन संपत्ति के पीछे रात—दिन एक कर रहा है। कोई किसी को अपनी बनाने में दावपेच खेल रहा है तो, कोई अपनी को ही मारने के लिए पेंतरे रचता है। जब तक मोह मदिरा की चुंगाल से स्वतंत्र न हो सकें वहाँ तक यह मोह का नाटक अविरत सतत चलता ही रहेगा। कहीं किसी घर में मोह किसी को रुलाता है तो कहीं किसी घर में हँसाता हुआ भी अपना नाटक चलाता रहता

है। कई परिवारों में आंसुओं की गंगा सूखती ही नहीं हैं तो कहीं किसी घर में मोती की तरह बिखरती दंत पंक्ति छिपती ही नहीं है। कहीं दांत तोड़ दिये जाते हैं तो कहीं अपने आप गिरते दांत वापिस आते ही नहीं हैं। कहीं किसीकी मृत्यु में शोकाकुल है, तो कहीं कोई शादियों की सूरवली में झूम रहे हैं। कहीं पुत्र जन्मोत्सव का आनन्द मनाया जा रहा है, तो कहीं मृत्यु की श्मशान यात्रा में आंसू की नदियां बहती जा रही है। कहीं चिता पर नश्वर देह को अग्निदाह दिया जा रहा है। प्रियतम का देह अग्नि ज्वाला की लपटों में लिपटा हुआ नष्ट हो रहा है तो कहीं कोई माता पुत्र को जन्म देकर देह को संवार रही है। कहीं मकान बनाया जा रहा है तो कहीं बना बनाया तोड़कर गिराया जा रहा है। इसतरह परस्पर विरोधाभासी प्रवृत्तियों के सतत प्रवृत्तिशील यह सारा संसार एक मात्र मोहनीय कर्म का विराट साम्राज्य है। मोहराजा इसका चक्रवर्ती सम्राट बनकर बैठा है। और अपना एकचक्रीशासन चला रहा है। अनन्तकाल से एकहस्त सत्ता चला रहा है। बस, इस और ऐसे मोह की चुंगुल से बचकर बाहर निकला वही शाश्वत सुख का भोक्ता बन सका। अन्यथा मोहपाश में बंधे हुए गुलाम की तरह आधीन बनकर दास होकर पड़ा रहा वह छुटकारा नहीं पा सका।

**मोहान्धकारे भ्रमतीह तावत्, संसारदुःखैश्च कदर्थ्यमानः।**

**यावद्विवेकार्क महोदयेन, यथास्थितं पश्यति नात्मरूपम्॥**

— संसार के दुःखों से त्रस्त जीव मोहरूपी अन्धकार से व्याप्त इस संसार में वहाँ तक ही परिभ्रमण करता है, जहाँ तक विवेकरूपी सूर्य के महान उदय से यथार्थ सत्यरूप आत्मा के ज्ञान का स्वरूप वह नहीं पहचानता है। अतः आवश्यकता है मोह के स्वरूप को समझकर मोह का क्षय करने की, मोहदशा कम करते करते सर्वथा निर्मोही बनने की।

**चेतन को हितशिक्षा—**

मोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए चेतनात्मा को उपाय सूचित करते हुए सुन्दर हितशिक्षा “अमृतवेल” की सज्झाय में दी है—

**चेतन ! ज्ञान अजुवालीए, टालीए मोह संताप रे।**

**चित्त डम डोलतु वालीए, पालीए सहज गुण आप रे ॥**

— हे चेतन ! तू तेरा आत्मज्ञान प्रकट कर। सूर्य के उदित होते ही.. प्रकाश रश्मियां प्रसरते ही अमावस्या का घोर निबिड अन्धेरा जिस तरह क्षणभर भी ठहरता नहीं है, ठीक उसी तरह, हे चेतन ! तू अनन्तज्ञानी है। तेरे आत्मज्ञानरूप प्रकाश को प्रकट कर फैला दे

... बस, तेरा मोहान्धकार कहीं दूर भागकर खड़ा हो जाएगा। इसी ज्ञान से तू तेरा मोह संताप दूर कर। चित जो तेरा डगमगाता है वह भी एक मात्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उदय के कारण ही है। अतः यह समझकर तू तेरा आत्मज्ञान प्रकटकर और उसे ही पालने में शक्ति का प्रयोग कर। अपनी आत्मा के गुणों का सहज रूप में पालन कर।

**आखिर मन क्या है ?—**

हजारों लाखों—सभी लोगों के मुंह से प्रायः एक ही बात सुनी जाती है कि... मन बहुत ही ज्यादा चंचल है, चपल है, बहुत ही ज्यादा अस्थिर है, यह क्षणभर भी स्थिर नहीं रह पाता है। इस तरह मन के बारे में लाखों लोगों के उद्गार ऐसे ही हैं। मेरा प्रश्न यह है कि मन सर्वथा जड़ है? जी हाँ, सर्वथा जड़ है। मन चेतन नहीं है। चेतन तो एक मात्र आत्मा ही है। समस्त अनन्त ब्रह्माण्ड में सिर्फ दो ही तो पदार्थ हैं, जो द्रव्यभूत हैं। द्रव्यरूप जिनका अस्तित्व है उनमें एक चेतन आत्मा और दूसरा अजीव (निर्जीव) पदार्थ। बस, इन दो से अतिरिक्त तीसरे किसी भी अन्य पदार्थ की सत्ता या अस्तित्व है ही नहीं। इन दो पदार्थों में भी चेतनात्मेतर शेष सभी निर्जीव पदार्थ जो हैं उनमें किसी में भी ज्ञान दर्शनादि की चेतना शक्ति का संचार ही नहीं है। अतः चेतना युक्त आत्मा ही एकमात्र ज्ञानादि गुण युक्त है। तदितर शेष सभी द्रव्य ज्ञानादि चेतना रहित हैं।

चेतनेतर आत्मेतर अर्थात् आत्मा से भिन्न जितने भी पदार्थ हैं वे सभी अपने अपने गुणों के धारक हैं। परन्तु चेतना के ज्ञानादि गुण के धारक वे सर्वथा नहीं हैं। मन की गणना किसमें करेंगे? निश्चित रूप से ध्यान में रखिए कि... न तो मन चेतनात्मा है और न ही चेतनात्मा मनरूप है। जी नहीं। ये दोनों सर्वथा स्वतन्त्र द्रव्य हैं। अतः कृपया एक दूसरे का मिश्रण संमिश्रण करने की भ्रान्ति खड़ी न करें। या एक दूसरे को एक दूसरे के अन्तर्गत गिनने की बालिश चेष्टा भी सर्वथा न करें। यह बहुत बड़ी भूल होगी। जो पदार्थ अपने आप में जैसा है जिस स्वरूप का है उसे ठीक वैसा ही उसी स्वरूप में मानना—जानना चाहिए। यही सत्य स्वरूप होगा। सत्य स्वरूप मानने—जानने पर ही सम्यग् दर्शन कहलाएगा—आएगा अन्यथा पुनः असत्य स्वरूप स्वीकारने पर मिथ्यात्व का दोष आएगा।

आज हजारों सम्प्रदायों—मतों ने मन और चेतनात्मा के बारे में ऐसी भ्रान्तियाँ खड़ी कर दी हैं कि बात मत पूछिए। कोई चेतनात्मा को ही मन के रूप में मानकर व्यवहार कर रहे हैं, तो कोई मत, पंथ या सम्प्रदाय अपनी मनघडंत व्याख्याएं बनाकर मन को ही चेतनात्मा

कहकर व्यवहार कर रहे हैं। इस तरह सैकड़ों प्रकार की भ्रान्तियां कर रहे हैं। अरे ! आपको यह जानकर बड़ा भारी आश्चर्य होगा कि ध्यान साधना को करने—कराने और दुनिया को सिखानेवाले धर्म और दर्शन या ऐसा पंथविशेष जो आत्मा को सर्वथा मानने के लिए तैयार ही नहीं है। मानना तो दूर रहा लेकिन उसका सर्वथा निषेध करते हैं। ढोल पीट पीटकर चेतनात्मा है ही नहीं, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है ऐसा निषेध करके दुनिया को उल्टे रास्ते ले जा रहे हैं। फिर भी उसे ध्यान कह रहे हैं। बिना पटरी के ट्रेन और बिना पानी के नौका चलाने जैसी बातें सिखाई जा रही है। अफसोस जनता की अज्ञानता का फायदा उठाकर उन्हें और गलत रास्ते—मिथ्यात्व के रास्ते चढ़ाया जा रहा है।

आत्मा का निषेध करना और आत्मा के ज्ञानादि का सारा व्यवहार मन पर आरोपित करके अपना व्यवहार चलाना है। मन जो सर्वथा जड़ है उसमें ज्ञानादि चेतना का व्यवहार करना है। जड़ में ज्ञानादि की चेतना का व्यवहार ही करना है तो फिर एक मात्र मन में ही क्यों करना ? फिर तो किसी भी जड़ पदार्थ में कर सकते हैं। शरीर भी जड़ है, इन्द्रियाँ भी जड़ हैं उनमें भी व्यवहार कर सकते हैं। चार्वाक मतवादि नास्तिक शरीर को ही आत्मा मानते हैं। वे शरीर से भिन्न आत्मा का व्यवहार नहीं करते हैं। अतः देहात्मवादि है। सच पूछा जाय तो उन्हें आत्मा से कोई मतलब ही नहीं है। ठीक है। आत्मा नामक शब्द भाषा के व्यवहार में अनादि काल से प्रचलित एवं प्रसिद्ध है तो फिर उसका आरोपण शरीर पर करके व्यवहार कर लेना उनका मत है। चार्वाक एकान्त रूप से अदृश्य तत्त्व को मानते ही नहीं है। वे एकान्त रूप से एकमात्र दृश्य जड़ की सत्ता ही स्वीकारते हैं। तदतिरिक्त किसीकी भी नहीं।

बौद्ध दर्शनवादि आत्मा का अस्तित्व सर्वथा स्वीकारने के लिए तैयार ही नहीं है। वे सर्व क्षणिक, सर्व शून्य, सर्व अनित्य, सर्व नश्वर—नाशवंत कहकर ही जयघोष का पटल बजाते हैं। सर्व शब्द से सभी पदार्थों को साथ ले लिया है। जड़—चेतन किसी का कोई भेद ही नहीं है। नित्यानित्य किसीका कोई भेद ही नहीं है। उनके मत में छोड़े—गधे सब एक समान ही हैं। शाश्वत और अशाश्वत सभी पदार्थ एक जैसे ही हैं। चेतनात्मा को भी अनित्य—नाशवंत कहकर उसकी नित्यता शाश्वतता का निषेध करने के बजाय उस मूलभूत पदार्थ का ही निषेध कर देना बौद्धों ने मुनासिफ समझा। आपको यह आश्चर्य होगा कि एक तरफ तो पदार्थों को शून्य कहा और फिर उनको क्षणिक कहा। यह कहाँ तक न्यायसंगत हो सकता है ? “शून्य” का क्या अर्थ करना ? जो पदार्थ शून्यरूप ही है। उनको फिर अनित्य क्षणिक कैसे कहना ? यदि पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है तो फिर

क्षणिक और नाशवंत भी किसको कहना ? जब पानी ही नहीं है तो फिर नौका कहाँ तैरेगी ? इसी तरह जो पदार्थ शून्यरूप है उसे क्षणिक या नाशवंत कहना यह आकाश के कुसुम और वन्ध्या के भी पुत्र कहने जैसा वदतो व्याधात जैसी बात होगी । परस्पर विरोधाभासी विचारधारा रहेगी ।

दूसरी तरफ 'सर्व' शब्द का प्रयोग कर दिया है अतः जड़ हो या चेतन सबको क्षणिक शून्यादि विशेषण लागू हो गए । आश्चर्य तो यह है कि बौद्धों के मत में आकाशादि पदार्थों का अस्तित्व कैसे रहता है ? प्रत्येक क्षण नष्ट करती ही जाती है । और क्षणसन्तति की धारा रह जाती है । अनन्त काल बीतने के बावजूद भी आकाश आज भी जैसा था वैसे ही स्वरूप में है तो सही । कोई हरकत नहीं ... पदार्थों को क्षणिक कहकर प्रतिक्षण नष्ट होता है ऐसा कहकर भी क्षणसन्तति के माध्यम से उसके अस्तित्व को पुनः नित्य माना तो है । चलो सीधे कान नहीं पकड़ा तो घुमा फिरा कर ही सही, कान पकड़ा तो है । पदार्थों को क्षणिक कहकर भी अनादि अनन्तकालीन अस्तित्व स्वीकारने में शाश्वतता आती है कि नहीं ? अफसोस कि पदार्थ को शून्य कहकर भी क्षणिक कहना और क्षणिक कहकर भी क्षणसन्तति की धारा से नित्य अर्थ में मानना यह तत्त्वों की कैसी व्यवस्था ? सत्यता का अंश भी नहीं लगता है ।

पदार्थ जो क्षणिक नाशवंत है... उन्हें देखनेवाला उस स्वरूप में जाननेवाला कौन ? विपश्यना विशेष अर्थ में पश्यना—देखना होना चाहिए । जिसने पदार्थ का ऐसा स्वरूप प्रतिपादित किया है जिसने पदार्थ की ऐसी अवस्था देखी है वह देखनेवाला दृष्टा देखने के लिए मौजूद था कि नहीं ? जिसे देख रहा है वह और जो देख रहा है वह दृष्टा दोनों ही यदि क्षणिक हो तो शून्यरूप हो तो जगत् के पदार्थ क्षणिक हैं शून्य हैं यह कौन दिखाता ? समझाता ? क्षणिकवाद के सिद्धान्त के आधार "सर्व क्षणिक" के नियमानुसार जगत् के सभी पदार्थ जब क्षणिक हैं.. तब जिस क्षणिक पदार्थ को दृष्टा देख रहा था तब वह क्षणिक था कि नहीं ? पदार्थ क्षणिक था... जो पदार्थ क्षण.. क्षण... प्रति क्षण नष्ट हो रहा तब .. दृष्टा देखनेवाला भी क्षणिक था या नित्य था ? बौद्ध दर्शन में नित्य—शाश्वत तो किसीको भी नहीं कहा है । इन शब्दों का प्रयोग वे कतई करते ही नहीं है । यदि करें तो क्षणवाद—शून्यवाद का सिद्धान्त चला जाता है । अतः निश्चित हुआ कि देखनेवाला दृष्टा भी क्षणवाद के सिद्धान्त से बचा नहीं था । वह भी उसी क्षणवाद की चपेट में आ गया ।

अब जब दृष्टा देखनेवाला भी क्षणवाद ग्रस्त क्षणिक था तो उस क्षण को देखा किसने ? प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले स्वरूप को देखनेवाला कौन था ? देखने जाय इतनी देर

में तो क्षण नष्ट हो जाय ? यदि आप कहे कि प्रतिक्षण नष्ट होते हुए भी क्षण धारा (सन्तति) से वह नित्य था । तब तो देखा । तो यह क्षण सन्तति का सिद्धान्त देखनेवाले तथा जिसको देख रहा था वह पदार्थ उभय पदार्थ को लागू होगा । यदि प्रथम क्षण नष्ट होते होते द्वितीय क्षण को उत्पन्न करती है और इस तरह क्षण संतति की परंपरा बनती है तो फिर क्षणसन्तति की परंपरा के अर्थ में ही सही पदार्थ को नित्य मानने की आपत्ति आएगी । इस सिद्धान्तानुसार संसार के अनन्त ही पदार्थ नित्य शाश्वत मानने पड़ेंगे । लेकिन क्षणवाद का सिद्धान्त माननेवाला बौद्ध दर्शन पदार्थ का ऐसा स्वरूप कहकर—मानकर भी उसे नित्य—शाश्वत मानने के लिए इन शब्दों का प्रयोग करने के लिए तैयार ही नहीं है ।

दूसरी तरफ पदार्थ की क्षणिकता देखकर दृष्टा कहने जाय इतनी देर में तो वह भी क्षणिक हो गया । जिस क्षण में देखा था वह क्षण तो चली गई । अब कहने—प्रतिपादन करने के समय वह कहनेवाला तो है ही नहीं ? क्षण धारा तो बदल गई । नदी प्रवाह का दृष्टान्त देते हैं । जिस तरह नदी प्रवाह रूप से बहती है । जल समूहात्मक नदी समूह रूप से नित्य है । और बहते जल के प्रमाण के कारण अनित्य है । गंगा नदी बहती ही है । असंख्य अगणित वर्षों से बहती ही जा रही है । प्रवाह के बहते रहने के कारण वही पानी है ऐसा व्यवहार कोई नहीं करता है । पानी वही नहीं है । परन्तु सजातीयता की सादृश्यता के कारण पानी का ही व्यवहार होता है और पानी के ही समूहात्मक प्रवाहात्मक स्वरूप को ही तो नदी कहते हैं ? तो क्या नदी अर्थ में पदार्थ को नित्य मानने के लिए बौद्धवाद तैयार हैं ? यदि हैं तो उनके मत में संसार का कोई भी पदार्थ अनित्य नाशवंत हो ही नहीं सकता है । सभी पदार्थों को क्षण की प्रवाहात्मकता का सिद्धान्त लागू होता है ।

इस सिद्धान्त से फिर आत्मा का अस्तित्व नष्ट नहीं हो सकता । जब क्षणप्रवाह का सिद्धान्त अन्य सभी पदार्थों को लागू हो सकता है, तो फिर आत्मा को क्यों नहीं लागू होता ? क्षणिकवादियों ने आत्मा को क्षणिक नहीं कहा परन्तु आत्मा का अस्तित्व ही सर्वथा उड़ा दिया । नैरात्म्यवाद कहकर उस आत्मा को मानना ही नहीं । आखिर क्यों ? क्षणिक कहते तो भी आत्मा का अस्तित्व तो रहता । क्योंकि क्षणिक कहने के कारण भी क्षणसंतति स्वीकारने से आत्मा की भी नित्यता उनकी दृष्टि से आ जाती । परन्तु जब अस्तित्व ही उड़ा दिया है तो क्या करना ? फिर संस्कार—वासनादि को मानना... परन्तु उनका आधार द्रव्यभूत पदार्थ कौन ? यदि द्रव्यभूत पदार्थ का ही अस्तित्व नहीं है तो फिर संस्कार—वासनादि का आधार कौन ? क्या आधार—आधेय भाव का सिद्धान्त गलत है ? जी नहीं ! यदि संस्कार—वासनादि आधेयभूत है तो उनके रहने के लिए किसी को भी

आधारभूत द्रव्य मानना ही पड़ेगा । जल के लिए कटोरी—ग्लासादि आधारभूत पदार्थ है । जल रहित—आधारभूत कटोरी—ग्लासादि का स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट है । तो क्या इसी तरह संस्कार—वासनादि पाँचो रहित स्वतन्त्र किसी अन्य द्रव्य का अस्तित्व बौद्धों में है ? नहीं ? यदि नहीं है तो फिर किसके आधार पर संस्कार—वासनादि को मानना ? आधार रहित अवस्था में संस्कारादि का अस्तित्व कैसा रहेगा ? क्या रहेगा ?

कर्म का आधार निश्चित रूप से आत्मा ही है । आत्मा न हो तो कर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है । यदि आत्मा है तो ही कर्म का अस्तित्व है । परन्तु आत्मा के अस्तित्व होने मात्र से ही कर्म लग नहीं जाते हैं । यदि आत्मा ग्रहण करे तो लगते हैं । अन्यथा नहीं । सिद्धात्मा जो सर्वथा कर्मरहित मनादि रहित ही है । उसको कर्म लगने का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता है । मन—देहादि है ही नहीं । अतः सिद्धात्मा सर्वथा निष्क्रिय ही है । अतः कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण ही नहीं होता है । उसी सिद्धशिला पर एकेन्द्रियजीव जो हैं वे कर्मण वर्गणा को ग्रहण करते हैं और प्रतिक्षण कर्म बांध रहे हैं । अतः कर्म रहित भी आत्मा का शुद्ध स्वतंत्र आत्म द्रव्य का अस्तित्व बौद्ध दर्शन ने माना है ? जी नहीं । सर्वथा नहीं । अतः सादृश्यता किस दृष्टि से की जाय । सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा तात्त्विक दृष्टि से बौद्ध और जैन दर्शन में आसमान—जमीन का अन्तर है ।

सर्वज्ञ भगवान् महावीरस्वामी ने उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त पदार्थ का अस्तित्व बताया है । अतः ध्रौव्य इन तीनों अवस्था युक्त है । बौद्ध दर्शन में सिर्फ उत्पाद व्यय युक्त दो ही अवस्था मानी है । ध्रौव्य स्वरूप उन्होंने माना ही नहीं है । क्योंकि पदार्थ को क्षणिक ही माना है । अतः क्षणिक मानने के कारण किसी को भी ध्रुव नित्य नहीं कह सकते हैं । परन्तु द्रव्य अपने मूलभूत स्वरूप में तो सदा नित्य—ध्रुव ही है । परमाणु स्वरूप में नित्य ध्रुव है । जबकि पर्याय स्वरूप में उत्पाद—व्ययात्मक जरूर है । इसीलिए “गुण—पर्यायवद् द्रव्यम्” यह द्रव्य का लक्षण दिया है । गुण और पर्याय युक्त ही द्रव्य होता है, रहित नहीं । अतः द्रव्य की अवस्था है गुण—पर्याय । परन्तु एक बात स्पष्ट रूप से ध्यान में रखिए... यदि द्रव्य ही न रहे तो गुण पर्याय का अस्तित्व फिर कैसे रहेगा ? प्राणशक्ति ही न रहे तो फिर... शरीर क्या रहेगा ? भूत शरीर को कोई नहीं रखता । क्या हमें सिर्फ प्रकाश ही मानना चाहिए और सूर्य को नहीं मानना ? प्रकाश गुणस्वरूप है । सूर्य द्रव्य स्वरूप है । सूर्य का आधार ही न हो तो फिर... प्रकाश का अस्तित्व कैसे मानेंगे ? क्या सफेदी ही माननी और उसके आधारभूत कण्डे को मानना ही नहीं ? लेकिन यह भी सोच लीजिए



कि... कपड़ा है तो सफेदीपना है। सूर्य है तो प्रकाश है। आधार के अभाव में आधेय कैसे रहेगा ?

इसी तरह द्रव्य ध्रुव अवस्था में नित्य है तो ही पर्यायों का उत्पाद—व्यय संभव होगा। द्रव्य ही न हो तो पर्याय का अस्तित्व कैसे मानें ? और पर्याय का अस्तित्व ही न हो तो फिर उत्पाद—व्यय किसका ? किसमें ? यह निश्चित समझिए की द्रव्य है तो गुण—पर्याय है, और गुण—पर्याय है तो द्रव्य है। अतः एक दूसरे का एक दूसरे के साथ अविनाभाव संबंध है। बिना द्रव्य के पर्याय नहीं रहती और बिना पर्याय के द्रव्य नहीं रहता। ठीक इसी तरह बिना गुण के द्रव्य नहीं रहता, और बिना द्रव्य के गुण नहीं रहता। बिना सूर्य के किरणें— प्रकाश नहीं और बिना प्रकाश का सूर्य नहीं। दोनों ही परस्पर आश्रित हैं। सोने के बिना गहनों की पर्याय कैसे रहेगी ? और सुवर्ण पर्याय के बिना मुलभूत सुवर्ण द्रव्य किस तरह रहेगा ? यह सर्वज्ञ का त्रैकालिक सिद्धान्त है।

बौद्धों ने मात्र पर्याय की प्राधान्यता मानकर उत्पाद—व्यय के आधार पर क्षणिकता कह दी। परन्तु ध्रुवावस्था का विचार भी नहीं किया। अतः पदार्थ का चरम सत्य प्रकट नहीं कर सके। चरम सत्य जो भगवान महावीर ने कहा है उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त ही पदार्थ होता है। तदतिरिक्त नहीं। गुण—पर्याय युक्त ही द्रव्य होता है। तदतिरिक्त नहीं। या यदि सिद्धान्त है तो वह चरम सत्यरूप त्रैकालिक होना चाहिए। और यदि परिवर्तनशील है, त्रैकालिक नहीं है तो कई शाश्वत चरम सत्यरूप सिद्धान्त नहीं है।

### तत्त्वज्ञानाधारित आचार—व्यवहार—

जगत में जिस जिस धर्म का जो जो आचार स्वरूप है, व्यवहारात्मक स्वरूप है उसका आधार उस धर्म के सिद्धान्तों पर है। सिद्धान्तों का आधार तत्त्वज्ञान पर है। यदि तत्त्वज्ञान सही है, सिद्धान्त सत्य है तो ही उस पर आधारित आचार—व्यवहार सही हो सकेगा। अन्यथा विपरीत होगा। तत्त्वज्ञान की व्यवस्था चरम सत्य के सिद्धान्त पर आधारित न होने के कारण उसके आधार पर आचारादि की जो भी व्यवस्था बैठाई जाती है वह सब मिथ्या विपरीत सिद्ध होती है। अतः वह सर्वथा निरर्थक है, धातक है, नुकसान कारक है। भावि में जनम—जनम भटकानेवाली है। अतः मिथ्या असत्य मार्ग का अनुसरण सर्वथा भूल से भी नहीं करना चाहिए। याद रखिए सिद्धान्त की चरम सत्यता का आधार एक मात्र सर्वज्ञ पर ही है। तदतिरिक्त किसी पर भी नहीं। सर्वज्ञ महावीर अन्तिम सत्य

के प्रतिपादक है। हम उनके आदर्श पर चलनेवाले, अनुसरण करनेवाले हैं। यही हमारा कर्तव्य है। इसी में हमारी धर्मानुयायिता चरितार्थ सिद्ध होती है।

### मन और आत्मा में भेद—

मन और आत्मा के विषय में भी यही सिद्धान्त स्वीकार कर चलने पर चरम सत्य की कक्षा प्राप्त होगी। अन्यथा नहीं। आत्मा के सिवाय कोई अन्य चेतन द्रव्य है ही नहीं। आत्मेतर सभी पदार्थ जड़ ही हैं। निर्जीव ही हैं। आत्मा ही कर्ता सक्रिय चेतन द्रव्य है। उसके अभाव में जड़ निर्जीव द्रव्य में सक्रियता कौन लाएगा? विपश्यना की प्रक्रिया में अफसोस तो इस बात का है कि... जिसे देखना है, संवेदना का आधार जो है उस शरीर द्रव्य को तो मानना है परन्तु देखनेवाला स्वयं जो देखता है उसे ही नहीं मानना? और फिर विशेष पश्यना—देखना ऐसी प्रक्रिया का ध्यानरूप में अर्थ करना कहाँ तक उचित है? बिना दृष्टि के विशेषार्थ में देखेगा कौन?

क्या वेदना—संवेदना देह जन्य ही है? यदि हाँ, तो फिर मृत शरीर भी देह रूप ही है उसमें क्यों नहीं उठती? समुद्र की लहरों की तरह निरन्तर उठती—चढ़ती ही है। क्या वेदना—संवेदना ज्ञानात्मक नहीं है? वेदना—संवेदना का उद्गम स्रोत शरीर है या चेतना? बिजली ताँबे के तार को आधार बनाकर चलती जरूर है। परन्तु उद्गम स्रोत कोई अलग ही है। वहाँ से उत्पन्न होकर जब आती है, चलती है तो ही तार में बह सकती है। सूर्य की किरणें सूर्य से ही निकलती हैं, उत्पन्न होती हैं। वहाँ से निकलकर धरती पर आती हैं, गिरती हैं, किसी आधार पर ठहरती हैं, तभी दृष्टिगोचर होती हैं। धरती पर न आए तो क्या बीच आकाश में सूर्य रश्मियों के प्रकाश का अस्तित्व मानना ही नहीं चाहिए? यदि न माने तो धरती के आधारभूत धरातल पर कैसे आई? कहाँ से आई? इसी तरह संवेदनाओं—वेदनाओं का आधारभूत स्रोत चेतना को न मानकर मात्र देह को ही मानना सबसे बड़ी भ्रान्ति—भ्रमणा होगी। देह सर्वथा जड़ है, चेतन नहीं है। चेतना शक्ति आत्मा में रहती है। आत्मा इस देह में रहती है। देह में आकर जन्म धारण करती है। मृत्यु के समय देह का वियोग करके देह को छोड़कर चली जाती है। जब तक आत्मा देह में रहती है तब तक... ही देह में सजीवनता—सक्रियता आती है, रहती है, देह छोड़कर चली जाने के पश्चात् पुनः जड़ता।

ठीक इसी तरह मन भी संवेदना—वेदनाओं का उद्गम स्रोत नहीं है। आखिर मन भी जड़ है। यदि संवेदनाएँ जड़ में से उद्भवति होती तो जरूर मन में से भी उत्पन्न होती।

लेकिन ज्ञानात्मक वेदना—संवेदनाएँ जड़ से कभी भी नहीं उद्भवति । उसके उद्भूत का एक मात्र आधार स्रोत—आत्मा ही है । जिन दर्शनों में आत्मा को माना ही नहीं है वे दर्शन संवेदना का उद्भव कहाँ से मानेंगे ? या तो मन को ही आत्मा मानकर संवेदनाओं का उद्भूत मानें, या फिर शरीर को आधारभूत मानकर चलें । परन्तु बिना ज्ञानात्मक चेतनावाले द्रव्य आधारभूत माने संवेदनाओं का उद्भव अन्य किसी भी द्रव्य से नहीं मान सकते । शरीर भी जड़ है । शरीर से संवेदनाएँ उत्पन्न नहीं होती हैं परन्तु सूर्य से उत्पन्न प्रकाश की किरणों जिस तरह धरती के धरातल पर आकर व्यक्त होती हैं । ठीक उसी तरह आत्मा के खजाने से उत्पन्न संवेदनाओं का स्रोत... देह के धरातल पर आकर व्यक्त होता है । उसका अनुभव भी करनेवाली चेतना ही है । मन तो मात्र बीच का माध्यम है ।

चेतन आत्मा ने विचार करने के लिए मनोवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके पिण्डरूप मन बनाया है । यह है सर्वज्ञ प्रणीत प्रक्रिया । जैसे अनेक जड़ पदार्थ के परमाणु होते हैं वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड में आठ प्रकार की मुख्य वर्गणाओं में मनोवर्गणा भी एक वर्गणा ही है । याद रखिए सभी वर्गणाएँ अर्थात् पुद्गल परमाणुओं का जत्था सब जड़ है । इनमें चेतन या चेतना का नाम निशान भी नहीं है । जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है इन विविध प्रकार की वर्गणाओं में से कुछ वर्गणाएँ ग्रहण कर जीव अपना शरीर बनाता है, कर्मण वर्गणा से कर्म बनाता है, भाषा वर्गणा के परमाणु ग्रहण कर जीव भाषा बोलता है । इसी तरह मनोवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड ग्रहण कर जीव मन बनाता है ।

जैसे गेहूँ का आटा लेकर उसमें पानी आदि मिलाकर रोटी बनाई जाती है ठीक उसी तरह जीव मनोवर्गणा के पुद्गल जड़ परमाणुओं के पिण्ड को ग्रहण करके उससे मन बनाता है । अतः जड़ का बना हुआ होने के कारण मन जड़ है । और बनानेवाला चेतन द्रव्य है । यदि बनानेवाला ही नहीं होता तो किसी भी स्थिति में मन बनता ही नहीं । बनानेवाले चेतनात्मा ने कर्मवश यह प्रवृत्ति की है तभी मन बना है । परन्तु एक सिद्धान्त अच्छी तरह याद रखिए कि चेतन—आत्मा इस तरह बनाई नहीं जा सकती । किसी भी परमाणुओं की वर्गणाओं को ग्रहणकर आत्म द्रव्य बनाया नहीं जा सकता । यदि बनाया जाय तो कौन बनाए ? बनानेवाला कर्ता—कारक द्रव्य किसे मानें ? जैसे मन को बनाने के लिए चेतन आत्मा कर्तारूप में कारक द्रव्य है । वैसे ही चेतनात्मा को बनाने के लिए कर्तारूप कारक द्रव्य किसको मानें ? मन या शरीर को मानेंगे ? याद रखिए वे स्वयं ही जड़ हैं । जड़ में कर्तृत्व शक्ति न होने के कारण वह कर्ता या कारक नहीं बन सकता । अतः जड़ को छोड़कर

अन्य दूसरा कौन है ? चेतनात्मा के सिवाय सभी अजीव द्रव्य सर्वथा जड़ ही है । अतः आकाश—पुद्गलादि किसी भी जड़ द्रव्य में आत्मा को बनाने की कर्तृत्व कारक शक्ति है ही नहीं । जड़ स्वयं निष्क्रिय है ।

दूसरे पक्ष में आप यदि ऐसा मानें कि... आत्मा स्वयं ही बनती होगी, तो यह पक्ष भी कैसे सत्य सिद्ध हो सकता है ? तथाप्रकार के पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड को ग्रहण करनेवाला कौन ? क्या ग्रहण करनेवाला पहले से ही था तब उसने तथाप्रकार के परमाणुओं को ग्रहण किया ? अरे ! जब ग्रहण करनेवाला कर्ता था तो फिर परमाणुओं को ग्रहण करने की आवश्यकता ही कहाँ रही ? कर्ता का अस्तित्व जब पहले है ऐसा स्वीकार लिया जाय तो फिर बनाने की आवश्यकता ही कहाँ रही ?

तीसरे पक्ष में यह भी विचार कर लें कि यदि बनाई तो भी आत्मा को बनाने योग्य कैसे चेतन परमाणुओं का अस्तित्व ही कहाँ है ? परमाणु हो और वे चेतन हो यह कैसे संभव हो सकता है ? आकाश हो और वह प्रवाही स्वरूप हो यह कैसे संभव हो सकता है ? अतः संसार में जड़—पुद्गल पदार्थ के ही परमाणु होते हैं । तदतिरिक्त संसार में ऐसा एक भी द्रव्य नहीं है जिसके परमाणु हो । नहीं, ऐसा एक भी द्रव्य नहीं है । षड् द्रव्यों में अन्य कोई द्रव्य नहीं है । अतः चेतन परमाणु का अस्तित्व ही नहीं है । तो फिर कैसे परमाणु ग्रहण कौन करे ? और दूसरी तरफ परमाणुओं को ग्रहण करनेवाला कोई द्रव्य विशेष भी तो नहीं है ? अतः दोनों तरफ से संभावना ही नहीं है ।

एक और चौथी बात यह है कि... यदि जड़ पुद्गल के परमाणुओं को ग्रहण करके उनके पिण्ड में से चेतना शक्ति उद्भवति है ऐसा मानें... तो जैसे चार्वाकमत में मदशक्ति की तरह चेतना की उत्पत्ति मानी है वैसे मानें क्या ? अच्छा जिन परमाणुओं में ज्ञान—दर्शन—चारित्र्यादि का सर्वथा अस्तित्व ही नहीं है क्या उन और वैसे परमाणुओं के इकट्ठे होने पर ज्ञान शक्ति दर्शन शक्ति आदि आ जाएगी ? जी नहीं । यह तो रेती (वालु) को पीलकर तेल निकालने जैसी पागलपन की बात लगती है । आप रेती के सेंकड़ों कण इकट्ठे कर लीजिए और... महीनों तक उन्हें घाणी में पीलते रहिए, क्या उनमें से तेल निकलेगा ? कभी संभव भी है ? जी नहीं । एक चौक बनता है, काष्ठ—लकड़ा है उसमें कितने असंख्य परमाणुओं का जत्था है ? उन असंख्य, अनन्त परमाणुओं से वह जब बना है तो फिर क्यों नहीं उनमें ज्ञान शक्ति आई ? यदि ऐसे परमाणुओं के संचय में ज्ञान शक्ति आती होती तो... आज दिन तक संसार में अनन्त परमाणुओं से अनन्त पुद्गल पदार्थ बने ही है । क्यों नहीं किसी में ज्ञान शक्ति आई ? यदि ऐसे आती होती तो संसार के अनन्तानन्त

सभी पदार्थ ज्ञान—दर्शनात्मक बन जाते। कोई भी जड़ रहता ही नहीं। फिर तो ईट—चूना—पत्थर—मकान—लकड़ा इत्यादि सभी पदार्थ बोलते—चलते—हँसते—रोते आदि सब कुछ मनुष्य की तरह करते। फिर तो कहीं कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फिर तो संसार में सभी सचेतन—सजीव पदार्थ ही रहते। जड़ पुद्गल पदार्थ कोई नाम के लिए भी नहीं रहते। बस, तो फिर सब जीव सृष्टि ही रहती, जड़ सृष्टि का नाम निशान भी नहीं रहता।

क्या यह संभव है ? न भूतो न भविष्यति। अनन्त भूतकाल में कभी ऐसा नहीं हुआ है, और भविष्य में कभी ऐसा होगा नहीं। अतः संसार में जीव सृष्टि भी है और अजीव सृष्टि भी है। जीव भी अनन्त है। और अजीव पुद्गल द्रव्य के अनन्तानन्त परमाणु है। अजीव पुद्गल स्कन्ध परमाणुओं के संचय से संघात से बनते हैं। इसीलिए उनमें ज्ञान दर्शनात्मक चेतना—संवेदना कुछ भी नहीं है। ज्ञान—दर्शन—संवेदना रहित जड़, पुद्गल द्रव्य है।

चेतन द्रव्य ज्ञान—दर्शनात्मक है। ऐसी ज्ञान—दर्शनात्मक चेतना शक्ति युक्त चेतन द्रव्य अनादि—अनन्त अस्तित्ववाला है। अनुत्पन्न—अविनाशी—शाश्वत—नित्य—अजर—अमर द्रव्य है। न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है। उत्पन्न ही नहीं होता है इसीलिए आदि (शुरुआत) नहीं है अतः अनादि है। और नाश—विनाश कभी होता ही नहीं है, अतः अविनाशी शाश्वत द्रव्य है। अविनाशिता के कारण ही अनन्तता आती है। अतः अनादि—अनन्त ऐसा शाश्वत नित्य द्रव्य स्वरूप चेतनात्मा का है। यही कर्ता—कारक—सक्रिय द्रव्य है। चेतनात्मा ही मनोवर्णना के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके मन बनाती है। अपने ही ज्ञान को प्रगट करने के लिए मन द्रव्य को बनाया जिसकी सहायता से विचार प्रगट किये जा सकते हैं। विचारों में ज्ञान ही प्रगट होता है। ज्ञानात्मक विचारों के साथ—साथ मोहनीय कर्म के राग—द्वेष के उदय के कारण राग—भाव तथा द्वेष—भाव प्रगट होता है। अतः मोहनीय कर्म के कारण रागात्मक संवेदनाएँ, तथा द्वेष के कारण द्वेषात्मक संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। रागात्मक संवेदनाओं को जीव ने सुखद माना है, और द्वेषात्मक संवेदनाओं को जीव ने दुःखद माना है।

अनुकूल संवेदनाएँ सुखद और प्रतिकूल संवेदनाएँ दुःखद। इस तरह दोनों में सुख—दुःख की बुद्धि बना ली है। राग को अनुकूल मान लिया है और द्वेष को जीव ने प्रतिकूल मान लिया है। अतः दोनों प्रकार की संवेदनाएँ निरंतर उद्भवती रहती हैं। इसी कारण प्रतिक्षण जीव सुख—दुःख का अनुभव वेदन—संवेदन करता ही रहता है।

विचार तरंगे वाणीतंत्र से व्यक्त होकर बाहर की दुनिया में प्रसरती है। अतः वाणी विचारों के ज्ञान को प्रगट करने का माध्यम मात्र है। विचारतन्त्र में संवेदनाओं की अभिव्यक्ति मन पटल पर भी पड़ती है। और देहतन्त्र पर भी अभिव्यक्त होती है। परन्तु देह में उत्पन्न नहीं होती है। अभिव्यक्त होती है। उद्गम स्रोत तो आत्मा ही है। आत्मा पर



मोहनीय कर्म का आवरण है, मोहनीय कर्म—राग—द्वेषात्मक है। और विषय—कषायादि उसके अंग हैं। इनके निरंतर उदय से ज्ञानगुण जो ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत है उसमें से ज्ञान की जो भी किरण निकलती है वे ज्ञान किरणें मोहनीय कर्म के उदय से रागात्मक—द्वेषात्मक—विषयात्मक—कषायात्मक बनती हैं और मनतन्त्र पर आकर वहाँ से वाणी द्वारा बाहर व्यक्त होती है। या फिर देहतन्त्र पर आकर अभिव्यक्त होती है।

अतः मात्र देह पर ही होती हुई संवेदनाओं को देखते रहने से चेतना देहाकार बनती है। देह पर उद्भवती वेदना को देखना सामान्य पश्यना है। विशेष अर्थ में विपश्यना नहीं है। क्योंकि देह में उद्भूत वेदना का अनुभव संसार के सभी जीव मात्र करते हैं। इसमें कोई आश्चर्य ही नहीं है। परन्तु विशेष अर्थ में विपश्यना तो तब होगी जब संवेदनाओं के मूल उद्गम स्रोत को पहचान सके, मूल वेदन ज्ञानात्मक है। जो ज्ञानावरणीय कर्म जन्य है, वेदना—वेदनीय कर्म जन्य पीडात्मक—वेदनात्मक है। संवेदना—मोहनीय कर्मजन्य—राग—द्वेषात्मक है। सुख—दुःख की अनुभूति वेदनीय कर्म के कारण है। रागात्मक—द्वेषात्मक, अनुकूलात्मक, प्रतिकूलात्मक आदि सब कुछ मोहनीय कर्म जन्य है। अब हमें विशेष अर्थ में—विशिष्ट स्वरूप में विपश्यना करनी है। क्या करेंगे? कैसे करेंगे?

मैं एक शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ। ज्ञानादि गुणवान चेतन आत्मा हूँ। ध्रुवस्वरूप से मैं अनादि—अनन्त, अनुत्पन्न—अविनाशी, शाश्वत—अजर—अमर चेतन द्रव्य स्वरूप हूँ। ऐसा स्पष्ट दर्शन... अनुभव में लाना है। कर्मजन्य स्थिति के कारण ८ कर्मों से ग्रस्त अपना

अशुद्ध स्वरूप भी स्पष्ट देखना है। तथा कर्मों से ग्रस्त अशुद्ध स्वरूप को भी स्पष्ट देखना है। कर्म उदय से औदयिक भाव से सभी कर्मों का उदय होता ही रहता है। प्रति क्षण—क्षण प्रत्येक कर्म का उदय होता ही रहता है। कर्म के उदय के कारण वेदन—वेदना—सवेदनाएँ उद्भवती ही रहती हैं। अनन्तकाल में ऐसी एक भी क्षण नहीं गई कि जिस क्षण किसी न किसी कर्म का उदय न हुआ हो। समुद्र में लहरें चलती ही रहती हैं। ज्वार भाटा के रूप में लहरों का उद्भवना, चलना, किनारे तक पहुँचना और वापिस शमन होकर परावर्तित होना। यह क्रम निरन्तर अखण्ड रूप से चलता ही रहता है। अनादि काल से चल रहा है। और भावि में अनन्त काल तक चलता ही रहेगा।

समुद्र का पानी ध्रुव स्वरूप से नित्य शाश्वत है। और उसमें उत्पन्न होती विलीन होती लहरें पर्याय स्वरूप से अनित्य हैं, क्षणिक हैं, नाशवंत हैं। उत्पाद—व्यय निरन्तर चलता ही रहता है। लहरें उत्पन्न होकर चलनी यह उत्पाद है और पुनः विलीन हो जानी यह व्यय है। इस तरह लहरों की पर्याय अपेक्षा से समुद्र उत्पाद व्यय स्वरूप है। और मूल समुद्र द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुव नित्य स्वरूप है। यदि समुद्र ही नहीं होता तो लहरें कहाँ चलती? अतः पर्यायों का आधार द्रव्य पर है। समुद्र के पानी का क्षारीय स्वरूप, खारापन यह उसका गुण है। यही सर्वज्ञ महावीर प्रभु ने बताया हुआ सापेक्षवाद का सिद्धान्त है—स्याद्वाद है। इसमें द्रव्य—गुण—पर्याय तीनों का ग्रहण है। तदनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वरूप का ज्ञान स्पष्ट है। सचमुच यही सम्यग्ज्ञान है। इसपर ही चरम सत्य स्वरूप सम्यग्दर्शन का आधार है।

यदि इस त्रिपदी में से ध्रुव स्वरूप पदार्थ को छोड़ दिया जाय और मात्र उत्पाद—व्ययात्मक द्विपदी का ही स्वरूप स्वीकार करके सिर्फ उत्पाद—व्यय . . . , उत्पाद—व्यय . . . देखकर . . . पदार्थ को क्षणिक—नाशवंत, विनाशशील या शून्य—अनित्य कह दिया जाय तो पदार्थ के पूर्णस्वरूप का बोध नहीं होगा। अधूरा ज्ञान बड़ा खतरनाक—नुकसानकारक होता है। *A Little knowledge is more dangerous.* की कहावत गलत नहीं है। त्रिपदीमय स्वरूप ही शुद्ध स्वरूप है। और सत्य ज्ञान है। द्रव्य—गुण—पर्याय तीनों दृष्टि से पदार्थ का स्वरूप ग्रहण करना ही सम्यग्—सत्यस्वरूप है। इसी दृष्टि से करने के लिए सम्यग्ज्ञानार्थ ही श्री महावीर प्रभु ने स्याद्वाद—सापेक्षवाद—अनेकान्तवाद की विशद दृष्टि बताई है।

अनेकान्तवाद का सीधा अर्थ है—अनन्तधर्मात्मक वस्तु को अनेक दृष्टि बिन्दुओं से, अनेक अपेक्षाओं से सहित सापेक्ष ज्ञान प्राप्त करना ही सापेक्षवाद है। उसे ही भाषा

में कथन करते (कहते) समय 'स्याद्' शब्द से अलंकृत—अंकित करके कहने की भाषा पद्धति को 'स्याद्वाद' कहते हैं। सचमुच स्याद्वाद—अनेकान्तवाद—सापेक्षवाद अपने आप में कोई सिद्धान्त नहीं है परन्तु सिद्धान्तों की परीक्षा करने की पद्धति है। जैसे कसौटी स्वयं सुवर्ण नहीं है परन्तु सुवर्ण को सही है या नहीं? यह पहचानने की परीक्षक साधन पद्धति है। ठीक उसी तरह स्याद्वाद पदार्थ की पूर्ण सत्यता को व्यक्त करने की पद्धति है। यह कसौटी की तरह पदार्थ के स्वरूप की परीक्षा करके सत्य एवं पूर्ण सिद्ध करता है। वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी भी धर्म का लोप न हो जाय इसके लिए एक धर्म की एक अपेक्षा से विवक्षा करते समय दूसरी अपेक्षा से दूसरा धर्म भी जो मौजूद है उसका भी ख्याल कराना स्याद्वाद का कार्य है। जैसे हाथी एक अंग का नाम नहीं है। सर्व अवयवों का सम्मिलित रूप हाथी है। अतः स्याद्वाद का काम है किसी भी अवयव या अंग विशेष की उपेक्षा न होने देना, उसका भी बरोबर स्मरण कराना और व्यवहार कराना।

नयवाद एकान्तवादि है। एक नय एक समय एक ही बात की विवक्षा करता है। दूसरे धर्म की तरफ वह उपेक्षा करता है। देखता भी नहीं है। अतः नयवाद प्रमाण सप्तभंगी नहीं है। परन्तु स्याद्वाद में नयवाद से ठीक उल्टा है। यहाँ 'स्यात्' शब्द जो निपात सिद्ध अवयव है वह अपनी बात एक अपेक्षा से कह देने के बाद भी अन्य धर्मों के प्रति स्यात् अपेक्षा को अंकित करता है। बरोबर संकेत करता है। अनेक धर्म है। एक एक धर्म की विवक्षा से एक एक सप्तभंगी बनती है। सात भंगों का आधार सात प्रकार के प्रश्नों से होता है। और सात ही प्रकार के प्रश्नों का आधार सात प्रकार की जिज्ञासाओं पर आधारित है। इस तरह निश्चित रूप से सात ही भंग होते हैं। न तो ज्यादा और न ही कम। इस तरह भिन्न—भिन्न धर्म की विवक्षा से अनेक सप्तभंगीयां होती हैं।

स्याद्वाद पद्धति से वस्तु का पूर्ण बोध प्राप्त किया जाता है। यह सर्वज्ञ प्रणीत है। इसे ही स्वीकारनेवाला सम्यग् दृष्टि कहलाता है। अन्यथा विपरीत रूप से मिथ्यात्वी कहलाता है। अतः जिसे सत्यवादि बनना है उसे निश्चितरूप से स्याद्वादि बनना अनिवार्य है। अन्यथा असत्यवादि—मिथ्यात्वी बनेगा। पदार्थ के पूर्ण—एवं सत्यस्वरूप को कभी भी नहीं जान—समझ पाएगा। अतः स्याद्वाद का आश्रय अत्यन्त आवश्यक है।

### भ्रान्तिवश अज्ञान—

यथार्थ सत्य के अभाव में भ्रान्ति और भ्रमणाओं को खड़ी करके जीव अज्ञान को भी मानकर व्यवहार कर लेता है। इनके विषय बनते हैं— अदृश्य तत्त्व। जो तत्त्वभूत



पदार्थ हैं—आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि। ऐसे पदार्थों के विषय में—इन तत्त्वों के विषय में ज्यादातर जीव भ्रान्ति—भ्रमणा खड़ी कर देते हैं। क्योंकि ये आत्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। अतः इनके ही विषय में जितनी भ्रमणा फैलती है उतनी दृश्य—इन्द्रिय प्रत्यक्षजन्य विषयों में नहीं फैलती है। वे पौद्गलिक भौतिक पदार्थ हैं। इन्द्रिय ग्राह्य हैं। इसलिए सामान्य जीवों को भी इनमें भ्रमणा कम होती है।

परन्तु आत्मा—परमात्मा—मोक्ष—लोक—परलोक—स्वर्ग—नरक पूर्वजन्म—पुनर्जन्म, कर्म, आदि अनेक तत्त्वभूत पदार्थ मात्र ज्ञानगम्य हैं। इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं। चाक्षुष नहीं हैं। इसलिए भ्रान्ति के विषय बनते हैं। मन भी चक्षुग्राह्य नहीं है और आत्मा भी चाक्षुष नहीं है। अतः दोनों में भ्रान्ति—भ्रमणा की संभावना काफी ज्यादा है। कई धर्मों ने, कई दर्शनों ने, कई पन्थों, पक्षों और सम्प्रदायों ने अपनी—अपनी स्वमति कल्पनाओं से आत्मा—मन आदि का सारा स्वरूप विकृत कर दिया है। किसी दर्शन ने तो आत्मा—परमात्मा मोक्षादि तत्त्वों को माना ही नहीं, और यदि किसीने माना भी है तो सर्वथा विपरीत स्वरूप माना। तो किसी ने अधूरा ही माना, तो किसी ने भ्रान्तिवश आत्मा की बातें मन पर बैठा दी, और स्वर्ग की बातों मोक्ष के नाम पर बैठा दी। परिणाम स्वरूप कोई मन को ही आत्मा कहता है तो कोई स्वर्ग को ही मोक्ष के रूप में मानता है। ईश्वर जो सृष्टि का रचयिता, संहारकर्ता आदि कुछ भी नहीं है उसे वैसा मान लेना, उसे ही भ्रान्तिवश सुख—दुःख का दाता—हर्ता मान लेना यह भी भ्रमणा है। इस तरह मानव ने भ्रान्तियाँ—भ्रमणाएँ खड़ी करके अनेक पदार्थों को विकृत कर दिया। स्वरूप ही खराब कर दिया। अतः शुद्ध सत्य स्वरूप पदार्थों का दृष्टि समक्ष आता ही नहीं है। इसीलिए आवश्यकता है एक मात्र सर्वज्ञ के ही द्वारा बताए गए तत्त्वों को स्वीकारने की और वह भी जैसा स्वरूप जिस अर्थ में बताया उसी अर्थ में स्वीकारने की। इसीलिए सर्वज्ञ की श्रद्धा का महत्व अत्यन्त ज्यादा है। बिना सर्वज्ञ के चरम सत्य का स्वरूप अन्य कोई नहीं बता सकता है। अतः सर्वज्ञ पर पूर्ण श्रद्धा रखनी ही चाहिए। सर्वज्ञ और वीतरागी ही हमारी श्रद्धा के केन्द्र बिन्दु होने चाहिए। इनको ही बनाने चाहिए। क्योंकि ये ही पदार्थ का अन्तिम सत्यस्वरूप सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इनके सिवाय जगत् में कोई अन्य है ही नहीं। इस तरह हम अपने अज्ञान की भ्रान्ति—भ्रमणाओं की निवृत्ति कर सकते हैं। इसके सिवाय अन्य कोई विकल्प ही नहीं है।

## पदार्थों का यथार्थ सत्य बोध—

आत्मा—मन—बुद्धि आदि पदार्थ अपने शुद्ध सत्य स्वरूप में जैसे हैं ठीक उन्हें वैसे ही मानना यह सम्यग्दर्शन है। और उन्हें सत्य स्वरूप में जानना—समझना सम्यग्ज्ञान है। सच्चा ज्ञान है। और जैसा स्वरूप जाना है, माना है, उसीके अनुरूप आचरण करना सम्यग्चारित्र्य है। ये तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग बनता है। इनमें से एक भी कम हो तो मोक्ष का मार्ग नहीं बन सकता। फिर संसार का ही मार्ग बनेगा। इसलिये आवश्यकता है तत्त्वों के, पदार्थों के यथार्थ—वास्तविक स्वरूप को जानने—मानने और आचरण करने की। जैसा सर्वज्ञ वीतरागी ने कहा है ठीक शतप्रतिशत वैसा ही और वही स्वरूप हमें सबको जानना, मानना, स्वीकारना, और आचरना चाहिए। पदार्थों—तत्त्वों का यथार्थ—सत्य जैसा है ठीक वैसा वास्तविक बोध न हो तो मिथ्यात्व टलना—मिटना संभव ही नहीं है। फिर संसार में भटकना पड़ेगा। जिस संसार में अनादि—अनन्त काल से जीव भटकता ही आ रहा है, और भविष्य में अनन्तकाल तक भटकता ही रहेगा, जाएगा तो अन्त कब आएगा ?

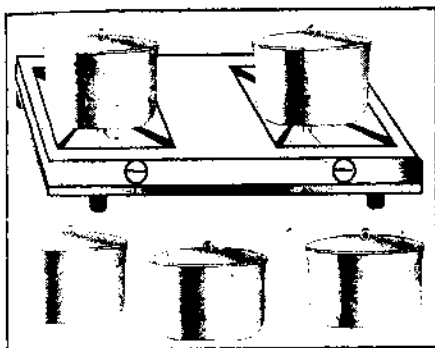
## सत्य बोध को कौन रोकता है ?—

प्रायः सत्य स्वरूप जानने की तरफ जीवों की रुचि होती है। सत्य सूर्य की तरह स्पष्ट—प्रत्यक्ष है। इसलिए प्रायः सत्य अनेकों को पसंद होता है। प्रिय भी होता है। लेकिन जैसे सूअर को, गधे को मिठाई पसन्द ही नहीं है वैसे ही अनेक जीव संसार में ऐसे ही होते हैं जिन्हें सत्य पसन्द ही नहीं है। असत्यप्रिय ही है वे जीव। अतः गाढ़ मिथ्यात्व से ग्रस्त रहते हैं। ऐसे मिथ्यात्वी जीव जिनकी मति—दृष्टि... सर्वथा मोहनीय कर्म से ग्रस्त रहती है। याद रखिए, ज्ञान को विकृत करनेवाला, विपरीत करनेवाला मोहनीय कर्म है। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान गुण पर आवरण लाता है। परिणाम स्वरूप अज्ञान बढ़ाता है। ज्ञान की न्यूनता को भी अज्ञान कहते हैं और स्वरूप अज्ञान में प्रयुक्त “अ” अक्षर अल्प एवं अभाव दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। यह ज्ञानावरणीय कर्म के कारण स्थिति है। परन्तु विकृत या विपरीत ज्ञान की स्थिति सर्वथा भिन्न ही है।

विकृत—या विपरीत ज्ञान में ज्ञान तो है। भले ही वह अपूर्ण—अधूरा हो लेकिन जितना है उतना भी मोहनीय कर्म से आवृत है। आच्छादित है। जितना कपड़ा है वह भी लाल—पीले—काले रंग से रंगा हुआ है। अतः वास्तविक शुद्ध सफेद स्वरूप कपड़े का होते हुए भी दृष्टिगोचर ही नहीं होता है। सत्य तो यह है कि कपड़ा मूल में तो सफेद ही

है। क्योंकि मूल में तन्तु सफेद ही थे। रूई खेती के समय सफेद ही थी। कभी भी कोई भी रूई लाल—पीली—काली पैदा ही नहीं होती है। उत्पन्न ही नहीं होती है। ठीक इसी तरह मूल में ज्ञान सत्यस्वरूप ही होता है। भले ही वह प्रमाण में कम हो या ज्यादा इससे मतलब नहीं है। सोना थोड़ा हो या ज्यादा इस प्रमाण से सुवर्ण की सत्यता—सच्चाई और वास्तविकता में कोई फरक नहीं पड़ता है। वैसे ही ज्ञान प्रमाण में कम हो या ज्यादा उसकी सत्यता—सच्चाई में कोई फरक नहीं पड़ता है। मूलभूत समस्त ज्ञान सत्यस्वरूप—सच्चा ही होता है। परन्तु मोहनीय कर्म उसे अपने मिथ्यात्व के कारण असत्य—भ्रान्त... विपरीत या विकृत कर देता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता से तो मात्र ज्ञान की कम या ज्यादा प्रमाण में मात्रा रहेगी। बस, इससे ज्यादा और क्या? परन्तु ज्ञान विपरीत—विकृत हुआ है तो वह एक मात्र मोहनीय कर्म के कारण। मोहनीय कर्म में दो—तीन प्रकृतियाँ पड़ी हुई हैं। १) मिथ्यात्व मोहनीय, २) सम्यक्त्व मोहनीय, ३) मिश्र मोहनीय। ये तीनों कर्म की



प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से प्रगट ज्ञान को लेकर अपने रंग से रंगकर विकृत—विपरीत बनाकर ही व्यवहार में लाता है। जैसे एक बल्ब से प्रकाश जैसा निकलता है उसके आगे यदि लाल, पीला, हरा पारदर्शक पेपर लगाया जाय तो प्रकाश भी लाल, पीला हरा ही निकलेगा। वैसे ही हमारा ज्ञान अब जो भी, और जितना भी प्रगट होता है वह सब मोहनीय कर्म से, मिथ्यात्व से ग्रसित होकर विकृत एवं विपरीत ही

बन जाता है। चित्र के अनुसार इसे समझने की कोशिश करिए... उदाहरण के लिए एक भगोना (तपेला) हो और उस पर ४—५ छेदवाला ढक्कन फिट किया हुआ हो... अब यदि भाप निकलेगी तो मात्र उन छोटे—छोटे छिद्रों में से ही निकलेगी। उतने ही प्रमाण में निकलेगी। या प्रकाश जो निकलेगा वह उन छिद्रों में से उतना ही और लाल—पीले काँच के कारण वैसा लाल—पीला निकलेगा। ठीक इसी तरह हमारा सारा ज्ञान मोहनीय कर्म

से आवृत्त है—आच्छादित है। अब जितने भी कम—ज्यादा प्रमाण में जो भी ज्ञान बाहर निकलेगा वह मोहनीय कर्म की असरवाला बनकर ही बाहर निकलेगा। या फिर मिथ्यात्व से प्रसित होकर विकृत या विपरीत बनकर बाहर निकलेगा।

सोचिए, सबसे ज्यादा उदय किसका है? मिथ्यात्व का या विषय—कषाय का? विषय वासना के निमित्त मिलने पर प्रकट होता है। और कषाय—क्रोधादि भी तथाप्रकार के निमित्त मिलने पर प्रकट होता है। परन्तु मिथ्यात्व तो सदा काल रहता है। प्रतिक्षण उदय में रहता है। वह निमित्त मिले या न भी मिले तो भी विचार स्तर पर... प्रकट होता ही रहता है। इसलिए विषय—कषाय की अपेक्षा भी मिथ्यात्वी अनेक गुना ज्यादा खतरनाक है। विषयप्रस्त ज्ञान वासना—विकारों से रंगकर वैसा बनकर निकलेगा। कषाय से प्रसित होकर ज्ञान राग—द्वेष के रंग से रंगा हुआ, क्रोधादि से अभिभूत होकर निकलता है। परन्तु मिथ्यात्व के रंग से रंगा हुआ ज्ञान... विकृत और विपरीत होकर निकलता है। सच्चे ज्ञान में आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वों की सच्चाई—वास्तविकता पड़ी हुई है परन्तु मिथ्यात्व के कारण वही ज्ञान विपरीत होकर बाहर निकलता है... कि नहीं... नहीं आपा जैसी कोई चीज है ही नहीं? किसने कहा परमात्मा—या भगवान है? नहीं भगवान—या ईश्वरादि कोई है ही नहीं। और मोक्षादि का तो सवाल ही खड़ा नहीं होता है। किसने देखा है मोक्ष? कौन कहता है मोक्ष है? ऐसे विचारों के सामने यदि आप उत्तर दे दो कि भगवान् सर्वज्ञ प्रभु महावीरस्वामी ने कहा है कि.. आत्मा परमात्मा मोक्षादि है। तो मिथ्यात्वी यहाँ तक कह देगा कि नहीं, नहीं, अरे! महावीरस्वामी ही हुए थे कि नहीं? इसी में शंका है। किसने कहा महावीरस्वामी हुए थे? और यदि हुए भी हो तो वे भगवान बने इसमें क्या प्रमाण है? नहीं, ये सब हंबक—बोगस बातें हैं।

ऐसी कुतर्कों की मायाजाल की विचारधारा को वाणी के व्यापार से बाहर फेंक देना ही उसको आता है। गाढ़ मिथ्यात्व है। क्या करें? यदि उसको पूछें कि... बोलो भाई भगवान कैसे होने चाहिए? तुम्हारे मत से भगवान का स्वरूप कैसा होना चाहिए? तुम कैसे को भगवान कहने के लिए तैयार हो? लेकिन मिथ्यात्वी के पास सत्य ज्ञान है ही कहाँ कि वह उसे प्रगट करें? मिथ्यात्वी के लिए तत्त्वभूत आत्मादि सभी पदार्थों का अभाव ही अभाव है। बस, कुछ है ही नहीं। जो कुछ है वह सब एक मात्र... दृश्यमान जगत ही है। जो कुछ दिखाई देता है इन्द्रियों से देखा—सुना—जाना जाता है, और भोगा जाता है बस, उतना ही संसार है। इससे ज्यादा, इससे परे कुछ भी नहीं है, इसके सिवाय कुछ है ही नहीं? इसलिए निरर्थक क्यों मानना? जानना? समझना? क्यों आचरण करना?

ऐसे मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव की स्थिति कैसी होती होगी ? मात्र क्षणिक सुखभोगों को ही भोगने की उसकी वृत्ति होती है । मिथ्यात्वी दीर्घदर्शी नहीं होता है । विपरीत वृत्तिवाला, विकृत ज्ञानवाला होता है । अतः उसका विकास नहीं होता है । आध्यात्मिक विकास को साधने में वह सर्वथा असमर्थ, असक्षम होता है ।

### आध्यात्मिक विकास में बाधक—मोहनीय कर्म—

अनादि—अनन्त काल से मोहनीय कर्म जो आत्मा पर लगा हुआ है, और उससे ग्रस्त आत्मा मोहवासित हो चुकी है । जैसे पानी का अपना कोई रूप—रंग—स्वाद—गंधादि कुछ भी नहीं है परन्तु निमक मिलने पर खारा, शक्कर मिलने पर मीठा, और त्रिफला मिलने पर तूरा, तथा करेले के साथ कड़वा बन जाता है । लाल रंग के साथ लाल, पीले के साथ पीलापन धारण कर लेता है । ठीक उसी तरह आत्मा भी मूलभूत स्वरूप में न तो मिथ्यात्वी है और न ही रागी—द्वेषी है । न ही क्रोधी, न ही अभिमानी, मायावी लोभी कुछ भी नहीं है । मूल में हमारी आत्मा ज्ञान—दर्शनात्मक—वीतरागी आदि स्वरूपवाली है । परन्तु अनादि—अनन्त काल से मोहनीय कर्म की संगत के कारण उसकी असर के कारण हमारी आत्मा बिल्कुल खारे—मीठे पानी की तरह रागी—द्वेषी—आदि बनकर बैठी है । निम्न तालिका से आत्मा के गुण और मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ तथा उसकी असर में आत्मा की स्थिति देखकर ज्यादा स्पष्ट समझ पाएँगे—

| आत्मा का गुणस्वरूप        | मोहनीय कर्म प्रकृति            | कर्माधीन स्थिति       |
|---------------------------|--------------------------------|-----------------------|
| १) यथार्थ सत्य श्रद्धालु  | मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय कर्म    | जीव मिथ्यात्वी        |
| २) शुद्ध सत्य श्रद्धालु   | मिश्र दर्शन मोहनीय कर्म        | मिश्र दृष्टिवाला      |
| ३) शुद्धतम सत्य श्रद्धालु | सम्यक् दर्शन मोहनीय कर्म       | अशुद्ध श्रद्धालु      |
| ४) सदाकाल क्षमाशील        | अनन्तानुबन्धी क्रोध मो. कर्म   | महाक्रोधी—द्वेषी—वैरी |
| ५) सदाकाल नम्रता          | अनन्तानुबन्धी मान मो. कर्म     | महाअभिमानी            |
| ६) सदाकाल सरलता           | अनन्तानुबन्धी माया मो. कर्म    | महामायावी             |
| ७) सदाकाल संतोष           | अनन्तानुबन्धी लोभ मो. कर्म     | महा लोभी              |
| ८) सदाकाल क्षमावान        | अप्रत्याख्यानीय क्रोध मो. कर्म | तीव्र क्रोधी          |
| ९) सदाकाल विनयी           | अप्रत्याख्यानीय मान मो. कर्म   | तीव्र घमण्डी—मानी     |
| १०) सदाकाल सरल            | अप्रत्याख्यानीय माया मो. कर्म  | तीव्र छल—कपटी         |
| ११) सदाकाल संतुष्ट        | अप्रत्याख्यानीय लोभ मो. कर्म   | तीव्र लोभी            |

|                               |                                  |                        |
|-------------------------------|----------------------------------|------------------------|
| १२) क्षमा-शान्त स्वभाव        | प्रत्याख्यानीय क्रोध मोहनीय कर्म | परिमित क्रोधी          |
| १३) नम्रता-विनय स्वभाव        | प्रत्याख्यानीय मान मोहनीय कर्म   | परिमित मानी-अभिमानी    |
| १४) सरलता का आर्जव भाव        | प्रत्याख्यानीय माया मोहनीय कर्म  | परिमित मायावी, वक्र    |
| १५) निर्लोभ का आर्जव भाव      | प्रत्याख्यानीय लोभ मोहनीय कर्म   | परिमित लोभी, आसक्त     |
| १६) प्रतिक्षण उपशमभाव         | संज्वलन क्रोध मोहनीय कर्म        | स्वल्प क्रोधी          |
| १७) प्रत्येक क्षण नम्र, मृदु  | संज्वलन मान मोहनीय कर्म          | स्वल्प मानी            |
| १८) प्रत्येक क्षण सरल-ऋजु     | संज्वलन माया मोहनीय कर्म         | स्वल्प मायावी          |
| १९) प्रत्येक क्षण अनासक्त भाव | संज्वलन लोभ मोहनीय कर्म          | स्वल्प लोभी            |
| २०) पूर्ण गंभीरतामय           | हास्य नोकषाय मोहनीय कर्म         | हँसी-मजाक करनेवाला     |
| २१) पूर्ण आनन्दमय             | रति नोकषाय मोहनीय कर्म           | पसंद में राजी होनेवाला |
| २२) पूर्ण प्रीति-करुणामय      | अरति नोकषाय मोहनीय कर्म          | अप्रिय में नाराजी      |
| २३) सच्चिदानन्द स्वरूप        | शोक नोकषाय मोहनीय कर्म           | शोक-विशाद-खेद करनेवाला |
| २४) सदा सर्वथा निर्भय         | भय नोकषाय मोहनीय कर्म            | डरपोक, भयभीत           |
| २५) पूर्ण प्रेम               | जुगुप्सा नोकषाय मोहनीय कर्म      | अप्रीति                |
| २६) पूर्ण निर्वेद             | स्त्री वेद मोहनीय                | पुरुष कामी-भोगी        |
| २७) स्त्री-पुरुष भेदभाव रहित  | पुरुष वेद मोहनीय                 | स्त्री कामी-भोगी       |
| २८) निर्विकार-वासना रहित      | नपुंसक वेद मोहनीय                | उभय लिंग भोगी।         |

### उपरोक्त कोष्ठक में ३ विभाग देखें—

१) आत्मा अपने आप में मोहनीय कर्म के आवरण से रहित अवस्था में कैसी शुद्ध स्वरूपी है। कैसी शुद्ध गुणवान है इसका स्पष्ट ख्याल आता है। जैसे पानी अपने मूलभूत स्वभाव में कैसा शुद्ध-निर्मल-पवित्र है? वैसी जीवात्मा क्षमाशील-विनम्र, सरल, संतुष्ट आदि स्वभाववाली है। हास्यादि दोष रहित... गंभीरतादि गुणों से भरपूर है। परन्तु मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति करने से जीव कैसी कैसी कर्म प्रकृतियाँ बांधता है? एक एक प्रकृति का नाम देखने से आपको स्पष्ट ख्याल आ जाएगा कि... आत्मगुणों से कैसी विपरीत भाववाली प्रकृति है। आत्मा की शत्रु जैसी ये कर्म प्रकृतियाँ हैं। आत्मा के जिन गुणों को, जिस स्वभाव को ये रोकती है, आच्छादित करती हैं उस हिसाब से उस उस कर्म प्रकृति का नामकरण हुआ है।

३) तीसरे विभाग में उन—उन कर्म प्रकृतियों को बांधने के बाद जो उदय में आई है उन कर्म प्रकृतियों ने आत्मा की कैसी स्थिति कर दी है ? यह दर्शाया है । गुण और स्वभाव दोनों को ही विकृत करके दोष और विभाव में डाल दी आत्मा को । और आत्मा संसारी अवस्था में वैसी क्रोधी, द्वेषी, वैरी, अभिमानी, घमण्डी, मायावी, कपटी, छल प्रपंची, लोभी, आसक्त बनाती है । दूसरी तरफ स्वभाव बिल्कुल खराब हो जाता है । हा .. हा .. ही .. ही .. हँसी मजाक की वृत्ति, पसंद—नापसंद, प्रीति—अप्रीति, भय—शोक आदि ग्रस्त भयवान्, डरपोक . . . आदि अनेक प्रकार का जीव बन जाता है । उसी तरह स्त्री—पुरुष—विजातीय आकर्षण, काम—भोग और वासना की वृत्तियाँ जगती है । जीव को कामी, विकारी, वासनावाला, भोगी तथा नपुंसक बना देता है ।

**क्या आत्मा का घात संभव है ?—**

ज्ञानावरणीयादि प्रत्येक कर्म आत्मा के ज्ञानादि को आवृत करते हैं । परन्तु मोहनीय कर्म सीधे ही आत्मा के गुणों का घात करता है । यदि एक राजा के राजवंश को समाप्त करना हो और वह भी घात हिंसा न करते हुए समाप्त करना हो तो राजा को, राजकुमार को, राजकन्या को, राजारानी को, पूरे परिवार को गलत रास्ता सिखाकर दुराचारी, व्यसनी, भ्रष्ट—व्यभिचारी बना देने से जल्दी से बिना मारे ही पूरे वंश का सत्यानाश हो जाता है । इतिहास की गर्त में दृष्टिक्षेप करने से ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त दिखाई देंगे जो दुराचार—व्यभिचार में, व्यसन में डूबकर समाप्त हो गए । कोई जुएँ में, कोई शिकार में, कोई शराब में, कोई वेश्याओं में, कोई युद्ध में खुंआर हो गए । कोई परस्त्रीगमन में, कोई विषय—वासना के काम कीड़े बनकर, कोई भ्रष्टाचार में, कोई धन संपत्ति के दुर्व्यय में, तथा कोई सत्ता के मद में—नशे में समाप्त हो गए । उनका खून—हत्या या घात नहीं करना पड़ता है । फिर भी इस तरह समूचे राजवंश का घात—विनाश—सत्यानाश हो जाता है । नाम—निशान भी नहीं रहता है । दुनिया की दृष्टि से वे सर्वथा लोप हो जाते हैं ।

यह तो दृष्टान्त था । ठीक इसी तरह आत्मा का नाश—सत्यानाश कैसे होता है ? जो आत्मा तीनों काल में सदा शाश्वत है । त्रैकालिक नित्य है । अजर—अमर अविनाशी है । नित्य है । उसका नाश तो कभी होता ही नहीं है । द्रव्यरूप सत्ता के अस्तित्व का लोप सर्वथा तो संभव ही नहीं है । अरे ! निगोद की अव्यक्त अवस्था में भी यह आत्मा अपने अस्तित्व को टिकाकर रही । अरे ! आलु—प्याज तो क्या एक अंकुरे में अनन्त, एक फंगस—लीलफूग के एक कण (अंश) में अनन्त जीव साथ में मिलकर रहे उसमें कितने

सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप में जीव रहा... फिर भी वहाँ वह अपना अस्तित्व टिकाकर रहा। सोचिए... अनादि अनन्त काल जीवी, अनुत्पन्न अविनाशी इस शाश्वत आत्मा ने अपना द्रव्यरूप अस्तित्व सदा टिकाकर रखा, बनाकर रखा। सर्वथा अस्तित्व का लोप कभी भी होने नहीं दिया। ऐसी आत्मा का नाश—विनाश या सत्यानाश कभी भी हो ही नहीं सकता है तो फिर सवाल ही कहाँ रहा ?

हाँ, ठीक है, द्रव्य का अस्तित्व से नाश तो किसी भी हालत में, किसी भी स्थिति में, किसी भी तरीके या कारण से हो ही नहीं सकता है। सत्तारूप अस्तित्व का अभाव होना कभी भी संभव ही नहीं है। ऐसा है आत्मा का द्रव्य स्वरूप, जो ध्रुव—नित्य—त्रैकालिक शाश्वत स्वरूप। आखिर आत्मा द्रव्य रूप से अछेद्य—अभेद्य—अदाह्य अकाट्य—अविभाज्य—अविनाशी ध्रुव द्रव्य स्वरूपी है। अतः चेतनात्मा छेदी नहीं जाती। भेदी नहीं जाती। छेदन—भेदन सर्वथा संभव ही नहीं है। जलाकर भी भस्म नहीं की जा सकती है। काटकर जिसके टुकड़े भी नहीं किये जा सकते, तथा विभाग, विभाजन भी जिसका सर्वथा नहीं किया जा सकता, अतः विनाश करना किसी भी स्थिति में संभव ही नहीं है। ऐसी त्रैकालिक सत्तावान ध्रुवस्वभावी अविनाशी—शाश्वत आत्मा द्रव्य स्वरूप से है। अतः सदाकाल इस चेतनात्मा का अस्तित्व समान रूप से है। द्रव्य रूप से अस्तित्व तीनों काल में एक जैसा ही है। द्रव्यरूप से आत्मा अपरिवर्तनशील है। एक अखण्ड—असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। अतः संसार के संसारी जीव का स्वरूप देखें या मुक्त सिद्धात्मा का स्वरूप देखें द्रव्यरूप से दोनों समान है। एकजैसे ही हैं। रस्तीभर या अणुमात्र भी अन्तर नहीं है। द्रव्य से अस्तित्व दोनों का एक जैसा ही है।

परिवर्तन मात्र गुणों में होता है। पर्याय में होता है। गुण बदलते रहते हैं। पर्यायें बदलती रहती हैं। अतः गुण पर्याय की दृष्टि से आत्मा उत्पाद—व्यय युक्त है। परन्तु द्रव्य रूप से ध्रुव नित्य—शाश्वत है।

### गुणघातक मोहनीय कर्म—

जब द्रव्यरूप से आत्मा का घात—नाश संभव ही नहीं है तो फिर गुणघात, और पर्याय नाश हो सकता है। आत्मा के अनन्त गुण हैं। उन गुणों का घातनाश मोहनीयादि कर्मों द्वारा होता है। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान का घात करके अज्ञानी बना देता है। मोहनीय कर्म आत्मा के गुणों का घात करके... दोष युक्त बना देता है। दूसरी तरफ गुणों का घात हो जाने के कारण उत्पन्न दोष के कारण जैसी स्थिति जीवात्मा की बनती है



उस समय पर्याय बदलती है। और आत्मा कषायी, अभिमानी, घमण्डी, मायावी, कपटी, लोभी आदि विभिन्न पर्यायवाली बनती है। ये गुण की बदलती हुई पर्यायें हैं। देह की पर्याय नामकर्मानुसार प्राप्त होती है। आत्मा की देहाकार स्थिति पर्याय नाम कर्म करता है। गुणात्मक परिवर्तन होने के पश्चात् दोषयुक्त पर्याय का रूपान्तर मोहनीय कर्म करता है।

अतः मोहनीय कर्म आत्म गुणों का घातक—नाशक है। लेकिन एक बात जरूर ध्यान में रखिए कि... आत्मा के गुणों का सर्वथा समूल—जड़मूल से नाश—घात कभी हो ही नहीं सकता है। संभव ही नहीं है। 'न भूतो—न भविष्यति' जैसी बात है। फिर भी मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ आत्मा के गुणों का आच्छादन करती हैं। दबा देती हैं। ढक देती हैं। आवृत्त कर देती हैं। बिपरीत स्वरूप में लाकर रख देती हैं। परिणाम स्वरूप आत्मा गुणवान के बदले दोषयुक्त बन जाती है। क्षमाशील के बदले क्रोधी, नम्र—विनयी के बदले मानी—अभिमानी, ऋजु—सरल के बदले मायावी—कपटी, तथा निलोभ—संतुष्ट के बदले लोभी, आसक्त बन जाती है। वीतरागी के बदले रागी—द्वेषी बन जाती है। समस्त जीवों पर प्रेम के बदले वैर—वैमनस्य—द्वेष दुश्मनी रखती है। जीवों पर करुणा—दया रखने के बदले दुर्भाव दुष्टवृत्ति रखती है। दूसरों के गुणों को देखने गुणग्राही, गुणप्रेमी, गुणानुरागी बनने के बदले दोषदर्शी, दोषग्राही, दोषप्रेमी बन जाता है जीव। माध्यस्थ्यभाव के बदले द्वेष—दुर्भाव जगता है। गंभीरता आदि गुणों के बदले हास्यादि का छिछलापन स्वभाव में आता है। निर्विकारी भाव के बदले जीव भोगी—भोगासक्त, भोग भोगनेवाला कीड़ा बन जाता है। निर्भयी—अभयदाता बनने के बदले भयग्रस्त—डरपोक बन जाता है। इस तरह मोहनीय कर्म चेतनात्मा की हालत खराब कर देता है। गुणों का घात—नाश करके दोषों का आरोपण कर देता है। दोषात्मक स्वरूप तो संसार के मोहग्रस्त सभी जीव इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्त स्वरूप हैं। लेकिन दोषरहित, सर्वथा मोहनीय कर्म रहित आत्मा का, सब गुणों की परिपूर्णता का शुद्ध स्वरूप देखना हो तो एक मात्र वीतरागी पूर्णात्मा में ही देखने मिल सकता है। देख सकते हैं। इसीलिए वे संसार से अलग—विलक्षण कक्षा के महापुरुष हैं। उनका ही परमात्मा—भगवान के रूप में आलंबन लेकर आगे बढ़ना चाहिए। तभी वैसी कक्षा आत्मा को प्राप्त हो सकती है। अन्यथा नहीं। रागी—द्वेषी को भगवान—परमात्मा के रूप में स्वीकारने से हमारे सामने आदर्श—और आलंबन वैसे राग—द्वेष के ही बनेंगे। परिणाम स्वरूप हमारे में भी राग—द्वेष ही आएँगे। राग—द्वेष की ही वृद्धि होगी। फायदा नहीं होगा। आगे विकास नहीं होगा। उल्टा विनाश होगा।

“महाजनो येन गतः स पन्थाः” महापुरुष जिस पन्थ पर चले हैं, जिस पन्थ—मार्ग पर आगे बढ़े हैं, विकास साधा है वही पन्थ हमारा भी होना चाहिए। उसी मार्ग पर चलेंगे तो ही उनके जैसे महान बन सकेंगे। महावीर के बताए हुए मार्ग पर चलेंगे तो ही महावीर बन सकेंगे, और किसी गलत पुरुष के मार्ग पर चलेंगे तो वैसा बनने की संभावना पूरी रहती है। अतः हमेशा ऊँचा आदर्श ही दृष्टि समक्ष रखना चाहिए।

### स्वभाव घातक मोहनीय कर्म—

आत्मा का मूलभूत स्वभाव—उसके गुणों पर आधारित है। गुणों का ही बना हुआ स्वभाव होना चाहिए। क्षमा, समता, नम्रता, सरस्रता, संतोष, दया—करुणा आदि आत्मा के जो गुण हैं उनका ही व्यवहार में आचरण—पालन करने से स्वभाव बनता है। जैसे पानी अपने मूल स्वभाव में निर्मल स्वच्छ, पवित्र, शीतल स्वभाववाला, गुणवाला है। ठीक आत्मा भी वैसी ही है। परन्तु जैसे निमक—शक्कर या कीचड़ादि मिलने से पानी खारा, मीठा, मैला, मलीन बनता है वैसे ही चेतनात्मा मोहनीय कर्म के कारण रागी—द्वेषी—क्रोधी—मानी—मायावी विकारी आदि बनती है।

स्व = आत्मा, भाव = उसके गुण। अपनी ही आत्मा के आत्मिक गुणों की मस्ति में रहना यही आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का मूलभूत स्वभाव क्रोधी—मानी—मायावी—लोभी आदि नहीं है। यह तो विभाव है। स्वभाव नहीं इसे विभाव कहना चाहिए। जैसे दूध का अपना मूलभूत स्वभाव और दूध में नीबू का रस मिलने के पश्चात् का स्वभाव दोनों एक ही है? जी नहीं। दूध अमृत जैसा है। परन्तु नीबू के रस से फट जाने के बाद वह कैसा विकृत हो जाता है? ठीक इसी तरह चेतनात्मा अपने मूलभूत स्वभाव से क्षमा—समतादि स्वभाववाली है। परन्तु उपार्जित मोहनीय कर्म के उदय के कारण आत्मा विकृतिवाली बन जाती है। अतः इस विकृति का सूचक “वि” अक्षर (उपसर्ग) भाव शब्द के साथ जोड़कर—या लगाकर ‘विभाव’ शब्द बनता है। विभाव अर्थात् विकृत भाव। क्रोधादि की विकृतिवाला जीव। इसी दृष्टि से क्रोधादि को स्वभाव न कहकर विभाव ही कहना चाहिए। यही सही भाषा है। लेकिन लोक व्यवहार में प्रचलित शब्द स्वभाव का प्रसिद्ध हो गया है। बस, स्वभाव शब्द से ही क्रोधादि की विवक्षा करके व्यवहार किया जा रहा है संसार में। लेकिन वास्तविकता यह है कि क्षमा—समतादि आत्मा का स्वभाव है और क्रोधादि विभाव है। क्रोधादि कषाय मोहनीय कर्मजन्य है। ऐसा मोहनीय कर्म आत्मा के मूलभूत क्षमादि के स्वभाव का घात करता है। अतः घातक है।

तथा परिणाम स्वरूप विभाव (विकृत भाव) पैदा करता है। बनाता है। बढ़ाता है। यह स्वरूप अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और ऐसे मोहनीय कर्म का क्षय करने की, मोहनीय की चुंगुल से अपनी आत्मा को मुक्त कराने की भीष्म प्रतिज्ञा करनी चाहिए। और अन्तिम श्वास तक मोहनीय कर्म के सामने योद्धा बनकर लड़ना चाहिए। तभी मुक्ति हाथ में होगी अन्यथा करोड़ों कोस दूर रहेगी।

### स्वभाव रमणता और विभाव भ्रमणता—

अपनी आत्मा के क्षमा—समतादि स्वभावों में सदा रहना, यह जागृत सावधान साधक का लक्षण है। स्वभाव दशा में रमण करना, यही आत्मा का मुख्य धर्म है। इसीलिए भगवान महावीर ने सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण—चारित्रादि चारित्राचार का धर्म बताया है। संपूर्णरूप से मोहनीय कर्म का क्षय (समूल नाश) करने लिए चारित्राचार, तपाचार आदि के धर्म की संयोजना, व्यवस्था की है। सचमुच यह इतना प्रबल—सक्षम धर्म है कि मोहनीय कर्म की सभी २८ प्रकृतियों की सेना का पूरा सफाया करके ही रहता है। जैसा कर्म है वैसा तदनुरूप धर्म बताया है। बात भी सही है। धर्म कर्म का क्षय करने के अनुरूप ही होना चाहिए। दवाई रोग का क्षय करने के अनुकूल ही होनी चाहिए। साबुन मैल को धोने में सक्षम होना ही चाहिए। ठीक उसी तरह धर्म कर्म का क्षय करने के अनुरूप और अनुकूल—सक्षम—प्रबल कक्षा का ही होना चाहिए।

स्वभाव रमणता, अपने क्षमा—समतादि गुणों में मस्ति यही धर्म है। और क्रोधादि की विभाव दशा में रमणता रखने से संसार की भ्रमणता सदा बढ़ती ही रहती है। परन्तु मोहवश जीव उल्टा विपरीत चलता है। वह स्वभाव के बदले विभाव में रमणता करता है, रखता है। और विभाव क्रोधादि को छोड़ने के बदले और गाढ़ पकड़कर रखता है। जीव को ऐसी भ्रान्ति भ्रमणा हो गई है कि बिना क्रोधादि कषाय किये संसार में जी ही नहीं सकते हैं। इसलिए क्रोध करके किसी पर अपनी धाक जमाता है। आँखे लाल कर गुस्सा दिखाकर किसी के पास अपना काम कराता है। क्रोधावेश में अँगबबूला होकर किसी नोकसिंघ पर अपना रोफ जमाता है। किसीको परास्त कर.. अपने मन को राजी करता है। मान—पान, सत्ता—प्रतिष्ठा, यश—कीर्ति प्राप्त करके अपने मन की संतुष्टि में जीव आनन्द पाता है। मन की पुष्टि में राजी और धारणानुसार मन की पुष्टि—संतुष्टि न होने पर नाराजी शुरू हो जाती है। इसी तरह माया लोभ के भी व्यवहार सेंकड़ों प्रकार के हैं। बस, कषाय किया और अपनी धारणा योजना पूरी हुई कि जीव राजी होता है। कषायों से काम कराके जीव उसमें बड़ापन मानता है।

बड़ा होकर अपने आश्रित और आधीन पर क्रोधादि कोई भी कषाय करना आसान समझता है। करता भी है। बाप बेटे पर, माँ बेटों पर, पति पत्नी पर, सास बहु पर, शेट नोकर पर, राजा मंत्री पर... इत्यादि... इस तरह बड़ा छोटे पर क्रोध मानादि कषाय करना बहुत ही आसान समझता है। इतना ही नहीं, कषाय करने का अपना अधिकार समझता है। बस, क्रोधादि किया और अपना काम करवा लिया। अपनी इच्छा पूरी की। धारणानुसार काम हो जाने पर उसमें अपनी विजय पाने में वह जीव निरर्थक राजी होता है। पिंजरे में सिंह बैठ ही रहा था, बैठने जा रहा था कि बाहर से बच्चे ने चिल्लाया... ऐ! बैठ जा... और सिंह बैठ गया। (वह तो पहले ही अपने आप बैठ ही रहा था) बस, इतने में बच्चा सबको कहता है... देखा! मेरा कौन नहीं मानता है... सब मानते हैं अरे देखो यह जंगल का राजा सिंह भी मानता है। मैं कहूँ तो बैठ जाता है। वाह... क्या बात है! क्या कमाल है! बस, निरर्थक अपने अहंकार को बढ़ाता है। अभिमान को पोषता है।

अहंभाव की पुष्टि में, क्रोधादि की पुष्टि में, माया—लोभ से कार्य सिद्धि में जीव आनन्द मानता है। सुख मानता है। अपने मान को बढ़ाता है। बस, इसीमें कार्य सिद्धि और इसीमें सातवे स्वर्ग का राज्य—सुख प्राप्त हो गया ऐसा निरर्थक मानकर फूला नहीं समाता है। उसे यह नहीं मालूम है कि कार्य तो क्षणिक है, परन्तु मुझे जो भारी व चिकने कर्मों का बंध होगा वह कितने वर्षों का होगा? कितने जन्मों—वर्षों तक उस कर्म का फल भुगतना पड़ेगा? किस तरह भुगतना पड़ेगा? भुगतते समय मेरी क्या हालत होगी? बस, कुछ भी विचार न करना कषाय में अंधा बना हुआ क्रोधान्ध, मोहान्ध बना हुआ जीव क्षणिक सुख सन्तुष्टि के लिए सब कुछ कर देता है।

- १) स्वभाव में रमणता करनेवाला साधक जीव।
- २) विभाव में भ्रमणता करनेवाला विराधक जीव।
- ३) स्वभाव में सर्वथा न रहनेवाला विराधक जीव।
- ४) विभाव में सर्वथा न रहनेवाला साधक जीव।

इस तरह संसार में सब प्रकार के जीव हैं। जिसकी जैसी वृत्ति—प्रवृत्ति वैसी कक्षा का वह कहलाता है। इस स्वभाव—विभाव के कारण कोई साधक और कोई विराधक कहलाता है। साधक संसार को पार कर मुक्ति की तरफ प्रयाण करता है। एक एक गुणस्थान आगे बढ़ता है। तथा विराधक मुक्ति से उतना ही दूर जाता है। अपना संसार

भव—परिभ्रमण बढ़ाता है। एक एक गुणस्थान नीचे उतरते उतरते पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर भी जाकर गिरता है। वहीं काफी काल बिता देता है।

### संसार बढ़ानेवाले कषाय—

कषायों का मुख्य कार्य है संसार बढ़ाना, भव—परिभ्रमण बढ़ाते जाना। जब जब जीव क्रोध—मान—माया—लोभ—राग—द्वेषादि करता जाता है, बढ़ाता ही जाता है तब तब निश्चितरूप से संसार बढ़ाता ही जाता है। मोहनीय कर्म में मुख्य राजा कषाय ही है। मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में १६ प्रकृतियाँ कषाय की हैं। यद्यपि हम मिथ्यात्व को भी मुख्य राजा कह सकते हैं, मिथ्यात्व होने पर कषाय, और मिथ्यात्व के न होने पर कषाय, इस तरह दो विभाग करने से काफी अच्छी तरह ख्याल आ सकता है।

### कषाय

१) मिथ्यात्व होने पर

२) मिथ्यात्व न होनेपर

अनन्तानुबन्धी ४ कषाय

अप्र. प्र. सं. के १२ कषाय

इस तरह दो विभागों में तुलना करने पर मिथ्यात्व के होने पर मात्र ४ ही कषाय हैं। यहाँ संख्या जरूर छोटी लगती है। परन्तु अनन्तानुबन्धी की कक्षा—मात्रा होने पर, ये अनन्तानुबन्धी कषाय भवोभव—जन्मोजनम का संसार बढ़ानेवाले हैं। दूसरी तरफ मिथ्यात्व के अभाव में अर्थात् सम्यक्त्व की उपस्थिति में १२ कषाय हैं। ४ अप्रत्याख्यानीय के, + ४ प्रत्याख्यानीय के + ४ संज्वलन के, इन १२ कषायों में काल मर्यादा काफी कम है। ज्यादा से ज्यादा १ वर्ष की ही अवधि के हैं। अप्रत्याख्यानीय चारों कषायों की कालअवधि— १ वर्ष की, प्रत्याख्यानीय चारों की कालअवधि ४ मास की, और संज्वलन के चारों कषायों की कालअवधि मात्र १५ दिन की है। इसलिए अप्र. प्र. और सं. तीनों प्रकार के कषाय भले ही मिलकर संख्या में १२ जरूर होते हैं, परन्तु ज्यादा से ज्यादा १ वर्ष तक की काल अवधि है। इसीलिए जैन शासन में संवत्सरी प्रतिक्रमण एक वर्ष के अन्त में रखा है। संवत्सरी का अर्थ है संवत्, —वर्ष। इसलिए इसे वार्षिक प्रतिक्रमण कहा है। संवत्सरी प्रतिक्रमण करने से... क्षमायाचना पूर्वक मिच्छामिदुक्कडं देने से इन अनन्तानुबन्धी ४ प्रकार के कषायों से बच सकते हैं। छूट सकते हैं। अन्य १२ कषायों की क्षमायाचना होती है। आखिर धर्म की शुरुआत ही चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान से होती है। इसके पहले तो जीव मिथ्यात्वी ही है। क्योंकि श्रद्धा ही सम्यक्त्व से जगती है। प्राप्त होती है। बिना श्रद्धा के शुरुआत ही नहीं होती है। मिथ्यात्वी जीव में देव, गुरु

और धर्म तथा तत्त्वों के प्रति अंश मात्र भी श्रद्धा ही नहीं है। वह मानने के लिए ही तैयार नहीं है। जानने के लिए या उन्हें पहचानने के लिए ही तैयार नहीं है। फिर सवाल ही कहाँ खड़ा होता है ? मिथ्यात्वी को एक मात्र अपने संसार के सुखों से मतलब है। अतः वह सुखस्वार्थी कहलाता है। जिसमें उसे सुख मिलता हो, दुःखों की निवृत्ति होती हो। अरे ! वह चाहे धर्म के नाम से या धर्म के रास्ते से भी होती हो तो वह करने के लिए तैयार है। कर भी लेगा। परन्तु मानने की, श्रद्धा की कोई भावना नहीं है। कोई बात ही नहीं है। मिथ्यात्वी को श्रद्धा—मानने और जानने आदि किसी बात से कोई मतबल ही नहीं है। ऐसा मिथ्यात्वग्रस्त विपरीत मतिवाला जीव क्या करेगा ?

हाँ, सम्यग् दृष्टि जीव जिसने श्रद्धा धारण की है। मिथ्यात्व सर्वथा छोड़ दिया है। अतः मिथ्यात्व की विपरीत मति उल्टी बुद्धि अब नहीं है। अतः मिथ्यात्वी जो देव—गुरु—धर्म से विमुख—विपरीत था, वह अब सम्यक्त्वी बनकर देव—गुरु—धर्म के समुख बन गया है। ज्ञान भी सही सम्यग् बना, मानने की श्रद्धा भी सही सच्ची बनी, और आचरण भी सुधरने लगा। आचरण में से पाप का प्रमाण घटने लगता है। इस तरह विकासयात्रा के श्रीगणेश होते जाते हैं।

### मिथ्यात्व और कषाय का संबंध—

मिथ्यात्व और कषाय का गाढ संबंध है। विशेष कर अनन्तानुबंधी कषाय के साथ गाढ संबंध मिथ्यात्व का है। दोनों ही एक दूसरे के लिए हैं। मिथ्यात्वी अनन्तानुबंधी कषाय करता है। और अनन्तानुबंधी कषाय करनेवाला मिथ्यात्वी बनता है। इस तरह कषाय से मिथ्यात्व की वृद्धि, और मिथ्यात्व से कषाय की वृद्धि होती ही रहती है। इस तरह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों की मित्रता बड़ी भारी है। मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी कषाय के बिना जो ही नहीं सकता है। इसीलिए यदि अनन्तानुबंधी कषाय की चारों कर्म प्रकृतियों का क्षय हो जाय तो मिथ्यात्व टिक ही नहीं सकता है। क्षय हो जाता है। इसलिए खास करके साधक को जो आत्मजागृति के विषय में ज्यादा सावधान है उसे सबसे ज्यादा कषायों से सावधान रहना ही चाहिए। जो तीव्र कषायों से बचता है वही मिथ्यात्व से काफी अच्छे प्रमाण में बच सकता है। इसी तरह कषाय से बचकर मिथ्यात्व के निमित्तों से भी बचना ही चाहिए। मिथ्यात्व का चेप मिथ्यात्वियों की संगत से लगता है। अतः उनकी संगत से संबंध से पहले बचना चाहिए। मिथ्यात्वी जीवों के विचार विपरीत प्रकार के होते हैं। सचमुच मिथ्यात्व की निपज विचारों में होती है। और

वाणी भाषा के माध्यम से बाहर निकलते हैं। भाषा दूसरों तक जाती है। दूसरे भी उस भाषा को ग्रहण करके वैसे विचारवाले बनते हैं। परिणामस्वरूप... मिथ्यात्व का चेप लगता है। फैलावा बढ़ता है। अतः सच्चे सम्यग् दृष्टि साधक को ऐसे मिथ्यात्वियों की संगत—मित्रता से पहले बचना चाहिए। उनके विचारों को ग्रहण ही नहीं करने चाहिए। क्योंकि मिथ्यात्व बढ़ेगा... तो उसके आधार पर श्रद्धा समाप्त हो जाएगी। अध्यवसाय भाव—सब टूट जाएंगे। बड़ी मुश्किल से जिस असंभव को संभव किया वह सम्यक्त्व नष्ट हो जाय, चला जाय तो मोक्ष के सोपानों से वापिस उतरकर... जीव संसार के प्रति गाढ आसक्ति पैदा कर देगा। फिर कषायों का आश्रय लेकर ही जीएगा। और कषायों का रस बढ़ने पर कर्म बंध पुनः उत्कृष्ट स्थितियों का बंधने लग जाय तो संसार—भव परंपरा फिर बहुत लम्बा—चौड़ा बढ़ जाएगा। गेंहू का आटा लेकर उसमें पानी—घी—तेलादि डालकर पिण्ड बनाकर जैसे रोटी बनाई जाती है। ठीक उसी तरह कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर जीव उन में कषायों का रस डलता है। साथ ही आर्त—रौद्रादि ध्यान की परिणति का रस (पानी) लेश्याओं की तरतमता का रसादि उसमें मिलाकर जीव अपने आत्मप्रदेशों के साथ एकरस कर बांधता है तब कर्म का बंध होता है। अतः सर्वथा कषायों से बचनेवाला जीव अपना भवसंसार ज्यादा नहीं बढ़ाता है क्योंकि भारी कर्मों को वह नहीं बांधता है।

### सभी कर्मों का कारणभूत कर्म—

आप अच्छी तरह जानते ही हैं कि कर्म ८ हैं। इन आठ कर्मों में राजा मोहनीय कर्म है। यही सबसे ज्यादा खतरनाक है। अवान्तर प्रकृतियों की संख्या की दृष्टि से... भले ही नामकर्म की प्रकृतियाँ १०३ की संख्या में ज्यादा हो। परन्तु नाम कर्म का मुख्य कार्य जीव को गति—जाति शरीरादि देने का है। इसलिए यह बेचारा भवभ्रमण संसार बढ़ानेवाला कर्म नहीं है। शेष सभी कर्मों की प्रकृतियाँ कम संख्या में छोटी—छोटी हैं। नामकर्म के बाद संख्या में दूसरा नंबर मोहनीय कर्म का आता है। इसकी अपनी २८ अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। संख्या की दृष्टि से ये भले ही नामकर्म की तुलना में कम हो परन्तु एक—एक प्रकृति इतनी ज्यादा खतरनाक है कि वे अनेकगुना—असंख्य वर्षों का भव संसार बढ़ा दे। उनमें भी विशेषकर मिथ्यात्व और कषाय की प्रकृतियाँ तो सबसे ज्यादा खतरनाक हैं। नोकषाय की कुछ कम और वेद मोहनीय की भी इतनी भयंकर है कि पूरी जिन्दगी भर सताती रहती है।

८ कर्मों में घाति—तथा अघाती के जो दो विभाजन किये हैं उससे भी स्पष्ट ख्याल आ जाता है । ४ घाती कर्मों में ज्ञाना. दर्श. मो. और अंतराय ये चारों कर्म आत्मा के मूल गुणों का घात करके कर्मबंध भी बहुत भारी कराते हैं ।

बंध हेतु तथा आश्रव की दृष्टि से देखने पर भी— एक मात्र मोहनीय कर्म की अनेक विध प्रवृत्तियों के आधार पर शेष सातों कर्म का बंध होता है । उदाहरण के लिए देखिए ... मोहनीय कर्म की मुख्य प्रवृत्ति मिथ्यात्व, कषाय और विषय इनके आधार पर इनकि जो भी कोई प्रवृत्ति की जाय ... उनसे ज्ञाना. दर्शना. दोनों का बंध होता है । मोहनीय के ही आश्रव और बंध हेतु है इसलिए पुनः मोहनीय कर्म का बंध तो होगा ही । अन्तराय कर्म का बंध भी कषायों आदि के आधार पर होता ही है । इसी तरह नाम कर्म का बंध भी मोहनीय की प्रवृत्तियों के आधार पर होता है । और गोत्र कर्म उच्च—नीच गोत्र का बंध भी कषायों के बंध हेतु और आश्रव पर आधारित है । वेदनीय कर्म में शाता—अशाता का बंध भी कषायों पर आश्रित है । और अन्त में आयुष्य की चारों प्रकृतियों का आधार ... भी कषायों पर ही है । स्पष्ट कहा है कि क्रोध प्रायः नरक गति का आयुष्य बंधाता है । माया कपट प्रायः तिर्यच गति का आयुष्य बंधाता है । लोभ प्रायः देव गति का आयुष्य बंधाता है । और मान मनुष्य गति में कारण बनता है । इस तरह आठों कर्मों का बंध मोहनीय कर्म की प्रवृत्तिरूप आश्रव तथा बंधहेतु से होता है ।

### आश्रव और बंध हेतु—

कर्मों के उदय में तथाप्रकार की जो जो प्रवृत्तियाँ की जाती हैं । वे प्रवृत्तियाँ पुनः उस कर्म तथा सभी कर्मों के लिए आश्रवभूत कारण बन जाती हैं । आश्रव और बंध हेतु दोनों अलग—अलग तत्त्व हैं । नौ तत्त्वों में आश्रव और बन्ध दोनों की स्वतंत्र गणना अलग—अलग की है । दोनों के कार्य क्षेत्र भी अलग—अलग हैं । आश्रव का कार्य पहले है । बाद में बंध ।

आश्रव में प्रवृत्ति द्वारा कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आगमन होता है । और बंध में धुल—मिलकर आत्म प्रदेशों के साथ उन कर्मण परमाणुओं का बंध होता है । एकरसी भाव होता है । जैसे उदाहरण के लिए दूधभरे एक ग्लास में शक्कर डालना यह आश्रव है । और फिर चम्मच से मिलाकर घोल—घोल कर शक्कर के कण—कण को पिघलाकर पूरे दूध को .. और शक्कर को एक रस बना देना—यह बंध है । बंध में शक्कर के कणों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है । वैसे ही कर्मण वर्गणा के परमाणुओं का भी



अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है आत्मा के प्रदेशों के साथ घुल—मिलकर ऐसे एक रस हो जाते हैं कि आत्मा के असंख्य प्रदेशों को आवृत्त कर लेते हैं। जैसे एक लिटर दूध को एक चम्मच शक्कर मीठा बना देती है। पूरा दूध ऊपर से नीचे तक का सारा... मीठा ही मीठा लगता है। अब मीठापन पूरे दूध पर चारों तरफ से छा गया है। दूध के मूलभूत स्वाद को शक्कर ने सर्वथा समाप्त ही कर दिया और अपना मीठापन—अपना शक्कर का स्वाद दूध पर जमा दिया है।

ठीक इसी तरह आत्मा और कर्म के बंध की बात है। दूध और शक्कर के दृष्टान्त से सरलता से समझा जा सकता है। दूध की जगह पर आत्मा तथा कर्म की जगह पर... शक्कर। इस तरह दोनों के मिश्रण—संमिश्रण की प्रक्रिया को आश्रय बंध के साथ मिलाकर देखना है। उपमा उपमेय की सादृश्यता से वस्तु स्वरूप का ख्याल आ सकता है। दूध में शक्कर के कण घूलकर एक रस बनते हैं जबकि आत्मप्रदेशों में कर्मण वर्गणा के परमाणु घुल—मिलकर एक रस बनते हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा... कि आत्मा के प्रदेश तो है मात्र असंख्य और कर्मण वर्गणा के परमाणु उसमें आकर घुल—मिलकर एक रस बनते हैं—अनन्तानन्त। जैसे एक लिटर दूध में १ चम्मच, १० चम्मच, १०० चम्मच शक्कर भी मिल सकती है। सोचिए १ चम्मच में शक्कर के कण कितने होंगे? अंदाजन ५०० कण भी गिने तो १०० चम्मच में कुल मिलाकर  $१०० \times ५०० = ५००००$  कण अंदाजन हो सकते हैं। वे सब पिघलकर—घुल—मिलकर दूध में मिल गए। अब दूढ़ने भी जाएं तो एक का भी स्वतंत्र कण के रूप में अस्तित्व बचा नहीं है। सब पिघल गए हैं। अब सोचिए दूध में मिठास कितनी बढ़ी? क्या अब दूध के मूलभूत स्वाद का अंशमात्र भी पता लगना संभव है? जी नहीं।

ठीक इसी तरह आत्मा के असंख्य प्रदेशों में कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का मिलना है। शक्कर के कण तो काफी बड़े स्थूल थे। लेकिन कर्मण वर्गणा के परमाणु तो कण रूप स्थूल नहीं परन्तु संसार में सब प्रकार के परमाणुओं में सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु कर्मण वर्गणा के ही हैं। बस, सूक्ष्मातिसूक्ष्मता की अन्तिम कक्षा आ गई। इससे ज्यादा सूक्ष्म संसार में अब कोई परमाणु, या किसी भी प्रकार का परमाणु है ही नहीं। ऐसे इस प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मण वर्गणा के अनन्तानन्त परमाणु शक्कर की तरह घुल—मिलकर आत्म प्रदेशों के साथ एक रस बन चुके हैं। अब आप ही सोचिए... आत्मा के प्रदेश तो हैं सिर्फ असंख्य ही, और कर्मण वर्गणा के परमाणु आत्मा पर हैं अनन्तानन्त। ऐसी स्थिती में ये अनन्तानन्त कर्मण वर्गणा के परमाणु घुल—मिलकर जब आत्म प्रदेशों

के साथ एक रसी भाव हो जाते हैं तो आत्मा के मूलभूत ज्ञानादि गुणों का आस्वाद कितने प्रमाण में बचेगा ? क्या अंशमात्र भी आत्मगुणों का स्वाद—प्रकाश बाहर आएगा ? क्या संभव भी है ?

ये जितने अनन्तानन्त कार्मण परमाणु है इन्होंने जितना ज्यादा बड़ा आवरण बना दिया है आत्मा पर स्तर (Cotting) बना दिया है । जैसे दिवाल पर रंग का स्तर १, २, ४, ६, आदि लगाया जाता है । ठीक उसी तरह आत्मप्रदेशों पर ... कार्मण परमाणुओं का स्तर (Cotting) बनता है । वही आवरण (परदे) की तरह रहता है । न मालूम कितनी संख्या में स्तरों के आवरण रूप परदे होंगे ? इनसे आत्मा के गुण ज्ञानादि कितने ज्यादा दब चुके होंगे ? और आत्मा पर ऐसे कर्म के अनन्तगुने अनन्तानन्त स्तर (थर) बन चुके हों । उनमें से अब आत्मा के ज्ञानादि गुणों का प्रकाश बाहर आता होगा ? इसके उत्तर में भ. महावीर फरमाते हैं कि अनन्त कर्म के आवरण के नीचे से आत्मा का जितना अनन्त ज्ञान है उसका मात्र अनन्तवे भाग का ही ज्ञान प्रकाश बाहर आता है । जितने जितने कर्मावरण के आवरण स्तर कम होते, क्षय होते जाएंगे उतना—उतना प्रकाश का प्रमाण बढ़ता ही जाएगा । यदि कर्मों के स्तर का अंशमात्र भी क्षय नहीं होता है और अनन्तगुना आवरण कर्म का ऐसे ही पड़ा हो तो निश्चित समझिये की अनन्तवे भाग का ही ज्ञानादि गुणों का प्रकाश बाहर आएगा ।

अनन्तज्ञानी उनको ही कहते हैं जिनके अनन्तानन्त सभी कर्मावरणों के स्तरों का सर्वथा आत्यन्तिक क्षय—नाश हो चुका हो और फलस्वरूप अनन्तगुना ज्ञान प्रगट हो जाता है । बस, वे ही अरिहंत—सिद्ध भगवान कहलाते हैं । और शेष हमारे जैसे जीव अनन्तज्ञानी नहीं परन्तु अनन्त कर्मों कहलाते हैं । यह तो आत्मा ही अपने मूलभूत स्वभाव में ऐसा द्रव्य था कि अनन्तानन्त कार्मण परमाणुओं के स्तरों के होने के बावजूद भी अपना मूलस्वरूप अस्तित्व टिकाकर रख सका । अन्यथा संभव ही नहीं था । यही आत्मा का पारिणामिक भाव है । और द्रव्य स्वरूप की ध्रुवता—नित्यता का आधार है । यदि चेतनात्मा अपने मूल स्वरूप में ध्रुव नित्यरूप में शाश्वत नहीं होती और मात्र पर्याय रूप ही होती और उसमें उत्पाद—व्ययादि ही होते रहते तो ... अनन्त ज्ञानादि कहाँ टिकते ? किसके आधार पर टिकते ? और कार्मण वर्गणा का अनन्त परमाणुओं का स्तर भी कहाँ टिकता ? इसलिए चेतन आत्मा को मानना अनिवार्य है और उससे भी ज्यादा अनेक गुना उसको जैसी है वैसी शुद्ध स्वरूप में मानने की आवश्यकता है । अतः आत्मा को ध्रुव—शाश्वत—नित्य स्वरूप में मानना अनेक गुना ज्यादा जरूरी है ।

## आश्रव-और बंध के बीच समानता—

दूध—शक्कर के दृष्टांत की तरह, हम जो कुछ खाते—पीते हैं। उसमें ली जाती रोटी—दाल—चावल—सब्जी—पानी—आदि पेट में डालना—भरना यह आश्रव रूप है। फिर शरीर में पाचन होकर एकरस बनकर खून में घुल—मिल जाना यह बंध है। आश्रव हुए बिना बंध कैसे होगा? इसलिए बंध के पहले आश्रव—कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आगमन होना जरूरी है। ऐसा आश्रव क्रियात्मक है। नवतत्त्व में आश्रव के भेद दर्शाए गए हैं।

इन्द्रिय—कषाय—अव्यय—जोगा—पंच—चउ—पंच—तिन्नी कमा।

किरियाओ पणवीसं, इमाउ ताओ अणुवकमसो ॥

इन्द्रियाश्रव—५, + कषायाश्रव—४, + अव्ययाश्रव—५, + योगाश्रव—३, + और क्रियाश्रव—२५ = ४२ प्रकार के आश्रव बताए गए हैं। इन ४२ रास्तों से आत्मा में कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु आते हैं। प्रवेश करते हैं। आश्रव के ये रास्ते हैं। इन ४२ प्रकार की क्रिया प्रवृत्ति से आत्मा में आए हुए कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु फिर घुलकर एकरस बनेंगे वह बंध कहलाएगा। (विशद वर्णन तीसरे अध्याय में से सचित्र पढ़िए)

## बंध और बंधहेतु—

कर्म बंध और बंध के हेतुओं में अन्तर है। कर्म बंध ४ प्रकार का है।

बंधो चउ विगणो अ।

पयइ—ठिई—अणुभाग, एस भेएहि नायव्वो ॥

—१ प्रकृति बंध, २ स्थिति बंध, ३ अनुभाग (रस) बंध, और ४ था प्रदेश बंध। ये चार प्रकार के बंध हैं। चारों बंधों की व्याख्या देते हुए आगे की गाथा में स्पष्टीकरण किया है—

पयइ सहावो वुत्तो, ठिइ कालावहारणं।

अणुभागो रसो णेओ, एसो दल संचओ ॥

१) कर्म के स्वभाव को प्रकृति बंध कहते हैं। २) काल अवधि का निर्धारण यह स्थिति बंध है। ३) रस को अनुभाग बंध, और ४) कर्मण वर्गणा के दलिकों प्रदेशों के संचय को प्रदेश बंध कहते हैं। यह चौथा प्रदेशबंध जिसमें दल संचय होता है। यह आश्रव के जैसा है। आश्रव की समानता इस प्रदेश बंध के जैसी है। आत्म प्रदेशों के

साथ कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का संचय—संबंध होना । इसके बाद बंध के हेतु उन्हें घुल—मिलाकर एक रस बना देते हैं ।

बंध हेतु तत्त्वार्थकार ने ५ प्रकार के बताए हैं—

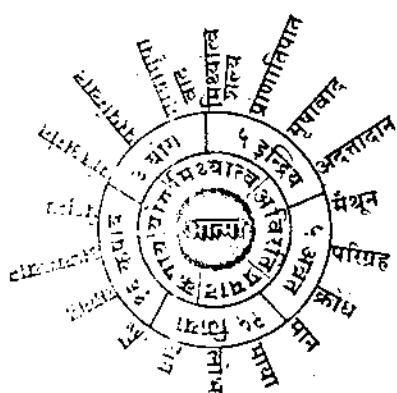
“मिथ्यात्व—अविरति—प्रमाद—कषाय—योगा बन्धहेतवः ॥”

१) मिथ्यात्व, २) अविरति, ३) प्रमाद, ४) कषाय, और ५) योग ये पाँच बंध के हेतु हैं । यहाँ हेतु शब्द कारण अर्थ में है । आश्रव के आगमन द्वार के बाद जब कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु आत्मप्रदेशों के साथ एक रस होते हैं, तब ये बंध हेतु... उन्हें घोलकर एक रस करते हैं । तद्रूप बनाते हैं ।

आश्रव और बंध हेतुओं के बीच समानता—विषमता कितनी है ? कितने प्रमाण में है ? इसका स्पष्ट ख्याल दोनों के प्रकारों को देखने से स्पष्ट रूप से आ सकता है । आश्रव में भी कषाय, अव्रत, योग है और बंधहेतु में भी कषाय, योग और अव्रत के अर्थ में प्रमादादि ग्रहण किये हैं । अतः दोनों में तीन अंशों में समानता आती है । इससे यह स्पष्ट होता है कि... कषाय—योग—अव्रत (प्रमादादि) कर्म परमाणुओं का आश्रव भी करते हैं । आकर्षण करते हैं । र्छांचकर लाते हैं और ये ही बंध हेतु के रूप में पुनः उन्हें आत्मा के साथ बांधते भी हैं । ये कषायादि दोनों प्रक्रिया में कारणभूत बनने से कर्म के बंधादि की प्रक्रिया सदा काल चलती ही रहेगी ।

यदि बचना हो और इन प्रक्रियाओं को रोकना हो तो निश्चित रूप से सर्व प्रथम—आश्रव की प्रक्रिया को रोकनी चाहिए । और बाद में बंध हेतु बंद करने चाहिए । आश्रव की प्रक्रिया को रोकने के लिए संवर का धर्म बताया है, और बंध के हेतुओं से बचने के लिए निर्जरा की प्रक्रिया बताई है । जिससे दोनों से बचा जा सकता है । कषाय—प्रमाद—योगादि जब दोनों में समान रूप से समाविष्ट हैं तब इनसे बचने पर आश्रव—और बंध दोनों से बचा जा सकता है । दोनों ही आत्मा के घातक शत्रु हैं । आत्म गुणों का घात—नाश करके भारी कर्म बंधाकर... आत्मा को संसार के ८४ के चक्र में घुमाने भटकानेवाले हैं । अतः इन्हें अच्छी तरह पहचानकर यथाशीघ्र बड़ी सावधानी पूर्वक बताए हुए संवर और निर्जरा की धर्मसाधना से आश्रव और बंध को रोकना चाहिए । इनसे बचना ही चाहिए । तो ही आत्मा का विकास होना संभव है ।

## आश्रव और बंध हेतुओं में मोहनीय कर्म—



आश्रव के इन्द्रियाश्रवादि मूल ५ प्रकार तथा अवान्तर ४२ प्रकार आपने देखें। तथा बंध हेतु के भी मिथ्यात्वादि मुख्य पाँचों प्रकार देखें। उनके भी अवान्तर भेद अनेक हैं। इन सबको आप अच्छि तरह देखिए... सब प्रकारों को बहुत अच्छि तरह समझकर पहचान लीजिए। आपको स्पष्ट लगेगा कि... ये सब एक मात्र मोहनीय कर्म की ही प्रवृत्ति है। इन

सब प्रवृत्तियों में अन्य दूसरा कोई कर्म अभी बीच में आ भी नहीं रहा है। एक मात्र मोहनीय कर्म ने अपनी जाल बिछा रखी है। १८ पापस्थान की सब प्रकार की प्रवृत्तियाँ एकमात्र मोहनीय कर्म की ही है। इनमें अन्य कोई कर्म अभी बीच में ही नहीं आ रहा है। इन १८ प्रकार के हिंसा—झूठ—चोरी आदि के सभी प्रकार के पापों की प्रवृत्तियों में ४२ प्रकार के आश्रवों की प्रवृत्तियों का, तथा मिथ्यात्वादि बंध हेतुओं का सब का समावेश हो जाता है। सबकी प्रवृत्तियाँ साथ ही होती हैं।

उदाहरणार्थ— पहला प्राणातिपात का पापस्थान है। जिसमें प्राणियों का वध—हिंसादि होती है। इसमें ४२ प्रकार के आश्रवों में से अवताराश्रव और २५ प्रकार की क्रियाओं में से प्राणातिपातिकी—परितापनिकी आदि क्रियाओं की गणना साथ ही होगी। तथा बंध हेतु में जो अविरति नामक बंधहेतु है उसके प्रथम प्रकार के अविरति का हेतु इसी में समा जाएगा। इस प्रकार प्राणातिपातिकी क्रिया प्रवृत्ति से जिस प्रकार के कर्म का बंध होगा वह बड़ा भारी होगा। यह प्राणातिपातिकी क्रिया—प्रवृत्ति राग—द्वेष—कषायादि पूर्वक होती है इसलिए मोहनीय कर्म के घर की प्रवृत्ति कहलाती है। याद रखिये, जिस जिस प्रकार की प्रवृत्तियों में जितने—जितने प्रमाण में जब जब राग—द्वेष की मात्रा जितने कम—ज्यादा मात्रा में रहेगी कषायादि भी जितनी मात्रा में होते रहेंगे निश्चित समझिए कि.. वह प्रवृत्ति मोहनीय कर्म की ही है। और इस प्रकार की प्रवृत्ति से निश्चितरूप से कर्मों का बंध होगा ही। और बिना राग—द्वेष की हमारी कौन सी प्रवृत्ति है? पूरी २४ घण्टे की एक दिन की दिनचर्या की सभी प्रवृत्तियाँ देख लीजिए शायद एक भी प्रवृत्ति बिना राग—द्वेष

की मिलेगी ही नहीं। कम—ज्यादा मात्रा में सब में राग—द्वेष का अंश तो साथ में घुला हुआ ही मिलेगा। बस, निश्चित समझिए कि वह प्रवृत्ति मोहनीय कर्म की है। और कर्मबंध भी निश्चित ही होगा।

दूसरा पापस्थान झूठ, तीसरा चोरी का पाप है। अच्छी तरह से देख लीजिए क्या इनमें राग—द्वेष की मात्रा का अंश है कि नहीं? अवश्य लगेगा। क्या बिना राग—द्वेष के आप झूठ बोल सकेंगे? बोला जा सकेगा? जी नहीं, कभी भी संभव ही नहीं है। राग—द्वेष की वृत्तियों के बिना कभी भी झूठ—चोरी संभव ही नहीं है। अब आश्रव के भेदों में अवताश्रव में तथा बंध हेतु में अविरति में इन झूठ—चोरी की प्रवृत्ति का पूरी तरह समावेश किया हुआ है। अतः झूठ—चोरी आदि पापों के सेवन से निश्चित रूप से कर्म का बंध होगा। और वह भी मोहनीय कर्म का बंध होगा तथा साथ में अन्य कर्मों का भी बंध होगा ही।

१८ पापों में चौथा पापस्थान मैथुन सेवन का है। आश्रव में भी इन्द्रियाश्रव तथा अवताश्रव में इस पाप का स्थान पड़ा है। इन्द्रियाश्रव सहायक है। इसी तरह बंध हेतुओं में भी अविरति के भेदों तथा प्रमाद के भेदों में इसकी गणना स्पष्टरूप से की गई है। दूसरी तरफ मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में—वेदमोहनीय का स्वतंत्र विभाग है। इसमें तीन प्रकृतियाँ हैं। १) स्त्री वेद, २) पुरुष वेद, और ३) नपुंसक वेद। ये प्रकृतियाँ विषय—वासना की काम क्रीड़ा करवाती हैं। विजातीय का विशेष आकर्षण खड़ा करके उसके साथ शरीर संबंध से सुख भोग भोगने की इच्छा—प्रवृत्ति कराती हैं। इसमें रागभाव की बहुलता रहती है। इस वेद मोहनीय की तीव्रता और उदय की तीव्रता के कारण कई जीव अपनी वासना पर नियंत्रण नहीं कर पाते हैं और परिणाम स्वरूप बलात्कार, दुराचार, व्यभिचार आदि की प्रवृत्तियाँ कर लेते हैं। यदि मोहनीय कर्म के निवारण का कोई भी उपाय वह जानता होता, या उसके पास मोहनीय के सामने टिकने की कोई धर्म प्रवृत्ति, प्रबल ज्ञान—वैराग्य का साधन होता तो वह टिक पाता या बच पाता। परन्तु इनके न होने के कारण वह जीव कमजोर है। और ऊपर से चारों तरफ का वातावरण तथा टी.वी. आदि का उत्तेजक निमित्त काफी ज्यादा है। इन टी.वी., सिनेमा, नाटक आदि के प्रबल उत्तेजक—निमित्त आखिर कमजोर व्यक्ति के मन को खींच ही लेता है।

साथ ही साथ जमानेवाद की फेशन की दुनिया, मनमोहक वेशभूषा, उद्धट वेशभूषा, आधुनिक जमाने की फेशनवादि युवतियों तथा स्त्रियों का अंगप्रदर्शन, उत्तेजक आकर्षण, फिल्मी गीतों की भरमार, उसमें भी अश्लीलता—बीभत्सतादि जो आज चरम कक्षा पर पहुँची है, इन सब कारणों से आज के युग को विज्ञान युग नहीं परन्तु वासनायुग कहने में

कोई अतिशयोक्ति नहीं लगती है। अब आप ही सोचिए ऐसे भयंकर वासना के वातावरण में भला कोई इससे सर्वथा विमुख होकर बचकर जीए यह कितना असंभव है? बहुत ही मुश्किल है। हाश !... जो भी आत्मा इस पाप से बचकर सर्वथा विमुख—विरक्त होकर जी सकते हो, रह सकते हो उन्हें... लाख—लाख... वंदन हो। अरे ! हम तो क्या देवलोक में... इन्द्र महाराज भी अपने इन्द्रासन पर बैठने से पूर्व “नमो बंभवयधारिणं” ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाले ब्रह्मव्रत धारियों को नमस्कार करते हैं। एक तरफ तो आग लगे और दूसरी तरफ आग को रूई या सूखी घास मिल जाय तो फिर पूछना ही क्या? इसी तरह एक तो पूर्वबद्ध वेद मोहनीय कर्म का तीव्र उदय हो और दूसरी तरफ... वर्तमान में प्रबल उत्तेजक निमित्तों का योग मिले तो फिर पूछना ही क्या? कैसे टिक पाएंगे?

इस तरह आश्रव, बंध, और पूर्वकृत मोहनीय कर्म का उदय सब इकट्ठे होने पर कर्म बंध की ही प्रवृत्ति चलेगी और तीव्र भारी कर्मों का बंध होगा। इस तरह इसकी प्रवृत्ति वर्षों तक चलती ही रहती है। अरे ! वर्षों तक तो क्या जन्मों जन्म तक चलती ही रहती है। कर्म का संसार है। अतः संसार भी अनादि—अनन्त नित्य शाश्वत है। तथा कर्मों को करनेवाला कर्तारूप जीव भी शाश्वत है। ऐसे संसार सदाकाल चलता ही रहेगा।

१८ पापस्थानों में पाँचवा पापस्थान परिग्रह—संग्रह का है। संसारी जीव मोहवश जरूरियात से भी अनेकगुना ज्यादा अपनी इच्छाओं को संतोषने के लिए वस्तुओं का संग्रह हृद से ज्यादा करता ही जाता है। उसके लिए कोई सीमा या किसी भी प्रकार का प्रतिबंध ही नहीं है। इसमें जड—भौतिक—पौद्गलिक वस्तुओं तथा नोकर—चाकरादि व्यक्तियों का भी संग्रह होता जाता है। क्या यह सब बिना राग के होना संभव है? जी नहीं ! अरे ! तीव्र राग से ही परिग्रह ज्यादा बढ़ता है। इसमें भी आश्रव के पाँचवे अव्रताश्रव तथा, अविरति बंध हेतु के भेदों का समावेश होता है। मोहनीय कर्म का तीव्र राग—मोह मिलकर जीव इस पाप को करता है और नए कर्म बांधता है।

**कषाय आश्रव और बंध हेतु—**

१८ वे पाप में प्रथम ५ पाप तो द्रव्य पाप हैं। बाहरी पाप हैं। परन्तु उनके पीछे भाव पाप, आध्यन्तर कक्षा के पापों में—६ से ११ तक स्थान हैं। ६—क्रोध, ७—मान, ८—माया, ९—लोभ, १०—राग, ११—द्वेष, ये ६ हैं। इनमें कषाय ही कषाय हैं। वैसे देखा जाय तो माया और लोभ राग के घर के हैं। तथा क्रोध और मान द्वेष के घर के हैं। ये मोहनीय कर्म के एक स्वतंत्र विभागरूप कषाय के स्वरूप में पड़े हैं। पूर्वजन्म में, या पूर्वकाल में

किये हुए कषायों के कारण उपार्जित कषाय मोहनीय कर्म के उदय से इनका उदय होता है । और दूसरी तरफ वर्तमान में वैसे योग—संयोग—निमित्त मिलते हैं । जिससे ये सभी पुनः भडकते हैं । पुनः वैसी प्रवृत्ति होती है । ये कषाय तो हमारे खून में मिल चुके हैं । इन कषायों में क्रोध करना, मान—अभिमान घमण्ड करना, माया, प्रपंच—छल—कपट किसी के साथ विश्वासघात करना, ठगवृत्ति आदि की प्रवृत्ति करना, तथा लोभ की प्रवृत्ति में, अति संग्रह करना, इकट्ठा करते जाना या प्राप्ति की तृष्णा आदि की प्रवृत्ति निरंतर चलती ही रहती है । राग—इच्छा—मोह—आकर्षण आदि के रूप में काफ़ी प्रमाण में बढ़ता ही जाता है । द्वेष भी राग के सिक्के की दूसरी बाजू है । यह भी चलता ही रहता है । यदि किसी के साथ मित्रता बढ़ती है तो दूसरे के साथ दुश्मनी भी होती है । शत्रुता भी बढ़ती है । एक ही गाड़ी के दो पहिए की तरह ये राग—द्वेष साथ ही चलते रहते हैं और प्रवृत्ति करते रहते हैं ।

यह कषायाश्रव भी है और कषाय का बंध हेतु भी है । साथ ही कषायों में राग—तथा द्वेष के अंतर्गत ऐसे मीठे—खट्टे, कड़वे स्वाद साथ ही पड़े हैं कि वे सबको अपना केन्द्र बना लेते हैं । इन कषायों से ही इन्द्रियाश्रव, अव्रताश्रव, तथा क्रियाश्रवादि चलते रहते हैं । २५ प्रकार की सभी क्रियाएँ राग—द्वेष प्रस्त हैं । इसी तरह बंध हेतुओं में से—मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद कषाय के कारण बढ़ते हैं, होते हैं । अतः जब जब कषायादि की प्रवृत्ति होती है तब आश्रव भी होता है और कर्म का बंध होता ही रहता है ।

पूर्व के बांधे हुए कर्मों का तीव्र उदय, उस उदय के कारण वैसी हरकतें ... प्रवृत्ति करना आदि चलता ही रहता है । यही आश्रवरूप प्रवृत्ति है । बस, इसीके साथ हेतु का मिलना और फिर कर्म का बंध होना ... यह क्रम संसार में निरंतर चलता ही रहता है । कर्म बांधना, उनका उदय होना, उदयकाल में पुनः वैसी प्रवृत्तियाँ करते रहना, तथा पुनः कर्म बांधते रहना यही संसार का क्रम है । जो अनादि—अनन्तकाल से चलता ही रहता है । सच ही कहा है कि—

**पुनरेव पापं पुनरेव कर्म, पुनरेव कर्म पुनरेव पापं ।**

**पाप—कर्म संयोगेन, संसारो चलति सदा ॥**

—फिर से पाप करते ही जाएँ, पाप की आश्रव—प्रवृत्ति चलती ही रहे, उससे पुनः कर्म का बंध होता ही रहे, उस बंधे हुए कर्म के उदय से जीव पुनः वैसी पाप की प्रवृत्ति करता ही रहता है । इस प्रकार पाप कर्म के योग—संयोग से यह संसार चक्र की तरह सदाकाल चलता ही रहता है । पाप और कर्म अनादि—अनन्त शाश्वत सिद्ध होते हैं । अतः



संसार का सर्वथा प्रलय हो जाएगा, और प्रलय करने के लिए किसी को अवतार लेना पड़ेगा, कोई प्रबल शक्तिशाली अवतारी पुरुष आकर संसार का प्रलय—संहार करेगा इत्यादि प्रकार की समस्त मान्यताएं कपोल—कल्पित निरर्थक सिद्ध होती हैं। बिल्कुल ही युक्तिसंगत नहीं है। अज्ञानग्रस्त है।

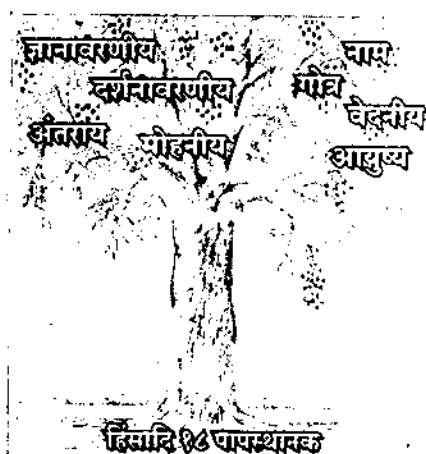
### आश्रव के पश्चात् बंध—

आश्रव क्रियात्मक है। और बंध हेतुरूप—कारणरूप है। जैसे हम चलते हैं यह क्रिया है, परन्तु कहाँ चलना? क्यों चलना? कितना चलना? कैसे चलना? कहाँ तक चलते ही रहना? किस दिशा में चलना? किस रास्ते चलना? किस काम के लिए चलना? आदि अनेक विषय चलने की क्रिया का हेतु कारण निश्चित करते हैं। यदि घूमने—टहलने जाते हैं तो चलना अलग ढंग का होता है। घर से निकलकर चलने की क्रिया तो करते हैं परन्तु हेतु मनमें निर्धारित होता है कि... दुकान जाना है। या विदेश जाना है। या मंदिर जाना है। इत्यादि जो और जैसा हेतु निश्चित होता है तदनुरूप क्रिया—प्रवृत्ति होती है। अतः आश्रव में क्रिया—प्रवृत्ति की प्रधानता है जबकि बंध में हेतु—कारण की प्रधानता है।

कषायादि आश्रव में और बंध में दोनों में समान रूप से हैं फिर भी दोनों में अन्तर है। कषाय की प्रवृत्ति—क्रिया भी होती है और उसी में हेतु भी निश्चित रूप से होता है। यदि एक गृहिणी क्रोध कषाय की क्रिया करती है। तो उसी समय कषाय का हेतु भी साथ ही निर्धारित होता है। किस पर बच्चे पर क्रोध करना है? कितने प्रमाण में क्रोध करना? दिल में हितभाव रखकर क्रोध करना है। उसे सुधारने के हेतु से क्रोध करना है। इत्यादि आशय—हेतु से क्रोध करती है, उसके आधार पर क्रोध की तीव्रता, मन्दता आदि कम—ज्यादा मात्रा का ख्याल रहता है। उस प्रमाण में जीव करता है। इसलिए किया जाता क्रोधादि कषाय आश्रव की प्रवृत्तिरूप भी है और वही कषाय बंध हेतु रूप भी है। तभी कर्म का बंध होता है। आश्रव क्रियात्मक होने के कारण पहले होगा और बंध हेतुरूप होने के कारण, बाद में होगा।

### १८ पापों से ८ कर्म का बंध—

१८ पाप की प्रवृत्तियों के करने से ८ प्रकार के कर्मों का बंध होता है। १८ प्रकार के पाप मोहनीय कर्म के कारण प्रवृत्तिरूप में होते हैं। उदय के कारण होते हैं। और १८ पाप की आश्रवात्मक प्रवृत्तियों के कारण मूलभूत मोहनीय कर्म का बंध होता है। और



फिर आगे आठों कर्मों का बंध होता है। अतः आठों कर्मों के आश्रव का आधार मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। बिना उसके संभव ही नहीं है। सब प्रकार की प्रवृत्तियाँ जो १८ पापस्थानकी क्रियाएँ हैं, उनके कारण सबसे पहले तो मोहनीय कर्म का बंध होगा। और बाद में सातों कर्मों का बंध होता रहता है। इस तरह आठों कर्मों का आधार मोहनीय कर्म है।

जैसे वृक्ष के मूल में पानी डालने से जड़ों द्वारा पूरे वृक्ष में सर्वत्र पहुँच जाता है। पत्तों—फूलों—और फलों तक में सर्वत्र विभाजित होकर प्रमाण में पहुँच जाता है। ठीक इसी तरह मोहनीय कर्म की ही आश्रव पद्धति के सेवन से अन्य सातों कर्मों का बंध होता है।

उदाहरण के लिए क्रोध कषाय मोहनीय की प्रकृति है। और क्रोध कषाय बहुत ज्यादा करने से नरक गति के आयुष्य का बंध होगा। और क्रोध किसके सामने करते हैं? क्रोध में आप किसको सुनाते हैं? यदि गुरुजन, वडील वर्ग, माता, पिता, या और बड़ों को, तो उसके कारण नीच गोत्र कर्म के बंध की संभावना ज्यादा रहती है। इसी तरह यदि क्रोध करते समय गाली—गलौच, गंदे अपशब्द, बोलकर किसी का दिल दुखाते हैं किसी का मन दुःखी करते हैं, संताप पैदा करते हैं तो निश्चित ही समझिए कि... अशाता वेदनीय कर्म बांधते हैं। जिसके उदय से बांधनेवाले को मानसिक अशाता, अशान्ति—व्याधि आदि सहन करनी पड़ेगी। यदि विद्यागुरु, शिक्षक, गुरु महाराज आदि बड़ों के सामने क्रोध करके उन्हें अन्त—सन्त बककर कुछ भी जैसा—तैसा सुनाकर यदि अपमान किया तो परिणाम यह आएगा कि ज्ञानावरणीय—और दर्शनावरणीय कर्म दोनों कर्मों का बंध एक साथ में होगा। और जीव को ज्ञान, बुद्धि, की कमी तथा इन्द्रियों की क्षीणता, कमजोरी या विकलता आदि का फल भुगतना पड़ेगा।

क्रोध स्वयं ही कषाय मोहनीय की प्रवृत्ति है। अतः क्रोध करने से दुबारा वापिस मोहनीय कर्म का बंध तो होगा ही। इसी तरह क्रोध करके आपने किसी के मार्ग में रोड़े

हाले, अवरोध पैदा किया, विघ्न खड़े किये तो परिणाम स्वरूप अन्तराय कर्म का भी बंध होगा। और क्रोध की अशुभ प्रवृत्ति करने से अशुभ नामकर्म (पापरूप) का बंध होगा। बाद में उदय के कारण उस बांधनेवाले जीव को सौभाग्य, यश, कीर्ति, आदेयपना, आदि शुभ पुण्य प्रकृतियाँ न मिलकर अशुभ ही मिलेगी। देखिए इस तरह मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों के उदय की अभी तक तो मात्र एक कषाय मोहनीय की क्रोध की प्रकृति का परिणाम देखा है। जो आठों कर्म बंधाता है। इसी तरह, मान, माया, लोभ, आदि सभी प्रवृत्तियाँ देखने पर पता चलेगा कि... मोहनीय की प्रवृत्ति करने पर आठों कर्म का बंध कैसे होता है? यह जानकारी प्रत्येक साधक को रखनी ही चाहिए।

### मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियाँ—

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं। पहले गुणस्थान पर २८ ही सभी सत्ता में हैं, सभी बंध में भी हैं, और सभी उदय में भी हैं। उदय में होने के कारण जीव उदय के अधीन होकर वैसी चेष्टाएँ—क्रिया—प्रवृत्ति करता है। जैसे पागलखाने में पागल मरीजों को आपने कभी देखा ही होगा? वे बिचारे तथा प्रकार के मानसिक रोग के कारण ऐं, बैं, आ... हा... ही... ही..., इत्यादि सतत बोलते—बकते ही रहते हैं। शरीर की भी कुछ चेष्टाएँ—प्रवृत्तियाँ निरंतर एक जैसी ही करते रहते हैं। ठीक उसी तरह यह संसार एक पागलखाने जैसा है। सभी मोहनीय कर्म के उदयरूप रोग के कारण विषय—कषायादि चेष्टा—क्रिया—प्रवृत्ति करते ही रहते हैं। सभी जीव इस रोग से ग्रस्त हैं। अतः ज्ञानियों की दृष्टि में सचमुच यह संसार पागलखाने जैसा ही है।

यदि मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों के अनुसार प्रवृत्तियाँ—क्रियाएँ देखने जाएं तो अनेक प्रकार की भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियाएँ हैं। परन्तु संक्षिप्त में स्थूलरूप से देखने पर...

(१) १) मिथ्यात्व मोहनीय, २) सम्यक्त्व मोहनीय, और ३) मिश्र मोहनीय इन तीन—दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उदय के कारण—जीव विपरीत ज्ञान, उल्टी विचारधारा, अश्रद्धा, अंधश्रद्धा, मिथ्या विचारधारा, शंका, संदेह, भ्रम—भ्रान्ति तत्त्वों को सर्वथा न मानना, और बिल्कुल उल्टी वृत्ति—प्रवृत्ति—भाषादिवाला बनता है। तथा कदम—कदम पर वैसी प्रवृत्ति करता ही रहता है।

(२) दर्शन मोहनीय कर्म मान्यता, मानने, के विषय में है। जबकि चारित्र मोहनीय कर्म... क्रिया—प्रवृत्ति—चेष्टाएँ करानेवाला है। चारित्र मोहनीय में तीन विभाग मुख्य हैं—

१) कषाय मोहनीय जो क्रोधादि कषाय कराता है । २) नोकषाय मोहनीय जो हास्यादि की चेष्टाओं द्वारा हँसाने—रुलाने आदि की प्रवृत्ति कराता है । तथा ३) तीसरा विभाग है वेद मोहनीय कर्म का । यह विषय—वासना काम—संज्ञा—मैथुन क्रिया रतिभाव, काम क्रीडादि कराता है ।

इस तरह एक मकान की चार मुख्य दिवालों या चारों दिशा के दरवाजों की तरह . . . मोहनीय कर्म की चार दिवालों—४ दिशा की प्रवृत्तियाँ मुख्यरूप से बड़ी हैं ।— १) मिथ्यात्व की, २) दूसरी कषाय की, ३) तीसरी नोकषाय की, और ४) चौथी— विषय वासना की । बस, संक्षिप्त में इन चार प्रकार में पूरे मोहनीय कर्म का समावेश आसानी से किया जा सकता है । यदि इसे और संक्षिप्त में सारांश रूप से ही कहना हो तो इस तरह भी कह सकते हैं कि . . . “विषय + कषाय = संसार ।” जैसे रसायन शास्त्र में—  $H_2O = \text{water}$  .  $H$  हाइड्रोजन के २ भाग, और  $O$  ओक्सीजन का एक भाग दोनों मिलने से पानी बनता है । ठीक उसी तरह विषय और कषाय इन दोनों के मिलने से सारा संसार बनता है । इन दोनों को यदि शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो— राग + द्वेष = संसार । ज्ञानियों ने विषय को रागमूलक, रागप्रधान कहा है । तथा कषाय को द्वेषमूलक—द्वेषप्रधान कहा है । बस, संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया में इससे ज्यादा और संक्षिप्त क्या हो सकता है ? इसलिए अन्त में समस्त बातों का निचोड़ निकालकर ज्ञानियों ने एक शब्द— “मोह” मोहनीय का देकर नामकरण “मोहनीय” कर्म का किया है । “मुह्यन्ति यत्र जनाः तद् मोहनीयः” जहाँ जीव मोहित हो जाते हैं वह मोहनीय कर्म है ।

### संसार की समस्त प्रवृत्तियाँ मोहमूलक हैं—

चाहे आप मिथ्यात्व का आचरण करें, या भले ही आप कषायों का आचरण करें । या भले ही आप विषय वासना का सेवन करें या चाहें आप हास्यादि नोकषाय की प्रवृत्ति करें, लेकिन सभी मोहमूलक, मोहप्रधान ही हैं । मोह—अपना ममत्व जिसमें भरा हुआ है । यदि द्वेष के दुर्भाव में आकर जीव भले ही क्रोध—मान का सेवन करता हो फिर भी क्रोध करने के पीछे स्वकार्य, अपने हेतु को साधने का आशय मोह का जरूर रहता है । यदि वह हास्यादि की चेष्टाओं में नोकषाय के आधीन होकर हँसाने, रोने आदि की भी प्रवृत्ति करता है तो भी उसमें अपना कुछ साधने की उसकी वृत्ति जरूर रहती है । वही मोह—ममत्व बुद्धि है । मेरा—पर का मोह दिखाकर जीव को अपनी इच्छा पूरी करनी है । राग मोहभाव—आसक्तिभाव, तृष्णा भाव, अतृप्ति का भाव, असंतोषने की वृत्ति आदि है । राग

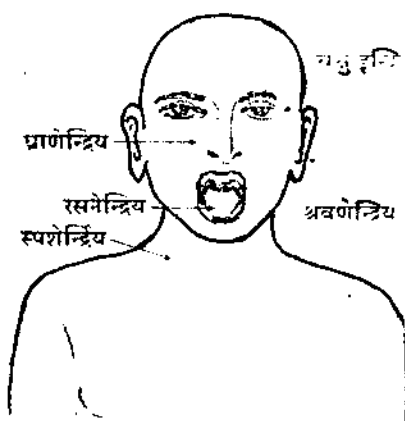
भाव ही सच्चा मोह है। लेकिन अपने रागभाव को स्थिर रूप से टिकाए रखने के लिए जीव द्वेष का भी आश्रय लेता है। जैसे एक गाय को अपने बछड़े का मोह है, वह उसे अपना मानकर राग बुद्धि से ममत्वभाव में रहती है। मोहदशा में राजीपना अच्छा रहता है। अच्छा सुहावना लगता है। परन्तु कोई उस बछड़े को पकड़ने आए तो गाय भी अपना द्वेषभाव बढ़ाकर क्रोधादि व्यक्त करते हुए पकड़नेवाले को मारने आएगी। सींग को दिखाकर सामने करके मारने आती है।

ठीक उसी तरह मनुष्य में यह स्वभाव अपने उपार्जित मोहनीय कर्म के कारण है। एक माँ भी अपने संतान की रक्षा करने के लिए द्वेष भाव को दूसरों की तरफ बढ़ाकर क्रोधादि करती है। क्रोध का आश्रय भी जीव अपने मोह की रक्षा करने के लिए लेता है। इसलिए द्वेष यह भी मोहनीय कर्म के एक ही सिक्के की दूसरी बाजू है। एक बाजु राग तो दूसरी बाजु द्वेष। परन्तु सिक्का तो आखिर एक ही है। संसार की समस्त प्रवृत्तियों की गणना यदि करने भी बैठे तो क्या संभव है? जी नहीं! हजारों—लाखों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। परन्तु सब का वर्गीकरण करके उन्हें एक मात्र मोहनीय कर्म में समाविष्ट की जा सकती है। क्योंकि सभी प्रवृत्तियाँ मात्र राग—द्वेष की ही हैं। जैसा कि हम पहले देख आए हैं उस हिसाब से मोहनीय कर्म की प्रमुख ४ दिवालों—दरवाजों की तरह मुख्य ४ भेद हैं। उन चारों प्रकार की प्रवृत्तियों के भेद करने जाय तो लाखों प्रकार की प्रवृत्तियाँ एक मात्र मोहनीय कर्म की है।

### प्रवृत्तियों के साथ पाप—

निश्चित ही है कि मोहनीय कर्म की २८ प्रवृत्तियों के आधार पर... जो भी और जैसी भी प्रवृत्तियाँ जीव करता है वे सब पाप ही पाप बंधनेवाली होती हैं। इनमें एक भी पुण्योपाजन करानेवाली शुभ प्रवृत्ति है ही नहीं। इसलिए मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों का आचरण करने से किसी भी प्रकार का शुभ पुण्य बंधनेवाला ही नहीं है। अतः १८ पापस्थानों का... सबका समावेश अन्य किसी कर्म में न करते हुए एक मात्र मोहनीय कर्म में ही किया है।

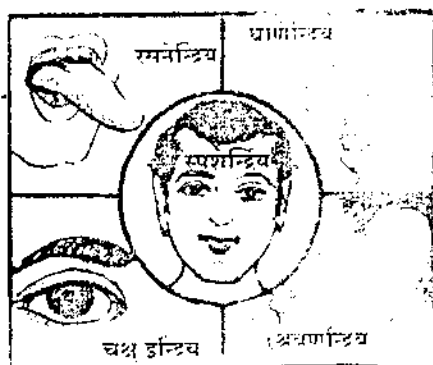
आश्रय में भी योग बंध है। और बंधहेतु में भी योग बंध हेतु है। इन दोनों में योग समानरूप से हैं। मन—वचन और काया ये तीन योग हैं। चेतनात्मा को संसार में जीने के लिए... रहने के लिए मन, वचन और काया के तीन योगों की पूरी आवश्यकता रहती



है। बिना शरीर के कोई जीव संसार में जी ही नहीं सकता है। रह ही नहीं सकता है। बिना शरीर के जीव अशरीरी हो जाता है। अशरीरी यह अवस्था एक मात्र मोक्ष में ही होती है। मुक्ति के सिवाय संसार में कहीं कभी भी संभव ही नहीं है। शरीर यह संसार का हेतु है। मोह का कारण है। शरीर के साथ इन्द्रियाँ जुड़ी हुई हैं। पाँचो इन्द्रियाँ शरीर के खिड़की दरवाजे के

रूप में हैं। इन्द्रियाँ जीवों को स्व-स्व कर्मानुसार कम-ज्यादा प्रमाण में मिलती हैं। बांधे हुए नामकर्म की इन्द्रिय नामकर्म की प्रकृति के कारण जीवों को इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। दर्शनावरणीय कर्म का विशेष उदय इन्द्रियों की विकलता भी दिलाता है। साथ ही ज्ञानावरणीय कर्म भी अपना भाग दिखाता है और इन्द्रियों की क्षीणता आदि में हाथ बटौता है। आखिर इन्द्रियाँ आत्मा तक ज्ञान पहुँचाने का काम करती हैं। अतः ये पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। आत्मा को इनकी बहुत आवश्यकता है। बिना इन्द्रियों के जीना जीव के लिए मुश्किल है। क्योंकि पाँचो इन्द्रियों से २३ विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। १) स्पर्शेन्द्रिय (चमड़ी) से ठंडा-गरमादि ८ प्रकार के स्पर्शों का ज्ञान होता है। चमड़ीवाले जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। २) रसनेन्द्रिय—जीभवालों को खट्टा-मीठादि ५ प्रकार के रसों का ज्ञान होता है। ऐसे जीव दोइन्द्रिय-कृमी-जीवाणु आदि कहलाते हैं। ३) घ्राणेन्द्रिय (नासिका) वाले चींटी-मकोड़े-खटमलादि जीव तेइन्द्रिय हैं जो सुगंध-दुर्गंधादि घ्राण-गंध का ज्ञान प्राप्त करता है। ४) चौथी चक्षुइन्द्रिय हैं (आँख) इससे जीव काला-लाल-पीलादि-पाँचों प्रकार का वर्ण-रूपरंग ग्रहण करता है। ऐसे मक्खी-मच्छर-भौरे-तीड़ादि चउरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। तथा अन्तिम पाँचवीं इन्द्रिय-श्रवणेन्द्रिय-(कान) है। आवाज-शब्द-ध्वनी सुनकर आत्मा तक ज्ञान पहुँचानेवाली यह पाँचवीं महत्व की इन्द्रिय है। हाथी, घोड़े, बैल, बकरी, मनुष्य, नारकी, देवादि सभी पंचेन्द्रिय जीवों को यह कर्णेन्द्रिय प्राप्त होती है।

## ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया—



इस तरह पाँचो इन्द्रियाँ बिल्कुल ज्ञान प्राप्त करानेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। बाहर के पदार्थों को देख—सूनादि कर... आत्मा तक ज्ञान पहुँचाने का काम करती है। इस प्रक्रिया में इन्द्रियाँ बाहरी पदार्थ का स्पर्श—रसादि—रूप—रंगादि—शब्दादि का ज्ञान लाकर पहले मन को भेजती है। मन आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। अतः मन उस ज्ञान को आत्मा के पास भेजता है। आत्मा में ज्ञान है। वह भी

ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत है। उसमें आवरण के कारण मति—बुद्धि का ज्ञान है। याद रखिए, बुद्धि या ज्ञान आत्मा से अलग कोई स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में नहीं है। परन्तु आत्मा के ही ज्ञानरूप में है। अतः मन बुद्धि के पास भेजता है। बुद्धि आए हुए ज्ञान का विश्लेषण करती है। उदाहरण के लिए... आँख से किसी वृक्ष को देखा—आँख ने उसका सारा रूप—रंगादि—मन के पास भेज दिया—मन इच्छादि द्वारा विचार करता है। वहाँ से बुद्धि के पास आत्मा में गया ज्ञान अब वहाँ पूर्ण रूप से विश्लेषण होगा—कि यह वृक्ष क्या है? किसका है? इसके फलादि कैसे हैं? जानकारी प्राप्त करने की यह ज्ञान प्रक्रिया है। (Perseption theory, the theory of knowledge). ज्ञान प्राप्त होने की प्रक्रिया है।

यहाँ तक तो कोई आपत्ति ही नहीं है। बहुत ही अच्छी उपयोगी हैं यह ज्ञान की प्रक्रिया। संसार के छोटे—बड़े सभी जीवों को चाहिए यह प्रक्रिया। अनिवार्य रूप से उपयोगी एवं आवश्यक है प्रत्येक जीवों के लिए।

## ज्ञान के बदले मोहवृद्धि—

यद्यपि इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञान के उपयोग के लिए कार्य करती हुई उपयोगी तथा आवश्यक हैं। परन्तु प्रबल मोहनीय कर्म इतना ज्यादा सबल एवं सक्षम है कि पाँचों इन्द्रियों को ज्ञान का काम करने देने के बदले अपनी मोहवृद्धि ही कराने का काम कराता है। मोहनीय कर्म ने ज्ञान का गला घोट दिया है। दबोच दिया है और अपने वश में करके

आधीन—पराधीन बना दिया है। अतः पाँचो इन्द्रियों से अब ऐसी स्थिति में—ज्ञान ज्यादा प्राप्त होने के बदले—मोह ही ज्यादा बढ़ता है। जीव मोह की पुष्टि ही ज्यादा करता है। अतः ज्ञान के लिए उपयोग ज्यादा करने न देकर मोहनीय सब कुछ अपने उपयोग के लिए करता है। बस, अब वृक्ष देखकर ज्ञान बढ़ाने के बदले वह खाने, तोड़ने तथा प्रियतमा को खिलाने आदि की ज्यादा इच्छा रखता है। अब कपड़े पहनना आदि शरीर की लाज—मर्यादा ढकने के बजाय.. मोह की तीव्रता के साथ राग—भाव में पहनना है। वह भी ऐसी फैशन के कट के पहनना है कि जिससे हेतु सर्वथा सिद्ध न हो ऊपर से अंगोपांगो का प्रदर्शन हो और मोहकता बढ़ाई जा सके। शरीर को ऐसा सजाकर मोहक बनाया जाय कि जिससे शरीर राजी न हो परन्तु मन खूब ज्यादा राजी हो। और दूसरे देखनेवाले को भी ज्यादा राजी करें। रागी बनाएँ। उत्तेजक एवं मोहक निमित्त खड़ा करके आकर्षण पैदा करें।

कर्णेन्द्रिय से शब्द—ध्वनि सुनकर ज्ञान बढ़ाने के बजाय अब जीव मोहवश गीत—संगीत ऐसे सुनना चाहता है जिससे ज्ञान के बजाय अन्दर मोह की ही वृद्धि हो। मोह पुष्ट होता है। उसमें भी जीव बहुत ज्यादा राजी होता है। आनंदित होता है। इसी मोह की माया का आज ऐसा प्रभाव है कि जीव व्याख्यानवाणी श्रवण करने के बजाय फिल्मी गीत—संगीत को प्रमाण में ज्यादा पसंद करता है। टी.वी. देखने की प्रक्रिया आँख की है। परन्तु जीव टी.वी. देखकर ज्ञान ज्यादा प्राप्त करने के बदले मोहक—अश्लील, आकर्षक दृश्यों को ज्यादा देखकर मात्र अपनी मोहवृद्धि करने का ही काम करता है। इसीलिए परिणाम स्वरूप आज के जमाने में टी.वी. की विकृतियाँ सर्वत्र व्यापक रूप से बढ़ती ही जा रही है। यहाँ तक स्थिति विकृत हो चुकी है कि टी.वी. देखकर पागल होने की संख्या दिन प्रतिदिन विदेशों में भी बढ़ती ही जा रही है। टी.वी. देखकर बच्चों का मन विकृतियों—वासनाओं से भरता जा रहा है, और समाज में—खून—हिंसा—हत्या, बलात्कार—दुराचार—व्यभिचारादि सब प्रकार के पापों का प्रमाण काफी ज्यादा बढ़ता ही जा रहा है। टी.वी. आने के पहले जो प्रमाण १०% भी नहीं था वह आज टी.वी. आने के बाद ५०% से ६०% बढ़ गया है। और दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। तथा विदेशी संस्कृति का विकृत स्वरूप जो जो आर्य संस्कृति की सुसंस्कृत सभ्य प्रजा को दिखाया जा रहा है। तथा उसमें भी ज्यादा—से ज्यादा विकृतियाँ दिखाकर प्रजा के मानस को विकृत किया जा रहा है। सच देखा जाय तो यह आर्य संस्कृति पर बहुत बड़ा भारी आक्रमण है। वज्राघात समान कुठाराघात है। यह आर्यावर्त भारत की सभ्यता और



संस्कृति का नाश करने की सुव्यवस्थित योजना है। हाय ! अफसोस ! हमारी आर्य प्रजा इस विश्वासघात को भी न समझ सकी और आज विनाश के किनारे खड़ी रहकर भयानक गर्त में गिरती जा रही है। यह दुष्परिणाम—टी.वी. सिनेमाओं के दुश्क्र के कारण है। अभी भी इससे निपटा जा सकता है। परन्तु देश की प्रजा के साथ गद्दारी करनेवाले स्वार्थी नेताओं से और क्या अपेक्षा रखी जा सकती है ? इससे अच्छा तो अब यह है कि—कर्मशास्त्रों का अभ्यास करके—सम्यग् शिक्षा प्राप्त करके अपना जीवन स्वयं सुधारें। अब सरकार और सरकारी नेतागणों से अपेक्षा रखनी भूल समझकर उनके साथ और सहयोग की अपेक्षा छोड़कर प्रत्येक जीवों को स्वयं अपने आप ही समझकर सुधरना चाहिए।

पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों के सैकड़ों साधन संसार में उपलब्ध हैं। मौजूद हैं। और दिन—प्रतिदिन विज्ञान युग इसकी ओर भरमार खड़ी करता ही जाएगा। शायद हिमालय के जितना ढेर भी खड़ा कर दे भौतिक साधन—सामग्रियों का। लेकिन याद रखिए सभी साधन एक मात्र जड़ है। भौतिक—पौट्रलिक है। ये कोई न तो सुख—शान्ति देनेवाले हैं, और न ही आनन्द—मंगल देनेवाले हैं। इनका कैसा उपयोग जीव करता है उस पर निर्भर है। जड़ का कैसा उपयोग करना ? कितना उपयोग करना यह तो जीव पर निर्भर है। जीव के सम्यग् ज्ञान सच्ची श्रद्धा पर निर्भर करता है। यदि जीव थोड़े बहुत भी सम्यग् ज्ञान, त्यागियों—वैरागियों की संगत के रंग से रंगा हुआ हो तो ही बचने की संभावना रहती है। अन्यथा बहुत मुश्किल है।

अतः सबसे पहले यह निर्णय कर ही लेना चाहिए कि हमें हमारी पाँचों इन्द्रियों का उपयोग ज्ञान की वृद्धि के लिए ही करना है। मोह की वृद्धि के लिए तो भूल से भी नहीं। आखिर याद रखिए कि... मन भी जड़ ही है। इन्द्रियाँ सभी जड़ हैं। और शरीर भी सर्वथा जड़ ही है। इसी तरह बाहरी पदार्थ—वस्तुएँ सभी जड़ हैं। इन सब जड़ के बीच में एक मात्र जीवात्मा ही चेतन है। चेतन—जीव ही कर्ता है। ज्ञान का अधिष्ठाता भी चेतन ही है। अतः यही सभी जड़ों का उपयोग एवं उपभोग करता है। बस, अब इन सब पदार्थों की उपयोगिता समझकर आवश्यकतानुसार ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। परन्तु मोहदशा को आगे करके राग—की तीव्र भावना के कारण मोह की वृद्धि के लिए उनका उपयोग न करें। जैसे टी.वी. का उपयोग मात्र ज्ञान की वृद्धि के लिए ही किया जाय तो दुनिया में लाखों—करोड़ों लोगों में ज्ञान बढ़ेगा। लेकिन मनोरंजन छोड़ना चाहिए। विज्ञान के सुखप्रदायक सभी साधनों का उपयोग इसी दृष्टि से ज्ञान के लिए करने का रखें तो बहुत

बड़ा उपकार होगा सबका—सब पर । और यदि इससे विपरीत यदि मनोरंजन मौज—शौक के लिए मोह—ममत्व—माया बढाने के लिए ही किया तो सबका सब पर बहुत बड़ा भारी अपकार होगा । भावि में बहुत बड़ा अनर्थ होगा ।

### पापाश्रवों के सेवन से पुनः मोहनीय कर्म की वृद्धि—

१८ पापस्थानों में १२ से १८ नंबर तक के ७ पाप जो वाचिक—कायिक ज्यादा है । ऐसे पापों में १२ वे कलह, के पाप में — राग और द्वेष दोनों शामिल हैं । झगड़े में वैसे भी द्वेष की, क्रोध की मात्रा ही प्रतिशत में ज्यादा होती है । लेकिन पति—पत्नी के मीठे झगड़े राग की तीव्रता में होते हैं । झगड़े का मूल तो राग—द्वेष के घर में ही है । इसकी निपज मानसिक रूप से मन में से ही होती है । १३ वें अभ्याख्यान में आक्षेप—आरोप लगाने की वृत्ति है । यह भी बिना कषाय के संभव नहीं है । दोनों पाप ज्यादा बोलनेवाले हैं । यदि मौन रहने का उपाय अपनाया जाय तो दोनों पापों से आसानी से बचा जा सकता है । नहीं तो फिर पुनः पाप करते रहिए और पुनः कर्म बांधते रहिए ।

१४ वे पैशून्य के पाप में मायावी वृत्ति ज्यादा है । यह माया की बहुलतावाला पाप चुगली खाने की प्रवृत्ति कराता है । आखिर बिना कषाय के इस पाप के लिए जीना मुश्किल है । सोचिए ऐसी नारदी वृत्ति के इस पाप में जीव आठों कर्म नहीं बांधेगा तो क्या करेगा ? मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति में पुनः मोहनीय कर्म बांधना, और पुनः उसका उदय होना, तथा उदय काल में पुनः वैसी हरकतें करना, पुनः वैसी प्रवृत्ति करके फिर कर्म बांधते रहना ... फिर उदय ... फिर वैसी प्रवृत्ति .... फिर कर्म, इस तरह अनेक जन्मों तक कर्म ग्रसित अवस्था में आत्मा संसार चक्र में परिभ्रमण करती ही रहती है । इससे कर्म का स्वभाव आदत बन जाता है । वैसे ही पापों को पुनः—पुनः करते रहने से वृत्ति ही वैसी बन जाती है । बस, फिर उसी प्रकार के स्वभाव बार—बार उस पाप को कराते ही रहते हैं । पाप की प्रवृत्ति जितनी ज्यादा खतरनाक नहीं है उससे अनेक गुनी ज्यादा पाप की वृत्ति जो अन्दर पड़ी है वह हजार गुनी खतरनाक है । एक पाप की प्रवृत्ति जितने ज्यादा नए पाप नहीं कराएंगी उससे हजार गुने ज्यादा पाप—और कर्म उसकी वृत्ति—स्वभाव—आदत ज्यादा कराएंगी । बच्चे ने अब चोरी नहीं की इसमें राजी होने जैसा नहीं है, परन्तु उसकी आदत, अन्दर से वृत्ति सुधरी की नहीं .... जब अन्दर की वृत्ति बदल जाय तब समझिए कि बच्चा सुधर गया है । तब राजी होने जैसा है । वृत्ति शब्द के आगे 'मन' शब्द जोड़ने से "मनोवृत्ति" शब्द बनता है । यह शब्द सूचित करता है कि .... वृत्ति का केन्द्रस्थान मन है । वृत्ति की

उपज मन में होती है। यह मन में रहती है। प्रवृत्ति बाहरी है। जो काया की प्राधान्यता से होती है। जब वृत्ति की जड़ें अन्तर मन की गहराई में होती हैं। वहीं से पाप की शुरुआत होती है। जैसे नारियल का वृक्ष ४० फीट उँचा—लम्बा है परन्तु उसकी जड़ें—मूल जो जमीन में हैं वे कितनी गहराई में हैं। भले ही काफी कम हो। परन्तु पानी का सिंचन वहीं जड़ों में ही किया जाता है। और परिणाम स्वरूप पूरे वृक्ष के प्रत्येक भाग में हर—पत्ते—पत्ते में सर्वत्र पहुँच जाता है। ठीक इसी तरह वृत्ति जड़ों की तरह मन की गहराई में रहती है। वहीं से पापों की शुरुआत होती है। अतः पाप की प्रवृत्ति सुधारने के लिए सामनेवाले जीवों को मारने—पीटने की अपेक्षा उसके अन्तस्थ मन की गहराई तक असर कर सके। ... हम उसके मन की गहराई तक पहुँच सकें ऐसा माध्यम अपनाकर उपाय करने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है।

द्वेष—दुर्भाव में मन के दरवाजे दूसरों के लिए बन्द रहते हैं। जबकि राग—प्रेम के सद्भाव में मन के द्वार खुल्ले रहते हैं। ऐसे प्रेमभाव से, हित बुद्धि से खूब अच्छी तरह समझाने पर शत्रु भी मित्र बन सकता है। दुश्मन भी बदल सकता है। इसके लिए वाणी ही ऐसी है जो मन की गहराई तक पहुँच सकती है। और असरकारक वाणी ही वहाँ जाकर असर कर सकती है। अन्यथा संसार की कोई औषधि आदि ऐसी नहीं है जो उस अचेतन मन की गहराई में पहुँचकर असर कर सके। इसी कारण तीर्थंकर परमात्मा भगवान महावीर आदि ने ... अत्यन्त करुणाभाव, वात्सल्यभाव से सर्वथा राग—द्वेष रहित वीतरागभाव से और अपने केवलज्ञान के योग से जानकर सत्य को चरम स्वरूप को जीवों के सामने प्रगट किया। वाणी के व्यवहार से जीवों को समझाया। और परिणाम स्वरूप अनेक पापात्माएं भी उनके उपदेश से संसार सागर तैर गईं।

**भाव पाप ही कर्मरूप है—**

१८ पापस्थानों में यदि विभाजन किया जाय तो कुछ पाप द्रव्य पाप कहलाएंगे और कुछ भाव पाप गिने जाते हैं। द्रव्यों के संबंध की, या बाहरी संबंध—संयोग की प्राधान्यता जिसमें रहती है वह वस्तु निमित्तक द्रव्य पाप है। हिंसा—झूठ—चोरी—मैथुनसेवन—परिग्रहादि में अन्य की निमित्तता, वस्तु की स्थिति कारणभूत है। जबकि क्रोध, मान, माया, लोभ—राग—द्वेषादि भाव पाप हैं, आभ्यन्तर कक्षा के पाप हैं। शायद किसी भी वस्तु का कोई भी निमित्त मिले या न भी मिले तो भी राग—द्वेष—कषायादि आसानी से हो सकते हैं। मन ही मन कषाय हो सकते हैं। मानसिक कषाय करते हुए मन में ही घूटनेवाले बहुत

जीव इस संसार में है। ये भाव पाप भी कर्म की उपमा पाते हैं। ये ही कर्म बंध में मूलभूत कारण बनते हैं। ये कथायादि ही मूलभूत वृत्ति... स्वभाव रूप है। ये स्वभाव अर्थात् विभावरूप से कार्य करते रहते हैं। सब पापों का दोरी संचार यहाँ से होता है। सब पापों की मूल जड़ यहाँ पर है। सभी पापों द्वारा होनेवाले कर्म के बंध में हेतुरूप ये कथाय ही सहायक बनते हैं। दीर्घतम स्थिति बंध भी ये कथाय ही कराते हैं। ये भाव पाप—भाव कर्म रूप हैं। ये कर्मरूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। दोनों रूप होने से पाप के समय पाप भी कराते हैं और कर्म के समय कर्म भी बंधाते हैं। तथा उदय रूप में आकर पुनः पाप की प्रवृत्ति कराते रहते हैं। पुनः कर्म बंधाते रहते हैं। इस तरह अनन्त भव परंपरा का संसार चलता ही रहता है।

### कुछ वाचिक पाप—

१२ वाँ, १३ वाँ, और १४ वाँ इन तीन पापों का जो विचार अभी—अभी पीछे किया है ये वचन योग की बहुलतावाले पापस्थान हैं। बिना बोले इनको चलता नहीं है। आप हो 'पोचिए' कलह में नहीं बोलेंगे तो झगडा होगा कैसे?, और नहीं बोलेंगे तो अभ्यास—आरोप कैसे किस पर लगा सकेंगे? पैशूय पाप में भी चुगली खाने के लिए बिना बोले चलेगा ही नहीं? १५ वे रति—अरति का पाप है। प्रिय—अप्रिय, पसंद—नापसंद के पाप की जड़े मन में हैं। फिर भी दुनिया में व्यवहार बोलने से ही होगा। रति राग जन्य है, और अरति द्वेष जन्य है। इस तरह १५ वे पाप में राग—द्वेष दोनों ही इकट्ठे हो गए हैं। यद्यपि दोनों मात्रा में अल्प स्वरूप में हैं। १० वे और ११ वे पापस्थान पर जब वे राग—द्वेष स्वतंत्र रूप से पूरी तरह रहते हैं, तब जो जितने प्रमाण में रहते हैं उतने प्रमाण में रति—अरति में नहीं है। वैसे यहाँ रति में राग है परन्तु अल्प प्रमाण में है। प्रत्येक वस्तु जो भी सामने आई उसमें पसंद—प्रिय—अनुकूल की इच्छा होती है। उसी समय व्यक्ति भी प्रिय—पसंदगी का आधार बनती है। इस तरह वस्तु और व्यक्ति दोनों के निमित्त राग की पसंदगी होना, अच्छा लगना। फिर वस्तु और व्यक्ति दोनों के प्रति उसी क्षण अप्रीति—नापसंदगी भी होती है। यह द्वेष के कारण संभव है।

वैसे मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में नोकषाय के विभाग में हास्यादि षट्क की ६ प्रकृतियों में रति की एक स्वतंत्र प्रकृति है और अरति की भी एक स्वतंत्र प्रकृति है। एक तरफ तो इन पूर्व कर्मों का उदय होने के कारण जोर है। और दूसरी तरफ संसार में वैसे निमित्त भी मिलते हैं। योग संयोग भी खड़े होते हैं। अतः वैसी प्रवृत्ति भी चलती रहती है।

## वृत्ति-प्रवृत्ति-प्रकृति—

१. वृत्ति जो मन में रहनेवाली है— वह मनोवृत्ति । २. प्रवृत्ति जो काया की प्रधानता से होनेवाली क्रिया आदि का व्यवहार है । ३. और प्रकृति यह कर्म की प्रकृति है । यहाँ प्रकृति जो स्वभाव अर्थ में है । आत्मा पर लगे हुए कर्म अपना स्वभाव अपनी प्रकृति अनुसार फल देते हैं । “पयई सहावो वृत्तो” प्रकृति स्वभावरूप है ऐसा कर्मग्रन्थकार महर्षि कहते हैं । आत्मा के अपने मूलभूत गुण जो ज्ञानादि हैं, क्षमा—समता—दया—करुणा—सरलता—संतोषादि हैं वे आत्मा की प्रकृति (स्वभाव) हैं । परन्तु जब उन पर कर्म के आवरण छा जाते हैं . . तब वे कर्मावरण बादलों पर सूर्य के आवरण की तरह काम करते हैं । अब इन आवरण रूप कर्म के परदे (बादलों) में से ज्ञान—क्षमा समतादि का जो अंश, जितना भी अंश प्रगट हो गया फिर विपरीत रूप में प्रगट होंगे वे ही कर्म की प्रकृति के रूप में कहलाएंगे । विपरीत का अर्थ है जो गुण अपने मूल स्वरूप में जैसे गुणात्मक कक्षा में हैं वैसे न प्रगट होकर विपरीत रूप में अर्थात् दोष रूप में प्रगट होंगे । मोहनीय कर्म का विशेष रूप से यही काम है कि— आत्मा के क्षमादि गुणों को सर्वथा विपरीत रूप में दोष रूप में ही प्रगट करना । इसलिए-बाहरी व्यवहार में . . . क्षमा के बदले क्रोध ही आएगा । समता—शान्ति उपशमभाव के बदले क्रोध ही प्रगट होगा । अब मैत्री के बदले वैर वैमनस्य की वृत्तियाँ ही प्रगट होगी । अब करुणा, दया के बदले कठोरता, क्रूरता—निर्दयवृत्ति ही प्रगट होगी । अब गुणानुराग, गुण दर्शन के बजाय दोषानुराग, दोष दर्शन की ही वृत्ति प्रगट होगी । परिणामस्वरूप जीव दोषग्राही, दोष देखनेवाला ही बनेगा । अब समभाव, उदारभाव पर के प्रति भी आनन्द—सन्तोषभाव प्रगट होने के बदले ईर्ष्या, द्वेष—मत्सरवृत्ति—अदेखाई की वृत्ति ही प्रगट होगी ।

मोहनीय कर्म आत्मा में पड़ी नम्रता की वृत्ति—विनय गुणभाव को दबाकर—उपने उदय काल में मद, मान, घमण्ड, अभिमान आदि प्रगट करेगा । और क्या हो सकेगा ? कर्म भी अपना स्वभाव (प्रकृति) दिखाएगा । सरलता आत्मा के गुण को छिपाकर अब मोहनीय कर्म उस जीव को मायावी—वक्र—कपटी विश्वासघाती धोखेबाज, छल—प्रपंची बनाएगा । सचमुच हम रोज ही संसार में यह और ऐसा स्वरूप देख रहे हैं । आत्मा के निर्लोभ संतोषभाव के गुण को छिपाकर जीव को लोभी, असंतोषी, तृष्णा और आसक्तिवाला बनाने का काम मोहनीय कर्म करता है । सब पर विश्वास रखने के स्वभाव को खतम करके अब अविश्वास रखना या विश्वासघात करने की देन मोहनीय कर्म की है । सभी जीवों पर प्रेम रखना, प्रेम करना आदि जो आत्मा का स्वभाव है उसे भी समाप्त कर

दिया इस मोहनीय कर्म ने और उस गुण का गला घोट कर सबके प्रति द्वेषभाव दुर्भाव  
 करना सिखा दिया इस मोहनीय कर्म ने । सज्जनता, जो आत्मा का गुण था उसे उल्टा  
 करके मोहनीय कर्म ने दुर्जनता—दुष्टता सिखा दी जीव को । सर्व जीवों के प्रति समान  
 दृष्टि रखने के आत्मा के स्वभाव को भी पलट दिया इस मोहनीय कर्म ने और वर्तमान के  
 व्यवहार में ईर्ष्याभाव सिखा दिया । फलस्वरूप जीव ज्यादा ईर्ष्यालु—द्वेषी बन गया ।  
 परमार्थभाव से जो परोपकार परायणता का आत्मा का स्वभाव था उसे भी इस मोहनीय  
 कर्म ने दबा दिया और जीव को ऐसा स्वार्थी बना दिया है कि आज जीव एक नम्बर का  
 स्वार्थी—स्वकेन्द्रित विचारधारावाला बन गया है । अब किसी भी काम या बात में सबसे  
 पहले जीव एक मात्र अपना ही सोचता है । माध्यस्थ वृत्ति के एक छोटे से परन्तु बड़े काम  
 के कीमति गुण को भी मोहनीय कर्म ने नहीं छोड़ा उसे भी आत्मा के पास नहीं रहने दिया  
 और वहाँ भी अपना पगडा जमा दिया, और जीव को कलह प्रिय बना दिया । थोड़ी देर  
 के लिए भी जीव को शान्त न रहने दिया और कर्म ने अशान्त बना दिया । अरे, यह तो  
 ठीक, परन्तु आनन्द भोगने की जीव की स्वतंत्रता भी छीन ली इस मोहनीय कर्म ने, बेचारे  
 जीव को उदासीन, उदास बना दिया । अब उदास बनकर जीव अपने ललाट पर हाथ रख  
 बैठा रहता है । प्रमोदभाव में दूसरों के गुणों को देखकर भी जीव जो राजी होता था वह  
 स्वभाव भी बदल दिया इस मोहनीय कर्म ने, और परिणाम स्वरूप दूसरों के गुणों को  
 देखकर ईर्ष्यालु बनकर निन्दक बनने लगा जीव । अरे, दूसरों के सुख को सुखरूप देखने  
 के, परसुख में राजी होने के बजाय ईर्ष्या अदेखाई की वृत्ति में जीव को जलना सिखा दिया  
 इस कर्म ने । अशोक—शोक—खेद रहित आनन्द स्वभाव को भी छीन लिया इस मोहनीय  
 कर्म ने, और बेचारे जीव को शोक, खेद विषाद करनेवाला उसी में डूबे रहनेवाला बना  
 दिया । निश्चितता की मस्ती भी छीन ली और उद्वेग, चिन्ता करनेवाला बना दिया मोहनीय  
 कर्म ने जीव को । निर्भर निडर—बन कर शेर की तरह घूमनेवाले जीव को मोहनीय कर्म  
 ने भयग्रस्त, डरपोक बनाया मोहनीय कर्म ने । अरे, गंभीरता जो जीव का प्रशंसनीय गुण  
 था उसे भी न रहने दिया इस भले कर्म ने और छिछरापन, हल्कापन, हास्यादि का स्वभाव  
 सिखा दिया इस मोहनीय कर्म ने । और अब जीव गंभीर न रहकर बात—बात में हा .. हा  
 .. ही .. ही .. करता हुआ हँसता ही रहता है । अरे, परगुण प्रशंसा या अनुमोदना तो दूर  
 रही परन्तु .. अब जीव ऐसा निन्दक बन गया है कुछ पुछिए ही मत । क्या मोहनीय कर्म  
 की लीला है ? किसी भी वस्तु या व्यक्ति के सामने प्रिय—अप्रिय—पसंद—नापसंद का  
 कोई सवाल ही खड़ा नहीं करना चाहिए जीव को लेकिन जीव इस मोहनीय कर्म के आधीन

ऐसा गुलाम बन चुका है कि . . . प्रत्येक वस्तु—एवं व्यक्ति के सामने रति—अरति, पसंद—नापसंद अच्छा—खराब का व्यवहार करता रहता है । विश्व के सभी छोटे बड़े जीवों की समानरूप से भेदभाव रहित, मैत्री भाव से मित्ररूप तथा भ्रातृभाव से आदि रूप में देखकर चलना था । जिससे विश्वमैत्री तथा विश्वभ्रातृत्व की भावना विकसित होती थी । इसके बदले इस कर्म ने विपरीत—उल्टे भाव ही पैदा कर दिये और विश्वशत्रुभाव, सबके प्रति द्वेष भाव, सगे भाई को भी भाई रूपमें न मानने देने की वृत्ति इस कर्म ने सिखा दी । अब विश्वमैत्री, विश्व प्रेम, वैश्विक भाईचारा कहाँ से संभव रहेगा ? सर्वथा असंभव लगता है । निर्विकारी बनने के बजाय विकारी—कामी बना दिया मोह ने और स्त्री—पुरुषों को कामभोगी—विषयी—विलासी बना दिया है ।

आखिर इस मोहनीय कर्म की कितनी पहचान करानी . . . और क्या क्या पहचान करानी यह मोहनीय कर्म जो समस्त संसार पर छाया हुआ ही अपनी जाल और पगडा जमाकर बैठा हुआ है । इसके नाटक से कौन अन्जान—अपरिचित है ? अरे । पूरा संसार एक मात्र मोहनीय कर्म का ही प्रत्यक्ष उदाहरण रूप है । समुद्र के जितना विशाल और गहरा यह मोहनीय कर्म पूरे संसार पर अपनी जाल बिछा कर बैठा है । समूचे विश्व के अनन्त जीवों को अपनी जाल में फँसाकर भारी पगडा जमा कर बैठा है । इतनी मजबूत पक्कड़ रखी है कि एक भी जीव मोह की जाल से (छूट) छटक न जाय इसका सघन ध्यान रखता है यह कर्म ।

### कर्म जाल से मुक्ति—

हाँ, अब आपने इस मोहनीय कर्म का स्वरूप समझ लिया होगा ? शायद अच्छी तरह पहचान लिया होगा मोहनीय कर्म को । अरे, वैसे इस मोहनीय कर्म को देखने समझने पहचानने के लिए बाहर जाने की जरूरत नहीं है यह तो प्रत्येक जीव के अनुभव की प्रत्यक्ष चीज है । संसार के सभी जीव इससे ग्रस्त हैं, इसकी पक्कड़ में फसे हुए हैं । अतः सबके अनुभव का विषय है । अतः सभी जीव मोहनीय कर्म का स्वाद अच्छी तरह चख चुके हैं । इसकी स्थिति को अच्छी तरह भुगत रहे हैं । मोहपरवशता मोह पराधीनता को अच्छी तरह भुगत रहे हैं, इसकी असर के नीचे अच्छी तरह दब चुके हैं । अनादि—अनन्त काल से अनन्त ही जीव इसके बंधन को भोग रहे हैं ।

आखिर जब तक इस मोहनीय कर्म की जाल से मुक्त होने का विचार नहीं किया जाएगा . . . छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं आजमाया जाएगा तब तक इस जीव की

स्थिति अनादि—अनन्त काल से जैसी चली आ रही है वैसी आगे भी चलती ही रहेगी। छुटकारा असंभव लगता है।

हाँ, एक मात्र उपाय प्रबल पुरुषार्थ करने का ही है। और वह पुरुषार्थ कैसा किस दिशा में हो? क्या और कैसा उपाय—पुरुषार्थ के रूप में 'करे'? इसके लिए एक ही सलाह—सूचना शायद पर्याप्त है।... हे चेतनात्मा ! जो जो प्रवृत्ति तू... दोषों की पापों के आचरण की कर रहा है उसे सबसे पहले करना छोड़ दे। नए पाप कर्मों को करना छोड़ना ही सभी दिशा में पुरुषार्थ है। अभी अभी जो पीछे मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों—प्रकृतियों का वर्णन देख आए हैं समझ आए हैं, उन उन दोषों का वैसा आचरण—सेवन न करना, तथाप्रकार के गुणों का आचरण करना ही एक मात्र विकल्प है। “नए कर्मों को न करना तथा पुराने कर्मों को सर्वथा न रखना” बस, इसे ही जीवन मन्त्र बना लीजिए। और ऐसा लक्ष्य रखकर जीवन जीने का प्रारंभ कर दीजिए। सचमुच, आप सच्चे साधक जागृत आराधक बन जाएंगे। जागृति आवश्यक है। जागृति से अप्रमत्त भाव आएगा। और ऐसा अप्रमत्त भाव यथाशीघ्र मोक्ष की तरफ प्रयाण कराएगा। उसमें प्रगति लाएगा। गुणोपासना—गुणों की उपासना करनी ही सच्चा धर्म है। “गुणों का विकास करना है और कर्मों का विनाश करना है।” बस, साधक इसे हमेशा के लिए अपना जीवन मन्त्र बना ले, यही साध्य है। इसे ही साधना बनाकर आगे बढ़ना है।

जैसे जैसे कर्मों का क्षय होता जाएगा वैसे वैसे आत्मा के गुण बढ़ते ही जाएंगे। यह परिणाम—फल का स्वरूप है। जबकि जैसे—जैसे गुणों का विकास आप साधते जाएंगे वैसे वैसे कर्मों का प्रमाण घटता ही जाएगा। इसलिए “गुणोपासना” और “कर्म वासना का क्षय” यही एक मात्र लक्ष्य बनाकर चलना चाहिए।

गुणोपासना सर्वश्रेष्ठ धर्म है। नए पाप कर्म न करना यही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। और आज धर्म करने में गुणों को विकसाते हुए आगे बढ़ना, या गुणलक्षी धर्म करना ही लोगों को ज्यादा कठिन लगता है। अपने पापों को ऐसे ही रखते हुए कुछ पुण्य संपादन कर लेने का धर्म लोगों को आसान लगता है। इतना ही नहीं अपने विषय—कषायरूप मोहनीय कर्म की पुष्टि करना, उन्हें पोषना, पोषते हुए जो भी प्रक्रिया हो उसे ही धर्म कह देना, या मान लेना जीवों को ज्यादा आसान लगता है। जैसे मीठा शक्करवाला दूध ही जीवों को ज्यादा रुचिकर लगता है। जीव यह नहीं समझते हैं कि... यह ज्यादा शक्कर कृमि करनेवाली, कफ करनेवाली, नुकसान करनेवाली है। इसका विचार किये बिना अंधाधून शक्कर का उपयोग उचित नहीं है। ठीक इसी तरह विषय—कषायों की पुष्टि करते हुए



धर्म करना, या उनकी पुष्टि के लिए धर्म करना यह सर्वथा उचित नहीं है। कभी धर्म का स्वरूप ऐसा न बना लें जिससे विषय—कषायादि के भावों की पुष्टि हो। यह सर्वथा हानिकारक है।

सच तो यह है कि... धर्म विषय—कषायादि राग—द्वेष का सर्वथा क्षय करनेवाला होना चाहिए। धर्म करने से हमारे राग—द्वेष क्षीण होने चाहिए। धीरे—धीरे कम होते होते सर्वथा समूल नष्ट होने चाहिए। प्राथमिक कक्षा में कम से कम विषय—कषाय, राग—द्वेष बिल्कुल पानी की तरह पतले जरूर होने चाहिए। हमारे राग—द्वेष को स्पर्श करे, स्वभाव (विभाव) को जो स्पर्श करे और उसे कम करे उस लक्ष्य का ही धर्म करना चाहिए। तभी असर होगी। उदाहरणार्थ—सामायिक समता के गुण को बढ़ाती हुई हमारे क्रोध कषाय को घटानेवाली है। प्रभू पूजा—दर्शन भक्ति मान—अभिमान के कषाय को घटाकर नम्रता बढ़ानेवाला धर्म है। तप—त्याग की आराधना लोभ दशा घटाकर निर्लोभ भाव लानेवाला धर्म है। व्रत—पञ्चवस्त्राण माया वृत्ति को कम करनेवाला धर्म है। तप—तपश्चर्या त्याग की आराधना राग—भाव को घटानेवाला धर्म है। इस तरह राग—द्वेष को घटाए, विषय—कषाय को भी कम—क्षीण करे वह और वैसा धर्म होना चाहिए। वही सर्वश्रेष्ठ है। यदि इससे विपरीत होता है और राग—द्वेषादि की, विषय—कषायादि की पुष्टि होती हो तो निश्चित रूप से उससे बचना ही चाहिए। ऐसा धर्म यदि करते भी हो अपना लक्ष्य दृष्टि बिन्दु बदलकर ही शुद्ध—सही दिशा का धर्म करना चाहिए। इस लक्ष्य का ही धर्म... हमें मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ाएगा। और अन्तिम साध्य को सिद्ध करने में सक्षम—कामयाब होगा।

मो = मोह क्ष = क्षय = मो + क्ष = मोक्ष—

यहाँ पर मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति अक्षरों को अलग करके करने पर, मोक्ष शब्द में प्रयुक्त 'मो' अक्षर मोहनीय कर्म का वाचक है। सूचक है। इस अर्थ में यहाँ प्रयुक्त किया जाय। तथा 'क्ष' अक्षर 'क्षय' शब्द का सूचक—वाचक है। इस तरह मोहनीय कर्म का क्षय करने के अर्थ को मोक्ष शब्द लक्षित करता है। ऐसी वाच्यार्थ ध्वनि से धर्म का लक्ष्य मोक्ष, और मोक्ष का लक्ष्यार्थ मोह कर्म क्षय का होता है। दोनों एक दूसरे के पूरक अर्थ हैं। धर्म मोक्षलक्षी ही होना चाहिए तथा मोक्ष की भावना के पीछे मोहकर्म का सर्वथा क्षय ही लक्ष्य होना चाहिए। धर्म करते समय ऐसा लक्ष्य बनाइये जिससे संपूर्ण रूप से मोहनीय कर्म का क्षय हो सके।

मोक्ष लक्ष्य धर्म में ही... तप—त्याग की साधना आती है। जिनके धर्म में मोक्ष का लक्ष्य ही नहीं है उनके धर्म में तप—त्याग की बात ही नहीं आती है। उल्टे भोग की प्रधानता रहती है। जिनका लक्ष्य मात्र स्वर्ग प्राप्ति, स्वर्गीय सुख की प्राप्ति का रहता है, उनके धर्म में भोग की प्रधानता रहती है। जहाँ भोग की प्रधानता रहती है वहाँ परिग्रह—संग्रह, सुख की साधन—सामग्रियों की भरमार और उनके भोग की तीव्रेच्छादि विपुल प्रमाण में रहती है। परिणाम स्वरूप अतृप्तेच्छा को तृप्त करने के पीछे, अपूर्ण मन को भरकर पूर्ण करने के लिए वह भोगेच्छा से सुखैषणा की वृत्ति में धर्म करता है। परिणाम स्वरूप मोक्ष के समीप पहुँचना तो दूर रहा परन्तु मोक्ष की दिशा में भी अग्रसर नहीं हो पाता है। जिन धर्मवालों ने अपने भगवानों को भी भोगमय, लीला अवतारी बताया है उनके जीवन में भी तप—त्याग की बात ही नहीं आती है। भोग प्रधान जीवन बन जाता है। लीला करना ही लक्ष्य बन जाता है। अतः परिणाम स्वरूप वे स्वयं भी मोक्ष मार्ग प्ररूपक नहीं बन सकते और न ही उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

मोक्ष का सीधा अर्थ है संसार से छुटकारा। यदि संसार के बंधन—दुःखादि से जो मुक्ति न दिला सके उसे धर्म कैसे कहना? रोग से मुक्ति न दिला सके उसे औषध कैसे कहना? अतः मोक्ष यदि समझ में न भी आ सके तो संसार के बंधन से मुक्ति इतना तो ख्याल में आ सकता है? राग—द्वेष से मुक्ति; विषय एवं कषायों से मुक्ति... इत्यादि अर्थों को अच्छि तरह समझ सकते हैं? अतः धर्म एक ऐसी औषधरूप होना चाहिए जो इन सबसे मुक्ति दिला सके। इन राग—द्वेषादि की ही वृद्धि करे, इन्हें ही बढ़ाता रहे और इन्हें ही भोगने की लालसा बढ़ाता रहे उसे धर्म कैसे कहना? अतः धर्म विरतिमय, विरक्तिस्वरूप, वैराग्यमूलक, पापादि की निवृत्तिप्रधान ही होना चाहिए। तो ही वह मोक्षसाधक बन सकेगा। अन्यथा संसार वर्धक बनेगा।

मोक्षैकलक्षी साधक ही सर्वथा विरति प्रधान धर्म आश्रय सकता है। कर सकता है। सच ही कहा है सर्वज्ञ भगवन्तों ने कि... जो कुछ मोक्ष में प्राप्त होता है उसे यहाँ पर ही... प्राप्त करना होता है। अनन्तज्ञानादि, वीतरागतादि सबकुछ यहाँ पर ही प्राप्त करना है और बाद में ही मोक्ष में जाना है। मोक्ष में जाकर कोई वीतरागतादि गुणों को प्राप्त नहीं करता है। जो भी किया जाता है वह सब यहाँ पर ही प्राप्त किया जाता है। बाद में मोक्ष में जाया जाता है। वीतरागतादि के गुणों के अनुरूप धर्म विरतिप्रधान, वैराग्यमय ही होना चाहिए। ऐसा धर्म ही मोक्ष के अनुकूल है। अन्य सब प्रतिकूल हैं। १४ गुणस्थानों पर क्रमशः आरूढ होते जाना यह भी धर्म के क्षेत्र में प्रगति की निशानी है। आध्यात्मिक

विकास की पहचान है। गुणस्थान के ये सोपान और इन पर चढ़ते हुए क्रमशः आगे बढ़ना यही मोक्ष के समीप जाने का प्रमाण एवं प्रयास है। इसके सिवाय अन्य कोई विकल्प ही नहीं है। गुणस्थानों पर आगे बढ़ना ही मोक्ष को प्राप्त करने का प्रबल पुरुषार्थ है। यही राजमार्ग है।

### राग में सुख या राग से सुख ? राग में सुख और सुख में राग-

एक मोहनीय कर्म रूपी सिक्के के दो पहलु की तरह राग और द्वेष ये दो साधन हैं। जो संसार के अनन्त जीवों में से प्रत्येक जीवमात्र को प्राप्त हुआ है। संसारी जीव हो और राग द्वेष युक्त न हो यह संभव ही नहीं है। इसी तरह राग—द्वेष युक्त हो और संसारी न हो यह कभी संभव ही नहीं है। अतः अनिवार्य रूप से संसारी जीव राग—द्वेष युक्त ही होते हैं। और... राग द्वेषग्रस्त जीव अनिवार्य रूप से संसारी ही होते हैं। राग—द्वेष ये मोहनीय कर्म का ही रूप है। अतः अपर पर्याय है, पर्यायवाची नाम है, ऐसा स्पष्ट कह सकते हैं। मोहनीय कर्म ही संसार है और संसार ही राग—द्वेषात्मक मोहस्वरूप है।

“मुह्यन्ति यत्र जनाः तद् मोहनीयं” जिसमें और जिसके कारण जीव मोहित होते हैं उसे मोहनीय कहते हैं। शायद राग का स्वरूप मोहनीय का है यह स्पष्ट ख्याल में आ सकता होगा, परन्तु द्वेष भी मोहस्वरूप है इसका ख्याल आना मुश्किल है। थोड़ा सा ध्यान दीजिए... राग की पूर्ति के लिए जीव द्वेष करता है। जब राग किया और राग पूर्ण नहीं हुआ या बीच में अवरोध आए या जैसी और जितनी धारणा राग की थी वह पूर्ण नहीं हुई अतः द्वेष में रूपान्तर हो जाता है मोह। आखिर तो राग की ही पूर्ति करनी है। परन्तु क्या करना ? राग की पूर्ति में बाधा आ रही है, तब जीव उसकी पूर्ति के लिए द्वेष करता है। राग यदि अनुकूल क्रिया है तो द्वेष प्रतिक्रिया है। *One is Action and another is reaction* जीव ने मोहवश मोह के कारण जो कुछ किया वही राग और द्वेष है।

जीव ने मान रखा है कि... राग सुखकारक है। अनुकूल प्रवृत्तिरूप होने से राग सुखकारक लगता है। और द्वेष प्रतिकूल होने से दुःख रूप लगता है। वस्तु या व्यक्ति के संचय—संग्रह से सुख मिलता है या नहीं यह निश्चित नहीं है परन्तु वस्तु और व्यक्ति के राग, तीव्र राग से जरूर सुख मिलता है ऐसा जीव ने मोहवश मान रखा है। इसलिए “राग में सुख” या “राग से सुख” इन दोनों में जीव अपनी वृत्ति को समा कर बैठा है। राग में जीव ने सुख मान रखा है। और जब राग में सुख प्राप्ति की इच्छा पूर्ण हो जाती है तब राग से सुख प्राप्त होता है ऐसी धारणा निश्चित हो जाती है। और यदि राग की वृत्ति—प्रवृत्ति से अपेक्षित सुख नहीं मिला तो द्वेष करके भी जीव सुखी होने—बनने की इच्छा करता है।

द्वेष के विभाजन में क्रोध—और मान की गणना होती है। सैकड़ों बार प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कई लोग जानबूझकर क्रोध—गुस्सा करके अपना कार्य करा लेते हैं। आँखे लालकर . . जोर से चिल्लाते हुए बोलकर अपना काम निकलवाकर, कराके व्यक्ति संतुष्ट—राजी होती है। वह मेरा काम हो गया। कई बार मान—अभिमान से, सत्ता के हुकम से काम निकलवाकर राजी होते हुए काफी देखे हैं। ये जीव द्वेष के दुर्भाव में क्रोध मान की प्रवृत्ति करके राजी होते हैं। अतः द्वेष करने में, रखने में जीव ने सुख मानकर उसे अपनाकर रखा है।

राग से सुख पाने के लिए रागी को अपना मानने बनाने के लिए जीव ने लोक व्यवहार में भाषा के प्रयोग में अहं मम, मैं मेरा इन शब्दों का प्रयोग ज्यादा किया है। जीव इन शब्दों का बहुत ज्यादा प्रयोग करता ही आया है। वर्षों बीत गए। आप बहुत अच्छी तरह गौर से देखेंगे तो आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि—अहं—मम, मैं और मेरा इन शब्दों का प्रयोग किये बिना शायद जीव का एक दिन भी नहीं बीता होगा। आज भी प्रतिज्ञा कर के देखिए कि . . १ दिन के लिए मैं “मैं और मेरा” इन शब्दों का प्रयोग नहीं करूँगा। तो शायद यह प्रतिज्ञा बड़ी भारी लग जाए। १ दिन भी यह प्रतिज्ञा पालनी बड़ी समस्या खड़ी कर दे।

उपाध्यायजी म. सा. ज्ञानसार ग्रन्थ में स्पष्ट कहते हैं कि . . “अहं ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्धकृत्” “मैं और मेरा” यह मोहनीय कर्म का मन्त्र है जो सारे जगत् को मोह में अन्धा बनानेवाला है। बस, यही मोहपोषक मन्त्र है। जीव को इस संसार में पुष्ट—मजबूत करता है। इसीलिए जीव इस मन्त्र का अजपाजप—रटण चालू करता है। और इसकी पूर्ति में राजी होता है। जब ऐसा लगे कि अब पूर्ति नहीं होती है तो द्वेष करके उसकी पूर्ति करके पुनः उसमें भी जीव राजी होता रहता है। परिणाम स्वरूप राग और द्वेष दोनों को जीव ने संसार में जीने के आवश्यक अनिवार्य अंग है ऐसा मान रखा है और हथियार के रूप में उनका उपयोग करता है। और वह भी सुख की धारणा में।

भगवान ने कहा कि यह भी विपरीत धारणावाला मिथ्यात्व ही है। जो सर्वथा संसार चलानेवाला, बढ़ानेवाला, बिगाड़नेवाला है, कई भव बढ़ानेवाला है, दुःखदायी है उसे जीव ने आवश्यक अंग मान लिया है। जो छोड़ने जैसा है उसे जीव ने मंत्रवत् अपना लिया है और अजपाजप कर रहा है। यही सबसे खतरनाक वृत्ति है। ऐसा सर्वथा विपरीत आचरण ही मिथ्यात्वरूप है।

## १८ पापस्थानों में विभाजन—

१८ पापस्थानों में छट्ठे क्रोध से लेकर ११ वें द्वेष तक के ६ पापों को भाव (पाप) कर्म के रूप में गिने हैं। ये पाप रूप भी हैं और कर्म रूप भी हैं। कर्म के उदय के रूप में सामने आते हैं। और पुनः वैसी प्रवृत्ति कराते हैं तब नए कर्म भी अवश्य बंधाते हैं। अतः मोहनीय कर्म की प्रकृति, और प्रकृति से पुनः प्रवृत्ति.... इस तरह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और भविष्य में भी अनन्तकाल तक चलता रहेगा।

इन ६ पाप प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों को दो विभाग में विभक्त करने पर... क्रोध, मान और द्वेष एक ग्रूप में आते हैं। तथा माया—लोभ— और राग ये तीनों प्रवृत्ति एक ग्रूप में समाती हैं। दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ अपना—अपना काम करती हैं। सुख प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करती हैं। दोनों ने अपना लक्ष्य सुख प्राप्ति का बना लिया है। एक दूसरे की प्रवृत्ति में सहायता करते हैं। राग अक्सर द्वेष में बदलता हुआ दिखाई जरूर देता है। जबकि द्वेष पुनः बदलकर राग में आया हुआ बहुत कम देखा जाता है। उदाहरण के लिए पति—पत्नी का राग—प्रेम कुछ वर्षों बाद द्वेष में बदलता हुआ जरूर दिखाई देता है। आखिर घटस्फोट के लिए कोर्ट—कचेरियों में चक्कर लगाते हुए देखे जाते हैं। जबकि द्वेष के बाद राग में (प्रेम में) आनेवाले मात्रा में बड़ी मुश्किल से नाम मात्र भी देखे जाते होंगे। बस, इसी तरह संसार चलता रहता है।

यह संसार एक गाड़ी के जैसा है। और मोहनीय कर्म रूपी चार पहिये हैं। दो आगे और दो पीछे। आगे के दो पहियों में एक तो मिथ्यात्व का और दूसरा हास्यादि षट्क का। बस, पिछले दो पहियों में एक विषय का और दूसरा कषाय का। आगे के दो पहिये दिशा निर्देश करते हैं। दिशा में बदलाव भी लाते हैं। जबकि पीछे के दोनों पहिये गति प्रदान करते हैं। मिथ्यात्व जीवन की दिशा ही बदल देता है। सर्वथा मोड़ देता है। और हास्यादि भी सर्वथा दिशा बदलकर स्वभाव बदल देते हैं। मिथ्यात्व के पीछे कषाय कारणभूत सहायक बनते हैं। जबकि हास्यादि ६ नोकषाय विषय के निर्देशक कषायों की वृद्धि से मिथ्यात्व की वृद्धि तथा मिथ्यात्व की वृद्धि से कषाय की वृद्धि इस तरह अन्योन्य रूप में बढ़ावा देनेवाले हैं। इस तरह चारों पहिये मिलकर गाड़ी को चलाते रहते हैं। बस, इस तरह संसार की गाड़ी चलती रहती है। गतिप्रदान कारकता तथा दिशानिर्देश की कारणता ये दोनों संसार की गाड़ी को चलाते रहते हैं। ऐसा है संसार का स्वरूप।

## मोहनीय कर्म के संस्कार जन्मजात—

अपने संसार को अच्छि तरह देखा होगा। मनुष्य जन्म लेता है... जन्म के बाद कोई ज्ञान अपने आप प्रगट नहीं होता है परन्तु मोहनीय कर्म के उदय के कारण क्रोध मानादि छोटे बच्चे में भी व्यक्त हो जाते हैं। झूठ—चोरी आदि के संस्कार बिना सिखाए भी आते हैं। जब कि ज्ञान बिना सिखाए क्यों नहीं आता है? ज्ञान प्राप्त करने के लिए काफी परिश्रम उठाकर पढ़ना पड़ता है। तब ज्ञान संपादन किया जा सकता है। परन्तु मोहनीय कर्म जन्य विषयवासना, क्रोधादि कषाय, हास्यादि, तथा मिथ्यात्व आदि एक भी बात संसार में किसी जीव को सिखानी नहीं पड़ती है। यही संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य है। पूर्वकृत मोहनीय कर्म के उदय के कारण... अपने आप क्रोधादि कषाय जागृत होते हैं। कर्म की प्रकृतियों का उदय होता है। और उदय होने पर जीव अपने आप क्रोधादि—हास्यादि सब चालू कर देता है। तीन—चार ग्रहीने का छोटा सा बच्चा भी अपनी माँ को दो थप्पड़ मारता है, आँखें निकालकर गुस्सा दिखाता है। सब कुछ करता है। यही सूचित करता है कि पूर्व में उपाजित कषायों का उदय हुआ है।

हास्यादि छः — और कषायों के लिए उग्र का सवाल नहीं है। वे जन्मजात हैं। लेकिन मिथ्यात्व और विषय वासना के लिए उग्र का सवाल जरूर है। थोड़ी थोड़ी समझ (ज्ञान—बुद्धि) बढ़ने पर आ जाने पर... मिथ्यात्व के अन्दर के बीज अपने आप विचारों और वाणी में प्रगट होने लग जाता है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की प्रकृति है। और उदय में आने पर सबसे पहले मन को पकड़ती है। आत्मा के सबसे ज्यादा नजदीक मन है। बाद में शरीर, और शरीर पर इन्द्रियाँ। मन विचार करने में सहायक साधन है। जैसे मछली के लिए पानी चलने में सहायक साधन है ठीक वैसे ही, मन विचार करने के लिए। आत्मा ने जैसे रहने के लिए घर के रूप में दो पैरों के खंभों का शरीर बनाया और उसमें आत्मा पूर्ण रूप से सर्व प्रदेशों में फैलकर रहती है। और उसी मकान के खिडकी दरवाजे के रूप में... पाँचों इन्द्रियाँ बनाई हैं। जिनके द्वारा देखने—बोलने आदि का व्यवहार हो सके। भाषा का प्रयोग करने के लिए वाचा वाणी बनाई और अन्दर ही विचारार्थ मनो वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके पिण्ड रूप में मन बनाया है। जिसका सोचने विचारने के लिए उपयोग कर रहा है जीव। विचार ज्ञानात्मक है। आत्मा का अपना ज्ञान विचार के माध्यम से मनः पटल पर प्रगट होता है। मन विचारतंत्र में सहायक साधन है। जो जड़ है। और विचार वाणी के रूप में परिवर्तित करके जीव भाषा प्रयोग द्वारा बोलकर देहतंत्र से बाहर निकलता है। इस तरह आत्मा का ज्ञान बाहर निकलता है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि... मन आत्मा के अत्यन्त समीप में हैं। यह तो बात हुई ज्ञान की। ज्ञानावरणीय कर्म भी एक कर्म है। कर्म का एक विभाग है। ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होकर क्षयोपशमानुसार आत्मा अपने अल्पाधिक ज्ञान को मनः पटल पर प्रगट कर सकती है तो फिर अन्य कर्मों के लिए कोई प्रतिबंध थोड़ा ही है? दूसरी तरफ आत्मा पर लगे आठों कर्मों में सबसे ज्यादा प्रमाण में मोहनीय कर्म है। अन्य कर्मों की अपेक्षा भी हजारों लाखों गुना ज्यादा प्रमाण मोहनीय कर्म का है। तुलना में शेष अन्य सभी कर्मों का प्रमाण काफी कम है। उदाहरणार्थ यदि मोहनीय कर्म समुद्र के जितना है तो ज्ञानावरणीयादि उसकी तुलना में बड़े विशाल तालाब के जितने प्रमाण में हैं।

अब स्वाभाविक ही है कि इतने ज्यादा प्रमाण (मात्रा) में भी जब मोहनीय कर्म है। दूसरी तरफ बंध की स्थितियों में भी सबसे ज्यादा उत्कृष्ट बंध की स्थिति भी मोहनीय कर्म की ही है। अरे, ज्यादा तो क्या ज्ञानावरणीयादि अन्य सभी कर्मों की उत्कृष्ट बंध स्थितियों की अपेक्षा दुगुनी से भी ज्यादा है। ज्ञाना, दर्शना, अन्तराय, और वेदनीय कर्म इन चारों की उत्कृष्ट बंध स्थिति ३० को. को. सागरोपम प्रमाण है तो इनकी तुलना में मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थिति ७० कोडा. को. सागरोपम प्रमाण है। सोचिए दुगुनी तो सिर्फ ६० को. को. सा. प्रमाण ही होता लेकिन ६० से भी ज्यादा ७० को. को. सा. है। इससे सिद्ध होता है कि... मोहनीय कर्म की राग—द्वेष विषय—कषाय तथा मिथ्यात्वादि की प्रवृत्तियाँ कितनी ज्यादा भयंकर कक्षा की होगी?

यह तो हुई बात मोहनीय कर्म की बंध स्थिति तथा प्रमाण की, अब तीसरी दृष्टि में प्रकृतियों का भी विचार किया जाय तो ज्ञाना. की ५, दर्शना. की ९, अन्तराय की ५ और वेदनीय की २ के सामने तुलना में मोहनीय कर्म की २८ कर्म प्रकृतियाँ सबसे ज्यादा हैं। शायद आप कहेंगे कि... संख्या के आंकड़ों की दृष्टि से छलना करने पर... नाम कर्म की १०३ कर्म प्रकृतियाँ हैं। परन्तु ये १०३ प्रकृतियाँ मूल १४ पिण्ड प्रकृतियों की अवान्तर प्रकृतियों का विस्तार करने पर १०३ की संख्या आती है। यदि मोहनीय कर्म के ४ कषायों का १६ किया और फिर अवान्तर कक्षा में जोड़ते—जोड़ते कषायों के  $१६ \times ४ = ६४$  प्रकार आसानी से किये जा सकते हैं। इस तरह अवान्तर प्रकृतियों की संख्या मिलाने पर मोहनीय कर्म की संख्या का अंत भी बड़ा बन सकता है।

लेकिन इससे भी ज्यादा आश्चर्य तो इस बात का है कि... नाम कर्म की १०३ प्रकृतियों में से प्रकृतियाँ पुण्य की है। और प्रकृतियाँ पाप की है। पुण्य की प्रकृति शुभ है जो सुख रूप अच्छा फल देती है। जीव को पुण्य अनुकूल अच्छा सुखकर लगता है।

इस तरह पुण्य रूप और पापकारी दोनों प्रकार की शुभ—अशुभ प्रकृतियों की संख्या मिलने पर अंक बड़ा जरूर बन जाता है। परन्तु... मोहनीय कर्म में सब प्रकृतियाँ एक मात्र पाप की ही हैं। पुण्य की शुभ प्रकृति मोहनीय में एक भी नहीं है। क्या क्रोध—मानादि की कोई भी कर्म प्रकृति शुभ अच्छी हो सकती है? जी नहीं! कभी भी किसी एक भी कषायादि की प्रकृति को शुभ—पुण्य की नहीं कह सकते हैं। कहना तो क्या सोचना—विचारना भी उचित नहीं है।

दूसरी दृष्टि से देखने पर... नाम कर्म की प्रकृतियों का कार्य क्षेत्र शरीर प्रधान है। शरीर बनाना, इन्द्रियाँ, गति, रूप, रंगादि बनाना आदि प्रकार का कार्य नाम कर्म का है। नाम कर्म सीधे आत्म गुणों का घात नहीं करता है। अतः वह अघाती कर्म के रूप में है। जब कि मोहनीय कर्म घाती कर्म है। यह सीधे आत्मा के यथाख्यात चारित्र गुण का ही घात करता है। यथाख्यात स्वरूप पर ही सीधा आक्रमण करता है और आत्मा के समतादि के स्वभाव को खतम करके उल्टा क्रोधादि कषायवाला (विभाववाला) बना देता है। अतः मोहनीय स्वभावकारक है। स्वभाव बनानेवाला है। शरीर—इन्द्रियाँ—गति—रूप रंगादि किसी पर भी मोहनीय कर्म का कार्य ही नहीं है। इसको शरीर रचना से कोई संबंध नहीं है। मोहनीय कर्म ने अपनी सीधी असर सीधे आत्मा के मूल गुणों पर ही रखी है। जबकि नाम कर्म आत्मा के गुणों पर कोई काम नहीं करता है। उसका कार्यक्षेत्र एक मात्र शरीरतंत्र है।

अब आप सोचिए! कौन ज्यादा खतरनाक है? नाम कर्म या मोहनीय कर्म? जो मकान की बाहरी दिवाल को तोड़ फोड़ जाय उसमें ज्यादा नुकसान होगा? या फिर जो घर में घुसकर तिजोरी तोड़कर गहने आभूषण रुपए आदि सब चुरा जाय उसमें नुकसान ज्यादा है? स्वाभाविक है। उत्तर में छोटा बच्चा भी यही कहेगा कि बाहरी दिवाल पर का नुकसान खास बड़ा नहीं है। परन्तु घर के अन्दर का नुकसान बहुत ज्यादा है। ठीक उसी तरह अघाती कर्मों में जो नाम कर्मादि हैं वे तो सिर्फ शरीर लक्ष्य हैं। आत्मा के बाहर जो शरीर है उस पर ही नुकसान—फायदा सब कर जाते हैं। वह छोटा नुकसान है। जबकि... घाती कर्म मोहनीयादि जो सीधे आत्मा के मूलभूत गुणों पर घात करते हैं वह बहुत बड़ा ज्यादा नुकसान है। इसलिए साधना के क्षेत्र में भी पहले अघाति कर्मों को क्षय करने का लक्ष्य रखने के बजाय सबसे पहले घाती कर्मों को ही क्षय करने का लक्ष्य रखकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए।



## मोहनीय कर्म के क्षय का लक्ष्य और साधना—

सर्वज्ञ परमात्मा ने कर्म विज्ञान के स्वरूप को अद्भुत—अनोखे विशिष्ट अर्थ में समझाया है। अत्यन्त गहन—तत्त्व है। शास्त्रों में इसका विश्लेषण सिर के एक एक बाल की तरह अलग—अलग विभाजनादि करके दर्शाया है। इसमें भी मोहनीय कर्म जो कर्मों का राजा है अतः इसका स्वरूप समुद्र से भी ज्यादा विस्तारपूर्वक समझाया है। आप ही सोच समझ सकते हैं कि यहाँ सिंधु में से बिंदु परिमित स्वरूप जो दिया है उससे ख्याल आ सकता है कि मोहनीय कर्म कितना प्रबल गहनतम है।

१४ गुणस्थानों में से १ से लगाकर १२ गुणस्थान तक तो मोहनीय कर्म का पूरा एकछत्री साम्राज्य है। मोहनीय कर्म ने अपनी प्रबल पक्कड़ रखी है। है तो सिर्फ २८ कर्म प्रकृतियाँ ही लेकिन फिर भी १ ले गुणस्थान से आगे आगे... के गुणस्थानों पर आत्मा को चढ़ने तभी देता है जब थोड़ी—थोड़ी कर्म प्रकृतियाँ क्षीण होती जाय। जैसे—जैसे मोहनीय कर्म का जोर कम होता जाएगा, उसकी प्रकृतियाँ क्षय होती जाएगी... वैसे—वैसे आत्मा का आवृत्त स्वरूप कर्मावरण के विलय से उजागर होता जाएगा और आत्म गुण प्रकट होते जाएंगे। इन गुणों के प्रादुर्भाव से... चेतनात्मा एक—एक गुणस्थान ऊपर—ऊपर चढ़ती जाएगी। मोक्ष मार्ग के सोपानों पर क्रमशः आगे चढ़ती—चढ़ती आत्मा एक दिन मोक्ष में पहुँच सकेगी।

अतः जैसे जैसे कपड़ा धुलता है उससे उसकी चमक—दमक—स्वच्छता—शुद्धि सभी खिलती जाती है। बढ़ती जाती है। सोने—चांदी—आदि पर भी जैसे जैसे पॉलीश की जाती है वैसे—वैसे चमक—दमक बढ़ती जाती है। ठीक वैसे ही आत्मा जैसे जैसे धर्म साधना रूपी साबुन या पॉलीश इस्तेमाल करती जाय, वैसे—वैसे कर्म निर्जरा होती जाय... और आत्मा की चमक—दमक—शुद्धि—आदि बढ़ती ही जाती है। यही चमक—दमक—और शुद्धि आदि चेतनात्मा को गुणस्थान के एक एक सोपान क्रमशः आगे बढ़ाती जाती है। क्योंकि कर्मावरण के हटने से गुणों का प्रादुर्भाव होता जाता है। अतः जैसे—जैसे गुण बढ़ते जाएंगे वैसे—वैसे चेतनात्मा आगे—आगे के गुणस्थानरूपी सोपान पर आरूढ़ होती जाएगी। अन्ततः संपूर्ण शुद्धता और सर्वथा सर्वांशिक सर्व कर्मों की संपूर्ण निर्जरा (क्षय) करके हमारी ही चेतनात्मा सर्व कर्मसंग रहित सिद्ध—बुद्ध—मुक्त—सिद्धात्मा, मुक्तात्मा, बुद्धात्मा बन जाती है।

गुणों के विकास की साधना का क्रम अखण्ड रूप से निरंतर जारी रहना चाहिए ।  
बस, इसीका नाम है गुणस्थान क्रमारोह ।

### मात्र मोहनीय कर्म के क्षय की साधना—

८ कर्मों में दो विभाग हैं । एक विभाग घाती कर्म का और दूसरा अघाती कर्म का । दोनों में ४—४ कर्मों की विवक्षा से कुल ८ कर्मों की गणना है । चारों अघाती कर्म ज्यादा चिन्ताजनक नहीं हैं । क्योंकि वे तो बेचारे सीधे आत्म गुणों का घात करने का काम नहीं करते हैं । वे देहलक्षी हैं । शरीरप्रधान उनका कार्यक्षेत्र है । नाम कर्म ने हाथ—पैर—अंगोपांग—गति—जाति, इन्द्रियाँ—रूप—रंगादि युक्त शरीर बनाकर दे दिया और जीवात्मा को एक ढाँचे में डालकर संसार के व्यवहार में भेज दिया । गोत्र कर्म ने अपनी तरफ से उच्च—नीच गोत्र, ऊँचा कुल, जाति—खानदानी या हल्की कक्षा का कुल—गोत्र—खानदानी आदि देने का काम किया । आखिर जीव द्वारा जैसा उपाजित कर्म था तदनुसार ही मिलता है । इसके पश्चात् वेदनीय कर्म ने शरीर का ध्यान रखकर शरीर पर रोग प्रगटाना या नहीं का कार्यभार संभाला । सुख—शांता देनी या दुःख—अशांता—वेदना—पीडा—तकलीफ देनी ? इसकी जिम्मेदारी वेदनीय कर्म ने अदा की । और आयुष्य कर्म ने निर्धारित काल अवधि रहने के लिए दी । इस जन्म में आकर इस शरीर—योनी में जन्म लेकर कितने वर्षों तक यहाँ रहना ? कितने वर्षों का जीवन जीना इत्यादि काल गणना का विभाग संभालकर काल अवधि का आयुष्य दे दिया ।

इस तरह चारों अघाति कर्मों ने अपना—अपना कार्यक्षेत्र—विभाग संभालकर अपना—अपना कर्तव्य निभाया । दूसरी तरफ चार घाती कर्म हैं । इनमें आत्मा के मूलभूत गुणों का घात करने की प्रबल शक्ति है । इन चारों को शरीर, अंगोपांग, रूप—रंग—गति—जाति—आदि किसी से कोई मतलब ही नहीं है । ये सीधे आत्म गुणों का घात करनेवाले घातक हैं । ज्ञानावरणीय कर्म ने आत्मा के मुख्य ज्ञान गुण का ही गला घोट दिया । और ज्ञान को दबा दिया । आवृत्त—आच्छादित कर दिया । परिणाम स्वरूप आत्मा अज्ञानी—अल्पज्ञानी बन गई । जैसे प्राण के बिना जीना संभव नहीं है वैसे ही स्थिति जीवूत्मा के लिए ज्ञान के बिना जीने में होती है । ज्ञान गुण का घात करने से आत्मा की ज्ञान की मात्रा सर्वथा घटा दी .. और जैसे कोई हाथ—पैर से विकलांग—पंगु बनता है वैसे ही जीव ज्ञान से पंगु बना । वृद्धि का अंश मात्र बचा । सर्वथा ज्ञान विवेक रहित स्थिति में कैसा जीवन पंगु बनता है ? इसे वृद्धि विकल कहते हैं ।

दूसरी तरफ दर्शनावरणीय कर्म जो ज्ञानावरणीय कर्म का साथ देनेवाला है, उसके साथ चलनेवाला है उसने ज्ञानेन्द्रियों पर विकलता शक्ति क्षीणता—दुर्बलता लाकर और अधूरे में पूरापन.... जीवात्मा को नींद में डाल दिया। गाढ निद्रा में कुंभकर्ण जैसी स्थिति कर दी। तीसरी स्थिति अंतराय कर्म ने खराब कर दी। दान—लाभादि में, मिलने और लेने देने के क्षेत्रमें, भोगने—तथा खाने—पीने आदि के क्षेत्र में प्रत्येक जगह विघ्न खड़े कर दिये। इतना ही नहीं शक्ति हीन बनाकर जीव को दुर्बल—उत्साह उमंग रहित निरुत्साहित जीवन कर दिया।

सात कर्मों की बात तो हो गई। अब आप सोचिए... अन्य जितने भी विषय शेष बचे हैं वे सब मोहनीय कर्म पूरे कर देता है। मोहनीय कर्म अपनी पूरी पक्कड़ जीव पर जमाकर जीव की पूरी शकल ही बदल देता है। और उसे विषयी—कषायी—रागी—द्वेषी—क्रोधी—अभिमानि, मायावी, कपटी, लोभी—ईर्ष्यालु.... मिथ्यात्वी—अश्रद्धालु स्त्री लंपट—कामी—पुरुष कामी, नपुंसक—जोकर जैसा बनाना... आदि अनेक तरीकों से स्वभावादि बदलकर... जीवात्मा की हालत विकृत कर दी। मोहनीय कर्म शराबी जैसा है। शराब के नशे की तरह काम करता है। अन्य सभी कर्म थोड़ा—थोड़ा विभाग संभालते थे तब मोहनीय कर्म ने मुख्य विभाग संभाला और स्वभाव—स्वरूप श्रद्धा आदि सब कुछ खतम करके जीव की स्थिति संसार में सर्कस के जोकर के जैसी कर दी। संसार के बीच लाकर जीव को ऐसा नाटक करनेवाला नृत्यकार बना दिया कि जिसकी हम कल्पना ही नहीं कर सकते हैं।

**किसका क्षय पहले करें?—**

इन कर्मों का ऐसा स्वरूप समझने के बाद आप स्वयं ही निर्णय कर सकेंगे कि किस कर्म का क्षय पहले करना चाहिए? किस कर्म को खपाने की पहले प्राथमिकता देनी चाहिए? शायद सभी इस बात में एक साथ एक मत — एक विचार से सहमत होंगे कि..... पहले मोहनीय कर्म का ही क्षय करना चाहिए। हमारे घर में घुसा हुआ खतरनाक चोर कौन सा है? ज्यादा नुकसान करनेवाला कौन है? अधिक से अधिक नुकसान करनेवाला जो हो उसका क्षय पहले करना चाहिए, बिल्कुल सही बात है। जैसे एक राजा को जीत लेने मात्र से पूरी सेना, पूरा राज्य जीता जा सकता है। ठीक उसी तरह पहले कर्मों के राजा मोहनीय कर्म को जीतने से अन्य सभी कर्म आसानी से जीते जा सकते हैं।

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।

दसहा उ जिणिताणं, सव्व सत्तु जिणामहम् ॥ १३/३६

एगप्पा अजिए सत्तु, कसाया इंदियाणि च ।

ते जिणित्तु जहाणायं, विहरामि अहं मुणी ॥ १३/३८

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र में केशी—गौतम संवाद नामक अध्याय में— एक को जीतने से पाँच और पाँच को जीतने से दस और इस तरह सर्व शत्रुओं को जीता जा सकता है । इनमें एक आत्मा को जीतने से पाँचों इन्द्रियाँ और फिर चारों कषाय इस तरह  $१ + ५ + ४ = १०$  को जीते जा सकते हैं । आत्मा सबकी केन्द्रस्थानरूप है । अतः सर्व प्रथम इसको जीतना आवश्यक है ।

इस तरह सभी कर्मों में मोहनीय कर्म मुख्य राजा है । इसकी सेना में मुख्य सेनापति — मिथ्यात्व है । २८ प्रकृतियों की इसकी सेना बलवत्तर है । अतः सर्व प्रथम मोहनीय कर्म को ही जीतना चाहिए । जैन धर्म में महामंत्र नवकार में “नमो अरिहंताणं” का मूल मंत्र दिया है । इस मूलमंत्र के अरिहंत शब्द में— ‘अरि’ + ‘हंत’ शब्द है । ‘अरि’ अर्थात् आत्मा के राग—द्वेष—मोहादि शत्रु और इनका क्षय करने का लक्ष्य रखकर चलनेवाला साधक एक दिन अरिहंत बन सकता है । ऐसी साधना साधकर बने हुए अरिहंत साधना के इस रहस्य का आदर्श हमारे जैसे साधकों के लिए पीछे छोड़ गए हैं । अतः “सव्व पावप्पाणासणो” सभी पाप कर्मों का प्रकृष्ट—नाश—(क्षय) करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए । इसी पटरी पर हम साधक भी हमारी गाड़ी चलाएं तो साध्य को साधने में साधक को सिद्धि प्राप्त हो सकती है और साधक स्वयं सिद्ध बन सकता है ।

## १२ गुणस्थानों पर एकमात्र मोह क्षय की प्रक्रिया—

पहले गुणस्थान से लगाकर १२ गुणस्थानों पर अन्य कर्मों की अपेक्षा एक मात्र मोहनीय कर्म को ही समूल क्षय करने की साधना बताई गई है । कुल १४ गुणस्थान हैं । इनमें १४ वाँ गुणस्थान तो सिर्फ पंच ह्रस्वाक्षरोच्चार कालमात्र समय का ही है । वहाँ तो ज्यादा समय ही नहीं है । और ज्यादा कुछ करना भी नहीं है । तेरहवें गुणस्थान पर तो चारों घाती कर्मों का क्षय करके आत्मा अरिहंत बन जाती है । अब रही बात १२ गुणस्थानों की ... इन १२ में एक मात्र मोहनीय कर्म का क्षय करने की ही प्रक्रिया है ।

अतः धर्म कैसा होना चाहिए ? जो कर्म का क्षय कराने में समर्थ सक्षम—सबल हो वही धर्म सच्चा धर्म है । काम का धर्म है । मिथ्या धर्म तो ऊपर से कर्म बंध बढ़ाकर और

गहरे खड्डे में डाल देंगे। मोहनीय कर्म में किनका क्षय किस प्रकार के धर्म से होता है उसका नाम निर्देश करता हूँ।

१) मिथ्यात्व मोहनीय का क्षय करने के लिए सम्यग् दर्शन—सच्ची श्रद्धा के धर्म की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है।

२) क्रोधादि कषाय मोहनीय की कर्म प्रकृतियों का क्षय करने के लिए.... क्षमा, समता, नम्रता, सरलता, संतोष—निर्लोभता आदि के गुणात्मक धर्म की आवश्यकता है। गुणोपासना सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

३) हास्यादि नोकषाय मोहनीय की कर्म प्रकृतियों का क्षय करने के लिए भी गंभीरता आदि गुणों की उपासना जरूरी है।

४) वेद मोहनीय कर्म की प्रकृति का क्षय करने के लिए... वासना—विकारों से बचने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

स्थूल रूप से विचारणा करने पर मोहनीय कर्म के ४ विभागों के क्षयार्थ मुख्य चार प्रकारों के धर्मों की व्यवस्था सर्वोत्तम है। इस तरह मोहनीय कर्म का विभागानुसार क्षय करते करते गुणस्थान के सोपानों पर क्रमशः चढ़ना... आगे बढ़ना ही आध्यात्मिक विकास है। तीर्थों की यात्रा करते करते.... उस उस गुणस्थान के विषयों का आस्वाद प्राप्त करते करते आगे बढ़ना चाहिए। यही गुणस्थानों पर आरुढ़ होने के परमानन्द की अनुभूती का अनोखा अवसर है। यह साधना की अनोखी प्रक्रिया है। विशेष विस्तार से आठवें गुणस्थान से आगे की प्रक्रिया में समझने का प्रयत्न करेंगे।

॥ इति शुभं भवतु सर्वेषाम् ॥



# अध्याय १३ का प्रवेश द्वार

## कर्मक्षय

### संसार की सर्वोत्तम साधना



|                                             |     |
|---------------------------------------------|-----|
| निर्जरा प्रधान धर्म.....                    | ८५० |
| लक्ष्य की दृष्टि से चार प्रकार का धर्म..... | ८५१ |
| विरतिधर्म की विशेषता.....                   | ८५८ |
| गुणस्थानों पर कर्मबंध.....                  | ८६० |
| गुणस्थानों पर कर्मसत्ता.....                | ८६२ |
| गुणस्थानों पर कर्मों का उदय और सत्ता.....   | ८६३ |
| गुणस्थानों पर उदीरणा.....                   | ८६६ |
| काल सापेक्षिक कर्मबंध.....                  | ८६८ |
| गुणस्थानों पर बंध हेतु.....                 | ८७० |
| मिथ्यात्वादि को बंध हेतु कहने का कारण.....  | ८७४ |
| आश्रय और बंध के भेदों में साम्यता.....      | ८७७ |
| बंध तत्त्व और बंध हेतु.....                 | ८७९ |
| गुणस्थानों पर बंधहेतुओं की संभावना.....     | ८८१ |
| १३ गुणस्थानों पर लेश्या की स्थिति.....      | ८८२ |
| कषाय और योग के भेद.....                     | ८८५ |
| किस गुणस्थान पर कितने योग होते हैं?.....    | ८८७ |
| बंधहेतुओं के गुणस्थानों पर विस्तृत भंग..... | ८८९ |
| गुणस्थानों पर प्रकृति बंध.....              | ८९० |
| कषायादि के कारण प्रमादग्रस्तता.....         | ८९१ |
| प्रमत्त गुणस्थान की स्थिति.....             | ८९४ |
| प्रमादावस्था में ध्यानाभाव.....             | ८९६ |
| प्रमाद रहित को ही निश्चल ध्यान.....         | ८९७ |
| वर्तमानकालिक नाटक.....                      | ९०१ |
| प्रमत्त के लिए प्रतिक्रमण.....              | ९१० |
| प्रमत्त गुणस्थानस्थ जीव.....                | ९११ |

## कर्मक्षय— “संसार की सर्वोत्तम साधना”

तम्हा एएसि कम्माणं, अणुभागा वियाणिया ।

एएसि संवरं चेव, खवणे य जए बुहो ॥ ३४/२५

—अनन्त उपकारी अनन्तज्ञानी अरिहंत सर्वज्ञ प्रभु श्री महावीरस्वामी ने अपनी अन्तिम देशना स्वरूप श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ३४ वें कम्पयडी अध्ययन में ८ कर्मों का स्वरूप बताकर अन्त में इन आठों कर्मों के आश्रव मार्गों का संवर करके.... उन्हें खपाने की—क्षय करने की साधना बताई है ।

नौ तत्त्वों में जीवादि तत्त्वों की गणना की है । जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ तत्त्व बताए हैं । इनमें मूलभूत द्रव्य के रूप में तो सिर्फ दो ही द्रव्य हैं— जीव और अजीव । ये दोनों अपने अपने गुणों की दृष्टि से स्वतंत्र सर्वथा भिन्न भिन्न द्रव्य हैं । यदि ऐसा नहीं होता तो दोनों को दो द्रव्य गिनने की आवश्यकता ही नहीं थी । दोनों को दो द्रव्य गिने हैं अतः यही सिद्ध करता है कि .. दोनों सर्वथा संपूर्ण—स्वतंत्र भिन्न—भिन्न द्रव्य हैं ।

शेष सात तत्त्व द्रव्य स्वरूप नहीं है । इन सात में धर्म का स्वरूप समझाया है । और धर्म के अभाव में अधर्म क्या और कैसा होता है यह भी पाप—से दर्शाया गया है । कर्म का स्वरूप समझाने के लिए— आश्रव, संवर, निर्जरा और बंध तत्त्वों का स्वरूप समझाया है । आश्रव में कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेश में आगमन आश्रवरूप है । संवर तत्त्व में आते हुए कर्मणुओं को कैसे रोकना ? यह धर्म की प्रक्रिया बताई है । अतः संवर धर्म प्रधान है । बंध में आश्रव मार्ग से आए हुए कर्मणु आत्म प्रदेशों के साथ बंधकर एकरस कैसे हो जाते हैं ? यह समझाया है । अतः बंध तत्त्व कर्म विज्ञान के स्वरूप को समझने में सर्वोत्तम है ।

निर्जरा तत्त्व में आत्म प्रदेशों के साथ बंध होकर कर्मणु जो दीर्घ काल तक एक रस होकर रहे हुए हैं उन्हें उखाड़कर कैसे फेंकना ? क्षय कैसे करना यह समझाया है । निर्जरा = अर्थात् कर्म का क्षय—नाश करना । संवर कर्मों के आगमन को रोकता है

इसलिए नए कर्म आत्मा में नहीं आते हैं। जबकि निर्जरा पुराने बंधे हुए कर्मों का क्षय—नाश करना है। जैसे जरावस्था—वृद्धावस्था में चमड़ी जर्जरित हो जाती है। चमड़ी लुढ़क जाती है... और अन्त में बिखरने भी लगती है ठीक उसी तरह कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु आत्मा के प्रदेशों पर से खरने लगते हैं। जर्जरित होकर बिखरने लगते हैं... उसे निर्जरा कहते हैं।

### निर्जरा प्रधान धर्म—

धर्म निर्जरा प्रधान ही होना चाहिए। निर्जरा करने का ही प्रत्येक जीव का लक्ष्य होना चाहिए। निर्जरा ही अन्तिम साध्य है। सच्चा साधक वही है जो संवर और निर्जरा करते हुए ही जीता है। साधक हो और निर्जरा न करता हो, संवर न करता हो तो वह सच्चे अर्थ में साधक नहीं गिना जा सकता है। अतः संवर—निर्जरा करनेवाला, बस, इसी के लक्ष्य को साधने के अनुरूप प्रवृत्ति करनेवाला ही साधक कहलाता है। जो संवर कराए और जो निर्जरा कराए उसे ही धर्म कहते हैं। यदि धर्म कहलाए और कर्म का संवर—निर्जरा बिल्कुल न कराए तो उसे धर्म की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती। वह 'धर्म' कहलाने के लायक ही नहीं रहता है। इसलिए धर्म मात्र पुण्यकारक, सुखदायक, दुःखनाशक ही नहीं इससे भी आगे बढ़कर संवर—निर्जराकारक—मोक्षदायक होना चाहिए। इसीमें धर्म की सर्वश्रेष्ठता—सर्वोपरिता और वास्तविकता है।

जी हाँ, ... संसार में ९५% यह दिख रहा है कि— देव, गुरु और धर्म इन तीनों आराध्य—उपास्य तत्त्वों का उपयोग सभ्य सामान्य जन पुण्यकारक, सुखदायक, दुःखनाशक अर्थ में ही प्रायः कर रहे हैं। दान—पुण्य—परोपकारादि रूप पुण्यात्मक धर्म उपार्जन करके लोग जन्म—जन्मान्तर में मात्र सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इससे वे देव, गुरु और धर्म का मात्र सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के साधन में उपयोग कर रहे हैं। और यही साध्य लेकर वैसे जीव चल रहे हैं। उनका साध्य ही सीमित—परिमित है। जैसे कई विद्यार्थी ऐसे हैं जो मात्र उत्तीर्ण ही होना चाहते हैं। बस, किसी भी तरह उत्तीर्ण होने जितने अंक प्राप्त हो जाए तो उसमें वे राजी हैं। संतुष्ट हैं। इससे आगे प्रथम क्रमांक पर, या १०० में से १०० गुणांक प्राप्त हो, या संपूर्ण राज्य में प्रथम, पूरे बोर्ड में प्रथम, या समस्त राष्ट्र में प्रथम क्रमांक के स्थान पर उत्तीर्ण होकर सुवर्णपदक प्राप्त करने की उनकी कोई मनीषा—महेच्छा ही नहीं रहती है। हाँ, ऐसी मनीषावाले भी कोई विद्यार्थी होते जरूर हैं।



भले ही वे संख्या में गिनती के थोड़े ही हो लेकिन होते जरूर हैं। वे अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करके ही संतुष्ट होते हैं।

ठीक इसी तरह जो जीव मात्र पुण्योपार्जन करके सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति करना चाहते हैं, धर्म करने का इतना ही फल पाना चाहते हैं, वे मात्र १०० में से किसी कदर ३५ गुणांक प्राप्त करके संतुष्ट होनेवाले जैसे हैं। उनको आगे ज्यादा गुणांक प्राप्त करने की इच्छा ही नहीं रहती है। क्योंकि साध्य—लक्ष्य ही सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति तक ही सीमित है। इससे आगे संवर—निर्जरा के लक्ष्य को वे सोच ही नहीं सकते हैं। यदि कल किसी को कहा जाय कि देव, गुरु और धर्म इन तीनों उपास्य तत्त्वों का मात्र सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के ही साध्य को साधने के लिए साधनरूप में उपयोग मत करिए। .... यह सुनकर उनका दिमाग चकराने लग जाएगा। वे शायद अवाचक ही हो जाएंगे। अरे ! .... यदि सुख की प्राप्ति भी नहीं करनी और दुःख की निवृत्ति भी नहीं करनी तो फिर करना क्या ? अरे ... रे ... बस, तो तो देव, गुरु धर्म की कोई आवश्यकता ही नहीं है। फिर क्या काम है ? फिर तो कुछ करने जैसा शेष रहता ही नहीं है। इसका कारण और कोई नहीं है सिर्फ उनकी आगे के संवर—निर्जरादि के लक्ष्य का ख्याल ही नहीं है।

## लक्ष्य की दृष्टि से चार प्रकार का धर्म—

- १) पुण्याश्रवात्मक धर्म
- २) संवरलक्षी धर्म
- ३) निर्जरालक्षी धर्म
- ४) मोक्षैकलक्षी धर्म

नौ तत्त्वों में ही दिये हुए तत्त्वों के आधार पर लक्ष्य—साध्य रखकर धर्म दर्शाया गया है। उससे धर्म करने का हेतु निश्चित होता है। उन जीवों के भाव—परिणामों का ख्याल अन्यो को आ सकता है।

### १) पुण्याश्रवात्मक धर्म—

पुण्याश्रव लक्षी धर्म करनेवाले जीव पुण्य उपार्जन करना चाहते हैं। पुण्य शुभकर्मरूप है। इसका आत्मा में आश्रव—आगमन होता है। पुण्य भी शुभकर्मात्मक है।

लोहे की जंजीर के बदले यह सोने की जंजीर जैसा है। लेकिन आखिर तो जंजीर ही है, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। भूलना नहीं चाहिए। इसीलिए पुण्योपाजन करने के बाद उसके फलरूप सुख को भुगतने के लिए पुनः दूसरा जन्म तो लेना ही पड़ेगा। चाहे वह स्वर्ग में देव का जन्म भी ले तो उसे हजारों—लाखों—वर्षों का आयुष्य उस सुख को भोगने के लिए बिताना पड़ेगा। लेकिन यह भी ध्यान रखना ही चाहिए कि इतने लाखों—करोड़ों वर्षों का संसार तो बढ़ा।

अब दूसरी बात यह है कि... इतने वर्षों तक पुण्य के फलरूप सुख को भुगतते हुए नए पुण्य को उपाजन करेगा या पाप भी उपाजन करेगा? इसका क्या विश्वास? हो सकता है कि पुराने पुण्य को भोगते समय नया पुण्य भी उपाजन कर सकता है, और यह भी हो सकता है कि नया पाप भी उपाजन कर सकता है। यह तो जीवों की अपनी वृत्ति पर निर्भर करता है। देखा जाता है कि पुण्य से प्राप्त सुख को प्राप्त करके विपुल साधन सामग्रियों की प्राप्ति के लिए, अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए, स्वार्थ को साधने के लिए जीव ज्यादा पाप भी करते हैं। अतः लगता है कि संसार में दुःख के उदय में दुःखी जीव ज्यादा पाप करने की अपेक्षा, पुण्य के उदय में सुखी जीव ज्यादा प्रमाण में पाप करते हैं। यद्यपि यह सर्वथा गलत है लेकिन फिर भी संसार के सुखी सम्पन्न जीव अपनी सुख—संपत्ति का दुरुपयोग करके नया पाप उपाजन करते हैं। इस तरह एक पुण्यजन्य सुख को भोगने जाते नए पाप करके भव संसार बढ़ाते हैं। अतः पुण्य को भोगना इतना ज्यादा सरल नहीं है। इसीलिए महापुरुषों ने पुण्य को भोगने के बजाय पुण्य का त्याग करना, सुख भी छोड़ना सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया है।

## २) संवरलक्ष्मी धर्म—

संवर आत्मा में आनेवाले अशुभ पाप कर्म के आश्रय को रोकने का काम करता है। अतः जब कोई जीवविशेष संवरलक्ष्मी धर्म करता है तब यह जरूर समझा जाता है कि वह आत्मा में आनेवाले, लगनेवाले नए पापों को रोकता है। अर्थात् नए पाप करना नहीं चाहता है। पापों से निवृत्त होता है। संसार में प्रतिदिन जहाँ अठारह ही पापों के लगने की संभावना है। तथा मिले हुए मन, वचन और काया ये तीनों साधन भी हमेशा शुभाशुभ कर्म उपाजन कराते रहते हैं। बस, अब पापों के आगमन को रोकना है। क्योंकि अनादिकाल से जीव के पाप करने के संस्कार बने हुए हैं। इसी कारण संसार में किसी को पाप करना सीखना नहीं पड़ता है। सभी जीवों को पाप करना स्वाभाविक रूप में आता

ही है। बस, अब उसे पाप कैसे नहीं करना ? किये हुए पापों को कैसे धोना ? आते—लगते हुए पापों को कैसे रोकना ? और कैसे पापों से बचना यह समझाना—सिखाना—कराना बहुत जरूरी है। क्योंकि इसके संस्कार अनादिकालीन नहीं हैं। इन पापों के आगमन—आश्रव को रोकना यही संवर है और संवर धर्म है। इसीलिए धर्म में व्रत—विरति और पच्चक्खाण का स्वरूप दर्शाया गया है।

जगत् में विद्यमान अनेक धर्मों में संवरकारक ऐसी व्रत—विरति—पच्चक्खाणादि की बातें बहुत कम हैं। जबकि जैन धर्म ने व्रत—विरति और पच्चक्खाण की प्राधान्यता रखी है। वीतरागी परमात्मा ने धर्म ही विरतिमय बताया है। फिर उसमें गृहस्थ और साधु के अनुरूप देशविरति और सर्वविरति के भेद करके स्वरूप समझाया। धर्म चाहे साधु के लिए हो या गृहस्थ—श्रावक के लिए हो अर्थात् पाँचवें और छठे गुणस्थानवर्ती धर्म हो लेकिन दोनों के लिए विरतिरूप संवर की प्राधान्यता पूरी रखी है। श्रावक घरबारी—गृहस्थी—संसारी है, इसके लिए उसकी मर्यादा—सीमा के अनुरूप धर्म रखा है। और साधु सर्वथा संसार का त्यागी है, विरक्त है, अलिप्त है इसलिए बिना किसी मर्यादा के साधु के लिए महाव्रतों की सर्वथा सर्वविरति रखी है।

विरति संवररूप है। संवर विरतिरूप है। पापों के आश्रव—आगमन को रोकनेवाली विरति संवररूप ही है। उदाहरणार्थ आप दो घड़ी की सामायिक लेकर बैठिए... यह ४८ मिनट की विरति है। संवर है। अब आप दो घड़ी के लिए विशेष प्रतिज्ञा—पच्चक्खाण करके बैठे हैं। अतः षड् जीविकाय की विराधना की कोई संभावना नहीं रहेगी। किसीके करने या होते रहने पर भी सामायिकवाले विरतिधर को कोई पाप नहीं लगेगा। वह मन—वचन—काया से न करने—न कराने के पच्चक्खाण लेकर बैठा है। उतनी देर संवर में है।

साधु आजीवन तक सर्वथा सब पापों को न करने की भीष्म प्रतिज्ञारूप महाव्रत के पच्चक्खाण लेकर बैठा है। अतः नए पाप करने की, लगने की कोई संभावना ही नहीं रहती है। यह सर्वविरति धर्म है। सर्व संवर है। संपूर्ण संवर है।

शास्त्रकार महर्षियों ने नौ तत्त्वों के स्वरूप को समझाते हुए ५७ भेद से संवर का स्वरूप दर्शाया है।

समिद्ध—गुप्ती—परिसह—जड्धम्मो—भावणा—चरित्ताणि ।

पण—ति—दुवीस—दस—बार—पंच भेएहि सगवन्ना ॥

५ प्रकार की समिति, + ३ गुप्ति, + २२ परीषद्, + १० प्रकार के क्षमादि यतिधर्म, + १२ प्रकार की अनित्यादि भावनाएं, + तथा ५ प्रकार के चरित्र, इस तरह कुल ५७ भेद का संवर तत्त्व नौ तत्त्व में दर्शाया गया है। ये ५७ प्रकार संवर के हैं जो पापों के आश्रव को निरोध करता है। रोकता है। इर्या समिति आदि पाँचों प्रकार की समिति का पालन करते हुए जीव जीवों की विराधना—हिंसादि जन्य पापों से बचता है। तीन प्रकार की मन—वचन—काया की गुप्ति रखने से मनादि तीनों से लगनेवाले पाप नहीं लग पाते हैं। २२ प्रकार के क्षुधा—प्यास—शीत—उष्णादि परीषद् को सहन करने से भूख—प्यास आदि के असहिष्णुता के कारण जिन पापकर्मों का आगमन आत्मा में होता था वह रुक जाता है। इसी तरह क्षमा—मृदुता—ऋजुता आदि जो १० प्रकार के यतिधर्म हैं उनका आचरण करने से कषाय आदि जन्य कर्मों के आश्रव से बचा जा सकता है। क्षमा रखने से क्रोध से बचा जा सकता है। नम्रता से अभिमान के कषाय से बचा जा सकता है। सरलता से माया के पाप से, तथा संतोष से लोभ के पाप से बचा जा सकता है। १८ प्रकार के पापस्थान हैं जो आश्रव के कारणरूप हैं। ४२ प्रकार के आश्रव द्वारों से बचने के लिए ५७ प्रकार के सभी संवर के भेदों का उपभोग किया जा सकता है। १२ प्रकार की भावनाएं महापुरुषों ने दर्शायी हैं। अनित्य—अशरण—एकत्व—अन्यत्व—अशुचि आदि १२ भावनाएं हैं। (लेखक पंन्यास अरुणविजय महाराज ने १२ भावना के विषय पर स्वतंत्र रूप से पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—“भावना भवनाशिनी”। इसमें विस्तार से १२ + ४ = १६ भावनाओं का विशद वर्णन है। अवश्य पढ़िए।)

मनुष्य विचारक प्राणी है। संज्ञि—समनस्क—मनवाला होने के कारण विचार हमेशा ही करता रहता है। न करने के अयोग्य राग—द्वेष के विचारों के कारण मानसिक कर्म का बंध भी बहुत ज्यादा करता रहता है। अतः उसे रोकने के लिए... १२ प्रकार की भावनाओं की व्यवस्था महर्षियों ने की है। उनके विषयरूप में संसार के समस्त विषयों को समाविष्ट किया गया है। अतः संसार की समस्त वस्तुओं एवं व्यक्तियों के निमित्त लगने—होनेवाले पापकर्मों को ये अलग—अलग भावनाएं बरोबर रोकती हैं। अतः इन १२ भावनाओं का चिन्तन नित्य—नियमित करना चाहिए।

५ प्रकार के चरित्र हैं। जिसमें सामायिक का तथा दीक्षादि सबका समावेश किया गया है। अविरति में रहने से जितने पापकर्म लगते ही जाते हैं उतने सब पापों को रोकने के लिए पाचों प्रकार के चरित्र समर्थ—सक्षम हैं। इस तरह ५७ प्रकार के संवर के ये सभी भेद संसार के समस्त पापों को रोक सकते हैं। रोकने में समर्थ—सक्षम हैं। बस, जीव

संवर के आचरण का पालन करता हुआ होना चाहिए। यदि पाप के आश्रवों के ४२ प्रकारों का सेवन प्रतिदिन करके जीव अनेक कर्म बांधता है, बांध सकता है, तो फिर संवरधर्म का पालन करके लगते हुए पापों से क्यों नहीं बच सकता? अवश्य ही बच सकता है। अतः संवररूप धर्म का पालन प्रतिदिन नियमित रूप से करना ही चाहिए। समिति आदि का पालन प्रतिदिन संभव है। संवर अधिकांश विरतिरूप है। जिसमें सामायिकादि का समावेश होता है। अतः समस्त धर्म संवरप्रधान है। पापनिरोधक है।

### ३) निर्जरालक्षी धर्म—

संवर निर्जरा का कारण है। और निर्जरा संवर के बाद का कार्य है। संवर वर्तमानकाललक्षी है। जबकि निर्जरा भूतकाललक्षी है। इनके कार्य का काल वह है। वर्तमान काल में जो पाप कर्म हो रहे हैं, किये जा रहे हैं, उन्हें रोकने का काम संवर का है। जबकि पापों को लगने से न रोकने के कारण आज दिन तक भूतकाल में जो अनेक कर्म बांध चुके हैं... उन सब कर्मों का क्षय—नाश करने के लिए निर्जरा तत्त्व है। निर्जरा जितनी प्रबल—सशक्त की जाय उतनी ज्यादा मात्रा में कर्मों का क्षय होता है।

निर्जरा के बारह प्रकार बताए गए हैं। छः बाह्य तप और छः आभ्यन्तर तप के। इस तरह कुल मिलाकर बारह प्रकारों से निर्जरा होती है। बाह्य प्रकार के छः तपों में... स्पष्ट रूप से सभी तप ही हैं। परन्तु आभ्यन्तर तप में सभी तपरूप नहीं हैं। सभी प्रकारों का समावेश उनमें हो जाता है। जैन धर्म के १) ज्ञानाचार, २) दर्शनाचार, ३) चारित्राचार, ४) तपाचार, और ५) वीर्याचार इन पाँचों प्रकार के आचारों के अंतर्गत सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। धर्म के सभी प्रकार भिन्न—भिन्न तरीके से पंचाचार के ही रूप हैं। ये सभी निर्जराकारक ही हैं। भले ही चाहे वह दर्शन करने का हो या प्रभु की पूजा—भक्ति हो ये सभी कर्मक्षयकारक हैं। भाव की विशुद्धिपूर्वक प्रभु प्रतिमा के दर्शन और भक्तिपूर्वक की जाती प्रभु—पूजा को यदि कर्मबंध का कारण मानें, या पाप की प्रवृत्ति कहे तो समझिए वे स्वयं दुर्भाव—द्वेषभावपूर्वक कर्म बांधते हैं। कर्मक्षय—निर्जरा के प्रकारों को कर्मबंध या पाप का कारण मानें तो निश्चित समझिए कि यह विपरीत मति मिथ्यात्वरूप है। ऐसा सोचने—बोलनेवाले स्वयं ही पापकर्म उपार्जन करते हैं। इसलिए कभी भी निर्जरा के साधनभूत कर्मक्षयकारक प्रभुदर्शन—पूजा—भक्ति को किसी भी तरह से, किसी भी दृष्टि से गलत कहना, या पाप कहना, या इसमें पाप—दोष लगता है ऐसा कहना या कर्म बंधानेवाला है ऐसा कहना सब अनुचित है। युक्तिसंगत नहीं है। सर्वथा विपरीत है।

अतः जैन शासन में धर्म का एक भी प्रकार ऐसा नहीं है जो कर्मक्षय—निर्जरा न कराए। अवश्य ही निर्जरा कराते हैं। श्री नमस्कार महामंत्र में सातवें पद में “सव्वपावप्पणासणो” लिखा है। इसका स्पष्ट अर्थ साफ है कि... सभी पाप (कर्मों) का प्रनाशन (क्षय) हो। प्र + नाशः = प्रनाशः। प्रकृष्टेन नाशः—प्रनाशः। नश् धातु के आगे उत्कृष्ट अर्थ में “प्र” उपसर्ग लगा और व्याकरण के नियमानुसार “प्रनाशन” शब्द बना। उत्कृष्ट रूप से—प्रकृष्ट रूप से सभी पापकर्मों का नाश होना चाहिए। अतः यह प्रनाशन शब्द निर्जरासूचक है। क्षय—नाशकारक है। किसका नाश? पाप (कर्मों) का नाश। कितने पापों—कर्मों का नाश? ... इसके उत्तर में—संख्यासूचक शब्द दिया है—“सव्व” अर्थात् सभी पापकर्मों का उत्कृष्ट रूप से सर्वथा क्षय—नाश करना उत्कृष्ट कक्षा की निर्जरा है। बस, यही निर्जरा सर्वांशिक—सर्वथा—संपूर्ण रूप से हो जाय और नाममात्र भी कर्म का अंश न रहे तो मोक्षप्राप्ति हो जाती है। इस तरह नमस्कार महामंत्र का यह सातवाँ पद मोक्षसूचक है। मोक्ष तत्त्व को इंगित करता है। मुक्तिसूचक है।

यदि सर्वथा संपूर्णरूप से सभी कर्मों की निर्जरा न हो तो मोक्ष नहीं। तब यही सातवाँ पद निर्जरासूचक कहलाएगा और सर्वांशिक सभी पापकर्मों का प्रकृष्ट नाश हो जाय तो निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्ति हो जाती है।

इस तरह नमस्कार महामंत्र की चूलिका में इतना गूढार्थ—रहस्यार्थ भरा हुआ है। जो सार्थक—सहेतुक है। फिर भी ऐसे महामंत्र में भी साम्प्रदायिकता का विष घोला दिया गया और आधा ही नवकार मानना, गिनना यह एक दुश्क्र खडा किया गया है। जो सर्वथा निरर्थक है। ऐसा गंभीर रहस्यार्थदर्शक सातवाँ पद साधक के लक्ष्य—हेतु को निश्चित करता—कराता है। फिर उस पद को हटाना—उडा देना, या पूरी चूलिका को हटा देना—उडा देना अनर्थकारक है। यह एक प्रकार के आभिनिवेशीक भावपूर्वक की वृत्ति है। जो सर्वथा घातक है। अतः सभी जैन मात्र का कर्तव्य है कि नमस्कार महामंत्र की अखंडितता को पूर्णता को अपनाएं। नवकार के नाम पर जहर न घोला जाय और निरर्थक जैन धर्म की एकता को न तोड़ा जाय ऐसी नवकार की अखंड परंपरा की अखंडितता को अखंड—अविभाजित बनाए रखें और प्रत्येक स्थान पर पूर्ण नवकार का ही व्यवहार करना चाहिए।

#### ४) मोक्षैकलक्षी धर्म—

चौथा प्रकार मोक्षलक्षी धर्म का है। धर्म मोक्ष के लिए है। मोक्ष साध्य है और धर्म उसे प्राप्त करानेवाला साधन मात्र है। जो धर्म मोक्ष प्राप्त कराए उसे मोक्षधर्म कहा है और

जो धर्म मात्र पुण्योपाजन कराके जन्म—जन्मान्तर में सुख की प्राप्ति कराए उसे सुखलक्षी धर्म कहते हैं। सुख का साधनभूत कहते हैं। लेकिन सुखप्राप्ति के लिए मात्र धर्म का उपयोग किया जाता है वह गलत है। सुखप्राप्ति का लक्ष्य बनाकर तदनुरूप धर्म करना यह सबसे बड़ी भूल है। धर्म एक मात्र मोक्षैकलक्षी ही होना चाहिए।

जैसा मोक्ष का स्वरूप है ठीक मोक्षप्राप्ति के अनुरूप धर्म का भी स्वरूप होना चाहिए। मोक्ष सर्वकर्मरहित अवस्था का नाम है। अतः धर्म ऐसा होना चाहिए, जो सर्व कर्म का क्षय कराए। मोक्ष सर्वथा शरीररहित अवस्था का नाम है। अतः धर्म ऐसा होना चाहिए जो आत्मा को अशरीरी बनाए। मोक्ष आत्मा की संपूर्ण शुद्ध अवस्था का नाम है। अतः धर्म ऐसा होना चाहिए जो आत्मा को शुद्ध करे। आत्मशुद्धिकारक धर्म ही श्रेष्ठ है। सर्वथा जन्म—मरण धारण करने ही न पड़े यह मोक्ष का स्वरूप है। अतः धर्म भी ऐसा ही होना चाहिए जो आत्मा के जन्म—मरण के चक्र से छुटकारा दिलाए... !... का अन्त लाए। भवपरंपरा के अन्त का नाम मोक्ष है। अतः धर्म भवपरंपरा—भवरोग मिटानेवाला सक्षम—समर्थ होना चाहिए। मोक्ष आत्मा के सर्व गुणों की पूर्णता की प्राप्ति का नाम है। अतः धर्म आत्मा के सभी गुणों को पूर्ण रूप में प्रकट करनेवाला तदनुरूप होना चाहिए। मोक्ष में सभी सर्वज्ञ—केवली—वीतरागी ही होते हैं, अतः धर्म भी आत्मा को सर्वज्ञता—केवलज्ञान—वीतरागता की प्राप्ति करानेवाला ही होना चाहिए।

इस तरह मोक्ष कार्यरूप फलरूप है, जबकि धर्म उसका कारणरूप है। मात्र सुखैकलक्षी धर्म, जन्म—जन्मान्तर में सुख प्राप्त करानेवाला धर्म, या पुण्यलक्षी धर्म मोक्ष तक नहीं ले जाता है। स्वर्ग की प्राप्ति का लक्ष्य पुनः मोक्ष से आत्मा को ज्यादा दूर कर देता है। अतः स्वर्ग अलग है और अपवर्ग अलग कक्षा है। जहाँ तक—जब तक हमने अपवर्ग—मोक्ष का स्वरूप नहीं समझा है तब तक स्वर्ग का सुख प्रिय लगता है। अच्छा लगता है। परन्तु एक बार मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट शुद्ध सत्यरूप ख्याल में आ जाने के पश्चात् स्वर्ग और स्वर्ग के सुख आदि सब उसके सामने तुच्छ लगेंगे।

यह १४ गुणस्थान की आध्यात्मिक विकास की यात्रा मोक्ष के अन्तिम किनारे तक पहुँचानेवाली है। तदनुरूप है। संवर धर्म मोक्ष के अनुरूप है। निर्जरा का धर्म मोक्ष प्राप्त करानेवाला तदनुरूप धर्म है। तथा सर्वोत्तम—सर्वश्रेष्ठ कक्षा का शुभ भाव पुण्यानुबंधी पुण्य परंपरा से मोक्ष के समीप आत्मा को ले जाने में सहायक बनता है। इसलिए जैसा लक्ष्य—साध्य रखते हो उसके अनुरूप धर्म होगा। अतः लक्ष्य—साध्य कैसा है उस पर

आधार रहता है। संसार में धर्म करनेवाले धर्मियों में भी अधिकांश जीवों का मोक्ष का लक्ष्य—साध्य ही नहीं रहता है। अधिकांश जीव तो सुख के लक्ष्य बनकर ही धर्म करके अभिलषित सुख की प्राप्ति में संतोष और इतिश्री मान लेते हैं। बस, उन्हें मोक्ष रो कोई तालुक ही नहीं है। यहाँ पर सबसे बड़ी भूल होती है।

मोक्षविषयक सम्यक्—सच्चा ज्ञान प्राप्त करना, बढ़ाना पहले जरूरी है। फिर तद्विषयक सच्ची श्रद्धा बढ़नी चाहिए। और उसके पश्चात् वैसा आचरण मोक्ष के अनुकूल करना चाहिए। उसमें निर्जरा करने के लिए तीव्रता लानी चाहिए। तब जाकर मोक्ष की प्राप्ति संभव होती है। मोक्ष का लक्ष्य—भाव—इच्छा बन जाने से भव्यत्वपने की छाप लगती है। मुहर लगती है। और मोक्ष प्राप्ति की प्रबल इच्छा बनने के बाद उसे धर्म सही प्राप्त होगा। यदि नहीं भी होगा तो साधक दूँढ निकालेगा। वह स्वयं समझेगा कि कौनसा, कैसा धर्म मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ—सक्षम है या नहीं है? वह स्वयं धर्म की, गुरु की परीक्षा करके पहचान कर पाएगा। और मुझे कैसा धर्म करना चाहिए... कैसा धर्म मोक्ष प्राप्ति में सहायक होगा यह समझकर वह निर्णय कर पाएगा। मोक्ष की भावना के अनुरूप उसके मन में धर्म करने की तीव्रता—तलप अपने आप जगेगी—बढ़ेगी। उसे जबरदस्ती कराना नहीं पड़ेगा।

### विरतिधर्म की विशेषता—

मोक्षाभिलाषा जगाकर मोक्षैकलक्षी धर्म करनेवाला जीव जब संसार से विरक्त हो जाता है तब विरतिरूप धर्म ही एकमात्र आधारस्तंभ बन जाता है। विरक्ति से विरति शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है। और विरक्ति से विरति सहज बन जाती है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि संसार के अनेक धर्मों में विरति धर्म की व्यवस्था ही नहीं है। जैन धर्म में दो घड़ी की सामायिक—प्रतिक्रमण की, दिन—रात के पौषधादि की तथा देशविरति और सर्वविरति धर्म की जैसी व्यवस्था है वैसी संसार के किसी भी अन्य धर्म में नहीं है। और संवर—निर्जरा की भी व्यवस्था ही नहीं है। विरति के लिए... एकेन्द्रिय—विकलेन्द्रियादि जीवों को जीवस्वरूप में मानना—जानना—समझना जरूरी है। पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—वनस्पति तथा त्रसादि जीवों को जीवरूप मानना आवश्यक है। फिर उन्हें बचाना, उनकी रक्षा करना, उनकी विराधना न करना, निर्धारित समय तक प्रतिज्ञापूर्वक मन—वचन—काया से सावध हिंसादि पापों की प्रवृत्ति स्वयं न करना, दूसरों के पास भी न कराना, करनेवाले को भी अच्छा न मानना, ऐसा लक्ष्य रखकर जो साधना की जाती है



वह सामायिक कहलाती है। यह दो घड़ी = ४८ मिनिट की होती है। पौषघ दिन का, रात का अलग—अलग ४—४ प्रहर अर्थात् १२ घंटे का होता है। और पूरे दिन—रात का अर्थात् ८ प्रहर = २४ घंटे का भी होता है। यह साधना गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थी श्रावक करता है। जो विरतिरूप धर्म है। जितनी देर वह इस विरति में रहता है उतनी देर पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि के किसी भी जीव की विराधना नहीं करता है। कच्चे पानी, वनस्पति या अपनी पुत्री, कन्या, पत्नी आदि किसी भी स्त्री आदि का स्पर्श नहीं करता है। आमोद—प्रमोद के सभी साधन छोड़ देता है। आरामदायक किसी भी साधन का उपयोग नहीं करना। खाना—पानादि भी सामायिक में नहीं होता है। अरे, जितनी देर तक मंदिर में रहकर दर्शन—पूजा भी करता है उतनी देर तक भी कोई दर्शनार्थी पूजार्थी सर्वथा खाता—पीता नहीं है। न तो पानी पीना है और न ही प्रसाद खाना है। इसीलिए जैन धर्म में मंदिर में भगवान के दर्शन—पूजादि प्रसंग पर तीर्थजल या प्रसाद देने—लेने, खाने—पीने आदि की कोई पद्धति—परंपरा ही नहीं है। रखी ही नहीं है। इसलिए थोड़ी देर तक मंदिर में दर्शन—पूजा के लिए रहा हुआ साधक भी खाने—पीने की प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्त रहता है। सामायिक तो विशेषरूप से विरतिधर्म है। उसमें तो खाने—पीने तथा किसी भी जीव की विराधनादि का सवाल ही नहीं रहता है। यह विरति श्रावक के लिए देशविरति है। अन्य धर्मों में ऐसे कोई आचार—सिद्धान्त ही नहीं हैं। यह देशविरति श्रावक के लिए पाँचवें गुणस्थानवर्ती धर्म है।

इससे भी आगे बढ़कर छठे गुणस्थान पर आरूढ़ होकर जो सर्वविरति—सर्वथा सम्पूर्ण विरति धारण करके साधु बन जाता है, श्रावक की सामायिक, पौषघ की काल अवधि है। जो “जाव नियमं”, “जाव पोसहं” शब्द से द्योतित की है। लेकिन दीक्षा—संन्यास लेकर साधु बनने के बाद जो सर्वविरति ग्रहण की जाती है उसमें काल अवधि नहीं रहती है। वह साधु धर्म आजीवन के लिए रहता है। इसलिए “जावज्जीवं” का पञ्चवक्त्राण है। बस, एक बार जो साधु बन गया वह जीवनभर के लिए साधु ही रहता है। मृत्यु की अन्तिम श्वास तक साधुत्व को पूर्ण रूप से निभाना चाहिए। यह ऐसा नहीं है कि जब तक पला तब तक पाला और नहीं तो छोड़कर चले गए। जी नहीं, छोड़कर जाना उचित नहीं है। यह व्रतभंग है। प्रतिज्ञा का भंग है। आजीवन पर्यन्त का साधुधर्म है। सर्वविरतिरूप चारित्रधर्म है। प्रमादयुक्त होने के कारण यह छठे गुणस्थान पर आरूढ़ होता है और फिर रत्तीभर भी गिरना नहीं है। आगे ही आगे बढ़ना है। आगे आगे के गुणस्थान के लिए पीछे पीछे के गुणस्थान तथा जिस पर आरूढ़ है वह गुणस्थान स्थिर

रहना आवश्यक है। तभी उसके आधार पर आगे के गुणस्थान पर आगे—आगे बढ़ना संभव होता है।

जिस गुणस्थान पर रहे हैं उस गुणस्थान पर स्थिर रहकर साधना करनी और आगे के गुणस्थान पर चढ़ने के लिए पूर्वतैयारी करनी है। यहाँ तैयारी के लिए क्या करना है? मोहनीय कर्म की उतनी राग—द्वेष—कषाय—विषयादि की कर्मप्रकृतियाँ खपानी हैं, क्षय करनी हैं, तो ही आगे गमन होगा। और यदि कर्म प्रकृतियों का क्षय न कर सके तो आगे गमन नहीं होगा।

## गुणस्थानों पर कर्मबंध—

जैन कर्मशास्त्र के अनुसार ८ कर्म मुख्य हैं। उनमें ४ घातिकर्म और ४ अघातिकर्म। इनकी अवान्तर कर्मप्रकृतियाँ कुल १५८ हैं। जब जीव कर्मबंध करता है तब तो थोक बंध कर्म एकसाथ बांधता है। सर्वज्ञ भगवान ने तो यहाँ तक कहा है कि... एक बार आँख बंद करके खोलने जितनी क्रिया में असंख्य समय बीत जाते हैं। जिन असंख्य के प्रत्येक समय जीव सात—सात कर्मों का बंध करता है। आठवें आयुष्य कर्म का बंध जीवन में एक ही बार होता है। शेष सात कर्मों का बंध प्रति समय होता रहता है। समय यह काल की सूक्ष्मतम अविभाज्य इकाई है। इस तरह पलक मात्र काल में असंख्य कर्म बंध जाते हैं। तो कल्पना करिए। एक मिनिट परिमित काल में कितने समय होंगे? और एक घण्टे के सीमित काल में कितने समय होंगे? तथा एक दिन के काल में कितने समय होंगे? जब समयों की गणना ही हमारी बुद्धि के बाहर है तो फिर प्रत्येक समय में ७—७ कर्म के बंधों का हिसाब गिनना कहाँ संभव है? अतः असंख्य  $\times$  ७ = पुनः असंख्य की ही संख्या रहेगी। इस तरह जीव निरन्तर कर्म बांधता ही रहता है। परन्तु निरन्तर निर्जरा कहाँ होती है?

इतना जरूर है कि—जैसे—जैसे जीव एक—एक गुणस्थान ऊपर—ऊपर चढ़ता जाता है वैसे—वैसे कर्म के बंध का प्रमाण भी घटता जाता है। क्योंकि गुणस्थानों की विशुद्धि के आधार पर बंध में फरक पड़ता है। ८ कर्मों की १५८ प्रकृतियों में से देखिए, किस किस गुणस्थान पर कितनी—कितनी कर्म प्रकृतियों का बंध होता है? सामान्यरूप से १५८ मूलभूत अवान्तर कर्मप्रकृतियों में से १२० कर्मप्रकृतियों की ही गणना बंध में गिनी जाती है। ऐसा कर्मग्रन्थकार का निर्देश है। उसके अनुसार—

- १ मिथ्यात्व गुणस्थान पर ११७ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- २ दूसरे सास्वादने गुण पर १०१ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ३ तीसरे मिश्र गुणस्थान पर ६९ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ४ चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान पर ७१ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ५ पाँचवे देशविरति गुणस्थान पर ६७ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ६ छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान पर ६३ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ७ वे अप्रमत्त संयत गुणस्थान पर ५९ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ८ वे निवृत्त (अपूर्वकरण) गुणस्थान पर ५८ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ९ वे अनिवृत्ति बादर गुणस्थान पर २२, २१, २० कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- १० वे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान पर १७ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है ।
- ११ वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर १ कर्मप्रकृति का बंध होता है ।
- १२ वे क्षीण मोह गुणस्थान पर १ कर्मप्रकृति का बंध होता है ।
- १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान पर १ कर्मप्रकृति का बंध होता है ।
- १४ वे अयोगी केवली गुणस्थान पर एक भी कर्मप्रकृति का बंध नहीं होता है ।

यहाँ मात्र स्थूल रूप से किस गुणस्थान पर कितनी कर्म प्रकृतियों का बंध होता है यह संख्यामात्र से निर्देश किया है । यदि आपकी विशेष जिज्ञासा हो कि किस कर्म की कितनी प्रकृतियों का बंध होता है तो कृपया निम्न तालिका देखिए—

| अनु. | गुणस्थान     | ज्ञाना. | दर्शना. | वेदनीय | माहनीय | आयुष्य | नाम | गात्र | अंतर्गय |
|------|--------------|---------|---------|--------|--------|--------|-----|-------|---------|
| १    | मिथ्यात्वे   | ५       | ९       | २      | २६     | ४      | ६४  | २     | ५       |
| २    | सास्वादने    | ५       | ९       | २      | २४     | ३      | ५१  | २     | ५       |
| ३    | मिश्र        | ५       | ६       | २      | १९     | ०      | ३६  | १     | ५       |
| ४    | अविरते       | ५       | ६       | २      | १९     | २      | ३७  | १     | ५       |
| ५    | देशविरते     | ५       | ६       | २      | १५     | १      | ३२  | १     | ५       |
| ६    | प्रमत्तसंयते | ५       | ६       | २      | ११     | १      | ३२  | १     | ५       |
| ७    | अप्रमत्त.    | ५       | ६       | १      | ९      | १      | ३१  | १     | ५       |
| ८    | अपूर्वकरणे   | ५       | ६/४     | १      | ९      | ०      | ३१  | १     | ५       |
| ९    | अनिवृत्ति    | ५       | ४       | १      | ५/१    | ०      | १   | १     | ५       |
| १०   | सूक्ष्म संप. | ५       | ४       | १      | ०      | ०      | १   | १     | ५       |
| ११   | उपशान्त मोहे | ०       | ०       | १      | ०      | ०      | ०   | ०     | ०       |
| १२   | क्षीण मोहे   | ०       | ०       | १      | ०      | ०      | ०   | ०     | ०       |
| १३   | सयोगी केवली  | ०       | ०       | १      | ०      | ०      | ०   | ०     | ०       |
| १४   | अयोगी केवली  | ०       | ०       | ०      | ०      | ०      | ०   | ०     | ०       |

कौन—कौन सी कर्म प्रकृतियाँ जीव किस किस गुणस्थान पर नहीं बांधता है ? और कौनसी बांधता है ? यह स्वरूप तथा किस कर्मविशेष की कितनी प्रकृतियाँ जीव किस गुणस्थान पर रहकर बांधता है ? इसका स्पष्ट ख्याल उपरोक्त तालिका देखने से आ जाएगा ।

## गुणस्थानों पर कर्म सत्ता—

जब कर्म का बंध होता है, और बंध के बाद जब तक उस कर्म का समूल क्षय नहीं होता है तब तक वह कर्म आत्मप्रदेशों पर चिपका हुआ (लगा हुआ) रहता है । इसे सत्ता कहते हैं । सत्ता यहाँ उस कर्म के अस्तित्व की सूचक है । उतने काल तक वह कर्म, और कर्मों की अवान्तर प्रकृतियाँ आत्मा पर लगी रहती है । यह सत्ता है । अब आप देखिए कि किस गुणस्थान पर पहुँचे हुए महात्मा को कितनी कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी रहती है । यह निम्न तालिका से स्पष्ट होगा—

१. पहले मिथ्यात्व गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
२. सारनादन गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४७ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
३. मिश्र गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४७ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
४. अविरत सन्यक्त्य गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
५. देशविरति गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
६. सर्वविरतिप्रमत्त गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
७. अप्रमत्त सर्वविरति गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
८. अपूर्वकरण(निवृत्ति) गुण. पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ / १४२ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
९. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ / १४२ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
१०. सूक्ष्म संपराय गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ / १४२ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
११. उपशान्त मोह गुणस्थान पर मूल ८ कर्म, तथा १४८ / १४२ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
१२. क्षीण मोह गुणस्थान पर मूल ७ कर्म, तथा १०१/९९ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
१३. सयोगी केवली गुणस्थान पर मूल ४ कर्म, तथा ८५ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।
१४. अयोगी केवली गुण. पर मूल ४ कर्म, तथा ८५/१३/१२ उत्तर प्रकृतियों की सत्ता होती है ।

इस तरह १४ गुणस्थानों पर कर्म की प्रकृतियों की सत्ता रहती है । जैसे गुणस्थानों के एक—एक सोपान ऊपर—ऊपर चढ़ते जाते हैं वैसे वैसे निर्जरा—क्षय होने से सत्ता में से कर्मप्रकृतियाँ कम होती जाती हैं । और जैसे जैसे नीचे—नीचे के गुणस्थानों पर रहते हैं

वहाँ कर्म की प्रकृतियों का प्रमाण सत्ता में ज्यादा रहता है। बंध हेतुओं से बांधने के कारण आत्मप्रदेशों में आए हुए आत्मा में दीर्घकाल तक चिपके रहने पर सत्ता कहलाती है। यह कर्म के अस्तित्व को सूचित करती है। जब तक सत्ता में से कर्मप्रकृति क्षय नहीं होगी तब तक आगे के गुणस्थानों के सोपानों पर आत्मा चढ़ नहीं पाएगी। अग्रसर नहीं हो सकेगी। अतः जिस किसी भी जीव को मोक्ष की दिशा में प्रयाण करते हुए आगे बढ़ना हो उसे अनिवार्य रूप से कर्मप्रकृतियों का क्षय करके ही आगे बढ़ना चाहिए।

### गुणस्थानों पर कर्मों का उदय—

सत्ता में पड़े हुए कर्म अपनी—अपनी कालावधि परिपक्व होने पर... वे उदय में आते हैं। और उदय में आकर अपना शुभ या अशुभ विपाक दिखाते हैं। १४ गुणस्थानों के विषय में यहाँ यह देखिए कि किस—किस गुणस्थान पर किस—किस कर्म की मूल और उत्तर कितनी कर्मप्रकृतियों का उदय होता है। १) मिथ्यात्व गुणस्थान पर मूल ८ कर्मों का तथा आहारक द्विक, सम्यक्त्व, मिश्र, मोह, जिन नाम छोड़कर ११७ उत्तर प्रकृतियों का उदय होता है। २) सास्वादन गुणस्थान से दसवें सूक्ष्म सम्प्राय तक ८ कर्मों का मूलभूत रूप से उदय रहता है। ११ वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर भी सत्ता में पड़े आठों कर्मों का उदय हो सकता है। १२ वे क्षीणमोह गुणस्थान पर मोहनीय रहित शेष सात कर्मों का उदय रहता है। और १३ वे गुणस्थान पर चारों घाती कर्मों का समूल सर्वथा क्षय हो जाने के पश्चात् मात्र अघाती चार कर्मों का उदय होता है। अन्त में वे भी क्षय हो जाने के पश्चात् १४ वे गुणस्थान अयोगी केवली सोपान पर आठों कर्मों के मूलभूत रूप से सर्वथा क्षय हो जाने के पश्चात् तथा उनकी समस्त उत्तर प्रकृतियों के भी संपूर्ण क्षय हो जाने के कारण अब अंश मात्र भी किसी भी कर्म का उदय नहीं होता है। सत्ता भी नहीं रहती है। बस, तत्पश्चात् मुक्ति।

### गुणस्थानों पर कर्म सत्ता—

हम निगोद के जीवों से लेकर क्रमशः ऊपर उठते उठते १४ गुणस्थानों पर कहाँ किस गुणस्थान पर कितनी कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है इसका यहाँ विशेष विचार करना है। अव्यवहार राशी निगोद के सूक्ष्मतम जीवों में १०३ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। जाति भव्यात्माओं को अनादिकाल से अनन्तकाल तक सत्ता में ९९ कर्मप्रकृतियाँ रहती हैं। क्योंकि जातिभव्य जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय प्रायोग्य कर्म ही बांधता है और उसी अवस्था में सदा रहता है। बस, उससे आगे तो गमन ही नहीं है। कर्मबंध ही ज्यादा नहीं

है तो बिना बंध के सत्ता में कहाँ से आएगा ? अनादि मिथ्यात्वग्रस्त जीवों को १३१ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी रहती हैं। ये दोइन्द्रियादि कक्षा के जीव रहते हैं। यदि पंचेन्द्रिय जीव हो और वह अनादि मिथ्यादृष्टि हो तो १४१ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

अभव्य जीवों की सत्ता में १४१ प्रकृतियाँ पड़ी रहती हैं। इसी तरह दुर्भव्य जीवों को भी सत्ता में १४१ प्रकृतियाँ पड़ी रहती हैं। और अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव चाहे वह लघुकर्मों हो या भारकर्मों हो तो भी दोनों को १४१ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी रहती हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि हो लेकिन चरम शरीरी जीव हो तो उस जीव को १३८ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में घर कर रहती हैं। वही चरम शरीरी और सादि-सान्त मिथ्यादृष्टि जीवों में से किसी एक जीव विशेष के आश्रय से जिननाम, आहारकचतुष्क, ३ आयुष्य इतनी के सिवाय १४० कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

२) सास्वादन दूसरे गुणस्थान पर अनेक जीवों के आधारपर १४७ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी रहती हैं। तथा तद्रति आयुष्य के बंधक आदि को १४० की भी सत्ता रहती है।

३) मिश्र गुणस्थानक तीसरे पर सामान्य से १४७ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसमें भी अबद्ध आयुष्य और बद्धायुष्य आदि स्थितियों में १४५, १४४ आदि की भी सत्ता रहती है। इसी मिश्र गुणस्थान पर सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् लौटते १३९ कर्मप्रकृतियों की भी सत्ता रहती है। इसी तीसरे गुणस्थान पर अनन्तानुबंधी ४ कषाय तथा आहारक चतुष्क के बिना किसी एक आयुष्य के बंधक जीव को १३७ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी रहती हैं।

४) अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान पर सामान्यरूप से सत्ता में १४८ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। इसी गुणस्थान पर चरम शरीरी जीवों को जिननाम कर्म बिना सत्ता में १४४ कर्म प्रकृतियाँ रहती हैं। तथा आहारक चतुष्क के बिना १४० रहती हैं। इसमें भी अनन्तानुबंधी ४, मिथ्यात्व, आहारक चतुष्क तथा जिननाम के बिना १३४ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। यहाँ पर किसी एक आयुष्य के बंधक जीव को दर्शन सप्तक, आहारक चतुष्क तथा जिननाम के बिना सत्ता में १३४ प्रकृतियाँ रहती हैं।

पाँचवे देशविरति गुणस्थान पर के सत्तास्थान चौथे अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान के जितने हैं ६४ ही होते हैं। छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान पर भी चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान की तरह जानना चाहिए। तथा ७ वें अप्रमत्त संयत सातवें गुणस्थान पर भी चौथे अविरत सम्यक्त्व की तरह ही सत्ता स्थान होते हैं। ४, ५, ६ और ७ इन ४ गुणस्थान पर

उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिकादि तीनों सम्यक्त्व हो सकते हैं। और इन तीनों सम्यक्त्व की अपेक्षा से सत्तास्थान एक समान होते हैं।

उपशम श्रेणि आश्रयी आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान पर सर्वसामान्य रूप से १४८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। वहीं जिननाम के बिना १४७ रहती है। और आहारक चतुष्क के बिना १४३ की सत्ता रहती है। तथा देवायुष्य बंधक को आहारक चतुष्क जिननाम के बिना सत्ता में १४१ प्रकृतियाँ रहती हैं। तथा साथ ही अनन्तानुबंधी चतुष्क के बिना १३७ की सत्ता रहती है। क्षायिक समकिती जिननाम, आहारक चतुष्क, रहित देवायुबंधक को सत्ता में १३४ की सत्ता रहती है। आठवें गुणस्थान पर चरम शरीरी क्षायिक समकिती उपशमश्रेणी आश्रयी आहारक चतुष्क, जिननाम के बिना सत्ता में १३३ कर्मप्रकृतियाँ रहती हैं।

नौवें अनिवृत्ति बादर गुणस्थान, १० वें सूक्ष्मसंपराय, ११ वें उपशान्त मोह गुणस्थान पर—आठवें गुणस्थान की तरह ३२ सत्तास्थान होते हैं। नौवें गुणस्थान पर क्षपकश्रेणि आश्रयी पहले भाग पर सत्ता में १३८ प्रकृतियाँ रहती हैं। जिननाम बिना १३७ रहती हैं। तथा आहारक चतुष्क के बिना १३४ रहती हैं। दूसरे भाग में सत्ता में १२२ प्रकृतियाँ होती हैं। जिननाम बिना १२१ रहती है। आहारक चतुष्क के बिना ११८ रहती है। दोनों साथ में न रहने पर ११७ रहती है। यहाँ कुछ मतांतर भी है।

नौवें के तीसरे भाग में ११४ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। जिननाम के बिना ११३, आहारक चतुष्क के बिना ११०, तथा दोनों साथ में न होने पर १०९ रहती हैं।

नौवें के ४ थे भाग में— ११३ सत्ता में, जिननाम बिना ११२, आहारक चतुष्क के बिना १०८, तथा दोनों के एक साथ न होने पर १०८ सत्ता में रहती हैं। ५ वे भाग पर ११२, जिननाम के बिना १११, आहारक चतुष्क के बिना १०८, और दोनों के एकसाथ न रहने पर १०७ सत्ता में रहती है। छठे भाग पर १०६ रहती है। जिननाम के बिना १०५ आहारकचतुष्क के बिना १०२ और दोनों के साथ न होने पर १०१ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। नौवें के ७ वे भाग पर १०५ रहती हैं। जिननाम के बिना १०४ और आहारकचतुष्क के बिना—१०१, तथा दोनों के साथ न होने पर १०० रहेगी। ८ वे भाग पर १०४ में से जिननाम के बिना १०३ तथा आहारकचतुष्क के बिना १००, और दोनों के साथ न होने पर ९९ रहेगी। नौवें गुणस्थान के नौवें भाग पर १०३ में से जिननाम के बिना १०२ तथा आहारकचतुष्क के बिना ९९, और दोनों के साथ न रहने पर ९८ रहेगी।

दशवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान पर १०२ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। जिननाम के बिना १०१ रहेगी। आहारक ४ के बिना ९८, और दोनों के साथ न रहने पर ९७ रहेगी। क्षपकश्रेणिवाले जीव के लिए—बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर १०१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। जिननाम के बिना १०० और आहारकचतुष्क के बिना ९७ तथा दोनों साथ न रहने पर ९६ प्रकृतियाँ सत्ता में रहेगी। ९६ की संख्या बारहवे गुणस्थान के उपान्त्य समय तक रहती है। तथा अन्त समय में सत्ता में ९९ प्रकृतियाँ होती हैं। अन्त समय में भी जिननाम बिना ९८, आहारकचतुष्क बिना ९५, तथा दोनों के साथ न रहने पर ९४ प्रकृतियाँ सत्ता में रहेगी।

तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान पर सत्ता में ८५ कर्मप्रकृतियाँ रहती हैं। जिननाम बिना ८४, और आहारकचतुष्क बिना ८१, तथा दोनों साथ न रहने पर ८० प्रकृतियाँ रहेगी। १४ वे गुणस्थान अयोगी केवली के भी उपान्त्य समय तक ८५ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। जिननाम के बिना ८४, आहारकचतुष्क बिना ८१, तथा दोनों साथ न रहने पर ८० प्रकृतियाँ सत्ता में रहेगी। चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में मात्र १२ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। शाता या अशाता वेदनीय दो में से एक वहाँ भी सत्ता में रहती है। जिननाम के बिना वहाँ ११ रहेगी। और १४ वे गुणस्थान के अन्त में, अन्तिम समय में कर्म का सत्ता में से सर्वथा सर्वांशिक—समूल क्षय—नाश हो जाता है। बस, फिर नाममात्र भी कर्म शेष नहीं रहते हैं। आत्मा सर्वथा कर्मरहित, अनादि के कर्मसंयोग से मुक्त होकर सिद्ध—मुक्त बन जाती है। बस, फिर मुक्तात्मा को पुनः कोई कर्मबंध नहीं होता है। वहाँ शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वचनादि में से कुछ भी नहीं रहता है। एकमात्र आत्मा ही रहती है। वह भी आकाश प्रदेश के आधार स्थान पर स्थिर हो जाती है। यह स्थिरता अनन्तकाल तक रहती है।

## गुणस्थानों पर उदीरणा—

कर्म के उदय का काल परिपक्व न होने पर भी अर्थात् उदय में न आने पर भी सत्ता में पड़े हुए उस कर्म को क्षय करने की प्रक्रिया उदीरणा है। यह उदीरणा अनेक कर्मों को खपाती है। उदीरणा प्रयत्नपूर्वक प्रबल पुरुषार्थपूर्वक की जाती है, तब बिना उदय में आए ही कर्मों की निर्जरा संभव हो पाती है। १४ गुणस्थानों पर रहे हुए जीव कहाँ कितने कर्मों की उदीरणा करते हैं उनका विचार भी चौथे कर्मग्रन्थ में ६१ वी गाथा में किया गया है। १, २, ४, ५ और ६ इन गुणस्थानवर्ती जीव ७ से ८ कर्मों की उदीरणा करते हैं। तीसरे



मिश्रगुणस्थान पर ८ कर्मों की उदीरणा कर सकता है। मिश्र गुणस्थान पर लम्बे काल तक स्थिर नहीं रहता है, वहाँ अंतर्मुहूर्त पश्चात् तो गुणस्थान का परिवर्तन हो जाता है। आयुष्य कर्म की अन्तिम आवलिका तक आयुष्य की उदीरणा न होने से ७ कर्म की उदीरणा होती है अन्यथा सदा ८ कर्म की उदीरणा होती है। नियम ऐसा है कि— “वेद्यमानमेवोदीर्यते” वेदा जाता कर्म ही उदीरणा के अन्तर्गत आ सकता है। मिश्र गुणस्थान तीसरे पर मरता नहीं है, अतः ८ की उदीरणा करता है। १० वे सूक्ष्म संपराय गुणस्थान पर ६ या ५ कर्म की उदीरणा जीव करता है। आवलिका से ज्यादा होने पर तब तक ६ की उदीरणा और आवलिका शेष रहे तब मोहनीय की उदीरणा समाप्त हो जाने पर ५ की उदीरणा रहती है। उपशान्त मोहनीय ११ वे गुणस्थान पर विशुद्धि के कारण मोहनीय और आयुष्य कर्म २ को छोड़कर शेष ५ कर्मों की उदीरणा करता है। क्षीण मोह १२ वे गुणस्थानवाला ५ अथवा २ कर्म की और सयोगी केवली १३ वे गुणस्थानवाला २ कर्मों की उदीरणा करते हैं। १४ वे गुणस्थान अयोगी केवली के लिए तो उदीरणा का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। अतः वे सदा अनुदीरक ही होते हैं। ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान से १० वे सूक्ष्म संपराय गुणस्थान की अन्तिम आवलिका शेष रहे तब तक ५ कर्म की उदीरणा करता है जीव। १२ वे गुणस्थान की अन्तिम आवलिका से लेकर १३ वे गुणस्थान के अन्त तक २ कर्म की उदीरणा करता है। उदीरणा के अधिकार में सभी कर्मों की उदयसत्ता की स्थिति १ आवलिका शेष रहे तब उदीरणा रुक जाती है। इस प्रकार उदीरणा का अधिकार दर्शाया है। पंचसंग्रहकार ने पाँचवे द्वार की पाँचवी गाथा में यह विषय इस प्रकार दर्शाया है—

**जाव पमत्तो अट्टणहुदीरगो वेद्यआउवज्जाणं ।**

**सुहुमो मोहेण य जा खीणो तप्परओ नामगोयाणं ॥ ५/५ ॥**

इसीका विवेचन ऊपर किया गया है। उदयावलिका पर की स्थिति में से दलिकों को खींचकर उदयावलिका के साथ भोगने योग्य करना इसे उदीरणा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि गुणस्थान पर वर्तित हुए सभी जीव सदा आठों कर्मों की उदीरणा करनेवाले होते हैं। तीसरे मिश्र गुणस्थान पर अंतर्मुहूर्त पूर्ण होने की १ आवलिका के शेष रहने पर ही जीव मिथ्यात्व या सम्यक्त्व के गुणस्थान पर चला जाता है। ७ वे अप्रमत्त से लेकर १० वे सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान पर्यन्त सभी जीव वेदनीय और आयुष्य कर्म के बिना ६ कर्म की उदीरणा करनेवाले उदीरक होते हैं। अप्रमत्तभाव के कारण वेदनीय और आयु कर्म की उदीरणा नहीं होती है। इसीलिए इन २ कर्मों को छोड़ा गया है। सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान पर क्षपकश्रेणि में क्षय करते करते सत्ता में १ आवलिका शेष रहे

तब उसमें मोहनीय कर्म के बिना ५ कर्मों की उदीरणा होती है। उपशमश्रेणि में मोहनीय की सत्ता ज्यादा होने के कारण चरम समय पर्यन्त उदीरणा होती है। १० वे गुणस्थान की चरम आवलिका से लेकर क्षीण मोह गुणस्थान पर्यन्त मोहनीय वेदनीय और आयु के बिना शेष ५ कर्मों की उदीरणा होती है।

क्षीणमोह १२ वे गुणस्थान में नाम और गोत्र इन २ कर्मों की ही उदीरणा होती है। वैसे कोई भी कर्म सत्ता में जब एक आवलिका शेष रहे तब उस कर्म की उदीरणा नहीं होती है। कारण यह है कि ऊपर की स्थिति में से खींच सके वैसे दल बचा ही नहीं है। क्षीणमोह गुणस्थान की चरमावलिका से लेकर सयोगी केवल १३ वे गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त मात्र नाम—गोत्र इन २ कर्मों की ही उदीरणा होती है। उदीरणा 'योग' होने पर ही होती है। १४ वे गुणस्थान पर अयोगी केवली को सूक्ष्म या स्थूल किसी भी प्रकार का योग होता ही नहीं है। अतः वहाँ किसी भी प्रकार की उदीरणा होने का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। अयोगी जीव किसी भी कर्म को नहीं उदीरता है।

वेदनीय और आयुर्कर्म के बिना शेष ६ कर्मों का जब तक उदय रहता है तब तक ही उदीरणा होती है। इसी तरह किसी भी कर्म की सत्ता में एक आवलिका शेष रहे तब उदीरणा नहीं होती है, मात्र उदय ही होता है।

पंचसंग्रह ग्रंथ में उत्तर प्रकृतियों का विस्तृत विवेचन करते हुए किस किस गुणस्थान पर किस—किस कर्म की किस—किस उत्तर प्रकृति की उदीरणा होती है इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ से विशेष अध्ययन करना चाहिए।

## काल सापेक्षिक कर्मबंध—

होइ अणाइ—अणंतो अणाइसंतो य साइसंतो य।

बंधो अभव्व-भव्वोवसंतजीवेसु इइ तिविहो

॥ ५/९ ॥

काल की सापेक्ष दृष्टि से पंचसंग्रह में तीन प्रकार के कर्म बंध बताए हैं।

- १) अनादि—अनन्त कालीन कर्म बंध।
- २) अनादि—सान्त कालीन कर्म बंध।
- ३) सादि—सान्त कालीन कर्म बंध।

१) अभव्व प्रकार के संसारी जीवों में सांपरायिक कर्मों का बंध अनादि—अनन्तकालीन रहता है। भूतकाल में सदा ही कर्मों का बंध होता ही आया है।

अतः अनादि और अभव्य जीव की मुक्ति कभी होती ही नहीं है, सदाकाल संसार ही रहता है। अतः उनके कर्मों का बंध भी अनन्तकाल तक होता ही रहता है। कर्मजन्य संसार है और संसारजन्य कर्म है। अतः कर्मसंयोग से संसार चलता ही रहेगा। अभव्यों के लिए अन्त ही नहीं है।

२) दूसरे भव्य की कक्षा के जीव हैं। उनमें कर्मों का बंध दूसरे प्रकार का अनादि सांत रहता है। भव्य जीवों में भी भूतकाल में सदा ही कर्मों का बंध होता ही रहता था इसलिए अनादि कहलाता है। परन्तु भविष्य काल में कभी न कभी भव्यात्माओं का मोक्ष होनेवाला है। अतः कर्मों का बंध सान्त—अन्त होने वाले की कक्षा का होता है। कर्मबंध की प्रक्रिया सर्वथा रुक जाएगी और संपूर्ण निर्जरा होने के पश्चात् संसार से मुक्ति हो जाएगी।

३) तीसरा प्रकार जो सादि—सान्त का है वह उपशान्त मोह—११ वे गुणस्थान से गिरते जीवों में घटता है। यहाँ ११ वे गुणस्थान पर बंध का अभाव हो जाता है। लेकिन ११ वे पर से गिरने के समय पुनः कर्म का बंध होता है। अतः सादि—सान्त प्रकार का बंध गिना जाता है। इस तरह तीन प्रकार का बंध तत्त्व दर्शाया है ज्ञानी महापुरुषों ने। आगे की गाथा में इनके भी आगे के भेद दिखाते हैं।

पयडीठिइ पएसाणुभागमेया चउव्विहेक्केक्को ।

उक्कोसाणुक्कोसजहन्न अजहन्नया तेसिं

॥ ५/१० ॥

ते वि हु साइ अणाईधुवअधुवभेयओ पुणो चउहा ।

ते दुविहा पुण नेया मुलुत्तर पयइभेएणं

॥ ५/११ ॥

| कर्मबंध के प्रकार |    |    |    |             |      |    |     |            |      |    |     |   |
|-------------------|----|----|----|-------------|------|----|-----|------------|------|----|-----|---|
| अनादि-अनंत        |    |    |    | अनादि-सान्त |      |    |     | सादि-सान्त |      |    |     |   |
| प्र               | कृ | ति |    | प्र         | कृ   | ति |     | प्र        | कृ   | ति |     |   |
| उ                 | अ  | ज. | अ  | प्र         | स्थि | र  | प्र | प्र        | स्थि | र  | प्र |   |
| त्कृ              | नु |    | ज. | दे          | ति   | स  | दे  | कृ         | ति   | स  | दे  | श |
|                   |    |    |    | श           |      |    | श   |            |      |    |     |   |

उपरोक्त मुख्य तीन के— १. प्रकृतिबंध, २. स्थितिबंध, ३. रसबंध तथा ४. प्रदेशबंध इन चारों के साथ कुल १२ प्रकार होते हैं। इन १२ के पुनः १. उत्कृष्ट बंध, २. अनुत्कृष्ट बंध, ३. जघन्य बंध और ४. अजघन्य बंध इन ४ के साथ और भेद—प्रभेद बनते हैं। तथा ये उत्कृष्टादि चारों प्रकार के बंध पुनः १. सादि, २. अनादि, ३. अनन्त, तथा ४. सान्त इन चार प्रकार के हैं। इन सबको वापिस १. मूल कर्म के बंध तथा २. उत्तर कर्म प्रकृतियों के बंध के साथ जोड़ने से पुनः दो प्रकार के बनते हैं। इस तरह इतने विस्तार पूर्वक कर्म बंध का गहराई से विचार किया गया है।

१. ज्यादा से ज्यादा कर्म का जो बंध वह उत्कृष्ट बंध कहलाता है। २. उसमें समयादि कम—कम होते होते जघन्य तक का जो कर्मबंध वह अनुत्कृष्ट बंध है। ३. और सबसे न्यूनतम बंध को जघन्य बंध कहते हैं। ४ और समयादि बढ़ते—बढ़ते जो उत्कृष्ट तक का कर्मबंध है वह अजघन्य बंध कहलाता है। सामान्य रूप से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये ३ भेद ही होते देखे गए हैं। परन्तु यहाँ जघन्य और अजघन्य, तथा उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट इन दो—दो की जोड़ी बनाकर भेदों की विवक्षा की गई है।

इसी तरह ५ वी गाथा में अन्य तरीके से भी मूल और उत्तर प्रकृतियों को ४ बंध के प्रकारों के साथ विवक्षा की है। वे हैं— १. भूयस्कार, २. अल्पतर, ३. अवक्तव्य और अवस्थित। इन भेदों से भी विशद विचारणा कर्मविशारदों ने की है। यह अगाध कर्मशास्त्र है। जैन कर्मशास्त्रों के सिवाय सारे संसार के किसी भी धर्म या दर्शन में यह और ऐसी तथा इतनी गहन विचारणा ही नहीं की है। गहराई में जानेवाले जिज्ञासुओं को पंचसंग्रह ग्रन्थ का अभ्यास करना चाहिए।

गुणस्थानों पर बंध हेतु—

बंधस्स मिच्छाविरिड कसाय जोगा य हेयवो भणिया।

ते पंच दुवालस—पन्नवीस पन्नरस भेइल्ला

॥ ४/१ ॥

| बंध हेतु  |        |      |     |     |
|-----------|--------|------|-----|-----|
| १         | २      | ३    | ४   |     |
| मिथ्यात्व | अविरति | कषाय | योग |     |
| ५         | +१२    | +२५  | +१५ | =५७ |

पहले भी हम कर्मबंध के हेतुओं के विषय में विचारणा कर आए हैं। वहाँ ५ की विवक्षा थी। प्रमाद का भी उनमें समावेश किया गया था। यहाँ पंचसंग्रह शास्त्र में ४ थे द्वार की इस प्रथम गाथा में ४ बंध हेतुओं की विवक्षा की है। प्रमाद को अविरति में ही अंतर्धान कर देते हैं। वैसे भी प्रमाद कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। वह भी मद + विषय + कषाय—योगों आदि का सम्मिलित स्वरूप है। और कषाय—योगादि तो सभी यहाँ स्वतंत्र रूप से बंध हेतु के रूप में गिने ही गए हैं। अतः प्रमाद की स्वतंत्र विवक्षा न करना भी अनुचित नहीं है। प्रमाद मात्र निद्रा अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं है। यह सर्वसामान्य व्यवहार भाषा में जरूर प्रयुक्त है। परन्तु कर्मशास्त्र की परिभाषा में आत्मा के उपयोग को छोड़कर कर्मबंध की प्रत्येक प्रवृत्ति प्रमादस्वरूप ही है ऐसा अर्थ घटित है।

प्रस्तुत मिथ्यात्वादि कर्मबंध के हेतु जो ४ हैं इन सबका विशेष वर्णन पहले कर चुके हैं। अतः यहाँ पुनः आवश्यकता नहीं है। हेतु जो मन के अन्दर के आशय स्वरूप हैं वे ही कर्म का बंध कराने में महत्व की भूमिका अदा करते हैं। हो सकता है कि किसी भी जीव की बाह्य प्रवृत्ति किसी भी प्रकार की हो लेकिन उसके मन की अन्दर की आन्तरिक वृत्ति कैसी होती है। इसका किसीको कोई ख्याल ही नहीं आता है। मायावी स्त्री की तरह बाह्य दिखावा कुछ और ही हो और आन्तरिक हेतु—आशय कुछ और ही हो... उसी तरह व्यक्ति की प्रवृत्ति कुछ और ही प्रकार की हो और अन्दर की वृत्ति कुछ अलग ही ढंग की हो तो उसमें बाह्य प्रवृत्ति नहीं परन्तु आन्तरिक हेतु के आधार पर कर्म का बंध उतने प्रमाण में होता है। बगला तालाब में बिल्कुल स्थिर खड़ा रहकर किसी को ध्यान की स्थिरता, पाषाणरूप स्थिरता का आभास करा सकता है लेकिन सच तो यह है कि उसके आन्तर मन में मछली पकड़ने का हेतु है। अतः कर्म का बंध उसकी बाह्य स्थिरता के कारण नहीं लेकिन मछली जैसे पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा करने के हेतु के आधार पर होगा। इसके कारण ही बड़े भारी गाढ़ कर्मों का बंध होता है और ऐसे जीव लम्बा चौड़ा आयुष्य लेकर नरक गति में जाते हैं। इस प्रकार की हिंसा अविरति बंध हेतु में गिनी गई है।

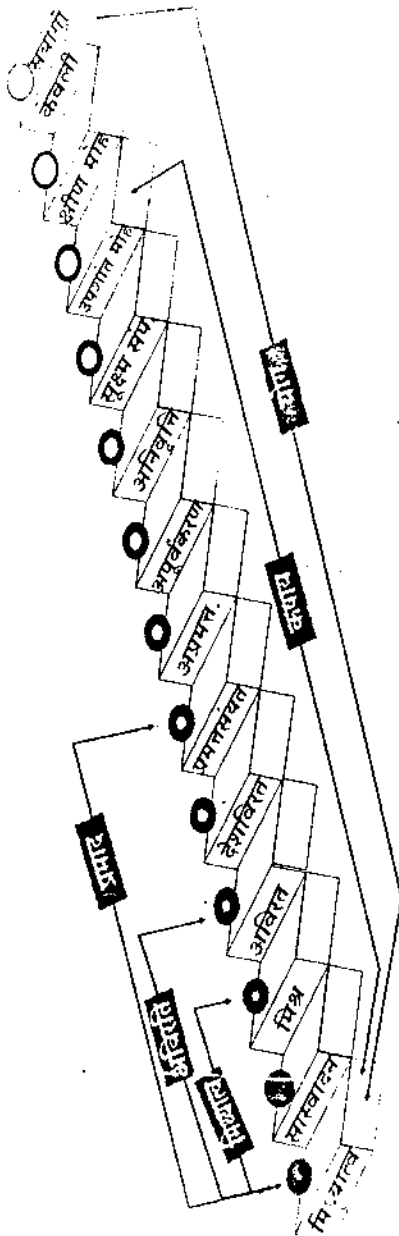
एक डॉक्टर और खूनी हत्यारा दोनों की बाह्य प्रवृत्ति में कुछ अंशों में समानता दिखाई भी देगी। चाकू लेना, पेट चीरना, खून निकालना आदि। लेकिन दोनों के हेतु में आसमान जमीन का अन्तर है। डॉक्टर मरते हुए को भी बचाना चाहता है जबकि खूनी हत्यारा बचे हुए को भी चाकू से मार डालना चाहता है। अतः डॉक्टर को प्राणिरक्षा का पुण्यरूप शुभकर्म का बंध होगा। और एक हिंसक खूनी हत्यारे को पंचेन्द्रिय मनुष्य का वध करने का भारी पाप लगेगा और वह भारी कर्म बांधकर नरकगति में जाएगा। इस

तरह उपरोक्त दृष्टान्त द्वारा कर्मबंध में मुख्य कारणभूत हेतु का स्पष्ट ख्याल अच्छी तरह आ सकता है।

श्री सर्वज्ञ भगवान ने मिथ्यात्व—अविरति—कषाय और योग इन चार को प्रमुख रूप से हेतु के रूप में दर्शाया है। ये ही कर्म बंध में मुख्य कारणरूप हैं। इसके आधार पर किस जीव को कितने कर्मों का बंध कहाँ होगा? का ख्याल आता है। दो चार मित्रों की बाह्य प्रवृत्ति समान दिखाई देने के पश्चात् भी सबके आन्तरिक हेतु भिन्न—भिन्न होंगे। अतः हेतु के आधार पर शुभाशुभ कर्म का बंध भी कम ज्यादा होगा। और उदय में आने पर सुख—दुःख की वेदना—संवेदना भी कम ज्यादा होगी।

संसार की चारों गति और पाँचों जाति के समस्त जीवों का समावेश १४ गुणस्थानों में किया गया है। जिसमें से पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर ही ९९% जीवों का समावेश हो जाता है। चौथे से आगे सर्वत्र तो सम्यग्दृष्टि जीवों की ही गणना होती है। इन १४ गुणस्थानों पर रहे हुए जीव भी कर्मबंध तो करते ही हैं। अतः किस गुणस्थान पर रहे हुए कौन से जीव किस बंध हेतु से कर्म बांधते हैं यह विचार यहाँ अपेक्षित है।

उपरोक्त तालिका देखने से स्पष्ट ख्याल आ जाएगा कि.... कौन सा बंध हेतु किस और कितने गुणस्थानों तक कर्मों का बंध कराता है। १. मिथ्यात्व यह पहला बंध



हेतु है। यह पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर कार्यरत रहता है। मिथ्यात्व के कारण बड़ी भारी कर्मस्थितियों को बंधाता है। मिथ्यात्व बंध हेतु के साथ साथ आगे के सभी बंध हेतु रहते हैं। नियम ऐसा है कि पूर्व—पूर्व बंध हेतु के साथ उत्तर उत्तर (आगे के) सभी बंध हेतु रहते हैं। परन्तु उत्तर—उत्तर—आगे के बंध हेतु के साथ पूर्व—पूर्व पहले के) बंध हेतु नहीं रहते हैं। उदा। मिथ्यात्व पहले बंध हेतु के साथ उत्तर—उत्तर के अविरति—(प्रमाद) कषाय और योग ये सभी बंध हेतु रहते हैं। लेकिन कषाय तीसरे बंधहेतु के रहने पर पहले के दो मिथ्यात्व और अविरति बंध हेतु नहीं रहते हैं। इसलिए आगे के गुणस्थानों पर मिथ्यात्वादि बंधहेतु कर्म बंधाने नहीं आते हैं। कारणरूप नहीं बनते हैं।

१३ गुणस्थानों पर इन ४ बंधहेतुओं के कारण कहाँ किससे और कितने कर्मों का बंध होता है यह विचारणा यहाँ की है।

प्रमाद का समावेश अविरति के अन्तर्गत विवक्षा से किया गया है। प्रमाद के अन्दर मात्र निद्रा ही नहीं है अपितु कषाय—विषयादि की भी गणना की गई है। सच देखा जाय तो साधना की ऊंची कक्षा पर पहुँचे हुए साधक के लिए जहाँ कर्मक्षय करते हुए मोक्ष की दिशा में अप्रसरं होना है वहाँ यदि वह अल्पमात्र भी प्रमाद करता है तो पुनः भारी कर्मों का बंध होता है और पतन होता है। जैसे प्रमाद कायिक—शारीरिक होता है, ठीक वैसे ही वाचिक तथा मानसिक भी होता है। ठीक है कि— शारीरिक प्रमाद प्रमाण में ज्यादा होता है। और वह दूसरों की दृष्टि में दृष्टिगोचर होता है, दिखाई देता है। लेकिन वाचिक तथा मानसिक प्रमाद दूसरों की दृष्टि में दिखने में नहीं आता है। फिर भी प्रमाद तो प्रमाद ही है। इतनी ऊंची कक्षा में पहुँचने के बाद तो आत्मा के उपयोगभाव से १ समयमात्र भी अध्यवसायों का पतन होना बड़ा भारी प्रमाद है। इतने अच्छे सजग—जागृत साधक के लिए ध्यान साधना में मानसिक विचारों का प्रमाद भी पतनकारक हो जाता है। कर्मबंधकारक बन जाता है। अतः कितना ज्यादा सावधान रहना पड़ता है !

देखने पर कोई साधक बाह्य शरीर से आसन लगाकर संपूर्ण स्थिर होकर बैठा हो तो देखनेवालों के लिए काफी अच्छी स्थिरता जरूर दिखाई देगी। उन्हें वह अप्रमत्त लगेगा। लेकिन वह अप्रमत्तता—सावधानी मात्र शारीरिक—कायिक है। परन्तु मन तो अन्दर ही अन्दर सारी दुनिया में भी भटक रहा है। हो सकता है कि वह आन्तरिक कषायों की दुनिया में भी भटक रहा हो। तो जहाँ साधक ध्यानादि की साधना में इतनी ऊंची भूमिका में पहुँचा हो और फिर भी यदि थोड़ा—बहुत भी मन भटक जाय, या कषाय—विषय के आधीन हो जाय तो फिर भारी कर्मों का बंध हो जाएगा तथा पतन भी हो जाएगा। अतः यहाँ प्रमाद में विषय—कषायादि की भी गणना की गई है।

## अविरति में प्रमाद का समावेश—

व्रतादि के अभाव में विरति न रहने पर अविरति कर्मबंध का कारण बनती है। हिंसा—झूठ—चोरी—अब्रह्म तथा परिग्रहादि की प्रधानरूप से अविरति में गणना की जाती है। यह भी बाह्य एवं स्थूल अविरति है लेकिन इनकी गहराई में उतरने पर स्पष्ट ख्याल आ जाता है कि.... हिंसा—झूठादि के पीछे विषय कषायों की मूलभूत कारणता रहती ही है। अतः मन में रहे हुए छिपे हुए प्रच्छन्न क्रोध—मान—माया और लोभ तथा राग—द्वेषादि इन हिंसा—झूठ—चोरी आदि के कारण बनते हैं। आत्मा जब भी स्व स्वभाव की रमणता, या स्वगुणरमणता से तनिकमात्र भी पतित होकर किसी भी कषाय के आधीन हो जाती है तो वही अविरति है। वही प्रमाद है। अपने स्व-स्वभाव—स्व-गुणों में अप्रमत्तभाव से स्थिर रहना था। उसमें स्थिर न रहकर जब भी विभावदशा में जाकर कषायों के अधीन होना यह प्रमाद ही है। और ऐसे मानसिक प्रमाद के कारण मानसिक हिंसादि की अविरति आ ही जाती है। इसलिए मद—विषय—कषाय—निद्रा—विकथा आदि सभी प्रमाद के भेद अविरतिरूप गिने गए हैं। अतः अविरति और प्रमाद का एक दूसरे में समावेश हो जाता है। इसलिए विवक्षा बुद्धि से कहीं कहीं इनकी स्वतंत्र गणना करके बंध हेतु पाँच भी बताए गए हैं। और कहीं कहीं चार की गणना भी की गई है।

अविरति आश्रवकारक है और बंधकारक भी है। बात भी सही है कि आश्रव के अन्तर्गत कर्मण वर्गणाओं का आत्मप्रदेशों में आगमन होगा तब तो बंध होगा आश्रव के बाद ही बंध होता है। उदाहरणार्थ जैसे दूध में शक्कर के कण पहले आएंगे तत्पश्चात् ही दूध में घुलकर एकरस बनेंगे। ठीक उसी तरह अविरति आदि के हिंसा झूठ—चोरी आदि की प्रवृत्ति द्वारा आत्मा में बाहरी कर्मण वर्गणा के परमाणु आकृष्ट होकर आएंगे। तत्पश्चात् ही आत्मप्रदेशों के साथ घुल—मिलकर एक—रसीभाव होकर कर्मबंध होगा। इस बंध की प्रक्रिया में अविरति पहले आश्रवरूप निमित्त बनती है। और बाद में बंध में कारण बनती है।

## मिथ्यात्वादि को बंध हेतु कहने का कारण—

कर्म की व्याख्या में ही.. कर्मग्रन्थकार प्रथम कर्मग्रन्थ में “कीरइ जीएण हेउहि जेण तो भन्नए कम्म” इस प्रकार की व्याख्या करते हैं। अर्थात् जीव के द्वारा हेतुपूर्वक जो क्रिया की जाती है उसे कर्म कहते हैं। यहाँ कर्तरी नहीं अपितु कर्मणीप्रयोग किया गया है। जिससे सीधा जीव कर्ता न होकर हेतुपूर्वक, या हेतु के द्वारा कर्तृत्व आता है। अतः जीव



की अपेक्षा भी हेतु की प्राधान्यता हो गई। क्रिया करनेवाला कर्ता तो जीव ही है इसमें संदेह ही नहीं है। परन्तु क्रिया की अपेक्षा भी यहाँ पर हेतु की प्राधान्यता है। जैसा हेतु वैसा कर्मबंध, नहीं कि जैसी क्रिया वैसा कर्मबंध। अतः बंध का आधार क्रिया पर नहीं हेतु पर है। नियम भी यही कहता है कि... “क्रियाएँ कर्म—परिणामे बंध”। क्रिया से कर्म और परिणाम से कर्म का बंध होता है। क्रियाएँ—कर्म कहने का तात्पर्य क्रियारूप प्रवृत्ति द्वारा कर्मण वर्गणा का आत्मा में आगमन होना रूप कर्म है। यह कर्मबंध की पूर्वावस्था है। प्राथमिक स्वरूप है। जैसे दूध मीठा कब होगा? जब दूध में शक्कर आएगी तब। लेकिन शक्कर का दूध में आना—प्रवेश मात्र ही दूध को मीठा नहीं बनाएगा। दूध में आए हुए शक्कर के कण दूध में नीचे बैठे रहेंगे। जब तक दूध में घुलमिलकर एकरस न हो जाय वहाँ तक दूध मीठा बनना संभव नहीं है। दूध में तल भाग में शक्कर पड़ी रहने के बावजूद भी दूध पीनेवाले को दूध फीका ही लगेगा।

एक माँ ने बच्चे को दूध का ग्लास पीने के लिए दिया और पीते ही बच्चे का मुँह बिगड़ गया। बच्चे ने पीने से साफ इन्कार कर दिया और क्रोधावेश में आकर दूध का ग्लास फेंकने ही जा रहा था कि माँ ने आकर हाथ पकड़ा और पूछा क्या बात है? बच्चा कहता है दूध में शक्कर नहीं है अतः फीका है। माँ ने कहा— नहीं, गलत है, दूध में शक्कर डाली हुई है। तू झूठ बोलता है। बच्चा भी क्रोधित हो गया और जिद्द पर चढ़ गया। माँ—बच्चे के इस कलह के बीच पिता ने रास्ता निकाला और कहा— तुम दोनों सच्चे हो। तुम्हारे झगड़े का मैं अभी १ मिनट में अन्त लाता हूँ। पिता ने चम्मच ली और दूध हिलाया ... बस... शक्कर के कण—कण सब घुल गए और दूध के साथ मिलकर एकरस बन गए। पहले दूध में शक्कर के कणों का आना मिलना मात्र था। *Just to involve* था। परन्तु चम्मच से हिलाते ही वह शक्कर दूध में *Dissolve* हो गई। यहाँ *to Dissolve* यह धातु घुलमिलकर एकरसीभाव बनने की क्रिया की द्योतक है। बस, माँ—बच्चे का संघर्ष मिट गया और दोनों ही सच्चे भी ठहरे। बच्चे ने मीठा दूध पी लिया।

ठीक इसी तरह “क्रियाएँ कर्म” कहने में आश्रव का अर्थ प्रकट होता है। आश्रव में क्रिया मार्ग से कर्मण वर्गणा के परमाणुओं का आत्मप्रदेश में आगमन (आश्रवण) होता है। अतः आश्रव तत्त्व की गणना में जो ५ प्रकार के मुख्य आश्रव हैं, उनमें १. इन्द्रिय, २. कषाय, ३. अव्रत, ४. योग और ५. क्रिया में मुख्य रूप से सबकी क्रियात्मकता है। इन्द्रियों से देखना—सुननादि भी क्रियारूप है। कषाय में क्रोधादि करनेरूप क्रिया है। अव्रत में

हिंसादि भी क्रियारूप है। योग में मन—वचन—काया की प्रवृत्ति भी क्रिया रूप है। तथा अन्त में प्राणातिपातिकी आदि २५ प्रकार की क्रियाएं हैं। ये सब आश्रव के ४२ प्रकार क्रिया की प्रधानता रूप हैं। अतः नियम का यह प्रथम अंश “क्रियाएं कर्म” यह आश्रव सूचक है। जबकि उत्तरार्ध अंश “परिणामे बंध” यह बंधसूचक है। इस अपेक्षा से दोनों को समझना श्रेयस्कर है।

पूर्वांश और उत्तरार्ध अंश इन दोनों में कार्य—कारण भाव का संबंध है। क्रिया यह परिणाम में कारणरूप है। अतः आश्रव बंध का कारणरूप है आश्रव होने के पश्चात् ही बंध होगा। चाहे क्रिया से कितनी भी कर्मण वर्गणा का आश्रवण (आगमन) हो परन्तु बंध तो परिणाम के आधार पर ही पड़ेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रदेशबंध का सहायक आधार क्रियात्मक आश्रव पर रहेगा, जबकि प्रकृति बंध, रस और स्थिति बंध का आधार परिणाम पर रहेगा।

कई बार संसार के व्यवहार में जो स्पष्ट देखा जाता है कि— क्रियाओं में काफी समानता रहती है। १००, २०० व्यक्ति भी एक समान क्रिया करते हुए दिखाई देंगे। लेकिन सबके अध्यवसाय—परिणाम एक समान एक जैसे सरीखे होने संभव नहीं है। अध्यवसाय सबके भिन्न—भिन्न प्रकार के हैं। अतः क्रिया की प्राधान्यता कायिक ज्यादा रहती है जबकि परिणाम (अध्यवसायों) की प्राधान्यता मानसिक रहती है। काया स्थूल है। बाहरी व्यवहार में दृष्टिगोचर होती है। अतः तदजन्य क्रिया भी बाहर के व्यवहार में दिखाई देगी। लेकिन मन सूक्ष्म है। अदृश्य है। अतः मनोगत अध्यवसाय प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। परिणाम दिखाई नहीं देते। क्रिया व्यवहारात्मक है। जबकि हेतु परिणामाधारित है। ये अदृश्य रहते हैं।

वीरा सालवी और श्रीकृष्ण दोनों ही १८००० साधुओं को वंदन करने की क्रिया कर रहे हैं। यहाँ क्रिया की समानता पूरी है। परन्तु दोनों के मानसिक परिणामों की भिन्नता बिल्कुल ही अलग—अलग है। जैसे श्रीकृष्ण के अध्यवसाय हैं वैसे वीरा सालवी के अध्यवसाय नहीं हैं। अतः अध्यवसाय के आधार पर परिणाम आता है।

### प्रसन्नचन्द्र राजर्षी—

प्रसिद्ध दृष्टान्त प्रसन्नचन्द्र राजर्षी का है। बाह्य क्रिया जो कायिक है वह देखने पर ध्यान—आसन की स्थिरता कितनी अच्छी लगती है। लेकिन मन साथ नहीं दे रहा है।



अतः भटकते हुए बेकाबू मन ने अध्यवसाय बिगाड़ दिये । और युद्ध जैसी हिंसा की प्रवृत्ति में मन जुड़ गया । मानसिक युद्ध के द्वन्द्व में फसे मन ने अपने अध्यवसाय के आधार पर भारी कर्मों का बंध कराना शुरू कर दिया । हेतु ही अशुद्ध था, अतः क्या हो सकता था ? इतने भारी कर्मों का बंध होने लगा कि मन उन्हें ७ वीं नरक तक ले जाने के लिए तैयार हो गया । फिर भी वह बंध अभी ताजा ही था... इतने में तो राजर्षि संभल गए और वापिस विचारधारा का प्रतिक्रमण शुरू कर लिया । मन वापिस स्वस्थता में लौट आया । भारी पश्चाताप के साथ पूरी शक्ति लगाकर कर्म निर्जरा करनी शुरू की । सामर्थ्य तो

पूरा था ही । बस, देखते ही देखते सातों नरकों को तोड़कर आत्मिक ध्यान में लीन हो गए और निर्जरा में गुणाकार कर दिया... इतने में तो चारों घन—घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान भी पा लिया । यह सारा खेल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही मुश्किल से चला होगा कि राजर्षि पार उतर गए । सर्वज्ञ—वीतरागता के ऐसे स्थायी स्थिर सोपान पर चढ़ गए कि... पुनः गिरने की अब कोई संभावना ही न रही । परिणाम की धारा पर कर्मबंध का आधार है । हेतु परिणामस्वरूप है । जो बंधकारक है । यदि हेतु शुभ है तो कर्म का बंध भी शुभ पुण्यकारक रहेगा, और यदि हेतु अशुभ रहेगा तो कर्म का बंध भी अशुभ पापात्मक रहेगा । इस तरह बंध तत्त्व समझने से स्पष्ट ख्याल आ जाता है ।

### आश्रव और बंध के भेदों में साम्यता—

१. इन्द्रिय, २. कषाय, ३. अव्रत, ४. योग, और ५. क्रिया ये मुख्य ५ प्रकार के आश्रव ४२ भेदवाले होते हैं । जबकि बंध हेतु १. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग बंध हेतु बताए हैं । लेकिन कर्मग्रन्थकार चौथे कर्मग्रन्थ में निम्न प्रकार से ४ बंध हेतु ही बताते हैं । यहाँ प्रमाद के सिवाय शेष चारों को बंध हेतु कहा है ।

“बंधस्स—मिच्छ—अविरइ—कसाया—जोगत्ति चउ हेउ ॥ ५० ॥

इसी तरह कर्मग्रन्थकार का अनुसरण करनेवाले पंचसंग्रहकार भी इसी मत को लेकर चलते हैं। यहाँ पर प्रमाद को स्वतंत्र न गिनते हुए अविरति में या कषाय में अंतर्भाव किया है। वैसे सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर कषाय भी प्रमादजन्य ही है। आत्मा जब स्वभाव रमणता से च्युत हो जाती है तब वह विभावदशा में आकर कषायादि करती है। विभावदशा में आए बिना कषाय नहीं होते हैं और कषायभाव में आए बिना विभावदशा संभव नहीं है। क्रोध, मान, माया, लोभ की परिणति ये चारों कषाय हैं। इनकी प्रवृत्ति में आने पर ही विभावदशा कहलाती है। जबकि समता, क्षमा, नम्रता, सरलता, संतोषादि भाव आत्मा के गुण हैं। अपने इन गुणों की रमणता में लीन रहना स्वभाव रमणता है। अपने ही गुणों में लीन रहना अप्रमत्त भाव है। जबकि स्वगुणरमणतारूप स्वभावदशा से च्युत होना प्रमादभाव है। अतः प्रमादवश ही पतन होता है। और निश्चित रूप से अप्रमत्तभाव से स्वगुणरमणता से ही आत्मिक उत्थान होता है।

प्रमाद के भेदों में भी कषाय की गणना की गई है। अतः प्रमाद की गणना इस दृष्टि से कषाय में अंतर्धान करके प्रमाद के बिना ४ प्रकार के बंध हेतु गिने जा सकते हैं। इसी तरह यदि प्रमाद की गणना अविरति में भी की जाय तो विवक्षा से संभव है प्रमाद भी एक प्रकार का असंयम = अर्थात् अविरति ही है। अतः इसका अविरति या कषाय में अंतर्भाव संभव है। इसी तरह सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर मिथ्यात्व और अविरति ये दोनों भी कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं लगते हैं। अतः सही सर्थ में संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से कषाय और योग ये दो ही सच्चे बंध हेतु ठहरते हैं। शेष सबका अंतर्भाव इन दोनों में हो जाता है। इस तरह समन्वय होने से तत्त्वार्थकार तथा कर्मग्रन्थकारादि में कोई मतभेद प्रदर्शित नहीं होता है। मात्र संख्या की दृष्टि में स्वतंत्र गणना करने पर स्थूल दृष्टि से भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से समन्वय होने पर कोई भेद या मत-मतान्तर नहीं रहते हैं।

### आश्रव और बंध हेतु में कार्यकारणभाव संबंध—

उपरोक्त विचारणा से दोनों तत्त्वों में कार्य—कारण भाव, जन्य—जनक भाव का विशेष संबंध दृष्टिगोचर होता है। जैसे बीज और वृक्ष के बीच में कार्य—कारणभाव संबंध है, बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है। अग्नि से धुएँ की उत्पत्ति होती है। ठीक उसी तरह आश्रव से बंध हेतु की उत्पत्ति होती है। हाँ, आश्रव में इन्द्रियाँ आदि, अविरति आदि बंध हेतु जगाने में सहायक बन जाएंगे। अविरति क्रियादि कषायों को जगाने में कारक निमित्त बन जाएंगे।

यदि अनादिकालीन प्रवाह की दृष्टि से देखा जाय तो अण्डे—मुर्गी जैसा संबंध इन दोनों में भी दिखाई देगा । पूर्वकाल के कर्मबंध हेतु के कारण आज आश्रव होता है । और आज के आश्रव के कारण भावि के बंध हेतु जागृत होते हैं । इस तरह अन्योन्य कार्य—कारण उभय बनते ही रहते हैं । कभी आश्रव बंध हेतु जगाने में कारण बनता है तो कभी बंध हेतु आश्रव में कारण बनते हैं । इस तरह अण्डे—मुर्गी के जैसा अनादि प्रवाह चल रहा है ।

हेतु शब्द कारणवाची है । कर्मबंध में कारणरूप मिथ्यात्व—कषायादि हैं । लेकिन बंध के भी सहायक कारणरूप आश्रव है । दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो आश्रव और बंध हेतु परस्पर अभिन्न भी है । कषाय योग अविरति आदि आश्रव में भी गिने गए हैं और बंध हेतु में भी गिने गए हैं । और शेष का एक दूसरे में समावेश हो जाता है । अतः आश्रव और बंध हेतु दोनों अभेद संबंध से एकरूप गिने जा सकते हैं ।

**बंध तत्त्व और बंध हेतु—**

नौ तत्त्वों में बंध तत्त्व की जो गणना की गई है उसमें ४ प्रकार के कर्म बंध गिने हैं । इनमें १. प्रकृति, २. प्रदेश, ३. रस, ४. स्थिति बंध है । अब, यहाँ आश्रव, बंध हेतु तथा बंध इन तीनों को सामने रखकर विचारणा करिए । आश्रव पहले, कर्मण वर्गणा का आश्रवण = आत्मा में आगमन—आकर्षित करता है । फिर दूसरे क्रम पर बंध हेतु परिणाम द्वारा कषायादि भावों से रस सिचन करता है । और अन्त में तीसरा बंध तत्त्व यह आत्मा के साथ कर्मणुओं को एकरसी भाव करके एकमेव कर देता है । दृष्टान्त के साथ इस तरह समझा जा सकता है कि आश्रव में रोटी बनाने के लिए क्रिया करके आटा आदि लेना, फिर बंध हेतु में उस आटे में रस—परिणाम रूप में घी, या तेल, पानी, निमक, मिर्चादि मसाला डालना आदि है । और अन्त में तीसरी क्रिया जो बंधरूप है उसमें उस रोटी को गोलाकार बनाकर अग्नि पर शेककर कड़क कर देना । ठीक इसी तरह आश्रव—बंध हेतु और बंध की प्रक्रिया है । आश्रव में “क्रियाए कर्म” के नियमानुसार कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु जो जड़ हैं उन्हें इकट्ठे करना, आकृष्ट करके आत्मप्रदेशों तक लाना है । बंध हेतु मिथ्यात्वादि वहाँ अपने शुभाशुभ अध्यवसायों का (परिणामों का) निवेश करते हैं । जिसमें घी—तेल की तरह आर्त—रौद्र ध्यान की परिणति, कषाय भाव राग—द्वेषात्मक, तथा शुभ या अशुभ लेश्याओं इन तीनों का संमिश्रण करके आटा (कणक) बांधने की तरह

बंधहेतु से तैयार करना है और अन्त में जाकर एकरसीभाव होकर कार्मण वर्गणा के जड़ पुद्गल परमाणु आत्मप्रदेशों के साथ घुल—मिलकर एकरसीभाव हो जाना बंध कहलाता है। जैसे पानी दूध में मिल जाय, या फिर अग्नि लोहे के गोले में मिलकर एकरसीभाव हो जाय ! अग्नि लोहमय बन जाय, या लोहा अग्निमय तप्त लाल बन जाय, यह बंध है। इस तरह इन तीनों के द्वारा कर्मबंध बनता है। तब जाकर कर्म का व्यवहार होता है। कर्म संज्ञा बनती है।

अपेक्षा से बंध तत्त्व के चारों प्रकार का बंध भी इन तीनों का द्योतक बन जाता है। आश्रव के द्वारा प्रदेश बंध की तैयारी होती है। जबकि बंध हेतुओं के द्वारा रसबंध की प्रक्रिया होती है। तथा स्थितिबंध की प्रक्रिया होकर बंध तत्त्व की गणना में आता है। अन्त में जाकर प्रकृतिबंध के रूप में बना हुआ कर्म ही अपना स्वभाव (प्रकृति) दिखाता है। आत्मगुणों को दबाकर जड़ कर्म चेतनात्मा पर भी अपना स्वभाव—अपनारूप दिखाता है। परिणामस्वरूप चेतन ऐसा जीवात्मा भी जड़ कर्मों से बंधा जड़ की तरफ खींचा जाता है और जड़वत् जड़समान—स्थिति जीव की बनती जाती है। इस तरह जड़कर्म चेतन की छाती पर चढ़ बैठता है तथा चेतन को अपने जड़ रंग से रंगकर ऐसा रंजित कर देता है कि चेतन जीवात्मा का सारा व्यवहार जड़ प्रभावी बना देता है। चेतन जीव जड़प्रधान बन जाता है। इस तरह जीव ने आश्रव—बंध हेतु और बंध रूप इन कर्मों के बीच में थपेड़े खाता—खाता अनादि काल से कर्म के साथ रहते रहते आज दिन तक अनन्त काल बिता दिया। परिणामस्वरूप कर्मसंयोग से दुःखी होता हुआ दुःखमय, दुःखरूप, दुःखफलदायी इस संसार में दिक्मूढ़ बनकर ८४ के चक्कर में परिभ्रमण करता ही जा रहा है। सर्वथा लक्ष्यहीन स्थिति में दिशाभ्रान्त होकर चारों गति में आवागमन रूप जन्म—मरण करता हुआ काल व्यतीत करता है। ऐसे अनादि—अनन्त संसार में जीव भी अनादि—अनन्तकालीन संसारी बन जाएगा। जबकि जीव स्वास्तित्वरूप से अनादि—अनन्त होते हुए भी संसारके संयोग संबंध से अनादि—सान्त है। अर्थात् भव्यात्मा की संसारी स्थिति अनादि—सान्त है। अन्तःसहित को सान्त कहते हैं। संसार में अनन्त काल तक रहना जीव के हित में नहीं है। अत्यन्त दुःखदायी है। दुःखविपाकी, दुःखफलदायी दुःखानुबंधी ऐसे संसार में क्या जीव दुःखमुक्त सर्वथा दुःखरहित हो सकता है? जी नहीं। कभी नहीं।

इसलिए किसी भी तरह जीव को आध्यात्मिक विकास की यात्रा में अग्रसर होते हुए गुणस्थान का एक—एक सोपान चढ़ते चढ़ते आगे प्रगति करनी ही चाहिए। तो ही

अनादि—अनन्त होते हुए भी इस संसार का जीव के लिए अन्त आ जाएगा । यही साध्य है, यही करणीय है, यही करना भी है ।

### गुणस्थानों पर बंधहेतुओं की संभावना—

१४ गुणस्थानों में से १३ गुणस्थानों तक उन प्रत्येक पर, कर्म बंध होता ही है । होने की संभावना भी पूरी है । अतः जहाँ जहाँ भी कर्म का बंध होता ही रहेगा वहाँ—वहाँ कर्मबंध के हेतु भी अवश्य ही रहेंगे और उन हेतुओं के पीछे आश्रवादि भी अवश्य ही रहेंगे । तभी तो कर्मबंध होगा । नीचे नीचे के गुणस्थानों पर बंध हेतुओं की संख्या ज्यादा—ज्यादा रहेगी । और जैसे जैसे गुणस्थान के सोपान ऊपर ऊपर चढ़ते ही जाएंगे वैसे वैसे बंध हेतु घटते जाएंगे—कम होते जाएंगे, उसी तरह कषायादि की मंदता होने के कारण बंधस्थिति भी कम होगी, और बंधहेतु की मात्रा तथा तरतमता भी कम होने के आधार पर बंधस्थिति भी कम ही रहेगी । परिणामों की विशुद्धि के आधार पर तथा कषायों की मंदता के आधार पर बंधहेतुरूप अध्यवसाय भी ज्यादा नहीं रहेंगे, ज्यादा संख्या में भी नहीं तथा ज्यादा मात्रा में भी नहीं । इसलिए नीचे नीचे के गुणस्थानों पर बंध हेतुओं—आश्रवों की बहुलता तथा कषायों आदि की तीव्रता, तथा अशुभ लेश्याओं की प्रधानतादि तथा अध्यवसायों की मलीनता के कारण कर्मों का बंध भी तीव्रतम, अधिकतम, स्थिति आदि भी अधिकतम बनती ही रहेगी । मिथ्यात्वादि पाँच प्रकार के बंध हेतु १३ गुणस्थानों पर कितने कहाँ किस तरह रहते हैं उनकी विचारणा इस प्रकार है—

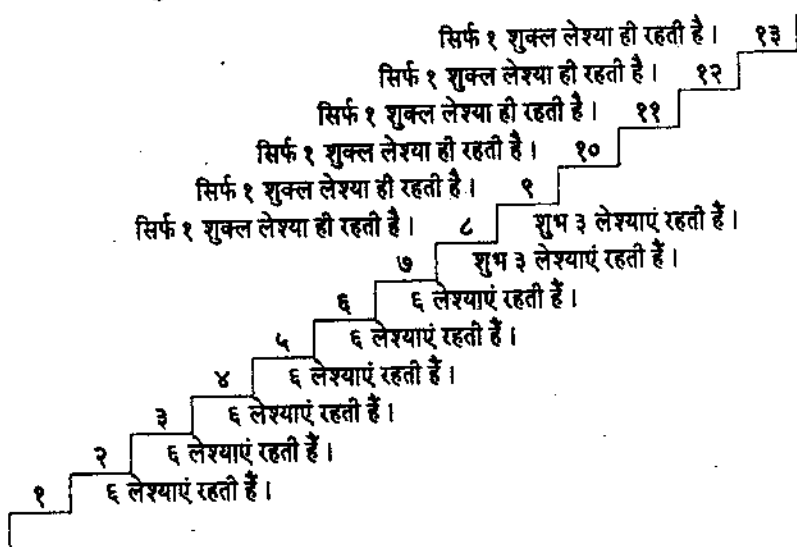
|       |                                                              |             |
|-------|--------------------------------------------------------------|-------------|
|       | सिर्फ योग १ ही बंध हेतु रहता है ।                            | १३ स.के.    |
|       | सिर्फ योग १ ही बंध हेतु रहता है ।                            | १२ क्षी.मो. |
|       | सिर्फ कषाय और योग ये २ बंध हेतु रहते हैं ।                   | ११ उप.      |
|       | सिर्फ कषाय और योग ये २ बंध हेतु रहते हैं ।                   | १० सू.सं.   |
|       | सिर्फ कषाय और योग ये २ बंध हेतु रहते हैं ।                   | ९ अनि.      |
|       | सिर्फ कषाय और योग ये २ बंध हेतु ... ।                        | ८ अप.       |
|       | सिर्फ कषाय और योग ये २ बंध ... ।                             | ७ अप.       |
|       | ६ स.वि. प्रमाद, कषाय तथा योग ये ३ बंध हेतु रहते हैं ।        |             |
|       | ५ दे.वि. मि. रहित देश से अविरति और शेष ३ बंध हेतु रहते हैं । |             |
|       | ४ अ.स. मि. सिवाय के शेष ४ बंध हेतु रहते हैं ।                |             |
|       | ३ मि. मि. सिवाय के शेष ४ बंध हेतु रहते हैं ।                 |             |
|       | २ सा. मि. सिवाय के ४ बंध हेतु रहते हैं ।                     |             |
| १ मि. | पहले गुणस्थान पर मिथ्यात्वादि पाँचों बंध हेतु रहते हैं ।     |             |

जिस जिस गुणस्थान पर जहाँ—जहाँ जितने—जितने बंध हेतु मौजूद रहेंगे उस—उस गुणस्थान पर रहे हुए जीव को उस प्रकार से उतने प्रमाण में कर्मबंध होता रहेगा। अतः साधक को अशुभ कर्मबंध से, बंधहेतुओं से बचना ही होगा। बंधहेतु जो अध्यवसाय—परिणामरूप है और ये मनोगत हैं, तथा जड़ साधन मन हमारे हाथ में है। हम चाहें वैसा मन का उपयोग कर सकते हैं। लगाम भी हमारे हाथ में है, हम चाहे जैसे अध्यवसाय—परिणाम रख सकते हैं। ये ही परिणाम है जो कर्म बंधाते भी हैं और कर्म खपाते भी हैं। बंध और निर्जरा दोनों में सहायक है। बस, मात्र साधक पर आधार रहता है, वह मन का कैसा उपयोग करता है।

### १३ गुणस्थानों पर लेश्या की स्थिति—

आप जानते हैं कि लेश्या यह अध्यवसायों की तरतमता को कहते हैं। एक समान क्रिया होने के बावजूद भी लेश्याओं की तरतमता सर्वत्र प्रति व्यक्ति भिन्न रहती ही है। उदाहरणार्थ भूख लगने पर खाने की प्रवृत्ति करनेवाले छः ही मित्रों की विचारों की तरतमता—लेश्या भिन्न रहती है। इनमें नीचे के क्रमसे प्रथम ३ अशुभ हैं जबकि शेष ३ शुभ हैं। जिस जीव की जैसी लेश्या होगी उसको उस हिसाब से कर्म का बंध होगा। १३ गुणस्थानवर्ती जीव जो जिस गुणस्थान पर आरूढ़ होगा वहाँ भी उस—उस प्रकार की लेश्या रहेगी। चतुर्थ कर्मग्रन्थ षडशीति की ५० वीं गाथा में यह निर्देश किया है—

छसु—सख्या, तेउ तिगं, इगि—छसु—सुक्का, अजोगी—अत्लेसा।





१३ वे गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली एक मात्र शुभ शुक्ल लेश्यावाले ही होते हैं । तथा १४ वे गुणस्थानवर्ती अयोगी की किसी भी प्रकार की लेश्या ही नहीं रहती है, अतः वे सर्वथा अलेश्यावाले अलेशी कहलाते हैं ।

एक एक लेश्या के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय स्थानक होते हैं । विचारों की अनगिनत संख्या के आधार पर तथा विचारों की तरतमता के आधार पर । छठे गुणस्थान पर साधु बन जाने के पश्चात् भी प्रमादभाव के कारण अशुभतर कृष्ण लेश्या के अध्यवसाय होते हैं । ५ वाँ तथा ६ डा गुणस्थान प्राप्त करते समय शुभ लेश्या होती है, परन्तु प्राप्ति के पश्चात् प्रमत्त परिणाम के कारण लेश्याएं अशुभ भी बन जाती हैं । इस तरह प्रथम के ६ गुणस्थान पर अशुभ—शुभ दोनों प्रकार की लेश्याएं घटित होती हैं । अतः सभी गुणस्थान लेश्या मार्गणा में गिने गए हैं ।

### बंध हेतुओं के अवान्तर प्रकार—

मिथ्यात्वादि मुख्य पाँच (४ या ५) जो बंध हेतु हैं उनके अवान्तर भेद भी काफी हैं । वे सभी कर्मबंध करने में हेतु के रूप में कार्य करते हैं । मिथ्यात्वादि तो स्थूल रूप से मूल नाम गिनाए गए हैं । लेकिन मिथ्यात्व ५ प्रकार का होता है । संसार में भिन्न—भिन्न प्रकार के जीव होते हैं । सबके मिथ्यात्व का स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है । एक ही साथ पाँचों प्रकार का मिथ्यात्व भी किसी एक जीव को नहीं होता है । अतः एक समय पाँच में से किसी एक प्रकार का ही मिथ्यात्व रहता है । वही कार्य करता है । इसी तरह अविरति कषाय आदि सबके विचारों की विवक्षा की गई है ।

| बंध हेतु     |                                       |                                        |                                |             |
|--------------|---------------------------------------|----------------------------------------|--------------------------------|-------------|
| मूल बंध हेतु | १. मिथ्यात्व                          | २. अविरति                              | ३. कषाय                        | ४. योग      |
| उत्तर भेद    | ५                                     | ५ इं. + १ मन<br>+ ६ जीवबंध<br>= १२ अवत | ९ नोक<br>+ १६ मूक<br>= २५ कषाय | ३<br>१५ भेद |
|              | ५ + १२ + २५ + = १५ = ५७ कुल बंध हेतु. |                                        |                                |             |

अभिगहिअ-पणभिगहि-आभिनिवेसिय-संसइयमणाभोगं ।

पण-मिच्छ, बार-अविरट्ठ, मण-करण-नियमु-छ जिअवहो ॥५१॥

कर्मग्रन्थ ४/५१

| मिथ्यात्व |            |            |         |          |
|-----------|------------|------------|---------|----------|
| १         | २          | ३          | ४       | ५        |
| अभिग्रहिक | अनभिग्रहिक | अभिनिवेशिक | सांशयिक | अनाभोगिक |

ये पाँच प्रकार के मुख्य मिथ्यात्व हैं। (इनका विस्तृत वर्णन पूर्व में कर चुके हैं।)

| अविरति                   |        |                                                         |
|--------------------------|--------|---------------------------------------------------------|
| १                        | २      | ३                                                       |
| १, २, ३, ४, ५ इन्द्रियाँ | + मन + | १, २, ३, ४, ५ इन्द्रियवाले जीव तथा त्रसनिकाय के जीव = ६ |

संसार में रहनेवाले समस्त प्रकार के जीव इन्द्रियों की दृष्टि से ५ विभाग में विभाजित किये गए हैं। एक इन्द्रियवाले— पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि के जीव, दो इन्द्रियवाले— कृमि आदि जीव, तीन इन्द्रियवाले— चिटी, मकोड़े, जू आदि जीव, चार इन्द्रियवाले— मक्खी, मच्छरादि जीव, पाँच इन्द्रियवाले— देव, मनुष्य, नरक, एवं तिर्यच गति के पशु—पक्षी आदि सभी जीव। इस संसार में रहे हुए समस्त जीव इन्द्रियों की दृष्टि से पाँच विभाग में विभक्त किये गए हैं। अतः पाँच इन्द्रियवाले गिने जाते हैं। इन एकेन्द्रिय जीवों को तो १—१ इन्द्रिय मिली है। लेकिन पंचेन्द्रिय जीवों को पाँचों इन्द्रियाँ संपूर्ण मिली हैं। अतः ये पाँचों इन्द्रियाँ कर्म बंधने में सहायक होने के कारण बंध हेतु के रूप में गिनी गई हैं। प्रमाद में भी ये हैं। जब जीव इन पाँचों इन्द्रियों एवं इनके विषयों में आसक्त होता है, तब प्रमादग्रस्त, अविरतिग्रस्त होता है। और इन बंधहेतुओं से कर्म उपार्जन करता है।

पाँचो इन्द्रियों की तरह मन भी एक स्वतंत्र साधन है। विचार कराने में सहायक साधन यह मन भी कितने ही कर्म बंधाता रहता है। अतः बंध हेतु में इसका भी काफी बड़ा हाथ है। यह अतीन्द्रिय है। इस तरह पाँचो इन्द्रियाँ और छद्म मन मिलकर ये ६ अविरतिकारक प्रमादकारक हैं। इसी तरह स्थावर निकाय के एकेन्द्रिय जीवों में १. पृथ्वी, २. पानी, ३. अग्नि, ४. वायु, तथा ५. वनस्पतिकाय के ये पाँचों स्थावर तथा समस्त ६. त्रस काय मिलाकर ये ६ जीवनिकाय हैं। संसार के समस्त जीव इन ६ जीवनिकाय विभाग में समाविष्ट हो जाते हैं। इस ६ प्रकार के जीवों की हिंसादि रूप विराधना करने से भी भारी कर्मों का बंध होता है। अतः अविरति या अव्रत के रूप में इनकी भी गणना की गई है। इस तरह पाँच इन्द्रियाँ + एक मन + छः काय जीव विराधना = कुल मिलाकर १२

प्रकार का अवतत या अविरतिरूप पाप बताया गया है। ये सभी प्रकार कर्मबंध में हेतुरूप हैं, कारणरूप हैं।

## कषाय और योग के भेद—

नव—सेल—कसाया, पनर—जोग, उत्तरा उ सगवन्ना । कर्मग्रन्थ ४/५२

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में हास्यादि छः + तथा तीन वेद मिलाकर कुल नौ को नोकषाय की संज्ञा दी गई है। अतः ये मूलभूत कषाय नहीं हैं लेकिन मूल कषाय क्रोधादि के सहायक कषाय हैं। इस दृष्टि से इन सहायक नौ नोकषायों की गणना भी मूल कषायों के साथ की जाती है। हास्य—भयादि भी मूल क्रोधादि कषायों को जगाने—भडकाने में काफी सहायक—निमित्त बनते हैं। अतः ये भी कर्म बंधाने में हेतुभूत बनकर काम करते हैं।

१६ मूल कषायों में क्रोधादि की विवक्षा निम्न प्रकार से हैं। मुख्य ४— १. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ। तथा कालिक दृष्टि से विवक्षा करने पर और ४ भेद होते हैं। १. अनन्तानुबंधी, २. अप्रत्याख्यानावरण, ३. प्रत्याख्यानावरण, एवं ४. संज्वलन। इस तरह क्रोधादि चारों इन अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकार के बनने पर  $४ \times ४ = १६$  प्रकार के बनेंगे।

१. अनन्तानुबंधी— क्रोध, मान, माया और लोभ = ४
२. अप्रत्याख्यानावरण— क्रोध, मान, माया और लोभ = ४
३. प्रत्याख्यानावरण— क्रोध, मान, माया और लोभ = ४
४. संज्वलन— क्रोध, मान, माया और लोभ = ४

इस तरह कुल १६ प्रकार के कषाय होते हैं। तथा छः हास्यादि + तीन वेद = नौ नोकषाय एवं + १६ मूल कषाय। इस तरह कुल मिलाकर २५ कषाय होते हैं। ये सभी कर्म बंधकारक हैं। तथा बंधहेतुभूत हैं। हास्यादि तथा वेदादि प्रमादान्तर्गत भी समा सकते हैं।

| योग       |            |          |      |
|-----------|------------|----------|------|
| १) मन ४ + | २) वचन ४ + | ३) काय ७ | = १५ |

मन, वचन और काया के मूल तीन योग १५ प्रकार के गिने जाते हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१) सत्य मनोयोग- अस्ति जीव; सर्वहितचिन्तनादि । सत्यरूप मन ।

२) मृषा मनोयोग- नास्ति जीव; जीव है ही नहीं । यह असत्य मनोयोग ।

३) सत्यमृषा मनोयोग- दोनों का मिश्र स्वरूप यह तीसरा भेद है । इसमें कुछ अंश सत्य का और कुछ अंश असत्य का ऐसे दोनों मिश्र होते हैं ।

४) असत्यामृषामनोयोग- सत्य भी नहीं, और असत्य भी नहीं ऐसी विचारणा चौथे प्रकार का असत्यामृषा मनोयोग कहलाता है । यहाँ मन से विचार करनेरूप कार्य है । अतः मनोयोग कहा है । इसे प्रयोग करके व्यक्त करना हो तब वचन योग का व्यवहार होता है । यह वचनयोग भी ऊपर की तरह ४ प्रकार का होता है ।

५) १. सत्य वचन योग- बिल्कुल सत्य बोलना-आत्मा है ।

६) २. असत्य वचन योग- बिल्कुल झूठ-असत्य बोलना-आत्मा नहीं है ।

७) ३. सत्यमृषा वचन योग- दोनों का मिश्र स्वरूप यह तीसरा प्रकार है । इसमें कुछ अंश सत्य का और कुछ अंश असत्य का होता है ।

८) ४. असत्यामृषा वचन योग- इसमें सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं है ऐसी भाषा का प्रयोग चौथे प्रकार का वचन योग है । मन के ४ +, वचन के ४ + तथा काययोग के ७ मिलाकर कुल १५ योग हैं ।

९) १. औदारिक काय योग- काया का मतलब शरीर से है । मनुष्य और तिर्यच पशुपक्षी का शरीर यह औदारिक काययोग है अर्थात् आहारादि के उदार पुद्गलों से बना हुआ यह शरीर-औदारिक काय योग है ।

१०) २. औदारिक मिश्र काय योग- मनुष्य या तिर्यच पशु-पक्षी उत्पत्ति के एक समय पश्चात् शरीर पर्याप्ति पूरी करने तक कर्मण के साथ मिश्रपना यह औदारिक मिश्र काय योग है । केवली समुद्घात में भी २, ६, ७ वे समय में यह होता है ।

११) वैक्रिय काय योग- स्वर्ग के सभी देवता, सातों नरक के सभी नारकी जीव अपना शरीर जो बनाते हैं वह वैक्रिय प्रकार का होता है । इसी तरह लब्धिवंत मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यच पशु-पक्षी भी वैक्रिय शरीर निर्माण कर सकता है । तथा हवा का शरीर भी वैक्रिय शरीर है ।

१२) वैक्रिय मिश्र काय योग- उन्हीं देवता तथा नारकी जीवों की उत्पत्ति होते ही कर्मण के साथ वैक्रिय का मिश्रण ही वैक्रिय मिश्र काय योग होता है । मनुष्य और

तिर्यच जीव को वैक्रिय के आरंभकाल में और छोड़ने के समय औदारिक के साथ भी वैक्रिय मिश्र काय योग होता है ।

१३) आहारक शरीर योग— १४ पूर्वधारी मुनि जब आहारक शरीर की रचना करते हैं तब यह आहारक काय योग होता है ।

१४) मिश्र काय योग— आहारक शरीर के आरंभ तथा अन्त के समय औदारिक के साथ आहारक का मिश्र काय योग होता है ।

१५) कर्मण काय योग— जीव जो कर्मण वर्गणा (कर्मरज) के पुद्गल परमाणु ग्रहण करता है तथा उसे आत्मप्रदेशों के साथ एकरसीभाव करके पिण्ड निर्माण करता है वह भी एक शरीर के रूप में व्यवहृत होता है । उसे कर्मण शरीर कहते हैं । जो मृत्यु के पश्चात् भी जीव को अन्तराल में अन्य गति में जाते समय आत्मा के साथ जाता है । केवली समुद्घात के समय भी ३, ४, ५ वे समय होता है । इसे कर्मण शरीर कहा है । तैजस भी एक शरीर ही है लेकिन उसकी विवक्षा इस कर्मण काय योग के अन्तर्गत ही गिनी गई है । इस तरह ये उपरोक्त १५ प्रकार के योग हैं ।

किस गुणस्थान पर कितने योग होते हैं ?

मिच्छ दुगि—अजड़—जोगा, हारदुगूणा अपुव्व—पणगे—उ ।

मणवड़—उरलं—सविउ—व्वि, मीसि—सविउव्वि—दुग देसे ॥ ४/४६ ॥

साहारग दुग—पमत्ते—त्ते विउवाहारमीस—विणु इअरे ।

कम्पुल दुगंताइम—मण, वयण—सजोगी—न—अजोगी ॥ ४/४७ ॥

चौथे कर्मग्रन्थ के उपरोक्त दोनों श्लोकों में गुणस्थानों पर इन १५ योगों में से कहाँ कितने योग होते हैं यह निर्देश किया है—

१ ले मिथ्यात्व, २ रे सास्वादन और ४ थे अविरत सम्यग्दृष्टि इन ३ गुणस्थानों पर आहारक तथा आहारक मिश्र इन २ योगों के बिना शेष १३ योगों की स्थिति होती ही है ।

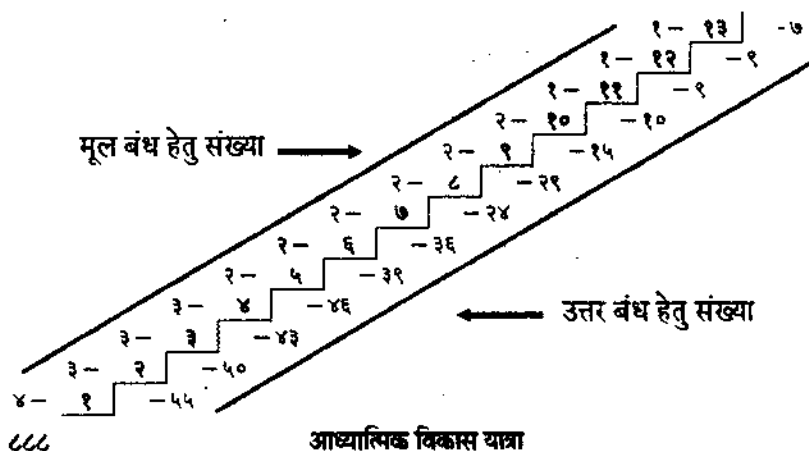
अपूर्वकरण ८, ९, १०, ११ और १२ वे क्षीणमोह गुणस्थान इन ५ गुणस्थानों पर ४ मन के + ४ वचन के और १ औदारिक काय योग इस तरह नौ ९ योग होते हैं । इन ५ गुणस्थान पर लब्धि का प्रयोग होता ही नहीं है इसलिए वैक्रिय द्विक और आहारक द्विक के कुल ४ योग नहीं होते हैं । अतः १३ में से ४ जाने पर ९ शेष रहते हैं । इसी तरह इन ५ गुणस्थान पर समुद्घात की अवस्था भी नहीं होती है इसलिए यहाँ पर औदारिक मिश्रयोग नहीं होता है । तथा कर्मण काय योग तो अंतराल गति में ही होता है ।

३ रे मिश्र गुणस्थान पर पूर्वोक्त ९ योग जो हैं उसमें वैक्रिय काय योग जोड़ने पर १० योग होते हैं। वैक्रियवंत जीव को मिश्र गुणस्थान होता है। परन्तु मिश्र गुणस्थान पर वैक्रिय प्रारंभ नहीं करता है इसलिए वैक्रिय मिश्र योग नहीं होता है। देशविरति ५ वे गुणस्थान पर पूर्वोक्त ९ योग, वैक्रिय द्विक— २ सहित हो तो ११ योग कहलाते हैं।

६ द्वे प्रमत्त गुणस्थान पर पूर्वोक्त ११ योग, आहारक द्विक सहित हो तो १३ योग होते हैं। यहाँ आहारक शरीर बनाता है इसलिए।

७ वे अप्रमत्त गुणस्थान पर पूर्वोक्त १३ योग में से वैक्रिय मिश्र और आहारक मिश्र ये २ योग न होने पर ११ योग रहते हैं। वैक्रिय आहारक करके ७ वे गुणस्थान पर आए तो रहते हैं परन्तु अप्रमत्त जीव वैक्रिय, आहारक नहीं करता है, और न ही छोड़ता है। अतः दोनों मिश्रयोग नहीं होते हैं। सयोगी को १३ वे गुणस्थान पर १ कर्मण काययोग, २ औदारिक मिश्र, ३ औदारिक, तथा मन—वचन के प्रथम और चरम ४ योग इस तरह कुल ४ योग होते हैं। क्योंकि औदारिक मिश्र तथा कर्मण ये २ केवली समुद्घात के समय होते हैं। मन वचन के ४ तो सहज होते हैं। इस तरह सयोगी को ७ योग होते हैं। १४ वे अयोगी गुणस्थान पर योग निरोध होता है। अतः योग न होने पर अयोगी कहलाते हैं।

प्रस्तुत विषय यहाँ बंध हेतु का चल रहा है। अतः विस्तार रूप से कर्मग्रन्थकार की दृष्टि से मुख्य ४ प्रकार के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योग के अवान्तर भेद कुल ५ + १२ + २५ + १५ = कुल ५७ भेद होते हैं। इन ५७ प्रकार के बंध हेतुओं के द्वारा कहाँ किस—किस गुणस्थान पर कितनी संख्या में अवान्तर भेद युक्त बंध हेतु होते हैं उनका निम्न तालिका से स्पष्टीकरण किया गया है। (उपरोक्त ५७ भेदों का ख्याल रखकर गुणस्थानों पर उसमें से संख्या लिखी जाती है।)



पणपन्नपत्रा तिअछहिअ, चत्त गुण चत्त, छ-चउ-दुग-वीसा ।

सोलस-दस-नव-नव-सत्त-हेउणो- न उ अजोगिभि ॥ ४/५४ ॥

चौथे कर्मग्रंथ की इस ५४ वीं गाथा के आधार पर ऊपर टेबल में बंधहेतुओं के उत्तर भेदों की संख्या सूचित की गई है। अन्त में १४ वे गुणस्थान पर अयोगी को किसी भी प्रकार का बंधहेतु नहीं होता है। बंधहेतु के अभाव में कर्म बंध होता ही नहीं है। परन्तु इसके पूर्व गुणस्थानों पर कर्मबंध के इतने हेतु इतनी संख्या में रहते हैं। अतः पुनः कर्म का बंध तो होता ही रहता है। यह जरूर कह सकते हैं कि पूर्व-पूर्व गुणस्थानों पर बंधहेतु भी ज्यादा प्रमाण में रहते हैं। अतः कर्मबंध भी ज्यादा होता है। तथा उत्तर-उत्तर के ऊपर चढ़ने के गुणस्थान शुद्धियों से भरे हुए होने के कारण बंधहेतुओं की संख्या बहुत ही ज्यादा अल्पतर रहती है अतः कर्म का बंध भी बिल्कुल कम ही रहेगा।

### बंध हेतुओं के गुणस्थानों पर विस्तृत भंग—

उपरोक्त उत्तर भेदवाले बंधहेतुओं की संख्या जो दर्शायी गई है, उनका परस्पर गुणाकारादि करने पर एक एक गुणस्थानवर्ती आश्रयी जीव के बंध हेतुओं के भंगों की संख्या काफी ज्यादा होती है इतना लम्बा विस्तार यहाँ न करते हुए तालिका द्वारा प्रत्येक गुणस्थानों पर किस जीव के कितने भंग होते हैं यह दर्शाया गया है—

#### गुणस्थान पर बंध हेतु के एक जीव आश्रयी विकल्प के भंगों का यन्त्र

| गुणस्थान               | ओष बंधहेतु<br>उत्तरभेद | बंधहेतु<br>विकल्प | सर्व विकल्पों<br>के भंग |
|------------------------|------------------------|-------------------|-------------------------|
| १. मिथ्यात्व गुण       | ५५                     | ९                 | ३४७७६००                 |
| २. सास्वादन गुण        | ५०                     | ८                 | ३८६०४०                  |
| ३. मिश्र गुण           | ४२                     | ८                 | २०३४००                  |
| ४. अक्विरत स. गुण      | ४६                     | ८                 | ३८३०४०                  |
| ५. देशक्विरत गुण       | ३९                     | ७                 | १६३६८०                  |
| ६. प्रमत्त वि. गुण     | २६                     | ३                 | ११८४                    |
| ७. अप्रमत्त वि. गुण    | २४                     | ३                 | १०२४                    |
| ८. अपूर्वकरण गुण       | २२                     | ३                 | ८६४                     |
| ९. अनिवृत्ति गुण       | १६                     | २                 | १४४                     |
| १०. सूक्ष्म संपराय गुण | १०                     | १                 | ९                       |
| ११. उपशांत मोह गुण     | ९                      | १                 | ९                       |
| १२. क्षीण मोह गुण      | ९                      | १                 | ९                       |
| १३. संयोगी केवली       | ७                      | १                 | ८                       |

ये उपरोक्त भंग संख्या तो एक—एक गुणस्थानवर्ती एक—एक जीव आश्रयी दर्शायी है। परन्तु सब मिलकर १४ गुणस्थानों के ४७१३०१० भंग होते हैं। इस तरह कर्मबंध के मूलभूत हेतु तथा उत्तर हेतुओं तथा उत्तर हेतुओं के भंगों की संख्या यहाँ दर्शायी गई है।

### गुणस्थानों पर प्रकृति बंध—

अपमत्तंता सत्तद्गु मीस—अपुव्व—बायरा सत्त।

बंधइ छ—सुहुमो एगमुवरिमा बंधगाजोगी

॥ ४/५९ ॥

बंध तत्त्व जो ४ प्रकार का बताया है उसमें १. प्रकृति बंध, २. रस बंध, ३. प्रदेश बंध और ४. स्थितिबंध के भेद गिने जाते हैं। ऊपर जैसे बंधहेतुओं द्वारा जो कर्मबंध के प्रकार बनते हैं वे दर्शाए हैं, उन तथाप्रकार के बंधहेतुओं द्वारा जीव जिन कर्मों को बांधता है उनमें प्रकृति बंध भी विभाजित होता है। वैसे प्रकृति शब्द यहाँ पर स्वभाव अर्थ में है। आत्मा का मूलभूत स्वभाव अपने ज्ञानादि गुणात्मक है। परन्तु बंधहेतुओं के आचरण से जिस कर्मण वर्गणा का आश्रवण (आगमन) हुआ है उसके आधार पर वे आत्मा के साथ बंधकर एकरस होकर आत्मसात हो जाते हैं, तब आत्मगुणों पर उस जडकर्म का एक प्रतर बन जाता है। जो आवरण रूप में आच्छादक बनकर आत्मगुणों को ढक देता है। उसे प्रकृतिबंध कहते हैं। जैसे सूर्य को बादल ढक देते हैं। स्वभाव से ही प्रकाशक—द्योतक ऐसे सूर्य को ढककर बादल अब सूर्य के प्रकाश को फैलने नहीं देते हैं, परन्तु अब अपने स्वभाव के अनुसार अन्धेरा फैला देते हैं। परिणाम स्वरूप में दिन में सूर्य होते हुए भी अन्धेरा छाया हुआ लगता है।

ठीक इसी तरह आत्मा भी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रह पाती है और अपने ज्ञान—दर्शनार्थ गुणों को प्रकट नहीं कर पाती है। बस, अब बंधे हुए कर्म के भार से दबी हुई आत्मा कर्मस्वभाव के अधीन होकर अपने ज्ञानादि को प्रकाशित करने के बजाय कर्म के स्वभावरूप अज्ञानादि को प्रकट करती है। यह प्रकृति(स्वभाव)बंध है। इससे जीव की अपनी प्रकृति के बदले कर्म की प्रकृति बन जाती है।

प्रस्तुत अधिकार में १४ गुणस्थानों के सोपानों पर स्थित किस गुणस्थान पर किस जीव को कितने कर्मों का प्रकृतिबंध होता है उसका विवरण चतुर्थ कर्मग्रन्थकार ने इस तरह किया है। (प्रकृतिबंध में मूल ८ प्रकृतियाँ बंधती हैं। अतः ८ प्रकार के मुख्य कर्म कहलाते हैं। और इन आठों कर्मों के अवान्तर भेद १५८ होते हैं।)



पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर ७ वें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त तद्वर्ती जीव ७ अथवा ८ कर्म बांधते हैं। जब आयुष्यकर्म भी बांधे तब ८ कर्म बांधे ऐसा कहा जाता है और यदि आयुष्यकर्म न बांधे तो ७ कर्म बांधता है ऐसा कहा जाता है। परन्तु ७ कर्म तो अवश्य बांधते ही हैं। इसी तरह अविरति, प्रमाद, कषायादि की तीव्रता भी ज्यादा कारणभूत बनती है। मिश्र तीसरे, ८ वें अपूर्वकरण, तथा ९ वें अनिवृत्ति बादर इन गुणस्थानों पर ७ कर्मों का ही बंध होता है। आठवें आयुष्य कर्म का बंध यहाँ नहीं होता है अतः आयुष्य के सिवाय ७ कर्मों का बंध होता रहता है। मिश्र तीसरे गुणस्थान पर तथा स्वभाव से ही जीव आयुष्यकर्म बांधता ही नहीं है और अपूर्वकरण तथा अनिवृत्ति बादर ८ वें तथा ९ वे गुणस्थान पर अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय होने के कारण आयुष्य का बंध होता ही नहीं है। चूँकि आयुष्य का बंध घोल के परिणाम से होता है।

सूक्ष्म संपराय नामक १० वे गुणस्थान पर मोहनीय कर्म तथा आयुष्यकर्म का भी बंध नहीं होता है अतः इन २ के सिवाय ६ कर्मों का बंध होता है। क्योंकि मोहनीय कर्म का बंध तो स्थूल कषाय के उदय से होता है। और १० वे गुणस्थान पर स्थूल कषाय का अभाव होता है तथा क्षपकश्रेणी पर आरूढ जीव कर्मक्षय—निर्जरा कर रहा है अतः बंध संभव नहीं है। इसी तरह अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय होने के कारण आयुष्य का भी बंध नहीं होता है। सिर्फ शेष ६ कर्मों का बंध हो सकता है। उपशान्त मोह. ११ वे, १२ वे क्षीणमोह, तथा १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान पर सिर्फ १ शाता वेदनीय कर्म ही बांधता है। और अन्तिम १४ वे गुणस्थान पर जीव अयोगी होता है अतः १४ वे गुणस्थान पर कर्म बांधने का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता है।

**कषायादि के कारण प्रमादप्रस्तता—**

**कषायाणां चतुर्थानां, तृती तीव्रोदये सति।**

**भवेत्प्रमादयुक्तत्वात्प्रमत्तस्थानगो मुनिः**

**॥ २७ ॥**

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थ के उपरोक्त श्लोक में इस प्रकार की ध्वनि स्पष्ट की गई है कि... जैसे जैसे जीव आगे के गुणस्थानों के सोपानों पर अग्रसर होता है वहाँ पीछे पीछे के गुणस्थानवर्ती बंधहेतुओं का उदय सत्ता न होने के कारण जीव आगे बढ़ता है। मिथ्यात्व तो सिर्फ पहले गुणस्थान तक ही था। अतः वहाँ से आगे बढ़ने या ऊपर चढ़ने पर अब वह भी नहीं रहा। ५ वें गुणस्थान पर जो अविरतिजन्म आश्रव और बंधहेतुओं दोनों की सत्ता—उदय है अब आगे के छठे गुणस्थान पर पहुँचने के कारण जब साधक ने सर्वविरति

अंगीकार ही कर ली है तो फिर पहले की अविरति भी चली जाती है। और अविरतिजन्य जो पापकर्मों का बंध होता था वह भी अब नहीं होगा। ऐसा ही पहले मिथ्यात्व के बारे में भी समझना चाहिए। अब छठे गुणस्थान पर आरूढ़ होने के पश्चात् प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बंध हेतु ज्यादा कर्म बंधाने में सहायक हैं।

इसलिए छठे गुणस्थानवर्ती साधक को संज्वलन के ४ मुख्य कषाय ही कर्मबंध के प्रमुख कारण बनते हैं। प्रमाद का भी सबसे बड़ा कारण ये ४ कषाय हैं। यद्यपि १६ कषायों में से ४ अनन्तानुबंधी के क्रोधादि तो पहले गुणस्थान से ४ थे पर आने में ही चले गए। दूसरे अप्रत्याख्यानीय के ४ क्रोधादि कषाय चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान से ५ वे देशविरति गुणस्थान पर आते ही चले गए। और तीसरे ४ प्रत्याख्यानीय क्रोधादि कषाय वे भी ५ वे से छठे प्रमत्त गुणस्थान पर आते ही चले गए। इस तरह १६ में से १२ प्रकार के कषायों का अपगम करके साधक जीव छठे गुणस्थान पर आकर साधु बना है। इस तरह गृहस्थाश्रम से निकलकर संसार त्याग करके साधु बनने के पहले ही १६ में से १२ कषायों का नाश हो जाता है और वह जीव कषायजन्य अनेक पापकर्मों के बंधन, संबंध से बचता है। छठे गुणस्थानवर्ती साधक को अब साधु बनने के बाद सिर्फ ४ कषायों के साथ ही संघर्ष खेलना है और वे भी साधक के हाथ में हैं। ये संज्वलन कषाय तो वैसे भी थोड़ी अवधि के ही हैं। इनका ज्यादा से ज्यादा जोर १५ दिन का रहता है। बस, इतनी ही इनकी काल अवधि रहती है। ये बिचरे हैं तो कमजोर फिर भी एक छोटे से कांटे की तरह—पैर में लगे शल्य की तरह खतरनाक रहते हैं। आगे के गुणस्थान पर गमन करने के मार्ग को ही अवरुद्ध कर देते हैं। फिर आगे विकास कैसे होगा? और इन ४ संज्वलन कषायों की प्राधान्यता के कारण ही जीव प्रमादि कहलाता है।

जब प्रमाद छोड़ना है और आगे बढ़ना ही है तो फिर कषायों से दोस्ती कैसी? जब संसार ही छोड़ दिया है, संसार से महाभिनिष्क्रमण कर दिया है तो फिर प्रमाद और कषायादि का भी आलम्बन क्यों लेना चाहिए? आखिर भगवान महावीर ने संसार छोड़ने के लिए क्यों कहा? क्या गृहस्थाश्रम में रहकर आध्यात्मिक विकास संभव नहीं था? जी हाँ, आप थोड़ा और गौर से सोचिए, जब तीर्थंकर परमात्मा ने स्वयं भी इस और ऐसे संसार से यौवनकाल में ही महाभिनिष्क्रमण किया। त्यागकर निकल पड़े साधुता की राह पर। जो जन्मजात अरे! गर्भकाल से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञान से परिपूर्ण संपूर्ण थे तो फिर क्या आवश्यकता थी संसार छोड़ने की? क्यों छोड़ा?

जी हौं, ... इसका सीधा उत्तर इतना ही है कि ... यह संसार विषय, कषाय, अविरति और प्रमादादि से भरा हुआ है। संसार में रहकर इनसे बचना नामुमकिन है। चाहे आप कितने भी ज्ञानी हो, लेकिन संसार के व्यवहार में आप क्या करेंगे ? कैसे बचेंगे ? बच्चे, पत्नि, पुत्र—पौत्रादि के निमित्त के कारण कैसा व्यवहार होगा ? और करना पड़ेगा ? कर्मबंध, आश्रव, तथा बंधहेतुओं से बचना संसार में किसी भी स्थिति में संभव ही नहीं है।

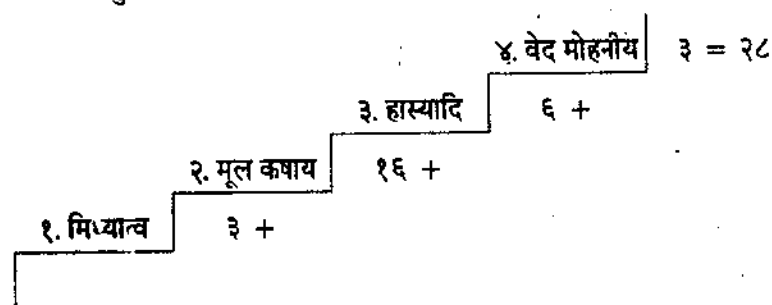
दूसरी तरफ ८ मद, विषय, वासना, निद्रा, विकथा तथा कषायादि सब प्रकार के प्रमादों से भी बचना संभव नहीं लगता है। बस, ऐसे प्रमादों के सेवन के कारण मुनि छुटे गुणस्थान पर प्रमत्त साधु (प्रमादि) कहलाता है। अतः एक बात पुनः निश्चित और स्पष्ट हो जाती है कि अप्रमत्त बनना हो उसे प्रमाद के ये सभी विषय छोड़ने ही चाहिए। बिना इनके छोड़े कोई अप्रमत्त बन ही नहीं सकता है। सातवें गुणस्थान पर अप्रमत्तता बिल्कुल आध्यात्मिक है। ठीक प्रमादभाव के विपरीत अप्रमत्तभाव है।

मुनि बनते समय संसार भाव का त्याग करते हुए प्रथम अव्रतादि का त्याग किया है। अव्रतादि में हिंसा, झूठ, चोरी आदि जितने भी पापकर्म थे उन सबका त्याग करके साधक साधु बना है। अतः महाव्रत स्वीकार किये हैं। व्रत से विपरीत शब्द अव्रज—अविरति है। इसमें प्रयुक्त 'अ' अक्षर निषेधार्थक है। इसी तरह अविरति शब्द में भी प्रयुक्त 'अ' अक्षर निषेधवाचक है। विरति का ही सर्वथा निषेध—त्याग हो जाता है। अविरति—अव्रत का सीधा अर्थ ही पाप व्यापार से संबंधित है। इन अव्रतों का सर्वथा संपूर्ण रूप से समूल त्याग करके साधु महाव्रत स्वीकार करता है। इन अव्रतों की पापकारिता इतनी ज्यादा थी कि वे भारी कर्म उपार्जन कराते थे। ठीक इसके विपरीत साधु ने व्रत लेते समय ऐसी महानता रखी है कि.. व्रतों के बजाय वह महाव्रत लेता है। 'महा' शब्द व्यापक विशाल अर्थ वाचक है। अतः किसी भी तरफ से किसी भी प्रकार के पाप व्यापार की अंशमात्र भी छूट नहीं रखी है। अतः तनिक भी पाप तो सेवन करना ही नहीं है। फिर प्रश्न ही कहाँ है ? इस तरह अविरति का आश्रव बंध आदि छूट गया है।

इस तरह बाह्य निमित्तक पापों से तो साधु निवृत्त हो गया है। लेकिन आभ्यन्तर कक्षा के कषाय और योगज्ञान्य पाप बचे हैं। ये प्रायः आन्तरिक हैं। मन संबंधि प्रमाण में ज्यादा हैं। शेष कम हैं। इसलिए छुटे प्रमत्त गुणस्थान की स्थिति बताते हुए गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षि रत्नशेखर सूरि म. लिखते हैं कि—

## प्रमत्त गुणस्थान की स्थिति—

मिथ्यात्व, अविरति आदि बंध हेतु के अभाव में अब छठे गुणस्थान पर कषायों की प्रधानता ज्यादा रहती है । पहले भी यह कह चुके हैं कि १ से लगाकर १२ वे गुणस्थान तक ८ कर्मों में से मोहनीय कर्म की ही प्रवृत्ति ज्यादा है । अतः साधक को पूरा ध्यान मोहनीय कर्म पर ही केन्द्रित करना है । मोहनीय कर्म बड़ा ही खतरनाक है । सबसे ज्यादा घातक—आत्मघातक कर्म कोई हो तो एकमात्र मोहनीय कर्म है । इस मोहनीय में भी क्रमशः ४ विभाग मुख्य हैं ।



वैसे मोहनीय कर्म के ये ४ विभाग मुख्य हैं । इन चारों के क्रमशः ४ सोपान हैं । यहाँ दर्शाये गए इन ४ सोपानों का हेतु भी यह है कि गुणस्थानों पर चढ़ते क्रम के सोपानों पर इनका क्षय भी क्रमशः होता है । प्रथम मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षय होता है । वह प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान पर रहता है । दूसरे नंबर पर मूल कषाय की बारी आती है । इनमें १६ जो मूल कषाय हैं उनमें ४-४ की जोड़ी है— क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण । ये अनन्तानुबन्धी आदि के विभाग से ४ प्रकार के हैं । पहले से ४ थे गुणस्थान पर जाते हुए प्रथम अनन्तानुबन्धी आदि के ४ कषाय जाते हैं । फिर दूसरे ४ का ग्रुप चौथे से ५ वे गुणस्थान पर जाते हुए तथा तीसरे ४ का ग्रुप ५ वे से छठे गुणस्थान पर आते हुए जाते हैं । बस छठे से १० वें गुणस्थान पर्यन्त अन्तिम ४ संज्वलन कषायों का कार्यक्षेत्र रहता है । क्रमशः उनका भी नाशकार्य आगे बढ़ता है । इन कषायों नोकषायों आदि के कारण छठे गुणस्थान पर जीव प्रमत्त कहलाता है । ९ वे अनिवृत्ति बादर गुण पर अन्तिम क्रोध, मान और माया ये ३ कषाय संज्वलन की कक्षा के भी नष्ट कर दिये जाते हैं । अब बचा सिर्फ एक लोभ । उसमें भी स्थूल लोभ का अन्त तो ९ वे गुणस्थान पर ही कर देता

है लेकिन सूक्ष्म प्रकार का लोभ अवशिष्ट रहता है । जिसकी स्थिति १० वे गुणस्थान पर बनी रहती है । आखिर १० वे पर उसका भी अन्त लाता है क्षपकश्रेणी पर आरूढ जीव ।

यह तो हुई मूल कषायों की बात । लेकिन इनके सहायक जो नोकषाय हैं उनका प्रश्न भी तो काफी बड़ा है । नो शब्द यहाँ सहायक अर्थ में है । गौण कषाय है । मुख्य कलहकारक तो मूल क्रोधादि कषाय है । लेकिन इनको लडाने भडकाने झगडानेवाले निमित्तभूत कषाय नोकषाय हैं । नोकषायों में दोनों प्रकार की विवक्षा है । एक ६ की और दूसरी ९ की । हास्यादि षट्क जब कहा जाता है तब १. हास्य, २. रुद्रि, ३. अरति, ४. भय, ५. शोक और ६. जुगुप्सा इन ६ का नंबर आता है । इनकी गणना रहती है । और ३ वेद अलग से स्वतंत्र रहते हैं । इस तरह नोकषाय के २ विभाग बन जाते हैं । लेकिन छोटे—छोटे गिने जानेवाले ये सभी नोकषाय नौवे गुणस्थान तक अपना अस्तित्व रखते हैं । जबकि साधु तो छठे गुणस्थान पर बना है, तो निश्चित ही यह सिद्ध हो जाता है कि ... संज्वलन के ४ क्रोधादि कषाय तथा नोकषाय के ९ ये सभी कर्म के प्रकार साधु पर भी हावी है ही । उदय में है ही । जब उदय में है तो तो फिर ये कर्म भी अपना जोर तो निश्चित रूप से करेंगे ही । अब साधु अपनी स्वभावमणता के उपयोग में ध्यानादि में जितना ज्यादा स्थिर रहेगा उतनी असर कम दिखाई देगी । और जितना कम ध्यानादि में स्थिर रहेगा उतनी उन कर्मों की असर ज्यादा रहेगी । इस तरह कर्म और धर्म के बीच में संघर्ष बड़ा भारी है । फिर वापिस प्रमादग्रस्तता की स्थिति छठे गुणस्थान पर है ।

एक तरफ तो कषायादिजन्य प्रमादग्रस्तता छठे गुणस्थान पर है ही और दूसरी तरफ यदि उसे ध्यानादि करना हो तो बहुत मुश्किल है । जैसे सूर्य हो तो रात नहीं होती है, और जैसे रात हो तो सूर्य भी नहीं रहता । ठीक इसी तरह रात की तरह प्रमाद होने पर सूर्यरूपी ध्यान नहीं रहता है । इस तरह ध्यान की स्थिरता आ जाय तो प्रमाद नहीं रहता है । क्योंकि प्रमाद और ध्यान परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं । अतः एकसाथ कैसे रहेंगे ? प्रमाद में कषाय के क्रोधादि तत्त्व हो या नोकषाय के हास्यादि का उदय हो या फिर वेद मोहनीय के स्त्रीवेद आदि वासना—विकारों के विचारों को ही भर देंगे तो अनर्थकारी परिणाम आएगा । ध्यान संभव ही नहीं रहेगा । क्योंकि क्रोधादि, हास्यादि, तथा वासना विकारादि ध्यान के संपूर्ण विरोधी हैं । ध्यान में प्रवेश ही नहीं होने देंगे ।

बात भी सही है— जब वासना और विकारों में मन भटकता ही रहेगा, तब कामसंज्ञा की मानसिक विचारधारा में ही मन विचार करता रहेगा तो ध्यान की धारा कैसे लगेगी ? जैसे एकसाथ रात और सूर्य रह ही नहीं सकते हैं ठीक वैसे ही ध्यान और प्रमाद साथ रह

ही नहीं सकते हैं। प्रमादाधीन प्रमादि श्रमण में यदि ध्यान—साधना शुरू हो जाती है तो वह अप्रमत्त बन जाय और गुणस्थानों की श्रेणी का एक सोपान और आगे बढ़कर ७ वे गुणस्थान पर आ जाय। अतः यह सिद्ध होता है कि ध्यान के बिना प्रमादभाव नहीं जाएगा। इसे हटाने के लिए ध्यान की परम आवश्यकता है।

### प्रमादावस्था में ध्यानाभाव—

उपरोक्त वर्णन की ही विशेष पुष्टि करते हुए गुणस्थान क्रमारोह में रत्नशेखर सूरि म. विशेष रूप से लिखते हैं कि—

यावत्प्रमादसंयुक्त-स्तावत्तस्य न तिष्ठति।

धर्मध्यानं निरालम्ब-मित्युच्यते भिन्नभास्कराः

॥ २९ ॥

सीधी सी बात इतनी ही है कि... जब—जब जीव प्रमादाधीन हो जाता है तब निरालम्बन ध्यान, या फिर धर्मध्यान की कोई संभावना ही नहीं रहती है—ऐसा श्री जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है। इसलिए अष्टांग योग की प्रक्रिया में ध्यान को सातवें क्रम पर बताया है। अतः सातवें ध्यानस्थान पर पहुँचने के लिए पहले के ६ सोपान क्रमशः चढ़ने खास अनिवार्य हैं। अतः यम—नियम—आसनादि द्वारा जो मन—वचन—कायादि की स्थिरता आ जाय तो निरालम्बन ध्यान भी शुरू किया जा सकता है। कषाय—नोकषायादि ध्यान में जाने में बाधक हैं, अवरोधक हैं। अतः दो में से एक को छोड़ना अनिवार्य होगा।

प्रमाद में रहकर या प्रमाद के भेदों—प्रभेदों में मशगुल रहते हुए भी यदि कोई यह कहें कि मैं निरालम्बन ध्यान भी करता हूँ, तो यह परस्पर विरोधाभासी वार्तालाप करने पर दंभ की बात होगी। असंभव को संभव बनाकर अन्य को मूर्ख बनाने की बात होगी। स्वयं जिनेश्वर परमात्मा भी ऐसा स्पष्ट कहते हैं कि प्रमादादि के साथ धर्मध्यान कतई संभव नहीं है। प्रमत्त गुणस्थान में मध्यम धर्मध्यान की भी गौणता कही है। निरालम्बन धर्मध्यान तो और भी ऊँची कक्षा का ध्यान है। अतः वह तो प्रमादग्रस्तता में कैसे संभव होगा। अतः निरालम्बन धर्मध्यान प्रमत्त तक संभव ही नहीं है।

प्रमत्त संयत यह छद्म गुणस्थान है जिस पर संसार का त्यागी साधु रहता है। जब प्रमादग्रस्तता में श्रमण के लिए भी निरालम्बन धर्मध्यान संभव नहीं बताया तो फिर उसके नीचे के ५ अन्य गुणस्थान हैं। उन गुणस्थानों पर रहनेवाला मालिक भी ध्यान—ध्याता कैसे बन सकता है? पहले गुणस्थान पर तो जीव है ही मिथ्यात्वा। अतः वहाँ तो धर्मध्यान का विचार भी नहीं किया जा सकता। अब रही चौथे—पाँचवे दो गुणस्थान की। चौथे पर

सम्यग्दृष्टि श्रद्धालु श्रावक है, और पाँचवे पर वतधारी श्रावक है। देशविरतिधर है। इस तरह ये दोनों गुणस्थानक श्रावक के हैं। तो क्या श्रावक प्रमादग्रस्त है या नहीं? जी हाँ, अवश्य ही होता है। अतः ऐसा प्रमादाधीन श्रावक गृहस्थाश्रम में रहकर निरालम्बन धर्मध्यान कैसे कर सकता है? संसार में गृहस्थाश्रम के जीवन में रहना, वह भी अविरति में रहना और सर्वथा प्रमादरहित होकर रहना, कभी संभव भी हो सकता है? और यदि नहीं संभव है तो फिर ऐसी प्रमादाधीन स्थिती में निरालम्बन धर्मध्यान कैसे संभव हो सकता है? हाँ, यदि सारी स्थिति छोड़कर ध्यान आदि की साधना में स्थिर हो सके तो कुछ क्षणों के लिए ध्यान की प्राप्ति सुलभ हो सकती है। लेकिन वह ध्यान भी निरालम्बन होने के बजाय सालम्बन ज्यादा संभव है।

अतः एक बात निश्चित होती है कि.. ध्यान और अप्रमत्तता का परस्पर अच्छा ऊँचा संबंध है। ये दोनों अन्योन्याश्रयी हैं। लेकिन प्रमादावस्था से तो सर्वथा विपरीत ही हैं।

**प्रमादरहित को ही निष्ठल ध्यान—**

**प्रमादावश्यकत्यागा—निष्ठलं ध्यानमाश्रयेत्।**

**योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः।**

**॥ ३० ॥**

प्रमाद में रहकर भी जो जीव आवश्यक क्रियाओं का त्याग कर देता है, अर्थात् सामायिक—प्रतिक्रमणादि छोड़ देता है, वह निरालम्बन धर्मध्यानादि का आश्रय लेता है तो सचमुच ऐसे जीव मिथ्यात्व से वासित होकर जिनेश्वर सर्वज्ञों के तत्त्व—वचन को नहीं समझते हैं। इससे वे जैन आगम के मर्म को नहीं जानते हैं, ऐसा स्पष्ट होता है। गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षि ने साफ शब्दों में यह स्पष्ट करते हुए साधक को भी लाल बत्ती दिखायी है। ध्यान की साधना में जाकर एक तरफ अप्रमत्त बनना है, कर्मक्षय—निर्जरा प्रमाण में ज्यादा करनी है तो फिर दूसरी तरफ आवश्यकतादि के त्याग की बात ही क्यों करनी? क्योंकि षडावश्यक संवररूप तथा निर्जराकारक उभयरूप है। प्रतिक्रमण पापों के पश्चात्ताप, प्रायश्चित्तरूप, क्षमायाचनारूप तथा कर्मबंध को शिथिल करनेरूप है। और सामायिक—चैत्यवन्दन—वांदणादि निर्जरा भी काफी अच्छी कराते हैं। पञ्चक्खाण भी संवर—निर्जरा दोनों कराते हैं। आश्रव निरोधात्मक संवर है। तथा संवर निर्जरा का प्रवेशद्वाररूप है। निर्जरा के पहले संवर का होना अत्यन्त अनिवार्य है। यदि संवर नहीं करते हैं तो फिर आश्रव से पुनः कर्म का बंधमार्ग चालू रहेगा। यदि आश्रव हो जाता है तो फिर कर्म का बंध होने में कितना समय लगेगा? पानी में नमक, या दूध में शक्कर

यदि आ चुकी है, गिर चुकी है तो फिर धुलकर एकरस बनने में कितना समय लगेगा ?  
वैसी ही स्थिति यहाँ पर भी है ।

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थ में पू. आ. श्री रत्नशेखरसूरि म. इस श्लोक से इंगित करते हैं कि . . आज के इस वर्तमान काल में जबकि चौथे गुणस्थान का अर्थात् सम्यग् दर्शन—सच्ची श्रद्धा का भी कोई ठिकाना ही नहीं है, ऐसे कई लोग सालंबन का भी विरोध करते हैं, जिन प्रतिमा, जिन मंदिर, अरे ! कोई तो जिनागम का भी विरोध करते हैं और निरालंबन ध्यान की ऊँची बातें करते हैं । इससे कितना विरोधाभासी वक्तव्य लगता है ? इसलिए श्लोककार तो स्पष्ट शब्दों में साफ कहते हैं कि वे जैनागमों को जानते तक नहीं हैं, सर्वज्ञ के तत्त्व को पहचानते तक नहीं हैं, अतः वे मिथ्यात्वग्रस्त होकर “इतो भ्रष्ट—ततो भ्रष्ट” की हालतवाले बन जाएंगे । कुछ लोग आलंबन सहायक प्रतिमादि का विरोध करके आत्म स्वरूप चिंतन—ध्यान की लम्बी बातें करते हैं । यह मेल कहीं और कभी मिलता ही नहीं है । ऐसे निरालंबन ध्यान का दंभ करते हैं । कहते हैं कि जब निरालंबन ध्यान का स्वरूप शास्त्रकार स्वयं बताते ही हैं तो फिर किसी भी प्रकार के आलंबन की आवश्यकता ही क्या है ? जिन मूर्ति आदि का आलंबन लेना ही क्यों चाहिए ? निरर्थक है । और दूसरी तरफ जब निरालंबन जैसे ऊँची कक्षा के ध्यान में हम स्थिर रहते हैं तो फिर षडावश्यकतादि की क्रिया विधि की आवश्यकता ही क्या है ?

लेकिन सच देखा जाय तो यह शुभ क्रिया के प्रति अभाव देखा जाता है । यहाँ चार भंग होते हैं । चारों का विचार इस प्रकार है—

- १) शुभ क्रिया के प्रति सद्भाव ।
- २) शुभ क्रिया के प्रति अभाव ।
- ३) अशुभ क्रिया के प्रति सद्भाव ।
- ४) अशुभ क्रिया के प्रति अभाव ।

इन चारों में से अशुभ क्रिया का अभाव तो सदा काल होना ही चाहिए, यह तो अच्छा ही है । पापारंभ की क्रिया तो अशुभ क्रिया ही है अतः इसके प्रति अभाव होना ही चाहिए । ठीक इसके विपरीत पापारंभ की जो अशुभ क्रिया है उसके प्रति सद्भाव रखनेवाले पापिष्ठ, दुर्जन जीव भी संसार में बहुत हैं । स्वभावगत दुष्टता—दुर्जनता का क्या उपाय है ? उसे पापारंभ की अशुभ क्रिया भी पसंद आती है, उसका क्या किया जाय ?

शुभ क्रिया का भी अभाव क्यों होना चाहिए ? जी हाँ, कुछ ऐसे भी जीव हैं जो शुभ क्रिया का भी अभाव रखते हैं । अरे ! औरों की तो बात ही कहाँ रही ? छट्टे गुणस्थान पर



पहुँचे हुए श्रमण बने हुए साधु—संत या बन बैठे हुए साधक भी यदि ध्यान करने की कक्षा तक पहुँचे हैं और वे भी यदि शुभ अनुष्ठान रूप षडावश्यक रूप प्रतिक्रमणादि का भी निषेध कर देते हैं और न करे तो यह कितना गलत है। इसका ख्याल वे क्यों नहीं करते हैं ?

आखिर प्रतिक्रमण क्या है ? जो अतिक्रमण नहीं करना था और वह यदि हो चुका है तो उस अतिक्रमण से जीव को वापिस स्वस्थान में लाकर स्थिर करना इसी का नाम प्रतिक्रमण है। उदाहरणार्थ चलती हुई गाड़ी यदि तेज गती से भागते हुए अपने मुड़ने के गाँव के रास्ते को भूलकर—छोड़कर अतिक्रान्त हो जाय, अतिक्रमण कर जाय और फिर काफी आगे चली जाने के पश्चात् यदि उसे याद आए कि अरे ... अरे गन्तव्य स्थान तो पीछे ही रह गया है। तो पुनः उसे सोच—समझकर रुककर पुनः पीछे लौटना पड़ेगा। मुड़ना ही पड़ेगा। बस, इन वापिस पीछे लौटते हुए स्वस्थान तक या पर पहुँचना ही प्रतिक्रमण है। यह शुभानुष्ठान है। इसका अभाव या इस पर अग्रीति नहीं होनी चाहिए। अरे ! गाड़ी यदि आगे चली गई है और अब पीछे लौटने की बात आई तब व्यक्ति यदि अपने मन में अभिमान—अहंकार ही करता रहे और पीछे न लौटे तो क्या होगा ? क्या स्वस्थान पर आना गलत है ? जी नहीं ? प्रतिक्रमण तो अतिक्रमित स्थान से जीव को पुनः स्वस्थान पर लाता है।

दूसरी तरफ यह भी सोचिए कि जब तक प्रमादग्रस्तता है तब तर्क, दोषों की संभावना भी काफी ज्यादा है। साधना के क्षेत्र में आरूढ साधक को आखिर और कौन दोष लगाएगा ? प्रमाद ही बलिष्ठ हेतु है। और दूसरी तरफ प्रमाद क्या है ? यह कषाय—अविरति आदि का सम्मिलित रूप है। इसमें अविरतितज्ज्य पापादि का भी संचय है। और कारणभूत क्रोधादि कषायों का सम्मिलित रूप है। अतः दोनों के संयुक्त स्वरूप का नामकरण प्रमाद शब्द से किया गया है। “प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा” तत्त्वार्थकार ने प्रमाद को हिंसादि पापों का भी मूलभूत कारण गिना है। अतः प्रमाद यदि पापों का भी सेवन कराता है तो फिर उन पापों से पुनः लौटने के लिए जीव को प्रतिक्रमण करना ही एकमात्र उपाय है।

तस्स उत्तरी सूत्र के शब्द इस हार्द को स्पष्ट करते हैं—

तस्स उत्तरी करणेणं, पायच्छित्त करणेणं,

विसोहि करणेणं, विसल्ली करणेणं,

पावाणं कम्माणं निग्घायण्डाए... ठामि काउस्सग्गं ॥१॥

इरियावही—ऐर्यापथिकी क्रिया करने के पश्चात् उत्तरीकरण की क्रिया में.. लगे हुए पाप—दोषों का प्रायश्चित्तकरण करना है। प्रायश्चित्त पश्चात्तापपूर्वक होता है। इस करण से विशुद्धि होती है। पापादि से कर्मरूपी मैल जो आत्मप्रदेशों में आया और इससे जो आत्मा मलिन हो जाती है, इस मलिनता से अशुद्धि आ जाती है। इस अशुद्धि को हटाते हुए अब आत्मा को पुनः शुद्ध करना है। अतः विसोही—अर्थात् विशुद्धिकरण की क्रिया करनी है। इसके पश्चात् शल्यरहित बनने की क्रिया को विसल्लीकरण की प्रक्रिया बताई है। बस, प्रायश्चित्तकरण, विशुद्धिकरण तथा शल्यरहित—विसल्लीकरण की इन तीनों करणों की क्रियाओं से परिणामरूप में पापकर्मों का निर्घातन = नाश होता है। पापकर्मों से छुटकारा होता है। बचाव होता है।

अतः प्रमादग्रस्त जीवों के लिए षडावश्यक की क्रिया हेय नहीं उपादेय ही है। आचरणीय ही है।

### उभयभ्रष्ट कदाग्रही—

एक सामान्य दृष्टान्त से यह बात समझी जा सकती है कि— एक झोपड़ीनिवासी सामान्य दरिद्र व्यक्ति को चक्रवर्ति ने आमंत्रण देकर भोजन के लिए बुलाया। और चक्रवर्ति जैसा मधुर मिष्टान्न का ३२ भोजन ३३ पक्वान्न का आहार करता है वैसे गरिष्ठ मिष्टान्न का उसे भोजन कराया। दरिद्र बिचारा दूसरे दिन स्वगृह लौट आया। अब पुनः अपनी स्थिति अनुसार स्वगृह का रूखा—सूखा भोजन करना पड़ता है। उसमें उसका मन नहीं लगता है। रुचि ही नहीं रहती। बस, बार—बार चक्रवर्ती का मिष्ट भोजन ही याद आता है। परिणाम स्वरूप अपना सादा रूखा—सूखा भोजन वह करता नहीं है, और चक्रवर्ती का मिष्ट भोजन मिलता नहीं है। ऐसी स्थिति में दोनों प्रकार के भोजन से वंचित रहता हुआ सूखा जा रहा है। दोनों तरफ से भ्रष्ट हो रहा है। ठीक इसी तरह क्वचित्—कदाचित् अंशमात्र भी निरालंबन ध्यान की समाधि के अमृतानन्द को चखनेवाला साधक प्रमादाधीन—कर्माधीन होने के बाद भी निरंतर उस ध्यानानन्द के रसास्वाद की अनुभूति के लिए उत्कंठा रखता है। परन्तु षडावश्यक—प्रतिक्रमणादि की शुभ अनुष्ठान की क्रिया को भी नहीं करता है। उसे भी कदाग्रह—हठाग्रहवश छोड़ बैठा है। और दूसरी तरफ सौभाग्यवश कदाचित्—क्वचित् अंशमात्र भी प्राप्त हुए ध्यानानन्द की शेखचिल्ली की तरह अभिलाषा करता है। जबकि प्रमादाधीन होकर बैठा है। एक तरफ अप्रमत्त भी नहीं बन पाता है और दूसरी तरफ प्रतिक्रमणादि षडावश्यक की शुभानुष्ठान की साधना भी

नहीं कर पाता है। इस तरह दोनों को छोड़ देने के कारण “इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट”—उभयभ्रष्ट बन जाता है। परिणामस्वरूप कोरा रह जाता है। कुछ भी नहीं साध सकता है। षडावश्यक—प्रतिक्रमणादि को वह रुक्ष—क्रियाकांडरूप मानता है। औरों की बातों में फसकर सुधारक बनने के अहंकार भाव में प्रमत्त गुणस्थान तक जो स्वगृही क्रिया थी उसे भी छोड़ बैठता है। और दूसरी तरफ मन निर्विकल्प होता नहीं है। बस, कल्पना की उड़ानें भरता हुआ शेखचिल्ली की तरह दिवास्वप्न देखता रहता है।

## वर्तमानकालिक नाटक—

आज के वर्तमान काल में ध्यान की हवा चली है। मानों लोगों की भूख जागृत हुई है। परन्तु अफसोस इस बात का है कि जब भूख लगी है तब कोई सही सच्चा योगी—ध्यानी नहीं मिल रहा है, जो आत्मारथी हो और आध्यात्मिक ध्यान साधना सिखाए तथा कर्मक्षय—निर्जरा करते हुए मोक्ष की तरफ अग्रसर करे। ऐसे योगियों—ध्यानियों का जब अभाव है तब साधक की भूख जगी हुई भी कितनी कामयाब होगी ?

आज सैकड़ों दुकानें खुल गई हैं योग और ध्यान के नाम की। कई दुकानों के मालिक दावा कर रहे हैं—हमारा माल अच्छा है, ऊँचा है। कोई कहता है हम राजयोग सिखाते हैं। कोई कहता है हम पूर्णयोग सिखाते हैं। किसी का कहना है कि ध्यान तो बिल्कुल सहज—आसान है, हमारे यहाँ सहज ध्यान सिखाया जाता है। किसी ने कहने में कोई कमी नहीं रखी है। अरे ! यहाँ तक कह रहे हैं कि... भूतकाल में जिन भगवानों ने वर्षों तक सही ध्यान साधना करके भी जो केवलज्ञान पाकर वीतरागभाव से जगत् को सिखाया, समझाया और दिया है उसे भी मत मानो। शास्त्रों—ग्रन्थों को भी मत पढ़ो, मत मानो, उसमें लिखे अनुसार भी मत चलो। सिर्फ अपनी अनुभूति के स्तर पर जो आता है उसे ही सही मानो। वही सच्चिदानन्द है, वही परमानन्द है। वही चरम सत्य है।

सोचिए ... साधक के साथ कितनी खिलवाड़ हो रही है। जैसे कोई डॉक्टर—चिकित्सक यदि किसी मरीज के साथ खिलवाड़ करे तो दर्दी को जिन्दगी से हाथ धोने पड़ते हैं। वह खिलवाड़ उसे मौत के मुँह में धकेल देगी। ठीक उसी तरह ऐसी भ्रामक और भ्रान्त विचारधारा से यदि कोई बन बैठा, तथाकथित योगी या ध्यानी साधक से खिलवाड़ करेगा तो वह उसकी पूरी जिन्दगी पानी में धोए देगा। दिशा भटका देगा। ऐसी भ्रान्त स्थिति का क्या करना ?

अरे ! थोड़ी सी बुद्धि का उपयोग करके सोचिए तो सही— जिन महावीर आदि तीर्थंकर भगवान ने संसार का त्याग करके १२ ॥ वर्षों तक जंगलों में विहारदि करते हुए मरणान्त उपसर्ग सहन करते हुए, घोर तपश्चर्या करते हुए निरंतर ध्यान साधना में रहे । उत्कृष्ट कक्षा की ध्यान साधना करते हुए भ. महावीर ने चम्रों घाती कर्मों का क्षय किया, अद्भूत—अभूतपूर्व निर्जरा की । चारों घाती कर्मों का समूल—संपूर्ण क्षय करके केवलज्ञान—सर्वज्ञता और वीतरागता प्राप्त की । ऐसे सर्वज्ञ बने हुए परमात्मा ने अनन्तज्ञान प्राप्त करके जगत् के सामने उसे नदी की तरह बहा दिया । उसी ज्ञान को गुंथकर गणधरों ने द्वादशांगीरूप शास्त्र की रचना की । क्या उन शास्त्रों से सर्वज्ञ के साथ विरोधाभास संभव भी है ? जी नहीं । कदापि नहीं । ऐसे सर्वज्ञ अनन्तज्ञानी का एक एक वचन चरम—अन्तिम सीमा को प्रस्तुत करता है । अब आप ही सोचिए, सत्य की चरम—अन्तिम सीमा को प्रस्तुत करनेवाले परमात्मा से क्या आज का प्रमादग्रस्त अल्पज्ञ ध्यानी या बन बैठा हुआ योगी उस कक्षा के अनन्त ज्ञान का अंशमात्र भी प्राप्त कर सकता है ? क्या संभव भी है ?

अब मार्गदर्शक और बन बैठे योगी—ध्यानी गुरु जिसने स्वयं तो कुछ नहीं पाया । अरे ! हल्दी का एक टुकड़ा देने मात्र से कोई वैद्य चिकित्सक थोड़े ही बन सकता है ? गुजराती कहावत के अनुसार—“हलदर ना गांगडे गांधी न थवाय” या वैद्य बनने मात्र से कुशल चिकित्सक नहीं बना जा सकता है । अब जो साधक स्वयं ज्ञानी बन नहीं सका और सर्वज्ञ के ज्ञान को पढ़ना, जानना, समझना, स्वीकारना कुछ भी नहीं । सब ज्ञान के द्वार बन्द कर दिये और मात्र अपनी बुद्धि—अनुभूति के स्तर पर जो आए उसे ही सत्य माननेवाला भ्रान्त नहीं कहलाएगा तो दूसरा कौन कहलाएगा ? ऐसे भूले भटके अनेक हैं जो आज भी दिशाभ्रान्त, दिग्मूढ़, किर्कतव्यमूढ़ होकर घूम रहे हैं, भटक रहे हैं । क्या ये सच्चे योगी—साधक—ध्यानी कहला सकते हैं ?

अरे ! ध्यान में जाने के लिए प्राथमिक प्रक्रिया के रूप में भी जो जपादि सहायक है, चित्त की निर्मलता के लिए जो षडावश्यकतादि उपयोगी है, सामायिकादि समताभाव के लिए सहयोगी है, परमात्मा के प्रति पूज्यभाव—अहोभाववर्धक जो पूजा पद्धति है... बस इस सबको छुड़ाकर ध्यान में बैठाना यह कहाँ तक उचित होगा ? बीज के लिए भी हवा—पानी—प्रकाश—जमीन—खाद आदि सहयोगी है उनके बिना बीज कैसे पनपेगा ? सहयोगी कारणों की भी काफी आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती ही है । सब कुछ छोड़ा देना तो बहुत आसान है, परन्तु सही अर्थ में उनका उपयोग कराना बहुत ही कठिन है ।

अब एक तरफ तो सब छुड़ा दिया और दूसरी तरफ ध्यान की साधना कुछ भी उसके पल्ले नहीं पड़ी। ऐसी स्थिति में “इतो भ्रष्ट—ततो भ्रष्ट” जैसी उभयभ्रष्टता की स्थिति कितनी खतरनाक एवं घातक सिद्ध होगी ?

अरे ! इतना ही नहीं अधूरे में पूरा तो यह है कि जो तथाकथित ध्यान की पद्धतियाँ बताई जाती हैं उसमें भी मात्र देहाश्रित अवस्था बताई जाती है। श्वास दर्शन करते हुए शरीर में उठती हुई संवेदनाएं मात्र देखते रहने से क्या आत्मध्यान हो जाएगा ? क्या ध्यान देहध्यान होता है कि आत्मध्यान होता है ? अच्छा, यदि आप एक तरफ तो आत्मध्यान करने की बात करते हैं और दूसरी तरफ आत्मा को, आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानने की बात करते हैं। सोचिए, यह कैसी परस्पर विरोधाभासी बालिश चेष्टा है ?

यदि इस श्वासदर्शन की प्रक्रिया को विपश्यना कही जाय तो फिर “विशेषण पश्यति इति विपश्यना” की व्याख्या के अनुसार विशेषरूप से देखनेवाला कौन है और किसको देखें ? दृशं—प्रेक्षणे = यह संस्कृत भाषा की धातु देखने अर्थ है। आप भी सामान्यरूप से समझते ही हैं कि.... देखने की क्रिया में देखनेवाला कर्ता और जिसको देखता है वह कर्म, इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व होना तो चाहिए। दो में से यदि एक का भी अस्तित्व न हो तो देखने की क्रिया कैसे होगी ? यदि देखनेवाला दृष्टा है लेकिन किसको देखना वही नहीं हो तो किसको देखेगा ? लेकिन संसार में देखनेलायक पदार्थ तो अनन्त हैं। प्रत्यक्ष गोचर हैं आबाल—गोपाल सबके लिए प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इसलिए इसमें तो कोई ना नहीं कह सकता है। लेकिन दृष्टा जो देखनेवाला—देखने की क्रिया करनेवाला कर्ता ही यदि न हो और देखने योग्य पदार्थ अनन्त हो, तो भी कौन किसे देखेगा ? देखनेवाले कर्ता को, उसके अस्तित्व को ही नहीं मानना और फिर कहना कि दृष्टा भाव से सब कुछ देखते ही रहो। अरेरे ! अफसोस कि कितनी अज्ञानता है ? फिर भी अपनी अज्ञानता को ही नहीं समझना, न ही स्वीकारना और सारी दुनिया को अपनी अज्ञानता सिखाना। ठीक है, सामान्य मनुष्य तो समझदार है ही नहीं। वह तो बेचारा कोरी पाटी के जैसा ही है। क्योंकि उस विषय का कुछ भी ज्ञान—ज्ञानकारी—समझ है ही नहीं। अतः अन्धा अनुकरण कर ही लेगा। जैसा कहोगे, बताओगे वैसा वह समर्पितभाव से स्वीकार करके कर ही लेगा। जैसा कि एक डाक्टर के प्रति दुःख का मारा स्वार्थवश समर्पित होकर दर्दी स्वीकार कर ही लेता है। और सूचनानुसार अमल भी कर ही लेता है। ठीक उसी तरह यहाँ आया हुआ साधक भी मन की बीमारी के कारण रोगी ही है। वह भी उससे छुटकारा पाना ही चाहता है। अपना रोग मिटाना चाहता है। इसलिए सामान्य श्वास दर्शन की प्रक्रिया को

अपना लेगा। लेकिन आत्मस्वरूप को पहचानने की दिशा में उसका यह बाहरी ध्यान अंशमात्र भी कामयाब नहीं होगा। और दूसरी तरफ ऐसा ध्यान सिखानेवाले गुरु ने पहले से ही आत्मदर्शन के दरवाजे बंद ही कर दिये हैं, साफ कह दिया है कि आत्मा है ही नहीं। आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं है, फिर उसको मानने की झंझट में मत फसो।

अपनी इस मान्यता का बचाव करने के लिए गुरु ने भी सामने ढाल ऐसी खड़ी कर दी कि... बस, आत्मा के विषय की यह बात दार्शनिक विषय की है इसलिए दार्शनिक चर्चा तो करनी ही नहीं। अरे ! अन्धा क्या जाने प्रकाश की चकाचौंध, रूप रंग की झगमगाहट ? ठीक उसी तरह बिना ज्ञान का अज्ञानी क्या जाने ज्ञान का रसास्वाद ? दर्शनशास्त्र तो ज्ञान के विषयक ज्ञेय पदार्थों को चकासने की कसोटी है। जैसे कसोटी का पाषाण सुवर्ण की परीक्षा करता है तभी जगत् के सर्वसामान्य व्यक्ति के लिए भी सोना-ग्राह्य—खरीदने योग्य बनता है। ठीक उसी तरह दर्शनशास्त्ररूपी कसोटी के पाषाण पर दार्शनिक आत्मादि तत्त्व की बात कसने पर वे पदार्थ खरे उतरते हैं। दर्शनशास्त्र में युक्ति—प्रयुक्ति—तर्कादि के अनेक विषय हैं, अनेक प्रमाण एवं प्रमाण पद्धतियाँ हैं। अतः पदार्थ के स्वरूप को सही न्याय मिलता है। इसीलिए जगत् के सभी धर्मों ने अपने अपने तत्त्वों की परीक्षा दार्शनिक दृष्टि से की है। दर्शनशास्त्र की कसोटी पर तत्त्वों की परीक्षा करके चरम सत्य तक पहुँचने की कोशिश की है। इसलिए दर्शनशास्त्रीय प्रमाण पद्धति से मुँह मोड़कर अपने मान्य तत्त्वों को कसोटी से छिपाना यह गलत है। इससे अपनी कमजोरियाँ सिद्ध होती हैं। प्रकट होती हैं।

अरे ! दीपक जो स्वयं प्रकाशमान है, प्रज्वलित है, उसे दुनियाँ की नजर से छिपाने की क्या आवश्यकता है ? ठीक इसी तरह ज्ञान भी प्रदीप की तरह “स्वपरव्यवसायी” है। अतः वह प्रमाणरूप है। दर्शनशास्त्र दार्शनिक—तात्त्विक चर्चा द्वारा प्रमाणों से सिद्ध करके पदार्थों को सत्य की चरम सीमा तक ले जाने में सहायक—मददरूप बनता है। इसलिए जो भी दर्शन या धर्म अपने तत्त्वों के बारे में बिल्कुल स्पष्ट है उनको तो बिना घबराए अपने तत्त्वभूत पदार्थ दर्शनशास्त्र के बाजार में दुनिया के सामने सच्चे हीरे की तरह खुल्ले रख देने चाहिए। चाहे संसार का कोई व्यक्ति किसी भी तरह उनकी जाँच—परीक्षा करके उन तत्त्वभूत पदार्थों को खरीदे। भले ही कसोटी पर कस के परख ले। क्या एतराज है ?

आश्चर्य तो इस बात का है कि बन बैठे गुरु अपनी ध्यान की पद्धति को अनोखी खोज बताते हैं और उसे संसार की सर्वोपरि ध्यान साधना बताते हैं। फिर उसे किसी भगवान के साथ जोड़ देते हैं और इस तरह ट्रेडमार्क भगवान के नाम का लगाकर दुनिया

के बाजार में बेचते हैं— फैलाते हैं। स्वयं ने अपनी सुरक्षा के लिए दार्शनिक चर्चा नहीं करने का, दर्शनशास्त्र की—तत्त्व की—ज्ञान की कोई बात न करने का कवच पहन लिया है। अन्यो को इस विषय का आग्रह न करने का आग्रह किया जाता है, लेकिन अपनी मान्यता को अपने मान्य दर्शन का ओष लगा दिया है। अपना मान्य दर्शन भगवान के नाम से जोड़कर उस ध्यान साधना को भगवान के नाम का सही सिक्का भी लगा दिया ...। अरे ! इतना ही नहीं, हमारे मान्य भगवान ने भी यही ध्यान साधना इसी तरह की थी। यह उनकी ही बताई हुई ध्यान साधना है। बस, इस तरह प्रचार—प्रसार करते हुए दुनिया को सिखाया जाता है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात का है कि ... ध्यान तो सिखाना है, लेकिन ज्ञान को छिपाना है, या दबाना है। इससे ऐसी कमजोरी स्पष्ट होती है कि ... इस ध्यान साधना पद्धति में कोई सच्चा तत्त्वज्ञान ही नहीं है। यदि यह बात गलत हो तो तलाश कर लीजिए ! क्या आत्मा, परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान है ? जी नहीं। यह निश्चित है कि इन तीनों का सही सम्यग् सत्य ज्ञान ही नहीं है ऐसे तथाकथित बन बैठे हुए गुरुओं के पास। और यदि छुटपुट है भी तो वह भ्रान्त ज्ञान है। अधूरा ज्ञान है। मिथ्या ज्ञान है। विपरीत ज्ञान है।

इसी कारण सारी दिशा ही विपरीत है। इससे न तो आत्मज्ञान होगा, नही आत्मानुभूति होगी, न ही परमात्म तत्त्व का ज्ञान होगा। न ही परमात्म दर्शन या परमात्म स्वरूप की अनुभूति होगी। और न ही मुक्ति की प्राप्ति होगी। अरे प्राप्ति तो क्या मोक्ष स्वरूप का भी कभी ख्याल नहीं आएगा। क्यों आएगा ? कैसे आएगा ? क्योंकि मोक्ष और परमात्मा का भी पूरा आधार ही आत्म तत्त्व पर है। यदि आत्मा है तो मोक्ष है, और आत्मा ही नहीं है तो मोक्ष भी कभी संभव ही नहीं है। आत्मा के अस्तित्व के आधार पर मोक्ष के अस्तित्व का आधार है इसीलिए आत्मा का अस्तित्व स्वीकारें तो मोक्ष का अस्तित्व स्वीकारा जाएगा। अन्यथा संभव ही नहीं है।

इसी तरह परमात्मा यह आत्मा की अवस्था विशेष है। आत्मा ही परमात्मा बनती है। परमात्मा को तो किसी न किसी स्वरूप में मानना है और दूसरी तरफ आत्मा के ही अस्तित्व को नहीं मानना है यह कैसी विरोधाभासी विचारणा है ? इसी तरह मोक्ष भी क्या है ? आत्मा की कर्मरहित शुद्ध अवस्थाविशेष है। इसीलिए मुक्तात्मा सिद्धात्मा के नाम से व्यवहार किया जाता है। और संसारी आत्मा, शुद्धात्मा, अशुद्धात्मा यह भी व्यवहार किया जाता है। इन सभी शब्दों में आत्मा शब्द तो साथ ही जुड़ा है। मात्र आगे का विशेषण उसी आत्मा की वैसी अवस्था बताता है। अब जब आधारभूत आत्म द्रव्य को ही न मानें

तो फिर उसी आत्मा की भिन्न—भिन्न अवस्थाओं को कैसे मानेंगे ? इसलिए बिना केन्द्र के वृत्ताकार बनाने की अर्थात् केन्द्रीभूत आत्म तत्त्व को माने—जाने—समझे—स्वीकारे बिना ध्यानादि का सारा डोल करना यह बालिश चेष्टा मात्र ही है । खुद स्वयं किसी दर्शन की दार्शनिक मान्यता की खींटी पर बंधे हुए रहना और चाहे वह सत्य हो या गलत हो फिर भी उसे गधे की पूछ की तरह पकड़कर बैठना और दूसरों को सामने से दर्शन विषयक तत्त्व की विचारणा करने से साफ इन्कार कर देना । ज्ञान के द्वार बंद कर के मात्र स्वमत के मान्य ध्यान का आग्रह करना ऐसा क्यों ? अरे ! जब आपको अपने तत्त्वों की सच्चाई का गौरव है तो फिर तत्त्वज्ञान के द्वार बन्द क्यों करने चाहिए ?

ऐसे बन बैठे गुरुओं का यह कहना है कि किसी अन्य ने पहले जो ज्ञान पाया है क्या जरूरी है कि हम उस ज्ञान को प्राप्त करें ? उस ज्ञान को लेकर चलें । नहीं, हम भी नया ज्ञान ध्यानसाधना के बल पर प्राप्त करेंगे । स्वानुभूति के बल पर वैसा ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानानन्द का रसास्वाद प्राप्त करेंगे । अतः किसी-अन्य के प्राप्त ज्ञान पर आधार क्यों रखना ? सोचिए . . . देखिए, ऐसे आत्मवचक मिथ्याभिमान को । जिस बुद्ध को बोधि—सत्त्व का ज्ञान प्राप्त हुआ है उसीके ज्ञान को स्वीकारते—मानते—जानते—समझते हुए चल रहे हैं स्वयं . . . उसी ज्ञान के बल पर दुनिया को समझाना और दूसरों को यह उपदेश देना कि किसी के प्राप्त ज्ञान को मत स्वीकारो । वरना तुम्हारे अपने ज्ञान के स्रोत बन्द हो जाएंगे । अनुभूति के बल पर जो कुछ प्राप्त करना है उसके द्वार बन्द हो जाएंगे । अरे ! गुरु ने खुद ने दूसरे के द्वारा प्राप्त ज्ञान को स्वीकार लिया । बस, उसीके बल पर चल रहे हैं और दूसरे अनेक सज्जन जो अपने—अपने धर्म के भगवान द्वारा उपदिष्ट दत्त तत्त्व के ज्ञान को लेकर आ रहे हैं । तब उनको साफ ना कह देना । बन्द करो तुम्हारा यह बकवास । अब दूसरे के ज्ञान को आधार बनाकर कब तक चलोगे ? छोड़ो . . . बस, अब तो स्वयं साधना करो और अपनी अनुभूति के बल पर स्वयं ज्ञान को पाओ, अनुभव करो और आगे बढ़ो ।

क्यों ? क्या बात है ? बुद्ध को प्राप्त ज्ञान को अपनाकर स्वयं झंडा लेकर चलना दुनिया भर में और अपने आप दूसरों को साफ इन्कार कर देना कि अपनी—अपनी मान्यता—विचारधारा के बंधन को छोड़ दो । तो क्या कोई महावीर का अनुयायी है और उसने महावीर का ज्ञान प्राप्त किया है तो उसमें क्या गलती की है ? अरे ! महावीर का ध्यान देहध्यान नहीं था । उन्होंने सच्ची आत्मध्यान की साधना की, कर्मविरण को दूर करके सर्वोत्तम—संसार के चरम सत्य का ज्ञान प्राप्त किया और उसको गलत बताकर तुम स्वयं



जो अपनी अनुभूति के बल पर पाओगे वही सच्चा होगा ऐसा कदाग्रह क्यों ? और आपने स्वयं ने क्या किया है ? क्या कहलानेवाले गुरु ने बुद्ध द्वारा ज्ञान को नहीं अपनाया ? तो फिर “सर्व क्षणिक”, “सर्व शून्य”, “सर्व अनित्य” यह कहाँ से पाया ? क्या “आत्मा नहीं है” यह आपने स्वयं अपनी अनुभूति पर प्राप्त किया हुआ है ? अरे ! संभव ही नहीं है । जो भी कोई स्वयं आत्मसाधना करने ध्यान की गहराई में जाएगा, और यदि वह सही अर्थ में सच्चा ध्यान होगा तो अवश्य ही वह सच्चा ज्ञान ही पाएगा । उसे आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति अवश्य ही सही सम्यग् होगी । सच्चे ध्यानी को कभी भी “आत्मा नहीं है” ऐसी विरुद्ध—विपरीत अनुभूति हो ही नहीं सकती, और यदि होती है तो निश्चित रूप से यह समझ रखिए कि वह ध्यान ही सही नहीं था । उसका ध्यान सम्यग्, यथार्थ—सच्चा ध्यान ही नहीं है ।

“आत्मा है ही नहीं” इससे बढ़कर भ्रान्त गलत—भटकानेवाली धारणा और हो ही क्या सकती है ? इससे बढ़कर मिथ्यात्व और क्या हो सकता है ? अरे ! इतना ही नहीं “सर्व शून्य” पहले कह देना, बाद में उसी को वापिस “सर्व क्षणिक” कहना । क्या यह ज्ञान ध्यान की सच्ची गहराई से निकला है ? कतई नहीं । यह तो सफेद झूठ है । सर्व शून्य” कहने से जगत् की सर्व वस्तुओं का अभाव सिद्ध हो जाता है । फिर तो जगत् में किसी भी वस्तु का स्वरूप रहता ही नहीं है । जगत् सारा अभावात्मक है । फिर भावात्मक पदार्थों का अस्तित्व ही कहाँ रहा ? अब जब पदार्थों का अपना अस्तित्व ही नहीं रहा, वे अभावात्मक ही है तो फिर उनको क्षणिक, नाशवंत और अनित्य कहना यह तो परस्पर विरोधाभासी वक्तव्य है । परस्पर विरुद्ध वाक्यों की रचना से कहनेवाले के ज्ञान के बजाय अज्ञान की सिद्धि होती है । सर्व कहने से जगत् के सभी पदार्थ क्षणिक—नाशवंत सिद्ध हो जाते हैं । लेकिन ऐसा कहनेवाले बेचारे को इतना तक पता नहीं है कि— जगत् में १) अनादि—अनन्त, २) अनादि—सान्त, ३) सादि—अनन्त और ४) सादि—सान्त ऐसे चारों प्रकार के स्वरूप का अस्तित्व है । जो पदार्थ अनादि—अनन्त होता है वह अनुत्पन्न—अविनाशी कक्षा के द्रव्य कहलाते हैं । जैसे कि “आत्मा” नामक द्रव्य है । यह अनुत्पन्न है अर्थात् कभी उत्पन्न नहीं होता है । जगत् में एक नियम यह भी है कि... जो जो उत्पन्न होता है वह सादि होता है अर्थात् उसकी आदि—शुरुआत होती है । आदिमान पदार्थ की उत्पत्ति होती है । और जिसकी उत्पत्ति होती है वह आदिमान पदार्थ होता है । और ठीक इससे विपरीत जो उत्पत्तिरहित अर्थात् अनुत्पन्न पदार्थ होता है वह अनादि कहलाता है । “आत्मा” नामक द्रव्य इस कक्षा का पदार्थ है । यह न तो कभी उत्पन्न होता

है और न ही कभी नष्ट होता है। यदि नष्ट ही हो जाय तो फिर मोक्ष कैसे होगा ? मुक्ति किसकी होगी ? जब नष्ट ही हो जाय तो फिर बचा क्या ? फिर मुक्ति किसकी ? मोक्ष किसका ? आश्चर्य तो इस बात का है कि आत्मा के अस्तित्व को ही न मानें तो फिर मोक्ष किसका ? मोक्ष का आधार किस पर ? क्या शरीर का मोक्ष मानें ? शरीर तो जड़ है। तो क्या जड़ की भी मुक्ति होती है ? क्या जड़ की मुक्ति संभव भी है ? तो तो फिर संसार में अनन्त जड़ पदार्थ हैं। इन सबकी मुक्ति क्यों नहीं हो गई ? अभी भी अनन्त जड़ पदार्थ संसार में ऐसे ही पड़े हैं। उसकी तो मुक्ति नहीं हुई ? तो क्यों नहीं हुई ? क्या कारण है ? क्या उनका नम्बर नहीं आया ? वाह ! क्या तर्कयुक्ति है ? और ऐसे स्वयं निष्क्रिय जड़ पदार्थ को मुक्ति में कौन ले गया ? जो स्वयं सक्रिय नहीं है वह कर्ता कैसे बन सकता है ? और कर्ता ही न बन सके तो फिर क्रिया कैसे कर सकेगा ? कर्ता होता है वह क्रिया करनेवाला होता है। और जो क्रिया का करनेवाला होता है वही कर्ता होता है। जड़—पुद्गल पदार्थ है वह न तो कर्ता है और न ही क्रिया का कारक है। अतः जड़ की मुक्ति संभव ही नहीं है। जड़ की मुक्ति मानना यह तो सबसे बड़ी मूर्खता होगी। तो फिर मुक्ति—मोक्ष को भी जडात्मक मानना पड़ेगा। यदि मोक्ष को भी जडात्मक ही मानना हो तो फिर जड़ पदार्थ का मोक्षगमन ही क्यों मानना ? फिर तो ऐसे जड़ पदार्थ जहाँ भी पड़े हैं बस वहीं उनकी मुक्ति मान लें। अरेरे ! यह सब पागल व्यक्ति के प्रलाप जैसी बातें हैं।

यदि निष्क्रिय जड़ को मोक्ष में ले जानेवाला कोई अन्य चेतन कर्ता मानने जाय तो फिर अच्छा यही है कि उस चेतन जीवात्मा की ही मुक्ति मानें। यही सत्य है। लेकिन यहाँ भी आपत्ति है कि... सर्व क्षणिकं, सर्व अनित्यं कहा है। सर्व शब्द से आत्मा द्रव्य भी ग्राह्य है। उसी में अन्तर्निहित है इसलिए। तो क्या आत्मा क्षणिक या अनित्य होने के कारण अनित्य हो क्यों नहीं गयी ? क्यों जी ? काल की दृष्टि से भूतकाल की अपेक्षा से आज दिन तक कितने क्षण बीत गये होंगे ? जबकि भूतकाल ही अनन्त वर्षों का, युगों का बीत चुका है तो फिर उस बीते हुए अनन्त वर्षों के भूतकाल में वर्ष ही जब अनन्त बीत गए हैं तो फिर उसमें क्षण कितने बीतें ? स्पष्ट ही है कि... अनन्तानन्त क्षण बीत चुके हैं। सोचिए ! क्या इतने बीते हुए क्षणों में एक द्रव्य जो अनित्य है, नाशवान्त है, क्षणिक है, उसका अभी तक भी नाश नहीं हो गया ? यदि प्रति क्षण क्षण—क्षणिक है, प्रत्येक उस पदार्थ में से परमाणु बिखरते ही जाते हैं, तो आज दिन तक अनन्तानन्त क्षण बीत चुके हैं, तो फिर उसमें एक पदार्थ भी नष्ट नहीं हो गया ? अरेरे !... अब तक तो कबका उसका अस्तित्व ही मिट गया होता ? अंश मात्र भी पदार्थ का स्वरूप बचा ही न होता।

लेकिन बीते हुए अनन्तानन्त क्षणवाले अनन्त भूतकाल में भी जिसका अन्त नहीं हुआ, नष्ट नहीं हुआ, लोप नहीं हुआ, तो फिर उस पदार्थ का अस्तित्व अनन्त भावि—भविष्यकाल में भी बना ही रहेगा। इसमें कोई शंका रहनी ही नहीं चाहिए। यह निश्चित ही है कि भूतकाल में जिस सूर्य का उदय होता ही रहा है उस सूर्य का उदय भविष्य में भी होता ही रहेगा। इस तरह भूतकालीन निश्चित अनुभव के आधार पर यदि कोई सामान्य गँवार व्यक्ति भी भविष्य का अनुमान करे तो उसमें कोई गलती नहीं है। उस दृष्टि से गाँव की गँवार व्यक्ति भी आयुष्यभर सूर्य को उदित होते देखकर भविष्य के लिए स्पष्ट सत्य कह सकता है कि.... कल—परसों और आगे भी सूर्य का उदय होता ही रहेगा। ठीक उसी तरह अनन्त भूतकाल में जिस पदार्थ का अस्तित्व जैसा रहा है उस पदार्थ का अस्तित्व भविष्य में भी बना ही रहेगा। अवस्था (पर्याय) परिवर्तन होता ही रहेगा। लेकिन पदार्थ के अस्तित्व का लोप कभी भी संभव ही नहीं है। इस सिद्धान्तानुसार आत्मा पदार्थ के अस्तित्व का लोप कदापि नहीं होगा। संभव ही नहीं है। अतः आत्मा नामक पदार्थ की त्रैकालिक सत्ता सदा बनी ही रहेगी। हाँ, पर्याय जरूर परिवर्तनशील ही है। अतः परिवर्तन होता ही रहेगा। उत्पाद—व्यय होता ही रहेगा। फिर भी द्रव्य स्वरूप से अस्तित्व ध्रुव रहेगा। तभी तो मोक्ष संभव होगा। इसी चेतन भव्यात्मा की भूतकालिक पर्याय संसारी अवस्था रहेगी, और भविष्यकालिक पर्याय ही मोक्ष पर्याय बनेगी। इस जबतक यह भव्यात्मा मुक्ति नहीं पाएगा तब तक संसारी पर्याय और जिस दिन मुक्ति प्राप्त हो जाय उस दिन मुक्त पर्याय, सिद्ध पर्याय है। बस, मुक्ति प्राप्ति की पर्याय के पूर्व की समस्त पर्यायें संसारी पर्याय हैं। पर्यायों का परिवर्तन तो उत्पाद—व्यय से ही होगा। उत्पाद—व्यय निरंतर होते रहने के बावजूद भी द्रव्यरूप से पदार्थ का अस्तित्व ध्रुव नित्य रहेगा। इसलिए संसारी अवस्था में अनन्तानन्त पर्यायों आत्मा की बदलने के बावजूद भी ध्रुवरूप से आत्मा का स्वरूप अस्तित्व आज भी है। और मुक्तावस्था उसी आत्मा नामक द्रव्य की हुई है और इस मुक्तावस्था में बस, अब अनन्तकाल तक एक ही पर्याय सदा के लिए रहेगी। अब पर्याय परिवर्तन भी नहीं होगा। अतः उत्पाद—व्यय के अभाव में पर्याय परिवर्तन का भी अभाव रहेगा। अतः ध्रुव रूप से आत्मा नामक द्रव्य का सदाकाल अस्तित्व बना ही रहेगा। यह सत्ता सदा रहेगी। क्योंकि पदार्थ ही सत् है। असत् नहीं है। जो असत् होता है उसकी सत्ता नहीं रहती। और जिसकी सत्ता रहती है वह सत् ही होता है।

अतः इस तरह पदार्थ के यथार्थ—वास्तविक सत्यस्वरूप को मानना—जानना—समझना—समझाना सम्यग् मार्ग है। ठीक इससे विपरीतीकरण मिथ्या

मार्ग है। अतः ऐसे त्रैकालिक शाश्वत, अनादि, अनन्त, अनुत्पन्न, अविनाशी, आत्म द्रव्य को इस स्वरूप से विपरीत या भिन्न मानना ही नहीं चाहिए। फिर आत्मा को न मानना, या फिर उसे क्षणिक, शून्य या अनित्य ही मानना, या फिर उसे उत्पन्नशील, विनाशशील मानना या कहना यह सब बालिश चेष्टा है। पागलपन के प्रलापतुल्य है। फिर आत्मा के अभावात्मक लोप हो जाने को, विलय पाने को, या धुँए की तरह विलीन हो जाने को मोक्ष कहना यह सर्वथा न्यायिक नहीं है।

इसलिए वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध, सच्चा ज्ञान, सत्य तत्त्व की प्राप्ति ही सम्यक्त्व के लिए उपयोगी है। ग्राह्य है। वही तारक है। अतः राजमार्ग तो यही है कि चरम सत्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके ही ध्यान में प्रवेश करना चाहिए। अन्यथा सम्यक् यथार्थ ज्ञान के ध्यान में प्रवेश करनेवाला साधक फिर भटकता ही रह जाएगा। बिना सच्चे ज्ञान और बिना सही ध्यान के मुक्ति की प्राप्ति कभी भी कदापि संभव ही नहीं होगी। मिथ्यात्व पुनः अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण कराता ही रहेगा। कभी अन्त नहीं आएगा। ध्यान शब्द से या अन्य किसी शब्द मात्र के प्रयोग से कोई लाभ नहीं होगा। यथार्थता तो उस प्रक्रिया और उसके ज्ञान की प्राप्ति में रहती है।

**प्रमत्त के लिए प्रतिक्रमण—**

**तस्मादावश्यकैः कुर्यात् प्राप्तदोषनिकृन्तनम्।**

**यावन्नाप्नोति सद्ध्यान—मप्रमत्तगुणाश्रितम्**

॥ ३१ ॥

ऐसी प्रमादग्रस्त स्थिति में इधर से उधर भटकने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। अतः गुणस्थान क्रमारोहकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि इधर—उधर भटकने के बजाय या फिर न धर के और न घाट के—दोनों तरफ से कहीं के न रहे, धोबी के कुत्ते के जैसी हालत न हो, अर्थात् न तो ध्यान में प्रवेश हो सके और न ही आवश्यक क्रिया हो सके ऐसा न हो जाय, दोनों से वंचित रहने से तो ज्यादा अच्छा यह है कि... हमें प्रमादाधीन अवस्था में षडावश्यक की समस्त क्रियाएं अवश्य करनी ही चाहिए। इसमें सदेह नहीं रखना चाहिए। जहाँ तक हम सद् ध्यान, सही ध्यान की प्राप्ति न कर लें, वहाँ तक षडावश्यक की साधना क्यों छोड़नी चाहिए? इसकी ध्वनि ऐसी जरूर निकलती है कि... सच्चे ध्यान के मार्ग पर आरूढ़ होकर मानसिक रूप से भी अप्रमत्त बन जाने के पश्चात् ही षडावश्यक की आवश्यकता नहीं रहती है। लेकिन, इसका निर्णय कौन करे? कि क्या यह जीव अब संपूर्ण रूप से सही अर्थ में अप्रमत्त बन गया है या नहीं? जीव की परीक्षा करके निर्णय

कौन दे सकता है कि यह उस कक्षा तक पहुँच पाया है या नहीं ? इसलिए ऐसा मत समझिए कि बाह्याकार मात्र बनाकर अर्थात् शरीर की बाह्य स्थिति आसन में स्थिर कर देने मात्र से ध्यान आ जाता है । जी नहीं ? यह तो भ्रमणा है । मनोगत मानसिक भाव की अप्रमत्तता यदि आती है तो ठीक है, अन्यथा नहीं ।

सच देखा जाय तो स्थिर सद् ध्यान की स्थिति ही अप्रमत्त भाव की कक्षा है । ये दोनों ही पर्यायरूप हैं । अच्छा अप्रमत्त योगी ही सद् ध्यानी बन सकता है और ठीक इसी तरह अच्छा सद् ध्यानी—आत्मध्यानी ही अप्रमत्त कहला सकता है । अन्यथा तो संभव ही नहीं है । ऐसे ही किसी को आसनस्थ देखकर यदि कोई उसे अप्रमत्त, ध्यानी कह दे तो बहुत बड़ी भूल होगी । अतः अपने आप स्वयं ही धर्मध्यान में लीन होने के पश्चात् ज्ञानी—ध्यानी गुरु यदि निर्णय दें तो ही उस जीव को सही मानना चाहिए । तो ही उसे अप्रमत्त की उपाधि देना उचित होगा, अन्यथा नहीं ।

परन्तु जब तक उस कक्षा की अप्रमत्तावस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक प्रमादादि के कारण जिन दोषों की संभावना ज्यादा रहती है उन दोषों की निवृत्ति के लिए षडावश्यकरूप—प्रतिक्रमणादि की क्रिया तो अवश्य ही करनी चाहिए । उभयग्रष्ट बनने की अपेक्षा तो संवर—निर्जरा का मार्ग स्वीकार कर षडावश्यक की क्रिया करना तो लाभदायी ही है ।

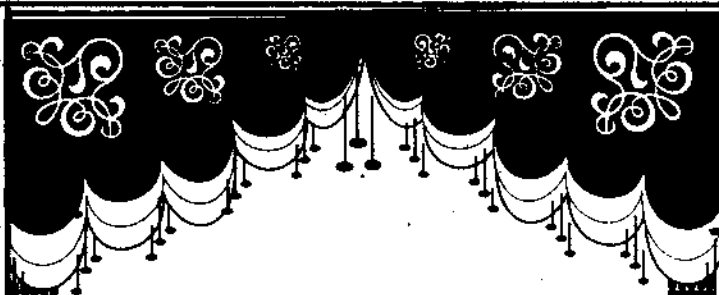
### प्रमत्त गुणस्थानस्थ जीव—

प्रमत्त गुणस्थानस्थ जीव तिर्यच गति, तिर्यच आयुष्य, नीच गोत्र, उद्योत, और प्रत्याख्यानीय ४ कषाय इन ८ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होने से और आहारकद्विक का उदय होने से ८१ कर्मप्रकृतियों के उदयवाला बनता है । और १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्तावाला बनता है । देशविरति गुणस्थान पाँचवे पर जिन ६७ प्रकृतियों का बंध होता है उनमें से ४ अप्रत्याख्यानीय कषाय की प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने से प्रमत्त छठे गुणस्थान पर ६३ प्रकृतियों का बंध होता है ।

इस तरह प्रमत्त गुणस्थानक का स्वरूप समझकर साधक जो मुमुक्षु—मोक्षाभिलाषी है उसे अग्रसर होना है । अतः कर्मक्षय—निर्जरा के मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ गुणस्थान के एक—एक सोपान आगे बढ़ना ही चाहिए । आगे अप्रमत्त गुणस्थान आठवाँ सोपान है । उसकी विशेष एवं ध्यानादि की विशद विचारणा करेंगे ।

# अध्याय १४ का प्रवेश द्वार

## अप्रमत्तभावपूर्वक ध्यान साधना

|                                                                                   |     |
|-----------------------------------------------------------------------------------|-----|
|  |     |
| अप्रमत्त बनने के उपाय.....                                                        | ११३ |
| अप्रमत्त साधक.....                                                                | ११५ |
| सजग-जागृत साधक हा अप्रमत्त साधक है .....                                          | ११६ |
| मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति से सभी कर्मों का बंध.....                                | १२० |
| १८ पाप की प्रवृत्तियों से ८ कर्म.....                                             | १२१ |
| प्रमाद से पुनः पाप और पाप से पुनः प्रमाद.....                                     | १२४ |
| आवश्यक की आवश्यकता.....                                                           | १२५ |
| सबसे कठिन स्थिरता.....                                                            | १२७ |
| मन के विषय में आनन्दघनजी योगी का वक्तव्य .....                                    | १२८ |
| मन की चंचलता का मूल कारण .....                                                    | १३२ |
| प्रमाद और मोहनीय का संबंध.....                                                    | १४० |
| १४ गुणस्थानों पर साधु-असाधु.....                                                  | १४२ |
| बंध हेतुओं के अनुरूप गुणस्थानों का नामकरण.....                                    | १४६ |
| गुणस्थानों के नाम पर बंधहेतुओं की छाप.....                                        | १४८ |
| बंधहेतुओं द्वारा आवृत्त धर्म.....                                                 | १५६ |
| गुणस्थानों का परिवर्तन कैसे ?.....                                                | १६२ |
| अप्रमत्त के लिए प्रतिक्रमण नहीं.....                                              | १६६ |
| अप्रमत्त की कक्षा में प्रवेश.....                                                 | १६८ |
| मोहक्षय की साधना - त्याग, तग से अप्रमत्त भाव...                                   | १७० |
| आखिर प्रमाद क्यों ?.....                                                          | १७२ |

## अप्रमत्तभावपूर्वक “ध्यानसाधना”

चतुर्थानां कषायाणां जाते मन्दोदये सति ।

भवेत्प्रमादहीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती ॥ ३२ ॥

अनन्त उपकारी अनन्तज्ञानी अरिहंत परमात्मा के चरणों में अनन्तानन्त नमस्कारपूर्वक....

ग्रन्थकार महर्षि पूज्य रत्नशेखरसूरीश्वरजी म. “गुणस्थान क्रमारोह” ग्रन्थ में आगे अप्रमत्तभाव का वर्णन करते हुए लिखते हैं....

### अप्रमत्त बनने के उपाय—

अनन्त काल तक जीव प्रमाद ग्रस्त रहा है । प्रमादाधीन रहकर कई भारी कर्म उपार्जन करता ही रहा । तथा उन भारी कर्मों के उदय में आने के कारण विपाक रूप से अनेक प्रकार का दुःख भी भुगतता ही रहा है । इस तरह प्रमाद ने इस जीव का कितना भारी नुकसान कितने वर्षों, जन्मों और भवों तक किया है, करता ही रहा है, और आगे भी करता ही रहेगा । जब तक जीव स्वयं समझकर प्रमाद का पीछा नहीं छोड़ेगा तब तक तो यह क्रम चलता ही रहेगा । प्रमाद आखिर है क्या ? आत्माभिमुखी न बनना और स्वगुणरमणता में भी न रहना, आत्मा के उपयोग भाव में स्थिर न रहना, संसार की सांसारिक राग—द्वेष की वृत्ति—प्रवृत्ति में सदा काल मशगुल रहना ही सबसे बड़ा प्रमाद है । और जब तक जीव राग—द्वेष की रुचि रखेगा, उनमें इच्छा रखेगा—प्रवृत्ति करता रहेगा, तब तक तो प्रमादावस्था मिटने का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है । यह प्रमाद मात्र शारीरिक ही नहीं है । यह मात्र मानसिक ही है ऐसा भी नहीं है । यह तो आत्मिक वृत्ति का प्रमाद है । आश्रवग्रस्त रहना भी प्रमाद के कारण है । बस, अब तो उपादेय तत्त्व जो संवर और निर्जरा है उनका ही एकमात्र लक्ष्य बन जाय तो ही प्रमाद से बचना संभव है । दूसरी तरफ जीव का मोक्षलक्षी बनना बहुत जरूरी है । मोक्षैकलक्षी बनने पर संसार की अरुचि और उपेक्षा बन जाती है । फिर प्रमाद भाव उस जीव को पसंद नहीं आता है । कभी न कभी उससे

छुटकारा पाने की भावना प्रबल बनती है। राग—द्वेषादि कषाय, नेकषाय एवं वेद मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति करने से जिन भारी कर्मों का बंध होता है और उनके उदय में आने से जिस प्रकार के भारी दुःख और वेदना—पीडात्मक सजा जो भुगतनी पड़ती है, तथा तिर्यच—नरकगति का दुःख भी सहन करना पड़ता है। ऐसी दुर्गति और दुःख का विचार करके उस प्रकार की पापप्रवृत्ति से बचने का लक्ष्य ही बन जाता है। इससे पापभीरुता निर्माण होती है। जैसे जैसे पापप्रवृत्ति बढ़ती ही जाएगी, कर्मबंध होते ही जाएंगे, गतियाँ बिगड़ेगी। नरक—तिर्यच की गति—जन्म में भी बड़े—बड़े भव होते जाएंगे। इस तरह संसार कितना बढ़ता जाएगा? भव परंपरा कितनी बढ़ती जाएगी? कितना काल संसार का बढ़ता जाएगा? इस तरह तो मोक्षप्राप्ति में कितना अन्तर बढ़ता जाएगा?

अब पापभीरु बनना है कि दुःखभीरु बनना है? भीरु शब्द भय—डर के अर्थ में है। दुःख से डरने का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि दुःख का मूल कारण तो कर्म है। कारण के पड़े रहने पर कार्य कैसे समाप्त हो जाएगा? अग्नि के चालू रहने पर धुआँ कैसे बन्द हो जाएगा? और यदि आग चालू ही है तथा उसमें से धुआँ निकलता ही जा रहा है तथा कोई व्यक्ति आकर यदि धुएँ पर पानी डालता ही जाएगा तो उससे क्या आग बुझ जाएगी? जी नहीं, कदापि नहीं। पहली बात तो धुएँ पर पानी डालना ही मूर्खता होगी। फिर धुएँ पर पानी डालना ही निरर्थक है। उससे आग बुझने का हेतु कभी सिद्ध नहीं होगा। इसलिए धुएँ की अपेक्षा तो उसका जनक कारणभूत जो मुख्य द्रव्य अग्नि है उसको ही बुझाना चाहिए। आग पर पानी डालने से आग बुझ जाने के कारण धुआँ भी लोप हो जाएगा।

ठीक इसी तरह दुःख धुएँ की जगह है और पापकर्म मूल अग्नि के स्थान पर है। अतः मात्र दुःखभीरु ही बनना पर्याप्त नहीं है। उसकी अपेक्षा पापभीरु बनना ही श्रेयस्कर है। दुःख का जनक मूल कारणभूत द्रव्य ही पापकर्म है। अतः समझकर आग पर पानी डालकर आग बुझाने की तरह ही मूलभूत पापकर्म की ही निर्जरा द्वारा सत्ता में से समाप्त करने में ही बड़ी समझदारी है। आज भी संसार में दुःख से डरनेवालों की, दुःख से बचने की इच्छावालों की संख्या ९५% से ९८% फीसदी है। लेकिन उसके कारणभूत—जनकरूप पापकर्म जो सत्ता में पड़ा है उसके क्षय करने के लिए अर्थात् समूल संपूर्ण पापकर्म धोनेवाले शायद ही १% प्रतिशत जीव भी मुश्किल से होंगे। शायद १% भी होंगे या नहीं! जब पाप कर्म का क्षय करने की इच्छावाले ही नहीं हैं और अधिकांश दुःखनाश के लिए देव—गुरु—धर्म की शरण स्वीकारेंगे। या तो वे भगवान के पास दुःखनाश के लिए प्रार्थना—वाचना करते रहेंगे, या फिर गुरुओं के पास आशीर्वाद



आदि इसीलिए लेते—मांगते रहेंगे कि जिससे हमारे दुःख नष्ट हो जाय। लेकिन फिर समझिए इस हेतु को कि... क्या पापकर्म के सत्ता में रहते हुए दुःख मिट जाएंगे? दुःख चले जाएंगे? नहीं, कदापि नहीं। इसलिए देव—गुरु—धर्म—भगवान का उपयोग दुःखनाश के उपाय रूप में न करें, बल्कि पापकर्म के नाश के लिए उपयोग करना ही सही सच्चा सदुपयोग है।

भगवान की भक्ति, गुरु की सेवा—भक्ति, भगवान के उपदेश का श्रवण एवं तदनु रूप आचरण करना, आज्ञा का पालन करना, प्रभु नामस्मरण द्वारा जप तथा ध्यानादि करना, तपश्चर्या करना, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषधादि द्वारा संवर धर्म की उपासना करना, इस तरह धर्मक्षेत्र में भी पंचाचार की आराधना करना यह पापकर्म क्षय करने के लिए—धोने के लिए पर्याप्त साधना है। आखिर नमस्कार महामंत्र में भी सातवें पद में “सर्वपापवष्णासणो” के पद द्वारा लक्ष्य—उद्देश्य भी सब पापकर्म के क्षय—नाश का ही बताया है। नहीं कि—“सर्वदुःखपणासणो” का। सब दुःख के नाश का लक्ष्य न रखें बल्कि समस्त पापकर्मों के समूल क्षय—नाश का उद्देश्य—लक्ष्य रखकर ही देव, गुरु और धर्म का उपयोग करना सच्चा—सही सदुपयोग है। इसी में धर्म के सम्यग् आचरण की सार्थकता है। अतः जब श्रद्धा के बल पर मान्यता सही रखनी है तो फिर उसके अनुरूप आचरण के रूप में धर्माचरण भी सही ही करना चाहिए। इस तरह अपनी आत्मा को समझाकर अप्रमत्त बनाने की कक्षा में लानी ही चाहिए। निर्जरा का लक्ष्य, साध्यरूप मोक्ष की प्राप्ति का लक्ष्य रखकर मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति से बचने का एकमात्र उपाय बनाकर साधक बनना ही अप्रमत्त बनने की तैयारी रहेगी। मोहनीय कर्म की मुख्य प्रवृत्तिरूप कषाय, नोकषाय तथा वेदादि की प्रवृत्ति ही समूल नष्ट करनी। यद्यपि उसी के बीच संसार में रहना है, जीना है, फिर भी उसी से बचकर ही रहना है। अन्यथा कोई विकल्प ही नहीं है।

### अप्रमत्त साधक—

सचमुच अप्रमत्त साधक ही सच्चा साधक है। साधक हो और प्रमादग्रस्त हो यह कैसे संभव हो सकता है? साधकपना और प्रमादाधीनपना यह परस्पर विरोधी बात है। अतः दोनों का साथ रहना संभव ही नहीं है। जैसे एक तैराकी समुद्र के बीच तैरने के लिये गिरा हो, भयंकर ज्वार—भाटा की लहरों जिसमें उछलती हो, ऐसे भयानक समुद्र में उसकी भयानकता देखते हुए भी जो समुद्र में गिरा हो, वह तैरने का पुरुषार्थ करेगा या फिर

प्रमादग्रस्त बनकर आराम करेगा ? चलेगा ? जी नहीं । कदापि नहीं । यदि वह अपने हाथ—पैर हिलाना ही छोड़ दे, प्रमादाधीन होकर छोड़ दे तो क्या हालत होगी ? बस, फिर तो डूब जाएगा । अतः समुद्र उसे नहीं डुबो रहा है, परन्तु वह जीव स्वयं अपनी प्रमादि वृत्ति से डूब रहा है ।

ठीक इसी तरह यह संसार भी समुद्र के जैसा अगाध है । संसार को समुद्र की उपमा देना सार्थक है, क्योंकि काफी अंशों में समानता मिलती है । अतः ऐसे भयंकर संसार समुद्र में कौन गिरते हैं ? इसके लिए पू. शान्तिसूरि म. “जीव विचार प्रकरण” ग्रन्थ में स्पष्ट कहते हैं कि—

एवमणोरपारे संसारे सायरंभि भीमंभि ।

पतो अणंतखुत्तो जीवेहि अपत्त धम्मेहि ॥

— जिसका कभी पार नहीं पाया जा सकता है ऐसे अणोरपारे—भयंकर संसाररूपी समुद्र में धर्म न पाने के कारण, धर्म के अभाव में जीव इस संसार समुद्र के अनन्तगुने गहरे खड्डे में गिरता है । यहाँ अनन्तगुना गहरा खड्डा कहने का तात्पर्य यह है कि... ८४ लक्ष जीव योनियों के संसार चक्र में जाकर चारों गतियों में अनन्त जन्म—मरण धारण करते हुए अनन्त काल निर्गमन करने के कारण उसे अनन्त गुना गहरा खड्डा कहा जाता है । ऐसे भयंकर संसार समुद्र में गिरनेवाला जीव फिर वापिस कब ऊपर आएगा ? कैसे ऊपर उठेगा ? कब तैरकर संसार के पार पहुँचेगा ? या तो धर्म पाने के बाद प्रमाद करने के कारण पतन होगा या फिर धर्म ही न पाने के कारण जीव का पतन होता है । तात्पर्यार्थ देखने पर यह स्पष्ट होता है कि... धर्म पाकर भी प्रमाद के कारण कर्म न करना और धर्म पाना ही नहीं, आखिर दोनों की समानता ही लगती है । क्या फर्क है ? कुछ भी नहीं ! धर्म पानेवाले ने भी यदि पूरा प्रमाद के कारण व्यर्थ गंवाया है तो फिर पाना—न पाना सब एक समान ही रहा ।

ठीक समुद्र में तैराकी को, क्रिकेट के मैदान में खिलाडी को, प्लेन या ट्रेन—गाड़ी चलानेवाले चालक को जितना ज्यादा सजग रहना चाहिए, शायद उससे भी हजार गुना ज्यादा एक मोक्षाभिमुख—मुमुक्षु साधक को सजग—सावधान रहना चाहिए ।

सजग—जागृत साधक ही अप्रमत्त साधक है—

तैराकी—खिलाडी या चालकादि की सजगता—सावधानी कायिक ज्यादा रहती है । मानसिक कम भी रहती होगी । क्योंकि विचार तन्त्र शायद उसके स्वाधीन हो या न भी

हो, हो सकता है कि वह इधर—उधर नजर भी घुमाए, शायद दूसरे विचार भी करता रहे। मन को घुमाता भी रहे। या थोड़ा सा बीच में अवकाश मिलने पर वह अपनी सजगता कम भी कर सकता है। जागृति का प्रमाण कहाँ, कब, कितना कम—ज्यादा रखना है, वह रख भी सकता है। रोटी बनानेवाली महिला एक रोटी गरम तवे पर रखकर कुछ क्षण के लिए पुनः मानसिक विचारों आदि से प्रमादि बन सकती है। क्योंकि वह इस बात को अच्छी तरह जानती ही है कि रोटी के रखने पर भी कुछ क्षण तो बीच में अवकाश लगता ही है। ठीक उसी तरह राष्ट्रीय महामार्ग पर तीव्र गति से गाड़ी चलानेवाला चालक भी कुछ क्षण का अवकाश निकालकर प्रमाद कर ही लेता है और गरदन या नजर भी इधर—उधर घुमाना, देखना, बोलना आदि कर सकता है। फिर भी गाड़ी चलती रहेगी। सुरक्षित भी रहेगी। अकस्मात् नहीं भी होगा। फिर वह सजग हो जाएगा।

लेकिन कर्म निर्जरा की साधना के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले साधक की मन की विचारधारा सतत निरंतर चलती रहेगी, तब निर्जरा होगी ही। यदि उसमें अप्रमत्त भाव क्षणभर के लिये भी गया, या फिर ध्यान की धारा क्षण भर के लिये भी यदि तूट गई तो निश्चित ही समझिये कि उस क्षण पुनः कर्म का बंध तो हो ही जाएगा। इसलिए नियम यही रहेगा कि... जब जब जीव जितना अप्रमत्त रहेगा, तब निर्जरा भी होती रहेगी और संवर भी होता रहेगा। इस तरह अप्रमत्त भाव से संवर और निर्जरा दोनों कार्य होता ही रहता है।

यह तो निश्चित ही है कि... अब तो साधक को संवर और निर्जरा का दोनों कार्य साधना ही पड़ेगा। अन्यथा साधक गंवाएगा। इसलिए सर्वप्रथम अप्रमत्तता साध्य है। अत्यन्त आवश्यकता है। ठीक इसके विपरीत मोहनीय कर्म की कषायभाव आदि की प्रवृत्ति में लीन रहने से फिर प्रमादभाव बढ़ेगा। और प्रमादभाव के कारण पुनः निर्जरा—संवर की साधना का लाभ हाथ से छूट जाएगा। प्रमादभाव की प्रवृत्तियों से विरुद्ध—विपरीत रहना ही अप्रमत्तभाव है। और अप्रमत्तभाव से विरुद्ध—विपरीत भाव में रमण करना ही प्रमादग्रस्तता है। सीधे शब्दों में कहें तो आत्मगुणों की रमणात्मारूप स्वभावदशा में रमण करना ही अप्रमत्तता है और आत्मगुणों से ठीक विपरीत कर्म की प्रवृत्ति या कर्मजन्य पापादि की विभावदशा की प्रवृत्तियों में लीन रहना ही भयंकर प्रमाद है। या साधक समझ सकता है कि जब जब कर्माश्रव होता है तब तब मैं प्रमादग्रस्त हूँ। या विपरीत—जब जब प्रमादग्रस्तता है तब तब कर्माश्रव—कर्म का आश्रमन होता ही रहेगा। ठीक है, कर्म बंधते हैं, लगते हैं, या सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का

आश्रव के रूप में आत्मप्रदेशों में आगमन होगा, या होता है, यह ख्याल नहीं आता है। तो ठीक है, साधक को अपने मन—वचन—काया की स्थूल—सूक्ष्म दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों, क्रियाओं तथा विचारों का तो ख्याल स्पष्ट रूप से आता ही है। आ ही सकता है। अतः यह निश्चित ही है कि जब जब जीव प्रमादाधीन रहेगा तब तब कर्माश्रव—कर्मबंध होता ही रहेगा। अतः प्रमाद की ऐसी स्थिति को समझकर जीव को अप्रमत्त बनना ही चाहिए।

आप स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि १) कर्मबंध की प्रवृत्ति भी मोहनीय कर्म की ही है। सभी कर्मबंध के हेतु भी मोहनीय कर्म के ही घर के हैं। सभी प्रकार की पाप की प्रवृत्तियाँ भी मोहनीय कर्म की ही हैं। आपको अच्छी तरह यह मालूम ही है कि अनन्त ज्ञानियों ने पाप की कुल १८ जातियाँ बताई हैं। जाती आधारित वर्गीकरण करके १८ में विभाजन किया है। लेकिन ये १८ ही पाप— १) हिंसा, २) झूठ, ३) चोरी, ४) अब्रह्म, ५) परिग्रह, ६) क्रोध, ७) मान, ८) माया, ९) लोभ, १०) राग, ११) द्वेष, १२) कलह, १३) अभ्याख्यान, १४) पैशून्, १५) रति अरति, १६) परपरिवाद, १७) मायामृषावाद, १८) मिथ्यात्व शल्य। ये अद्वारह पाप की मुख्य जातियाँ हैं। इस तरह इन पापों का वर्गीकरण किया गया है। वैसे पाप तो अनन्त है। लेकिन इन १८ जातियों में सबका समावेश हो जाता है।

सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात का है कि ये १८ ही पाप की जातियाँ आठ कर्मों में से सिर्फ एक ही मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति—वृत्तिरूप है। एक मात्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण ही इन अद्वारह पापों की प्रवृत्तियाँ होती हैं। भूतकाल में उपाजित मोहनीय कर्म के उदय से वर्तमान में ऐसी १८ पाप की प्रवृत्तियाँ होती हैं और दूसरी तरफ वर्तमान में की जाती ऐसी १८ पापों की प्रवृत्तियाँ, पुनः उसके उदय में वैसी प्रवृत्ति, पुनः वैसे कर्म का बंध और उसके उदय में फिर पाप, इस तरह अण्डे से मुर्गी, मुर्गी से पुनः अण्डा, फिर अण्डे से मुर्गी, फिर मुर्गी से अण्डा। इसी तरह पुनः पाप और फिर कर्म, फिर कर्म से पुनः पाप, फिर पाप से कर्म। इस तरह यह क्रम अनन्त काल तक चलता ही रहता है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से पुनः बीज की उत्पत्ति, फिर वापिस उस बीज से वृक्ष और, फिर उस वृक्ष से बीज। इस तरह अनादि—अनन्त काल तक यह क्रम चलता ही जाता है। इसका कभी अन्त नहीं आता है, उसी तरह इस संसार का भी अन्त नहीं आता है। इसीलिये यह संसार अनादि—अनन्तकालीन चक्ररूप है जो चलता जाता है। अतः साफ कहा गया है कि—

**पुनः पापं पुनः कर्म, पुनः कर्म पुनः पापम्।**

**पापकर्मसंयोगेन, चलति संसारचक्रम्॥**

पुनः पाप और उससे फिर कर्म, फिर उस कर्म से वापिस पाप होता ही रहता है। इस तरह पाप और कर्म के संयोग से यह संसार अनन्त काल तक चलता ही रहता है। इसका कोई अन्त संभव ही नहीं है। जी हाँ, एक संभावना है कि या तो अण्डा ही फूट जाय तो मुर्गी पैदा न हो और क्रम टूट जाय। या फिर मुर्गी ही बीच में मर जाय तो भी आगे अण्डा पैदा नहीं होगा। और बीच में क्रम टूट जाएगा। तो अनन्तता का क्रम नहीं रहेगा। ठीक इसी तरह या तो हम यहाँ पर पाप की प्रवृत्ति ही करना छोड़ दें तो आगे कर्म का बंध ही नहीं होगा। या फिर कर्म ही जो सत्ता में पड़ा है उसे ही उदीरणा करके उदय में आने के पहले ही विशिष्ट प्रकार के पुरुषार्थ से समाप्त—क्षय कर दिया जाय, ताकि उससे आगे का क्रम टूट जाय। या फिर कर्म जब उदय में आता है तब साधक पूर्ण रूप से धर्म की शरण में रहे। धर्माधना करते हुए संवर—निर्जरा के भाव में रहे। ताकि क्या हो कि उस कर्म का जोर न रहे, और जीव वैसी पाप की प्रवृत्ति ही न करे। संवर धर्म—विरति धर्म व्रत—पञ्चव्रता में स्थिर रखता है। जैसे आग फैलने के मार्ग में पानी का भराव आग को रोकता है। या पानी की बाढ़ आती है तब एक पाल या दिवाल उसे रोक देती है। ठीक उसी तरह संवर धर्म आनेवाले पाप कर्म को रोक देता है और निर्जरा का धर्म उसे मूल सत्ता में से ही क्षय—खतम कर देता है।

सच देखा जाय तो धर्म का सही उपयोग यही है। इसी के लिये ही धर्म है। जैसे रोग के लिए दवाई है। ठीक उसी तरह कर्म के लिये धर्म है। अर्थात् कर्म के सामने धर्म की व्यवस्था है। अतः प्रत्येक साधक को कर्म का प्रमाण देखते हुए धर्म करना ही चाहिए। कर्म कितने भारी हैं? कौन सा कर्म कितना ज्यादा जोर करता है? किस कर्म की प्रकृति मुझे पाप करने के लिये ज्यादा बाध्य करती है? किस कर्म का उदय ज्यादा है? किस कर्म की स्थिति कितनी ज्यादा है? किस कर्म की तीव्रता—मन्दता—गाढ़ता—प्रगाढ़ता कितनी ज्यादा है? यह सब देखकर उचित रूप से धर्म करना चाहिए। जैसे ४—६ रोग एक साथ होते हैं तो उसमें भी हम देखते हैं कि कौन सा रोग ज्यादा बलवत्तर है? किस रोग की वेदना कितनी तीव्र है? किस रोग की स्थिति ज्यादा घातक है? यह सब विचार करके जैसे डॉक्टर किसी एक रोग को प्राधान्यता देता है और उस तरह वह तीव्रतम उपचार क्रमशः करता है। ठीक उसी तरह साधक को अन्तरात्मा में झांकना चाहिए। जैसे शरीर के रोग—बीमारियाँ हैं, ठीक वैसे ही कर्म यह आत्मा पर लगी हुई बीमारी है। शरीर के रोग तो सामान्य हैं, ये तो थोड़े समय में मिट भी जाते हैं। परन्तु आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी रोग तो जन्मों—जन्म तक भी नहीं मिटते हैं। स्पष्ट कहा है कि—

**भवरोगार्तजन्तूनामगदंकारदर्शन ।**

**निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥**

भव अर्थात् संसाररूप रोग, अर्थात् भव—संसार में चारों गति में ८४ लक्ष जीव योनियों में कर्मनुसार जाना, जन्म—मरण लेते हुए भटकना, यह भवभ्रमण का भयंकर रोग जो आत्मा को कर्म के कारण लागू हुआ है, ऐसे रोगी के लिए वैद्य—चिकित्सक का आगमन, मिलना, (दर्शन) भी जितना लाभदायी है, उसी तरह श्रेयांसनाथ भगवान के दर्शन भी लाभकारी हैं । कैसे श्रेयांसनाथ भगवान ? निःश्रेयस अर्थात् मोक्षरूपी लक्ष्मी—शोभा में रमण करनेवाले श्री श्रेयांसनाथ भगवान के दर्शन से भव—संसार रोग से पीड़ित को काफ़ी ज्यादा लाभ होता है । क्योंकि वैद्य—हकीम देह रोग के चिकित्सक हैं जबकि परमात्मा—देवाधिदेव एवं गुरुमहाराज ये आत्मा पर लगे कर्मरोग के चिकित्सक हैं । सचमुच इसके लिये ये ही समर्थ एवं सक्षम हैं । इन से ही हमारा भवरोग मिटना संभव है ।

इस तरह एक मात्र मोहनीय कर्म कार्य रूप में भी है और कारण रूप भी है । जब यही मोहनीय कर्म उदय में रहकर १८ पापों की प्रवृत्ति कराता है तब यह कारणरूप बन जाता है और जब उन १८ पापों से कर्म का बंध होता है तब पाप कारणरूप होते हैं और कर्म कार्यरूप बन जाता है । इस तरह जन्य—जनक दोनों अवस्था में रहनेवाला यह मोहनीय कर्म स्वयं अन्य सभी कर्मों को बंधाने में भी कारणरूप बनता है ।

**मोहनीय की प्रवृत्ति से सभी कर्मों का बंध—**

आप जानते ही हैं कि ८ प्रकार के कर्म कर्मशास्त्र में वर्णित हैं । लेकिन कर्मशास्त्र यह भी स्पष्ट रूप से बता रहा है कि— आठों कर्मों का मुख्य राजा ही मोहनीय कर्म है । जन्य—जनक भाव से भी और कार्य—कारणभाव से भी मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों की प्रवृत्ति अन्य सभी कर्मों को बंधाने में कारणरूप है । इसलिए बाहरी संसार के व्यवहार में भी आप देखेंगे कि मोहनीय कर्म की जो २८ प्रकृतियाँ हैं इन्हीं के आधार पर.... अनुरूप समस्त प्रवृत्तियाँ हैं ।

इनका मुख्य ४ विभाग में वर्गीकरण किया जाता है— १) दर्शन मोहनीय—मिथ्यात्व मोहनीय, २) क्रोध, मान, माया तथा लोभादि के ४ कषायों के अनन्तानुबंधी आदि १६ मूल कषाय, ३) हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा ये ६ नोकषाय हैं, अर्थात् मूल कषाय के सहायक कषाय हैं, और ४) वेद मोहनीय, जिसमें विजातीय आकर्षण होता है। स्त्री को पुरुष का, पुरुष को स्त्री का, तथा नपुंसक को उभय का। यह विषयवासना—कामसंज्ञा का जनक—कारक है।

इस तरह यदि समस्त संसार की समस्त प्रवृत्तियों को मात्र एक मोहनीय कर्म में समाविष्ट करना हो तो संक्षेप से मात्र ४ शब्दों में कह सकते हैं। १. विकृत—विपरीत ज्ञान—मिथ्यात्व, २. क्रोधादि कषाय, ३. हँसी—मजाकादि, तथा ४. कामक्रीडा। बस, आप ही अच्छी तरह सारे संसार में गौर से देखेंगे तो आपको ये ४ प्रवृत्तियाँ, इनकी ही प्रवृत्ति समस्त जीवों में प्रधान रूप से स्पष्ट दिखाई देगी। सारा संसार इसी से भरा पड़ा है। संसार के समस्त जीवों में इनकी ही प्रवृत्तियाँ मुख्यतया हैं।

अब इन मोहनीय की ४ प्रवृत्तियों से जीव मोहनीय कर्म के माध्यम से सभी कर्म उपार्जन करता है। प्रवृत्ति भले ही मोहनीय कर्म की हो लेकिन उससे भी वेदनीय—अंतरायादि सभी कर्मों का बंध होता है। जैसे आइस्क्रीम—कुल्फी बनानेवाले भटके या बक्से में खाने—विभाग काफी हैं परन्तु अन्दर दूध पानी आदि डालने के लिए मुख तो एक ही है। एक ही मुँह से अन्दर प्रविष्ट होकर फिर विविध खानों में विभक्त हो जाता है। ठीक उसी तरह मोहनीय कर्म के इन चारों विभागों की मुख्य प्रवृत्तियों से उपाजित कर्म मोहनीय कर्म के मुख से प्रविष्ट होकर आठों कर्मों के रूप में विभक्त हो जाता है। मोहनीय कर्म के द्वार से प्रविष्ट होकर फिर ज्ञानावरणीय—वेदनीय—गोत्रादि कर्मों के रूप में विभक्त होकर वर्गीकरण होता है। अतः सभी आठों कर्मों के बंध के आश्रव का आधार मोहनीय कर्म की समस्त प्रवृत्तियों पर है। और आश्रव १८ पाप की प्रवृत्तियों पर है।

### १८ पाप की प्रवृत्तियों से ८ कर्म—

पहले प्राणातिपात अर्थात्—हिंसा इत्यादि १८ पापों को आप सभी अच्छी तरह पहचानते ही हैं। जो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में रोज होते ही हैं, लोग करते ही हैं, और रोज के प्रतिक्रमण में हम दोनों समय बोलते ही हैं। पाँचो प्रकार के प्रतिक्रमण में इन पापों की क्षमायाचना की जाती है। इन हिंसादि १८ पापों की जो दैनिक जीवन में मन से, वचन से,

और काया से, तथा करने—कराने और अनुमोदनादिपूर्वक प्रतिदिन होती ही जाती हैं। वैसे एक जीव १८ पाप स्वयं करता है और यदि वह दूसरों के पास कराता भी है या फिर वह दूसरों के द्वारा कृत १८ पापों की अनुमोदना भी यदि करता है, तो निश्चित रूप से १८ पाप तीनों रूप से होते हैं।  $१८ \times ३ = ५४$  भेद होंगे। इन सब को

यदि मन, वचन और काया तीनों के द्वारा भी किये जाते हैं। अतः उनके साथ भी गुणाकार किया जाय तो  $५४ \times ३ = १६२$  भंग होते हैं। इसी तरह ये सभी भंगपूर्वक के सभी पाप तीनों काल में होते हैं। भूतकाल में भी हम ये सब पाप करके आए हैं, वर्तमान में कर रहे हैं, तथा भविष्य में भी करते रहेंगे, क्योंकि अभी भी भविष्य में न करने के पचक्खण नहीं किये हैं, अतः होते ही जाएंगे। इस तरह  $१६२ \times ३$  काल से गुणाकार करने पर = ४८६ भंग होते हैं।

इस तरह और भी भंग संख्या आगे बढ़ती ही जाएगी। इन्सान कितने पापकर्म स्वयं करता रहता है? कितना भार सिर पर बढ़ता जाता है इसका कोई हिसाब ही नहीं है। लेकिन इन सब पापों की मूल जड़ देखी जाय तो कहाँ है? एक मात्र मोहनीय कर्म ही सबका मूलभूत कारण है। भूतकाल में उपाजित मोहनीय कर्म के उदय में आने से उनके आधार पर वर्तमान में इन १८ ही पाप की प्रवृत्तियाँ होती हैं। तथा आज होती इन सभी प्रकार की पाप की प्रवृत्तियों से पहले मोहनीय कर्म बंधता है। तथा साथ ही ज्ञानावरणीयादि शेष सभी कर्म बंधेंगे।

जी हाँ, प्रवृत्ति तो मोहनीय कर्म के उदय की ही है, लेकिन वेदनीय आदि सभी कर्म उसमें से बंधते हैं। जैसे कि श्रीकान्त राजा ने साधु महात्मा को द्वेष भाव से, मिथ्यात्व की अश्रद्धा की वृत्ति से कोढ़ीया—कोढ़ीया चिल्लाकर मारा—पीटा। इस पाप से उसने



वेदनीय कर्म बांधा। जिसका उदय दूसरे श्रीपाल के जन्म में हुआ और अशाता वेदनीय कर्म उदय में आया तथा श्रीपाल राजा बनने के बावजूद भी कोढ़ रोग से ग्रस्त हुआ। उस रोग से काफी परेशान रहना पड़ा। ठीक है कि धर्म के प्रभाव से पुनः उस कर्म की निर्जरा होती गई। कर्मक्षय होते ही पुनः सुंदर अवस्था प्राप्त हो सकी।

इसी तरह मोहनीय कर्म के घर की, मूल कषाय मोहनीय कर्म की क्रोधादि की प्रवृत्ति और उसी के पाप आदि के कारण जीव गोत्र कर्म भी बांधता है। जैसे क्रोधादि के कारण जैसी तैसी गाली प्रदान करना, अपशब्द बोलना, मान-अभिमान द्वारा कुछ भी बोलकर बड़ों आदि का अनादर-अपमान करने के द्वारा जीव नीच गोत्र कर्म बांधता है। हरिकेशी, मेलारज मुनि आदि इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। तथा भगवान् महावीर के जीव ने तीसरे मरीचि के भव में थोड़ा सा कुल का मद किया और उससे नीचगोत्र कर्म उपार्जन हुआ। परिणामस्वरूप भू महावीर की आत्मा को कितने जन्मों तक याचक कुल में जाना पड़ा। आखिर उपार्जित कर्मों की सजा तो भुगतनी ही पड़ी। अनेक प्रकार की मान-अभिमान, परनिंदा-कलह आदि के अनेक पापों अपमानादि के कारण, निश्चित रूप से जीव नीच गोत्र कर्म का उपार्जन करता है। इसी तरह स्वाभिमान से स्वप्रशंसा और परनिंदा करनेवाला भी पहले नीचगोत्र कर्म बांधता है। आप स्पष्ट देखिये कि ये सभी कलह-अभिमान परनिंदा प्रशंसा-अपमान-अनादर-अपशब्द प्रयोगादि सभी मोहनीय कर्म की कषाय-नोकषायादि की ही प्रकृतियाँ हैं और इन प्रकृतियों की ही ये १८ पापस्थानकों की प्रवृत्तियाँ हैं। अतः इन पाप की प्रवृत्तियों से पुनः मोहनीय कर्म का ही बंध होता है।

इसी तरह तीव्र क्रोधादि कषायों के कारण नामकर्म के अन्तर्गत गतिनाम कर्म भी बांधता है। जिससे क्रोधादि से नरक गति में जाना पड़ता है। लोभ से देवगति में, माया के कारण तिर्यच की पशु-पक्षी की गति में जाकर जन्म धारण करने पड़ते हैं। और मान की अभ्युन्नता मनुष्य गति में ले जाती है। इस तरह प्रवृत्ति १८ पापस्थानक में से क्रोधादि कषाय की जो कषाय मोहनीय कर्म के उदय के कारण है, और कर्म गति नामकर्म का बांधता है।

इसी तरह आयुष्य कर्म भी है। यद्यपि आयुष्य का मुख्य कार्य जीव को उस उस गति में सिर्फ एक शरीर में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त एक ही शरीर में नियत काल तक रखना। रहने में इतने वर्षों का काल-अवकाश देना। लेकिन यह आयुष्य भी गतिनाम कर्म के साथ सीधा संबंध रखता है। प्रथम गति नामकर्म बांधता है तब जाकर आयुष्यकर्म साथ में जुड़ता है। अन्यथा बिना गति के जीव कहाँ जाकर जन्म धारण करेगा कुछ भी निश्चित नहीं रहेगा। अतः गतिनामकर्म पहले ४ में से किसी १ गति का चयन कर ले,

तत्पश्चात् आयुष्यकर्म अपनी तरफ से कुछ वर्षों का काल प्रदान करता है । अतः उस काल की दीर्घता—न्यूनता का आधार जीव द्वारा उपार्जित कषायादि की तीव्रता—मन्दता के आधार पर रहता है । जिसके कारण जीव गति उपार्जन करता है उसके आधार पर आयुष्य की स्थिति का आधार रहता है ।

मोहनीय कर्म के ही उदय के कारण होनेवाली १८ पाप कर्म की प्रवृत्तियों से पुनः मोहनीय कर्म का बंध तो होगा ही । होता ही है । इसी प्रकार की हिंसादि पापों के कारण तथा कषायादि पापों की प्रवृत्ति के कारण ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय कर्मों का बंध भी होता ही है । जैसा कि आपने सुना ही है वरदत्त—गुणमंजरी का कथानक । जिसमें इन दोनों पति—पत्नियों के बीच पूर्व भव में बच्चों को स्कूल में शिक्षक के मारने के कारण काफी झगडा बढ़ गया । झगडा यह १२ वाँ कलह पापस्थान है । इस कलह में फिर १३ वाँ इस से फिर क्रोध—मानादि कषायों ने गाली देना शुरू कर दिया । फिर क्रोधादि की तीव्रता बढ़ते ही साथ में स्त्री पक्ष से माया कंपटपूर्वक झूठ—असत्य का १७ वाँ माया मृषावाद नामक पापस्थान साथ देने लगा । बस, अन्त में पहला पापस्थान हिंसा का आ गया । उसने मार—पीट कराके पति के हाथ पत्नी का सिर फोडकर हत्या कर दी । इतने पापों ने मिलकर मोहनीय कर्म तो उपार्जन कराया ही कराया लेकिन साथ ही साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म इतने ज्यादा भारी उपार्जन कराए कि... उसके उदय के कारण मूंगापन—बहरापन अंधापन—तुतलानापनादि मूर्खतादि अनेक प्रकार की स्थिति खड़ी हो गई । अविनय—अनादर—अपमानादि ज्ञान तथा ज्ञानियों का किया जाय तो उसके आधार पर भारी ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय कर्म भी बंधते हैं । इस तरह प्रवृत्ति १८ पापों की तथा उदय मोहनीय कर्म का और उससे पुनः बंध आठों ही कर्मों का होता है । बस, इस तरह पुनः कर्म पुनः पाप फिर पुनः कर्म और फिर पाप यह संसारचक्र अनादि अनन्त काल तक चलता ही रहता है । इसका अन्त ही कहाँ है ?

**प्रमाद से पुनः पाप और पाप से पुनः प्रमाद—**

यों तो १८ पापस्थान प्रमाद की प्रवृत्ति हैं । यहाँ प्रमाद आत्मिक है । मात्र कायिक ही नहीं । अपितु मानसिक वाचिक कायिक त्रयात्मक प्रमाद है । लेकिन यह प्रमाद भी बाह्य है । जबकि आत्मा के अंतर्गत जो उपयोगभाव की अस्थिरता, जागृति का अभाव भी प्रमाद ही है । जैसे ही आत्मा अपने ज्ञान से नीचे उतरी नहीं कि १८ पापस्थान तैयार ही बैठे हैं । जैसे पेड़ पर लटकते मनुष्य के हाथ डाली की पक्कड़ से छूटे नहीं कि नीचे

मुँह बहाए अजगर सीधे ही उसे निगलने के लिए तैयार बैठे हैं। वैसे ही ये आठों कर्मरूपी अजगर जीव को निगलने के लिए तैयार ही बैठे हैं। अप्रमत्तभाव से जीव गिरा नहीं कि प्रमाद तैयार ही बैठा है। यह प्रमाद मोहनीय कर्म का भेजा हुआ दूत है। १३ काठियों का इसका स्वरूप बड़ा भारी है। इस दूत के सहायक सुभट ये १८ ही पाप मुँह बहाए तैयार हैं। और जैसे ही जीव इन १८ पापों की प्रवृत्तियों में फसा नहीं कि क्षणभर में आठों कर्म तैयार ही हैं चिपकने के लिए। और जैसे ही कर्म चिपके कि संसार जैसा अगाध भयंकर समुद्र भवपरंपरा बढ़ाने के लिए तैयार ही है। इस तरह प्रमाद में गिरने से पापों की प्रवृत्ति और फिर पापों से पुनः प्रमादग्रस्तता फिर कर्मबंध और संसारचक्र का गतिमान होना यह क्रम अनादि अनन्त काल से चला ही आ रहा है।

**आवश्यक की आवश्यकता—**

आवस्सएण एण्ण सावओ जइवि बहुरओ होइ ।

दुक्ख्खाणमंत किरीअं काही अचिरेण कालेण ॥ ४१ ॥

— वंदितु सूत्र में आवश्यक के विषय में कहते हैं कि ये जो षडावश्यक रूप प्रतिक्रमण है इनकी उपासना से यद्यपि श्रावक बहु आरंभ—समारंभ पापादि रत हो फिर भी वह कुछ ही काल में इन दुःखात्मक आरंभादिजन्य पापों का अन्त कर देता है। एक दृष्टान्त देते हुए उसे और स्पष्ट किया है—

जहा विसं कुट्टगयं मंत—मूल—विसारया ।

विज्जा हणंति मंतेहिं तो तं हवइ निव्विसं ॥ ३८ ॥

जिस तरह यदि अन्जान में जहर भी पी लिया हो, वह पेट में चला भी गया हो तो . . . कितनी जल्दबादी—स्फूर्ति करके निकालना पड़ता है ? उस समय मंत्र तथा औषधियों जड़ी—बूटियों आदि के प्रयोगों को जाननेवाले विशारद वैद्य या मन्त्रवादी उस विष को शीघ्र ही उतार देते हैं। निकाल देते हैं। उगलवा देते हैं। बस, इतने से ही विषपान करनेवाला निर्विष बन जाता है। ठीक उसी तरह—

एवं अट्टविहं कम्मं राग—दोस समज्जिअं ।

आलोअंतो अ निंदंतो, खिण्णं हणइ सु—सावओ

॥ ३९ ॥

— जहर की तरह ही यदि राग—द्वेष से उपार्जित आठों ही कर्मों का जो बंध भी हो जाता है उन कर्मों की भी आलोचना तथा निंदा करनेवाला सुश्रावक शीघ्र ही उन पापों का—कर्मों का हरण कर लेता है। नाश करता है। अतः लक्ष्य एवं तदनुरूप प्रक्रिया कर्मनाश—कर्मक्षय करने की है।

श्रावक हो या साधु आखिर दोनों ही है तो मोक्षमार्ग के साधक—उपासक। अतः दोनों कर्मक्षय करने के लक्ष्य पर तो समान रूप से एक ही है। समानलक्षी जीवों की उसके अनुरूप समान प्रवृत्ति भी होनी ही चाहिये। इसलिए ५ वे गुणस्थान के मालिक श्रावक तथा छठे गुणस्थान प्रमत्त के मालिक साधु दोनों के लिए षडावश्यक की धर्मारोपना समान रूप से आचारसंहिता में रखी गई है। अतः दोनों के लिए प्रतिक्रमण करना समान रूप से आवश्यक है। इसलिए अवश्य ही करने योग्य होने से उसे आवश्यक कहते हैं। कर्तव्य है।

### घड़ी के लोलक जैसी स्थिति—

दिवालों पर लटकती हुई घड़ियों को हमने बहुत देखा है। उसके नीचे जो लोलक लटकता रहता है, और सतत चलता ही रहता है उसे यदि ध्यान से देखें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि... लोलक एक बार दाहिने हाथ की तरफ कुछ ऊपर जाता है, फिर थोड़ी ही देर में पुनः नीचे आता है। फिर थोड़ा बाएं हाथ की तरफ ऊपर चढ़ता है

और वापिस अपनी स्थितिस्थापकता पर आता है। इस तरह छठे प्रमत्त गुणस्थान पर रहा हुआ प्रमत्त—प्रमादी साधु यदि ऊपर जाए तो सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर जाता है। लेकिन वैसी अप्रमत्तता बड़ी मुश्किल से थोड़ी देर टिक पाती है कि वहाँ से नीचे गिरता हुआ लोलक की तरह स्थितिस्थापकता के स्थान पर आने की तरह वापिस छठे प्रमाद के स्थान पर आकर रुकता है। हो सकता है कि प्रमाद के छठे गुणस्थान पर यदि स्थिर न रहे और अध्यवसाय यदि ज्यादा नीचे गिरे तो वह पाँचवें श्रावक के गुणस्थान पर भी जा सकता है, या उससे भी और नीचे ४ थे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर भी जा कर गिर सकता है। जी हाँ, द्रव्य से, बाह्य से वेष के कारण उसे छठे गुणस्थानक के साधु कहना पड़ेगा लेकिन अध्यवसायों की धारा के आधार पर... ५ वे या ४ थे गुणस्थान पर भी जा सकता है। इस तरह लोलक की तरह स्थान परिवर्तन होता ही रहता है।

क्योंकि सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर साधक की स्थिरता का काल मुश्किल से अंतर्मुहूर्त परिमित है। अंतर्मुहूर्त मात्र ४८ मिनट दो घड़ी का होता है। और २ घड़ी बीतते क्या देर लगती है? यद्यपि सच देखा जाय तो साधना के क्षेत्र में अप्रमत्त बनकर दो घड़ी के अंतर्मुहूर्त काल तक भी ध्यान में स्थिर रह सके तो पर्याप्त है। निर्जरा का परिणाम लाने

के लिए ध्यान की तीव्रता का दो घड़ी का भी काल पर्याप्त है। इसमें कोई संदेह नहीं है। फिर भी जब ध्यान की ही धारा स्थिर न रह सके तो क्या करना? दो घड़ी का भी काल अधिक लगता है। बस, इसके बीच में ही ध्यान की धारा तूट जाती है। मन की स्थिरता बदल जाती है। अस्थिर मन पुनः प्रमाद की तरफ पतित कर देता है। मुँह मोड़कर वह वापिस पतनोन्मुखी बन जाता है। ऐसी स्थिति में गिरना भी स्वाभाविक है।

### सबसे कठिन स्थिरता—

योगशास्त्र में योगदर्शन में स्थिरता को ही सर्वोत्कृष्ट कक्षा की मानी है। जी हाँ, ध्यान प्रारंभ करना भी काफी आसान है, थोड़ी देर तक ध्यान की धारा में आगे बढ़ना भी संभव है, परन्तु अब प्रश्न आता है स्थिरता का। मन को अनन्त काल से चंचलता—चपलता के संस्कार लगे हुए हैं। मानों ऐसा ही कहिए कि चंचलता—चपलता ही मन की अपर पर्याय बन चुकी है। मन हो और चंचल चपल न हो यह संभव नहीं लगता। तथा चंचल और चपल न हो वह मन हो ऐसा भी संभव नहीं लगता है। यद्यपि ऐसी व्याप्ति नहीं बैठती है, फिर भी उपलक्षण से मन की अत्यन्त ज्यादा—हद से ज्यादा चंचलता—चपलता होने के कारण व्याप्ति का नियम लागू न होने पर भी वैसा कहा जा सकता है।

फिर भी जहाँ जहाँ धुआ होता है वहाँ वहाँ अग्नि निश्चित रूप से होती ही है ऐसा निर्विवाद कहा जा सकता है परन्तु जहाँ अग्नि है वहाँ धुआ रहे ही ऐसा निश्चयात्मक निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। इसलिए अग्नि हो वहाँ धुआ रहता भी है और नहीं भी रहता है ठीक उसी तरह अत्यन्त ज्यादा चंचलता—चपलता हो वहाँ मन जरूर ही रहता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। लेकिन जहाँ भी मन रहता है वहाँ चंचलता—चपलता रहती ही है ऐसा अकारपूर्वक कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि योगी, ध्यानी जैसे साधक के भी तो मन अनिवार्य रूप से होता ही है। परन्तु जब ध्यान साधना में मन स्थिर कर दिया जाता है, तब वह चंचल नहीं रहता है। चपलता नहीं रहती है। ध्यान की धारा में मन स्थिर रूप से लगा रहता है। अतः चंचलता—चपलता के बिना भी मन रहता है। फिर भी हम इतने ज्यादा बेहद चंचल—चपल हो चुके हैं कि मानों ऐसा लगता है कि मन तो बस, चंचल—चपल ही होता है। व्यक्ति सबसे ज्यादा परेशान किससे है? अन्य किसी से नहीं, लेकिन अपने मन की अस्थिरता चंचलता—चपलता के कारण। चंचल और चपल यह मन किसी भी तरह स्थिर रहता ही नहीं है तो फिर ध्यान—योगादि की साधना करेंगे कैसे? और बिना स्थिरता के ध्यानादि आएगा कैसे? अब क्या करें? बड़ा भारी प्रश्नचिन्ह खड़ा

हो गया । स्थिरता के कारण ध्यान या ध्यान के कारण स्थिरता ? क्या बिना स्थिरता के ध्यान प्रारंभ होगा ? या क्या ध्यान के बिना स्थिरता आएगी ?

## मन के विषय में आनन्दधनजी योगी का वक्तव्य—

|                                                      |       |
|------------------------------------------------------|-------|
| मनडुं किमही न बाजे हो कुंथुजिन, मनडुं किमही न बाजे । |       |
| जिम जिम जतन करीने राखुं, तिम तिम अलगुं भाजे          | ॥ १ ॥ |
| रजनी वासर वसति उज्जड, गयण पायाले जाय ।               |       |
| साप खाय ने मुखडुं थोथुं, एह उखाणो न्याय              | ॥ २ ॥ |
| मुगति तणा अभिलाषी तपीया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासे ।    |       |
| वैरीडुं कांड एहवुं चिते, नाखे अवले पासे              | ॥ ३ ॥ |
| आगम आगमधरने हाथे, नावे किणविध आंकुं ।                |       |
| किहां कणे जो हठ करी हटके, तो व्यालतणी परे वांकुं     | ॥ ४ ॥ |
| जो ठग कहुं तो ठग तो न देखुं, शाहुकार पण नांहि ।      |       |
| सर्वमांहे ने सहुथी अलगुं, ए अचरिज मनमांहि            | ॥ ५ ॥ |
| जे जे कहुं ते कान न धारे, आप मते रहे कालो ।          |       |
| सुर नर पंडितजन समजावे, समजे न माहरो सालो             | ॥ ६ ॥ |
| में जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरद ने ठेले ।         |       |
| बीजी वाते समर्थ छे नर, एहने कोइ न जेले               | ॥ ७ ॥ |
| मन साध्युं तेने सघलुं साध्युं, एह वात नहिं खोटी ।    |       |
| इम कहे साध्युं ते नवि मानुं, एक ही वात छे मोटी       | ॥ ८ ॥ |
| मनडुं दुराराध्य ते वश आण्युं, ते आगमथी मति आणुं ।    |       |
| आनंदधन प्रभु माहरूं आणो, तो साचुं करी जाणुं          | ॥ ९ ॥ |

— आनन्दधनजी जैसे गुफाओं में रहनेवाले अवधूत योगी मन की चंचलता और चपलता का परिचय देते हैं । या तो ऐसा मानिये इस स्तवन के बहाने वे अपने ही मन की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं ? जो हाँ । बात भी सही है । एक योगी—ध्यानी साधक ही मन का परिचय दे सकता है । वही पहचान सकता है । बिना उसके कोई नहीं पहचान पाएगा । संसार का भोगी जो सदा—सदैव ही भोग के आधीन रहता है, भोग का गुलाम बनकर रहता है वह क्या उसे पहचान सकेगा ? मन से ऊपर उठकर ही मन को स्वस्थ

दृष्टा भाव से देखा पहचाना जा सकता है। अन्यथा संभव ही नहीं है। जैसे समुद्र की गहराई में रहनेवाली मछली ऊपरी सतह की लहरों को कैसे पहचान पाएगी? शान्त सरोवर के स्थिर जल में जैसे ही बाहर से एक कंकड़ आकर गिरता है वैसे ही सरोवर की शान्ति और स्थिर पानी की स्थिरता भंग हो जाती है। बस, अब अशान्ति और अस्थिरता ही प्रधानरूप से रहेगी। परिणामस्वरूप पानी में वमल पैदा हो जाएंगे। और ये वमल एक दिशा में नहीं लेकिन चारों दिशा में गोलाकार स्थिति में फैलते—फैलते किनारे की तरफ पहुंचते जाएंगे।

ठीक वैसी ही स्थिति मन की भी है। आप ध्यान साधना में भारण्ड या चील पक्षी की तरह ऊपर उठिए, कुछ ऊपर उड़िए... फिर दूर दूर से आत्मस्थिति में निमग्न रहकर इस मन को दृष्टाभाव से देखते रहिए। देखते—देखते आप अच्छी तरह मन की वास्तविकता से परिचित हो जाओगे। बस, एक क्षणमात्र भी आप विचलित हुए नहीं कि दूसरा अनावश्यक विचार का एक कंकड़ आपके ध्यान सरोवर में गिर जाएगा। उस विचाररूपी कंकड़ की राग—द्वेषात्मक आहतों से स्थिरतारूपी ध्यानजल की शान्ति भंग हो जाएगी। और उठी हुई विचारों की लहरें आपके मन में सर्वत्र बिखर जाएगी। फैल जाएगी। मन के प्रत्येक प्रदेश को छूएगी। परिणामस्वरूप पूरी शान्ति भंग हो जाएगी। स्थिरता टूट जाएगी। विचार पुनः मन पर हावी हो जाएंगे। ऐसा विचारों का आन्दोलन मन को घेर लेगा। बस, जहाँ आत्मा की पक्कड़ टूटी नहीं कि मन विचाररूपी तूफानों के वमल में चारों तरफ से घिर जाएगा। फस जाएगा। बस, फिर तो आपका ध्यान सारा चौपट हो जाएगा।

इसीलिए कभी मन की वर्तमान राग—द्वेषात्मक विचारधारा से ऊपर उठिए। स्थिर बनिए। भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त बनिए। और दूर से अपने मन को देखने की पूरी कोशिश करिए। मन की सच्चाई—वास्तविकता का पूरा अच्छी तरह परिचय होगा। ऐसे अनुभूत योगी आनन्दधनजी भगवान के पास थककर, और हार मानकर घुटने टेककर बैठ गए हैं। और मन की यथार्थ स्थिति का परिचय देते हुए साफ—साफ शब्दों में स्पष्ट कह रहे हैं— हे प्रभु ! हे कुशुनाथ भगवान ! कितने ही उपाय करने के बावजूद भी यह मन किसी भी तरह नहीं मानता है। किसी भी तरह वश में—हाथ में नहीं आता है? क्या करूँ? जैसे जैसे और ज्यादा—ज्यादा प्रयत्न करके उसे पकड़ने जाता हूँ अर्थात् समझाने जाता हूँ, वैसे वैसे वह दूर ही दूर भागता जाता है। हे प्रभु, मैं परेशान हो चुका हूँ। अरे ! इस मन के लिए आने—जाने के क्षेत्र में कहीं कोई सीमा का प्रतिबंध ही नहीं है। रात में

भी भागता है और दिन में भी भागता है। ऐसा नहीं है कि हमारे सोने पर यह मन भी सो जाये। जी नहीं। यह शरीर सोता रहता है, परन्तु मन तो कहीं का कहीं भागता ही रहता है। अरे ! बसतिवाले क्षेत्र शहर में भी जाता है और जंगल में उज्जड प्रदेश या रणप्रदेश में भी उतना ही भागता है। अरे रे ! यह तो आकाश में स्वेच्छा से स्वैर विहार करता है। और पाताल में भी भाग जाता है। कोई सीमा ही नहीं है। सचमुच मन की गति अकल है। जैसे किसी को साँप काटा, साँप ने खाया, परन्तु साँप के मुँह में क्या कोई कवल आया ? क्या साँप का पेट भरा ? जी नहीं, साँप खाकर मात्र बदनाम हुआ, लेकिन उसका पेट नहीं भरा। कुछ भी नहीं पा सका। इस न्याय की तरह मन भी सोचकर जाकर प्रधानमंत्री—राजा बनकर तो आ जाता है लेकिन दूसरी ही क्षण जैसे ही अन्यत्र भागा कि उस मन के हाथ में क्या आया ? उसे मिला क्या ? बस, फिर वैसा ही कोरा रह जाता है।

हे कुंथुजिन ! क्या कहूँ इस मन के बारे में ? अरे ! इस मन को जीतने, वश में करने के लिए मोक्ष की अभिलाषावाले कई महात्माओं ने तपश्चर्या की, अभ्यास करके ज्ञान प्राप्त किया और कोई साधक आगे बढ़कर जाप से ध्यान में आगे बढ़ा, कोई योगी बना, लेकिन जैसे—दुश्मन वार करने के लिए मानों ऊपर गिरता है, उसी तरह यह मन दूसरी ही क्षण उस साधक को उल्टा फेंक देता है। प्रसन्नचंद्र राजर्षि को सातवीं नरक तक पहुँचाने की कोशिश करता है। वहीं साधक केवलज्ञान भी पा जाता है। अतः सच ही कहा है— **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**। यह मन ही मनुष्यों के लिए बंध और मोक्ष दोनों का कारण बनता है। हे कुंथुनाथ भगवान ! कोई कहता है कि आगम—शास्त्र पढ़ने से मन को वश करने का उपाय प्राप्त होता है। लेकिन ! अफसोस इस बात का है कि आगमधर महापुरुष भी जब आगमशास्त्र हाथ में लेकर पढ़ते थे, बैठते थे, तो क्या उतनी देर तक भी यह मन वश में रहता था ? जी नहीं ? और कहीं यदि हठ—हठाग्रह—हठयोग का आश्रय लेकर जबरदस्ती भी करूँ तो यह साँप की तरह वक्र ही रहता है। सचमुच इस मन को यदि ठग कहता हूँ तो यह मात्र ठग भी नहीं दिखाई देता, क्योंकि मन तो पीछे है और इन्द्रियाँ आगे हैं। अतः कौन ठग है ? मन या इन्द्रियाँ ? लेकिन इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला भी मात्र मन ही है। और यदि इस कारण मन को मात्र साहुकार कहूँ तो वह भी उचित नहीं लगता है। इसलिए या तो नारदी वृत्तिवाला बिल्कुल नारद जैसा लगता है मन। और सब में रहकर भी सबसे भिन्न—अलग भी रहता है। यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।



हे भगवन् ! जैसे जैसे इस मन को समझाने के लिए हितोपदेश देता हूँ, भीठे वचन उपदेश से समझाने की कोशिश करता हूँ, तब उसमें से एक भी हितशिक्षा कान पर ग्रहण ही नहीं करता है। अर्थात् सुनता भी नहीं है। वह अपनी ही धुन में पागल बना रहता है। अरे ! इस मन को स्वर्ग के मालिक देवता इन्द्रादि भी समझाते हैं, अरे ! महान विद्वान पंडित लोग भी इस मन को बहुत कुछ समझाते हैं लेकिन यह साला मन समझता ही नहीं है।

हे भगवन् ! मैंने सोचा कि यह मन कैसा होगा ? क्या पुल्लिंग—पुरुष जाति का होगा या किसी अन्य लिंगी होगा ? लेकिन अब मुझे पता चला कि... नहीं यह मन तो नपुंसकलिंगी है। परन्तु ऐसा शक्तिहीन होने के बावजूद भी यह सभी पुरुषों को भी पीछे फेंक देता है। और संसार की अनेक बातों में यह समर्थ—सक्षम लगता है। भूत—पिशाचादि की विद्या भी साध सकता है। उन्हें भी वश में ले सके ऐसा समर्थ बनता है। अरे ! इसकी गति को कोई नहीं पहचान सकता है। इसकी गति को कोई नहीं रोक सकता है।

सच बात तो यह है कि—मन का स्वरूप—उसकी चंचलता—चपलता चाहे जितनी भी हो लेकिन जिस किसी ने भी इस मन को साध लिया है उसने सब कुछ साध लिया है। इसमें कोई संदेह नहीं है। और यह बात गलत भी नहीं है। “एक साधे सब सधन है” इस उक्ती के अनुसार बस, जिस किसीने भी मन को साध लिया है उसने तप—जप—ध्यान—क्रिया आदि सब कुछ साध लिया है ऐसा समझना चाहिए। कोई आकर यदि ऐसा कहे कि मैंने इस तरह मन साध लिया है तो शायद मैं उसे सत्य मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। बस, यही बात सबसे ऊँची—बड़ी है। कोई मेरे जैसा ही यदि आकर कह दे कि मैंने मन को साध लिया है, वश में कर लिया है, तो यह बात विश्वासयोग्य नहीं लगती है।

अन्त में हार मानते हुए अवधूत योगी आनन्दधनजी जैसे महापुरुष कहते हैं कि—हे भगवन् ! दुनिया में कोई कहे कि मैंने मन वश में किया है तो बुद्धिमानने के लिए तैयार नहीं होते हैं। लेकिन आप जैसे समर्थ महान भगवान ने इस मन को वश में कर लिया, इस और ऐसे मन पर विजय पा ली है यह मैंने आगमशास्त्र में सैद्धान्तिक बातें पढ़ते समय जाना है। लेकिन वही मेरे लिये क्रियात्मक नहीं बन पा रहा है। इसलिये प्रभु ! जैसे आपने आपका मन जीता है वैसे ही मेरा भी मन ठिकाने ले आओ, तो मैं सच्चा मान लूँ। तब मुझे प्रतीति हो जाएगी। अनुभूति भी हो जाएगी।

इस तरह पहाड़ों की गुफाओं में रहकर साधना करनेवाले अवधूत योगी आनन्दघनजी का मन के बारे में एक संवाद है, भगवान के साथ किया हुआ एकरार है। अपनी साधना के भीतर क्या क्या हुआ? मन के संघर्ष के साथ कैसी बातें हुई? उसका मानस चित्र उपस्थित किया है। इससे मन की चंचलता—चपलता का गहन स्वरूप स्पष्ट होता है। इसी कारण मन साध्य होना बहुत ही कठिन हो चुका है। अतः धर्मशास्त्र में धर्माराधना का जितना भी क्रियात्मक स्वरूप दर्शाया गया है वह सब मन की निर्मलता बढ़ाने, मन को लगाने के लिए है। जिससे मन लगे तो ही सामायिकादि धर्माराधना सार्थक—सफल हो सके।

### मनकी चंचलता का मूल कारण—

हमने सबने व्यावहारिक रूप से यही मान रखा है कि मन चंचल—चपल है। लेकिन सत्य तो यह है कि मन सर्वथा जड है। और जड कभी चंचल—चपल होता ही नहीं है। मनोवर्गणा के जड पुद्गल परमाणुओं का संचय करके चेतन जीवात्मा ने सोचने—विचारने के लिए मन बनाया है। यद्यपि सूक्ष्म है, लेकिन जड है, अचेतन है। अतः चंचल—चपल बनने या होने का कोई कारण—प्रयोजन कुछ भी नहीं है।

फिर भी चंचलता का आरोपण व्यवहार नय से मन पर ही होता है। लेकिन इसकी गहराई में उतरने पर रहस्य का पता लगता है।

चेतनात्मा मूलभूत सजीव द्रव्य है। यही स्वकृत कर्मानुसार गर्भस्थान में जन्म लेने के लिए पहुँचती है। गर्भप्रदेश में रहा हुआ जीव अष्टमहावर्गणाओं को आवश्यकतानुसार ग्रहण करता है। और उसी को शरीर, श्वास, भाषा, मन, कर्मादि रूप में परिणामता है। उसी से शरीर, इन्द्रियाँ, श्वास, भाषा, मन तथा कर्म बनते हैं। फिर प्रत्येक का उपयोग कर्तारूप



आखिर विचारों में भी है क्या ? ज्ञान ही है । जड मन ज्ञान कहाँ से लाएगा ? मन में तो कोई ज्ञान है नहीं । क्यों कि वह तो सर्वथा जड है । ज्ञान जड का गुण नहीं है । ज्ञान तो चेतनात्मा का ही गुण है । व्याप्ति का नियम सिद्धान्तरूप में यही है कि जहाँ जहाँ ज्ञान हो वहाँ वहाँ ही आत्मा रहती है तथा जहाँ जहाँ आत्मा रहे वहाँ वहाँ ज्ञान रहेगा । इस तरह आत्मा ज्ञानरहित तथा ज्ञान आत्मा के बिना कभी भी कहीं भी रह ही नहीं सकते हैं । जैसे सूर्य के साथ उसकी किरणें—प्रकाशादि रहता है ठीक उसी तरह उभय व्याप्ति से आत्मा के साथ ज्ञान रहता है ।

अब यह भी सोचिए कि... जड मन के विचारों में ज्ञान आया कहाँ से ? मन में तो ज्ञान है ही नहीं । अतः यह सूक्ष्म मन विचारों के लिए आत्मा का सहायक बनता है । चेतन द्रव्य से संयोग करके वहाँ से ज्ञानांश को उठाता है और विचार प्रवाह में मन अपनी सतह के पटल पर लाता है । और बाद में विचार तन्त्र से भाषा प्रयोग के द्वारा व्यक्ति वचन के माध्यम से अपने कण्ठ तात्त्वादि के आस्य प्रयत्न द्वारा उन्हें अपने मुँह से बाहर फेंकता है । इसके लिए आत्मा को भाषावर्गणा के सूक्ष्म पुद्गल परमाणु ग्रहण करने पड़ते हैं और बाद में उन्हें भाषा के रूप में परिणमन करके बाहर फेंकती हैं ।

मन आत्मा के ज्ञान को जब ग्रहण करता है तब आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म की परत जमी हुई रहती है । अतः वहाँ से जिस अंश में जितना ज्ञान प्रकट रहता है क्षयोपशमभाव से, बस, उतने में से वर्तमान काल में उतने ज्ञानांश को ग्रहण करके उसे विचाररूप में परिणत करके—यदि वचन द्वारा बाहर किसी अन्य को देना हो तो भाषा वर्गणा के पुद्गल परमाणु ग्रहण करके उन्हें भाषा के रूप में व्यवहार करने के लिए भाषा बोलता है । यह समस्त क्रिया इतनी सूक्ष्मतम है और इतनी ज्यादा त्वरा से होती है कि उसकी शीघ्रता का अंश मात्र भी ख्याल ही नहीं आता है ।

जैसे मन आत्मा के ज्ञान खजाने में से ज्ञानांश लेकर आता है ठीक उसी तरह आत्मा पर ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीयादि ८ कर्म हैं । इन आठों प्रकार के कर्मों में मोहनीय कर्म सब कर्मों का राजा है । शक्तिशाली बड़ा है । अतः मन मोहनीय कर्म पर भी भौर की तरह बैठता है । और पराग कण जैसे ग्रहण करता है, वैसे इन विविध कर्मयुक्त आत्मप्रदेशों पर बैठकर ग्रहण करता है । आत्मा के ८ कर्मों में जो मोहनीय कर्म है उसके ४ मुख्य विभाग हैं— १) दर्शन मोहनीय में—मिथ्यात्वादि



३, २) मूल कषाय क्रोधादि १६, ३) नोकषाय मोहनीय में—हास्यादि ६, तथा ४) वेद मोहनीय में स्त्री—पुरुषादि के प्रति आकर्षण रागादि भाव जागता है ।

३ + १६ + ६ + ३ = इस तरह ४ विभागवाले मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं । बहुत ज्यादा लम्बे प्रमाण में बांधी हुई आत्मा में पड़ी है । उनका उदय भी होता ही रहता है । परिणामस्वरूप मन वहाँ से मोहनीय कर्म के उदितोश को ग्रहण करता है । यह राग + द्वेषात्मक होता है । ज्ञानमिश्रित होता है । अतः जैसे स्वच्छ शुद्ध पानी में लाल—हरा पीला रंगादि डालकर वैसा लाल—पीला बनाया जाता है फिर वह वैसा ही दिखता है, उसी प्रकार का लगता है । ठीक उसी तरह आत्मा का ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के कारण अधिकांश आच्छादित हुआ रहता है । उसमें से अज्ञान प्रकट होता है । आत्मा के अनेकविध गुण हैं । जैसा ज्ञान गुण है ठीक वैसा ही वीतरागता का भी गुण है । ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण के कारण आत्मा का ज्ञान आच्छादित हो जाता है, ठीक उसी तरह मोहनीय कर्म के आवरण के कारण वीतरागभाव का गुण भी आच्छादित हो जाता है और विपरीत रूप से राग + द्वेषात्मक स्थिति बन जाती है । बस, अब राग—द्वेषात्मक विचार ही ज्यादा प्रकट होते रहते हैं । जैसे एक धागा सीधा—सफेद चलता है उस पर लाल—पीला रंगादि चढ़ाया जाय तो कैसा लाल—पीला बनता है, ठीक उसी तरह ज्ञान के विचार पर मोहनीय कर्म अपनी प्रकृति का अंश चढ़ाकर रागात्मक—द्वेषात्मक बना देता है । अब जीव उन विचारों को वचन के रूप में जब बाहर फेंकता है तब बोलनेवाले के वचनों को सुनते समय उसके विचारों में रही हुई राग की गंध, द्वेष की गंधादि सब साफ स्पष्ट दिखाई देती है । जैसे पानी पर लाल—पीलापन दिखाई देता है, धागे पर भी दिखाई देता है । ठीक उसी तरह आत्मा का राग—द्वेषात्मक भाव सब स्पष्ट दिखाई देता है । आखिर राग द्वेष या क्रोधादि सब क्या है ? ये भी विचारात्मक ही तो हैं । विचारात्मकता का अर्थ ज्ञानात्मक है । वेदनादि ज्ञानात्मक नहीं होते हैं, अनुभवात्मक होते हैं । जबकि आत्मा के ज्ञान—राग—द्वेषात्मकादि ज्ञानात्मक होते हैं ।

मोहनीय कर्म में जो कषायादि ४ विभाग मुख्य हैं उनमें से सबकी असर भिन्न—भिन्न है । दर्शन मोहनीय कर्म का मिथ्यात्व का विभाग जब उदयस्थिति में विचारों में व्यक्त होता है तब उस व्यक्ति की बोल—चाल की भाषा में अज्ञानता विपरीत एवं विकृतज्ञान प्रकट होता है उसे मिथ्याज्ञान—मिथ्यात्व कहते हैं । फिर तो व्यक्ति उन्माद की तरह बोलता है । बस, दुनिया में आत्मा—परमात्मादि कुछ भी नहीं हैं । मोक्ष जैसा कुछ है ही नहीं । और स्वर्ग—नरक जैसी तो कोई बात ही नहीं है । पुण्य—पाप का तो कोई सवाल ही नहीं है ।

संसार में पुण्य—पाप की कोई क्रिया—प्रवृत्ति कुछ भी नहीं है। और धर्म—कर्म तो सब निरर्थक बवंडल है। यह तो सब ढकोसला है। और लोक—परलोक जैसा कुछ है ही नहीं। किसने कहा कि जीव आता है और जाता है ? नहीं, यह सब हंबक बाते हैं। निरर्थक बकवास हैं। इस तरह मिथ्यात्व का प्रलाप अनेक प्रकार की भाषा बोलता है। उन्माद की मस्ती है। यह मिथ्यात्व के उदय भाव का नाटक है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय होने पर मन उस कर्मांश को विचार और वचन के माध्यम से जगत के सामने अपने खुद का मिथ्यात्वी स्वरूप प्रकट करता है।

दूसरा विभाग मूल कषाय मोहनीय का है। यह क्रोध—मान—माया तथा लोभादि के रूप में है। क्रोध—मान ये दोनों द्वेषात्मक हैं, तथा माया—लोभ ये रागात्मक हैं। यह अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय तथा संज्वलन की दृष्टि से काल की अपेक्षा से चारों प्रकार के हैं। इस तरह क्रोधादि ४ X अनन्तानुबंधी आदि ४ = १६ प्रकार होते हैं। जीव जब भी मूल कषाय मोहनीय कर्म के उदय के आधीन होता है तब उसके उदय में क्रोध करता हुआ क्रोधी, मान—अभिमान की बातें करता हुआ अभिमानी घमण्डी बनता है। मायावी—छल कपट करनेवाला ठगी बनता है। लोभ कषाय मोहनीय के उदय में आते ही जीव लोभी लालची बनता है। दुनियाभर की सब चीज—वस्तुएं मुझे मिल जाय ऐसी तीव्र इच्छा होती जाती है। प्राप्ति की उत्कण्ठा बढ़ती रहती है। क्रोधी अपने क्रोध को व्यक्त करते हुए बोलता है कि—मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता हूँ ? मेरे सामने तो तुम मच्छर भी नहीं हो। क्या समझते हो ? तुमको मैं क्षणभर भी आँखों के सामने देख भी नहीं सकता। मैं तुम्हें खतम कर दूँगा। या फिर गाली गलौच—अपशब्दों की झड़ी बरसाता है। मानी—अभिमानी मान कषाय के उदय में होने पर—सातवें आसमान में चढ़कर कुछ हवाई बातें ही करता है—“हमसे जो टकराएगा वह मिट्टी में मिल जाएगा।” इस विचार में मान के साथ क्रोध का मिश्रण साफ दिखाई देता है। अरे ! मैं कौन हूँ ? क्या मुझे पहचानते हो ? तुम क्या समझते हो मुझे ? मैं घड़ी के छठे भाग में अभी तुम्हें छट्टी का धावण याद करा देता हूँ ? अरे ! तुम्हारी नानी याद आ जाएगी। मेरे से बात करने से पहले जरा सोच—समझकर बोलना, ध्यान रखना इत्यादि मोहनीय कर्म के मान कषाय की गंध बोलनेवाले की भाषा में स्पष्ट दिखाई देती है।

मायावी बिल्कुल *Cold poison* जैसा है। ठंडा एवं धीमा जहर *Slow poison* जैसा है। ऐसा इन्सान मीठा—मीठा बोलकर किसी को विश्वास में लेकर अपना स्वार्थ साधने की बात सोचता है। मायावी संबंध जोड़कर किसी को संबंधी बनाकर या मित्र

बनाकर भी ठगने की बात करता है। पत्नी पति के ही जेब में से पैसे निकालकर, या फिर सब्जी लाने के लिये दिये हुए में से ही सही बचाकर इकट्ठे करके अपना कार्य साधती है। ठंडा—मीठा बोलकर किसी को दिन दहाड़े ही ठगने की प्रक्रिया करती है। लोभ कषाय कोई कम थोड़ा ही है? आखिर यह भी तो मोहनीय कर्म का ही पुत्र है। सबसे ज्यादा नुकसान करनेवाला यही है। अपनी लोभवृत्ति जितनी कम—ज्यादा रहती है उसके आधार पर वह जीव दूसरों को लूटेगा। लोभवश चोरी भी करेगा। लोभ के ही आधार पर दुकानदारी चलती है यह भी कुछ कम नहीं है। सीधा ही जाकर मन पर अपना कब्जा जमा लेता है। और फिर भिन्न—भिन्न प्रकार की इच्छाएं कराता रहता है। आखिर राग के घर का है। संसार मोहमाया का ही है। संसार के असंख्य पदार्थ प्राप्त करने का तीव्र लोभ इच्छाओं के रूप में प्रकट होता है। इच्छाएं विचारणात्मक हैं। और विचार करना यह मन का कार्य है। अतः इच्छाओं का सारा कार्य मन के नाम पर चढ़ गया। इसलिए व्यावहारिक भाषा में लोक ऐसा कहते हैं कि मन इच्छा करता है। इच्छाएं तो मन के आधीन हैं। मन ही उनका जनक है। लेकिन वास्तविकता कुछ अलग ही है। इच्छाएं मोहजन्य हैं। मोहनीय कर्म में सत्ता में पड़े हुए लोभादि की तीव्रता के आधार पर इच्छाएं बनती और बढ़ती हैं।

मन बिचारा तो जड़ है, वह क्या इच्छा करे? वह तो साधन—माध्यम मात्र है। मन ज्ञानात्मक नहीं है। अतः वह इच्छा पैदा भी नहीं कर सकता है। इच्छा ज्ञानात्मक है। अतः आत्मा में से ही उत्पन्न होती है। लेकिन आत्मा पर जो मोहनीय कर्म का आवरण लगा हुआ, स्तर जमा हुआ है उसके कारण ज्ञान मोहनीय के आवरण में से पनपता है उसमें से इच्छाएं जन्मती हैं। साफ है कि इच्छाएं ज्ञानात्मक हैं। मात्र पानी में रंग, या धागे पर रंग की तरह उस ज्ञानात्मक विचारों पर राग—द्वेष का रंग चढ़ गया है। लोभादि की असर है अतः वह विचार इच्छात्मक लगता है। मन तो मात्र विचार कराने में सहायक साधन—माध्यम बनता है।

यदि इच्छाओं के पीछे जनक मात्र मन ही कारण रूप होता तो तो हम मन को ही खतम कर देते और इस संसार में जो जीव बिना मन के होते हैं उनको तो इच्छा जगती ही नहीं है। लेकिन कषाय मोहनीय के लोभादि सबकी उपस्थिति यथावत् ही है। अतः सामान्य छोटे कृमी आदि जो जीव हैं उनको भी तो भारी मात्रा में लोभ होता है। जो बिना मन के हैं। चूहा जिसको मन है लेकिन वाचा क्या व्यक्त करे? विचार तन्त्र तो चालु है। लेकिन व्यक्त करने के लिए वाचा कहाँ है? फिर भी वह जीव लोभवश होकर चोरी आदि तो करता ही है। एक बार जंगल में एक चूहा एक वृक्ष के नीचे के बिल में से सोने की

अशर्फियाँ निकालता था । अपने मुँह में लेकर वहाँ से दूसरी जगह जाता था और दूसरे पेड़ के नीचे रखता था । इस तरह किसी की रखी हुई—जमीन में छिपाई हुई सुवर्णमुद्राएं लोभवश चुराकर स्थानान्तर करने का पाप वह चूहा करता था । इस तरह समस्त संसार के सभी जीव कषायादि से ग्रस्त तो हैं ही । और उसके उदय में अभिभूत होकर पुनः वैसी प्रवृत्ति करते ही रहते हैं ।

नोकषाय मोहनीय कर्म की ६ प्रकृतियों में हास्य—रति—अरति—भय—शोक—जुगुप्सादि हैं । यह भी मोहनीय कर्म की एक बड़ी दिवाल है । एक स्वतंत्र दिशा है । संसार के समस्त जीव इससे घिरे हुए हैं । इसके उदयवाले हैं । कभी हँसना, कभी रोना, कभी कुछ पसन्द आए, कभी अप्रिय लगे, कभी जीव भयभीत होता है, कभी शोक, खेद या विषाद की वृत्ति का अनुभव करता है । कभी दुर्गच्छ—जुगुप्सा जागती है । इस तरह ये सभी मनुष्य के स्वभाव के साथ जुड़ गए हैं । अतः इनका सेवन करने की सब की आदत ही बन चुकी है । अब रोज इसका सेवन करना और रोज ही उसके सेवन से पुनः नए कर्म उपार्जन करते रहना यह जीव की आदत ही बन गई है । इतना ही नहीं इन हँसने—रोने भय—शोकादि की प्रवृत्ति करते रहने से पुनः मूल कषाय में भी प्रवेश हो जाता है । अतः नोकषाय तो मूल कषायों को भडकानेवाले—मदद करनेवाले (सहायक) हैं । बिना कारण किसी के सामने देखकर यदि आप हँसे तो सम्भव है कि सामनेवाले को क्रोध भी आ जाय । इसी तरह भय से भी क्रोध जग जाता है । रति—अरति तो क्षण—क्षण सदा ही कषाय करानेवाले कर्म बंधानेवाले हैं ।

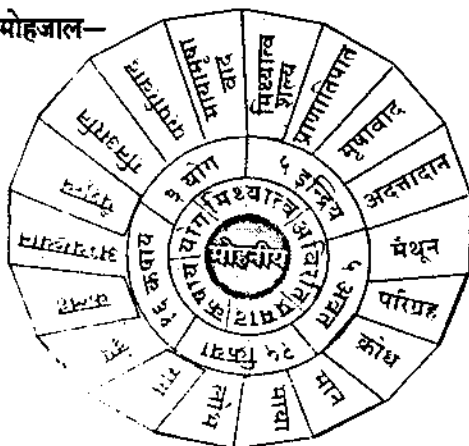
दूसरी तरफ जैसा कि आपने पीछे चित्र में देखा है उसके आधार पर यह भी कहना है कि— ये हास्यादि नोकषाय १८ पापस्थानों में से नए पाप भी उपार्जन करते हैं । १२ वें कलह का पाप, इसी तरह १३ वें अभ्याख्यान में आक्षेप—आरोप करना, १४ वे में चाडी—चुगली खाने की पैशून्य वृत्ति का पाप, १५ वे पाप में रति—अरति के कारण पसंद नापसंद, अच्छा बुरा लगना आदि है । १६ वे में पर—परिवाद निंदा टीका—टिप्पण का भी पाप है । ये पाप हास्यादि नोकषाय के कारण होते रहते हैं । जीव करते ही रहते हैं । पुनः उनसे नए कर्मों का बंध होता ही रहता है । फिर उनका उदय होगा और जीव उनमें फसता ही जाएगा । इस तरह संसार चलता ही रहता है ।

अब मोहनीय कर्म का अन्तिम विभाग वेद मोहनीय कर्म का है । यहाँ वेद शब्द कर्म शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है । यहाँ वेद शब्द स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के रूप में प्रयुक्त है । जिसका सीधा अर्थ विषय—वासना—काम संज्ञा के अर्थ में है । इस प्रकार



के वेद मोहनीय कर्म के उदय में रहने के कारण जीवों में स्त्री का पुरुष के प्रति आकर्षण, पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण, तथा नपुंसक का उभय के प्रति आकर्षण रहता है। १८ पापस्थानों में से १० वे राग के सेवन के साथ इन वेदमोहनीय कर्म का भी बंध—उदय होता रहता है।

### भेदक मोहजाल—



इस तरह मोहनीय कर्म की चारों तरफ की दिवाल जैसी मोहजाल बिछी हुई है। मछुए—मच्छीमार नदी—तालाबों में मछलियाँ पकड़ने के लिए चारों तरफ जाल बिछाता है। चारों तरफ जाल होने से मछली

छूट नहीं सकती, बच नहीं सकती। और ऊपर से जाल के साथ लुभानेवाला, खाद्य पदार्थ कांटे में फसाकर लगाया जाता है। जिससे मछली खींची जाय और खाने जाते ही जाल में फस जाय। ठीक इसी तरह ऐसा ही मोहनीय कर्म भी है। १८ पापस्थानों की जाल हमारे चारों तरफ बिछी हुई रहती है। मछली की तरह जाल में फसे हुए सभी जीव इसी में घिरे हुए रहते हैं। संसार तो आखिर संसार ही है। जीव संसार में रहे और १८ पापस्थानों से बचे यह लगभग नामुमकिन जैसा है। और किसी न किसी पापस्थान में जीव फसा कि तुरंत मोहनीय कर्म का नया बंध होता ही रहेगा। पुराना—पूर्वकालीन—भूतकालीन पिछले जन्मों का जो बंधा हुआ मोहनीय कर्म है, वह भी तो अपना अपना काल परिपक्व होने पर उदय में आता ही रहता है। और उदय में आने पर उदय जब जोर करेगा तब अनेक नए पाप करता हुआ जीव पुनः नए कर्म बांधता जाएगा। उसमें भी पापों में मुख्य रूप से मोहनीय कर्म ही ज्यादा बंधेगा और साथ—साथ अन्य ७ कर्म भी समय—समय पर बंधते ही जाएंगे। इसी कारण शास्त्रकार महर्षी कहते हैं कि—“समय—समय जीव ७—७ कर्म बांधता ही रहता है।” अतः यहाँ ७ कर्मों का बंध आयुष्य को छोड़कर कहा है। अतः यह भी सिद्ध करता है कि मोहनीय कर्म तो बंधता ही है लेकिन साथ—साथ आयुष्य के सिवाय

अन्य भी सभी कर्म बंधते ही हैं। प्रवृत्ति भी मोहनीय कर्म की, पुराना उदय भी मोहनीय कर्म का ही है। और अंदर भाव कर्म भी मोहनीय के ही हैं। अतः उसकी वृत्ति—मनोवृत्ति भी मोहनीय कर्म की है। इस तरह चारों तरफ सारी प्रवृत्ति प्रधानरूप से मोहनीय कर्म की है। अतः प्रधानरूप से मोहनीय कर्म का बंध होता है। उसके साथ साथ कुछ हिस्सा नाम—गोत्र—वेदनीय, अन्तराय—ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीयादि सबको मिलता रहता है, जिससे वे भी सभी पुनः बंधते ही रहते हैं। ऐसी जबरदस्त मोहजाल के बीच जीव फसा हुआ है।

अतः शास्त्रकार महर्षी साफ—साफ ठीक ही कहते हैं कि— मोहमाया का यह संसार है और संसार में मोहमाया की ही अधिकता है। बोलबाला है।

### प्रमाद और मोहनीय का संबंध—

ऐसे मोहमाया से भरे हुए संसार में जीव प्रमादग्रस्त—प्रमादाधीन न हो यह कैसे संभव हो सकता है ? बहुत मुश्किल है। आध्यात्मिक शास्त्र में आत्मा की दृष्टि से देखने पर प्रमाद ही मोहनीय की दूसरी पर्याय बताई है। चाहे मोहनीय की प्रवृत्ति कहो या प्रमाद कहो दोनों बात एक ही है। एक दूसरे की पूरक एवं पर्यायवाची नामवाली है। बस, और कोई ज्यादा भेद नहीं है। इसलिए महापुरुषों ने प्रमाद करने का निषेध किया है। आत्मलक्षी के लिए, आत्मोन्नतिकारक जीव जो मोक्षमार्ग पर अग्रसर होते हुए एक एक सोपान विकास का चढ़ रहा हो ऐसी स्थिति में छोटा सा पाप भी बड़ा भारी अनर्थ कर सकता है। कई भव बढ़ाने का नुकसान भी कर सकता है। इसलिए आत्मिक विकास के एक—एक सोपान क्रमशः चढ़ते हुए आगे बढ़नेवाले जीव को तो प्रमाद और मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति से बचने के लिये ज्यादा सावधान रहना ही चाहिए। मोहनीय की समस्त प्रवृत्तियाँ प्रमादान्तर्गत समा जाती हैं। और ठीक इसी तरह प्रमाद के सभी भेद—प्रकार मोहनीय कर्म के २८ भेदों में समा जाते हैं। इसीसे प्रमाद और मोहनीय एक दूसरे के पर्यायवाची कहलाते हैं।

आत्मविकास के मोक्षमार्ग पर अग्रसर जीव को अंशमात्र थोड़ा सा भी प्रमाद करना कैसे उचित लग सकता है ? ज्यों ही प्रमाद किया कि मोहनीय कर्म का पुनः बंध होगा। और यदि कर्म का बंध हो गया तो फिर उसे भी खपाना—नाश करना ही पड़ेगा। फिर कब नाश करेगा ? कहाँ करेगा ? हो सकता है कि उसके लिए यदि इस जन्म में अवकाश पूरा नहीं मिला तो आगामी जन्म में जाना पड़ेगा। फिर वही संसार की भव परंपरा चलती

रहेगी। अब तो साधक को निश्चय ही कर लेना पड़ेगा कि जब पुराने—पूर्वकाल के बंधे हुए कर्मों का क्षय तो कर नहीं पा रहा हूँ और नए कर्म कहीं बांधूँ ? जब खपाने—क्षय करने की क्षमता सामर्थ्य ही पूरा नहीं है तो फिर नए पापकर्म और क्यों उपार्जन करूँ ? निरर्थक परिश्रम करना और व्यर्थ का आयाम—व्यायाय करना यह कहाँ तक उचित है ? इसलिए अप्रमत्त कक्षा लाने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है।

**आगे के गुणस्थान अप्रमत्त कक्षा के हैं—**

१४ गुणस्थानों को प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। अतः इस दृष्टि से गुणस्थानवर्ती साधक को देखा जा सकता है। ये दो विभाग छठे गुणस्थान से किये जाते हैं। अर्थात् १ से छठे गुणस्थान तक मतलब कि मिथ्यात्व से लेकर छठे साधु श्रमण तक के जीव प्रमत्त—प्रमादी कहलाते हैं। यद्यपि पहले मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव के प्रमादावस्था की अपेक्षा उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए ऊपर—ऊपर चढ़ते हुए सोपानोंवाले जीव ज्यादा—ज्यादा अप्रमत्त अप्रमत्ततर और अप्रमत्ततम कक्षा अन्तिम गुणस्थान तक आती है, होती है, अर्थात् नीचे नीचे के गुणस्थानों पर ज्यादा से ज्यादा प्रमादग्रस्तता रहती है।

बाह्य प्रमादग्रस्तता अविरति के कारण ज्यादा रहती है। जबकि आभ्यन्तर कक्षा की आन्तरिक प्रमाद स्थिति कषायभाव के कारण ज्यादा रहती है। बाह्य प्रमाद में प्राणातिपात—हिंसादि, मृषावाद सेवन आदि बाहरी पापों की अविरति ज्यादा होने के कारण प्रमाद की मात्रा भी काफी ज्यादा रहती है। लेकिन बाह्य का त्याग भी काफी जल्दी होना संभव है जबकि आभ्यन्तर कक्षा में आत्मा का भीतरी कषयादि जन्य प्रमाद छूटना बड़ा जटिल काम है। क्योंकि अनादि काल से, अनन्तकाल से जीव सदा ही कषायग्रस्त रहा है। अतः उसके संस्कार जीव पर ज्यादा हावी रहते हैं। अतः छठे गुणस्थान तक जहाँ तक कषाय भी ज्यादा सक्रिय है वहाँ तक प्रमादग्रस्तता दर्शायी है जबकि ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान से साधक ध्यानस्थ बन जाता है। फिर तो कषाय सत्ता में पड़ा भी रहे तो भी उसका उपयोग जीव करता नहीं है। लेकिन सत्ता की दृष्टि से कषायों के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि संज्वलन भाव के चारों कषाय ७ वें तथा ८ वे, ९ वे गुणस्थान पर भी विद्यमान है ही। अतः जीव कषायाधीन है। जी हाँ ! जरूर है। फिर भी अब ७ वे गुणस्थान से आगे सर्वत्र ध्यान की साधना की अप्रमत्तता काफी ज्यादा है। ध्यान निर्जराकारक है। कर्मक्षयकारक है। इसलिए फिर कर्मबंध का प्रमाण नहीं वत् हो जाता

है। ७ वे गुणस्थान से ऊपर के समस्त गुणस्थानवर्ती जीव अप्रमत्त गिना जाता है। जबकि ७ वे से नीचे के सभी गुणस्थानकों में जीव प्रमादग्रस्त है। अतः वे सभी प्रमादी हैं। चाहे वह संसार का सर्वथा त्यागी साधु संत भी बन जाय तो भी वह प्रमादी है। क्योंकि अभी तो मात्र बाह्य संसार ही छूटा है। बाह्य संसार आरंभ—समारंभात्मक था। हिंसादि—अविरति निमित्तक था। जबकि आभ्यंतर संसार तो क्लेश कषायात्मक है। उपाध्यायजी म. सा. ने यहाँ तक शब्दप्रयोग करके स्पष्ट कह दिया है कि—“क्लेशेवासित मन संसार, क्लेशरहित मन होय भव पार।” अर्थात् जहाँ तक क्लेश कषाय से वासित मन है, वहाँ तक संसार भाव की विद्यमानता माननी आवश्यक है और आगे जैसे ही क्लेश—कषाय भाव हटा कि बस, फिर तो संसारभाव—समाप्त। इसीलिए यह संसारभाव प्रमाद अर्थ में प्रयुक्त है। और प्रमादयुक्तता संसारभाव का द्योतक है।

जी हाँ! ७ वे गुणस्थान पर साधक के अन्दर संज्वलन, कक्षा के चारों कषाय सत्ता में पड़े हैं। लेकिन अप्रमत्त बनने में, ध्यानादि की साधना की प्रबलता होने के कारण अब उन कषायों का उदय—प्रवृत्ति नहींवत् है। इसलिए अप्रमत्तता की कक्षा साधक को ७ वे गुणस्थान पर ले जाती है। वह भी प्राधान्यतया ध्यान से होगी। और जैसे ही जहाँ ध्यान बदला अध्यवसाय गिरे कि फिर प्रमादग्रस्तता छा जाती है। और प्रमादग्रस्तता आई कि वापिस जीव छठे गुणस्थान पर आकर प्रमादी बन जाता है। फिर प्रमत्त साधु रहकर पुनः कर्मदोषों का सेवन शुरू हो जाता है। फिर साधक बाजी संभाल ले तो वापिस अप्रमत्त बन भी जाता है। इस तरह साधु बना हुआ साधक इन दोनों गुणस्थानों पर झूले की तरह, या घड़ी के लोलक की तरह झूले खाता ही रहता है।

### १४ गुणस्थानों पर साधु और असाधु—

संसार से महाभिनिष्क्रमण करके मृत्यु की अन्तिम क्षण पर्यन्त सदा के लिए जो महात्याग करके निकला है वह साधु है। उसे पुनः संसार में प्रवेश कदापि नहीं करना है। और साधु अर्थात् जिसने मिथ्यात्व और अविरति के हिंसादि पापों रूपी कर्मबंध के हेतुओं और आश्रवों का सर्वथा त्याग कर दिया है आरंभ—समारंभ पूर्वक जो ६ काय की विराधना होती है, जीव जन्तु मरते हैं उन सारी प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग कर दिया है। तथा अनन्तानुबंधी—अप्रत्याख्यानीय तथा प्रत्याख्यानीय इस तरह  $४ + ४ + ४ = १२$  कषायों का सर्वथा त्याग कर दिया है ऐसा साधु तथा... जो शेष ४ संज्वलन कषाय के सत्ता में पड़े जरूर हैं फिर भी उनका ज्यादा उपयोग न करते हुए आत्मसाधना के उपयोगभाव में

रहनेवाला साधु तथा योग बंध हेतु चालु रहने पर भी तीनों प्रकार के योगों की गुप्ति का, तथा ५ समिति आदि का इस तरह अष्टप्रवचनमात्र का पूर्ण रूप से पालन करनेवाला ऐसा साधु कहलाता है ।

इन १४ गुणस्थानों पर दो वर्ग के साधक ही रहते हैं । १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान से ५ वे गुणस्थान तक के जीव असाधु है । अविरति के उदयवाले श्रावक है । जबकि छठे गुणस्थान पर आरोहण तो साधु—श्रमण बनने के पश्चात् ही होता है । तथा आगे के सभी गुणस्थानों पर साधु—श्रमण ही रहते हैं । इसलिए आगे के सभी गुणस्थान एकमात्र श्रमण साधु के लिए ही हैं । अतः ६ से लगाकर १४ तक के आगे के सभी गुणस्थानों का मालिक साधु ही होता है । जिसके व्रत—विरति—पञ्चक्खाण, त्याग का शुभ उदय काफी अच्छा होता है । यद्यपि १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर जीव तीर्थंकर भगवान्, सर्वज्ञ सयोगी केवली बन जाता है फिर भी वह सर्वप्रथम साधु तो है ही । जैसे कोई हिन्दु—मुस्लीम है, लेकिन वह भी सबसे पहले मनुष्य तो है ही । सर्वप्रथम मनुष्य है, बाद में वह हिन्दु—मुस्लिम है । ठीक उसी तरह सबसे पहले साधु है ही । उसके पश्चात् वह वीतराग, तीर्थंकर और सयोगी केवली आदि है ।

वर्तमान काल में भले ही अविरति कषाय आदि का त्याग न भी किया है, किसी भी प्रकार के व्रत, नियम तथा प्रत्याख्यान त्याग कुछ भी न किया हो, किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा भी नहीं की हो, या अविरति के कारणरूप छकाय की विराधना हिंसा पापादि का त्याग भी न किया हो और महापापत्यागपूर्वक महाव्रतादि भी ग्रहण न किये हो तो भी अपने आप को साधु—सन्त कहलाने के लिए तैयार हैं, ऐसे बन बैठे साधु द्रव्यलिंग या बाह्यलिंग से भले ही वेषधारी साधु की गणना—तुलना में आ सकते हो, लेकिन एक बात निश्चित ही है कि आभ्यन्तर कक्षा से वे अविरति—पापादि के उदयवाले छ जीवनिकाय की निरंतर विराधना करनेवाले हैं । इसी तरह वे निस्पृह शिरोमणी त्यागी—तपस्वी भी नहीं कहला सकते हैं । यदि सच देखा जाय तो ५ वे गुणस्थान पर जो गृहस्थी श्रावक है वह भी देशविरतिधर है । अतः सर्वांशिक नहीं तो आंशिक पञ्चक्खाण उसने भी स्वीकार कर रखे हैं । अतः 'देश' शब्द का यहाँ प्रयोग किया है । "देश" का मतलब है आंशिक । कुछ छोटे प्रमाण में । जो साधु महाव्रत को धारण करता है उसके सामने ५ वे गुणस्थानवर्ती जो गृहस्थाश्रमी धरबारी श्रावक है उसने भी देशतः—न्यूनतः विरति धारण की है, स्वीकार की है, अतः देशविरतिधर श्रावक कहलाता है ।

जबकि अपने आपको साधु संत कहलानेवालों को यह भी सोचना ही चाहिए कि मुझे ऐसे देशविरतिधर श्रावक से ज्यादा त्याग, विरति—व्रत—पञ्चक्खाण ग्रहण करने ही चाहिए। तभी हम महात्यागी, महाव्रती कहलामेंगे। मुख्य कर्म बंध के हेतु मिथ्यात्व अविरति—कषायादि हेतुओं का त्याग करना ही चाहिए। तभी सार्थक साधुता प्राप्त होगी। अन्यथा ऐसे कहलानेवाले नामधारी, वेषधारी साधु संत किसी काम के नहीं रहेंगे। सच्ची साधुता आए बिना आगे के गुणसोपानों पर विकास नहीं होगा। आरोहण नहीं होगा।

ये तो साधु—संत बनने का बहाना बनाते हैं। लेकिन घरबारी गृहस्थ बने हुए एक दो नहीं अनेक ऐसे भी हैं जो कि अभीतक मिथ्यात्व का आवरण भी भेद नहीं पाए हैं और बिना मिथ्यात्वत्याग के... वे थोड़ी देर आँख मूँदकर किसी आसन में बैठे नहीं कि... अपने आपको कोई राजयोगी, कोई सहजयोगी, कोई महायोगी और और न गालूम क्या क्या बन बैठे हैं? लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि... अपने संसार की प्रवृत्ति में तो आरंभ समारंभ ही है। अब्रह्म मैथुन सेवनादि भी करता ही रहता है। असत्य—झूठ—चोरी का आचरण चालू ही है। और आरंभ—समारंभ के विषय में छजीव—निकाय के जीवों की हिंसा—विराधना भी चालू ही है फिर भी ऐसा घरबारी कहता है कि मैं भी ध्यानी—योगी बन गया हूँ। अरे ! अष्टांग योग की प्रक्रिया में से अभी तक यम—नियम का तो अंश मात्र भी ठिकाना ही नहीं है और सीधे ही ध्यान की सर्वोच्च कक्षा भी प्राप्त कर ली यह भी कितना बड़ा आश्चर्य है। कोई तो कहता है कि.... बस, हमने अंशमात्र भी आँखे बंद करके शरीर की संवेदनाओं को देख लिया, अतः हमने अच्छा ऊँचा ध्यान कर लिया, हम ध्यानी हो गए। ऐसे कैसे कोई ध्यानी हो जाता है? क्या ध्यान इतना सरल है? जी नहीं। यह कैसे संभव हो सकता है? या तो ध्यान को सही अर्थ में समझा ही नहीं गया है। इसीलिए ऐसी स्थिति बनती है कि बस, हमने जो किया वही ध्यान है। चाहे सही ध्यान हो वह हम कर पाएं या नहीं लेकिन हमने किया वही सही ध्यान है ऐसी भ्रान्ति—भ्रमणा और आभासमात्र में रह जानेवाले व्यक्ति जीवन में इतो भ्रष्ट—ततो भ्रष्ट अर्थात् उभय भ्रष्ट जैसी स्थिति बना देते हैं।

जैसे एक पिता ने अपने पास रहे पीली धातु के आभूषणों को अपने आप ही सोने के मान लिये। और १०० वर्षों तक अपनी जान से भी ज्यादा उनकी चिन्ता करता रहा। संभालने के लिए, सुरक्षित रखने के लिये भी काफी लम्बा खर्च भी किया। उसकी धारणा ऐसी थी कि... जो भी पीला होता है वही सोना होता है। वह सोने को ही पीला नहीं मानता था परन्तु पीले को ही सोना मानकर चलता था। ऐसी अज्ञान दशा थी। इसलिए

१०० साल के बाद जब आर्थिक दृष्टि से खूब नुकसानी में आ गए और खाने की भी समस्या खड़ी हो गई तब सोच विचार करके.... उन्होंने कुछ आभूषण बेचकर उन पैसों से आजीविका चलाने का सोचा। इस निर्णयानुसार वे बाजार में बेचने गए। तब सुवर्णकार सोनी ने देखकर—जाँचकर साफ शब्दों में कहा कि.... महाशयजी ! यह तो पीतल है। सोने का अंशमात्र भी नहीं है। क्या आप हमको ठगने आए हैं ? ऐसा कहकर थोड़े दो शब्द कहे सुनाए और अपनी दुकान से हकाल दिया। ऐसी स्थिति में बड़ा व्यथित दुःखी हुआ बिचारा.... सिर पर हाथ पीटकर रोता ही रहा। स्वाभाविक ही था कि.... वह मनःसंतोष करने के लिए पूरे बाजार में १०—२० सभी दुकानों पर गया लेकिन सब जगह से एक ही उत्तर मिला। बेचारा हाथ मलता ही रह गया। सोनी ने साफ शब्दों में कह दिया और कसोटी के पाषाण पर कस के दिखा दिया कि... देखिए... साफ पीतल दिखाई दे रहा है। सचमुच १०० साल की जिन्दगी का अफसोस करता रहा। ऐसी स्थिति में उसको इतना ज्यादा दुःख हुआ कि... वह अन्तिम विचारों तक पहुँच गया कि... बस, अब तो धरती-जगह दे दे तो समा जाऊँ। क्या करूँ, किसी को मुँह दिखाने जैसा भी नहीं रहा। एक तरफ तो १०० साल तक आभूषण समझकर—मानकर संभालता रहा। और दुःख के दिनों में जब उपयोग करने का अवसर आया तब बिल्कुल खोटा—नकली निकला। अरे भगवान ! हाय ! यह क्या हुआ ?

जैसे १०० साल की जिन्दगी का यह अफसोस हुआ, ठीक उसी तरह पूरी जिन्दगीभर तक जो व्यक्ति शरीर की उठती हुई संवेदनाओं को देखता रहा, हठयोग का आलंबन लेकर श्वास को देखता रहा, श्वास प्रेक्षा ही करता रहा, या राजयोग सिद्धयोग कहकर—मानकर करता ही रहा, या नाचते—कूदते हुए हू—हू—हू करता ही रहा या फिर कैसेटों के बलपर संगीत के सहारे डायनामिक ध्यान करता रहा, या फिर यम—नियमादि किसी का भी रतीभर अंश न मानते हुए, न स्वीकारते हुए भी जो ध्यानादि करता ही रहा उन लोगों की, ऐसे कहलानेवाले ध्यानी—योगी की भी अन्त में जाकर ऐसी ही स्थिति होती है। उभयभ्रष्टता जैसी हालत होती है। न घर के न घाट के बस, धोबी के कुत्ते के जैसी हालत होती है। इसलिए १४ गुणस्थानों के जो सोपान बताए गए हैं उन सोपानों पर ही क्रमशः चढ़ना चाहिए। आगे बढ़ना चाहिए। आध्यात्मिक विकास अन्तरात्मा में होना ही चाहिए। आत्मिक परिवर्तन अन्दर की गहराई में होना ही चाहिए। क्योंकि गुणस्थान आत्मिक अध्यवसायों की शुद्धि पर अवलंबित है। वहाँ एक एक सोपान चढ़ने में आगे बढ़ने में किसी श्वास या शरीर की संवेदनाओं आदि के बाहरी लक्षणों का कोई

महत्व ही नहीं है। वे सब बाह्य निमित्त मात्र हैं। लक्षण मात्र हैं। लेकिन अन्तरात्मा के अध्यवसायों में परिवर्तन आना ही चाहिए। अन्तरात्मा में राग—द्वेष की मात्रा क्रमशः घटती ही जाय, कषाय भाव की परिणति क्रमशः समाप्त होती जाय और मिथ्यात्व का तो अंश मात्र भी बचा न रहे। तथा अविरति—अव्रत आदि का सर्वथा त्याग करके व्रती—त्यागी बनना ही चाहिए तो ही कर्मबंधादि की स्थिति मिट जाएगी। यही जरूरी है।

### बंधहेतुओं के अनुरूप गुणस्थानों का नामकरण—

जैसे कि पीछे बंधहेतुओं के विषय पर काफी विचारणा कर आए हैं। ऐसे ४ या ५ कर्म के बंधहेतु हैं। १) मिथ्यात्व, २) अविरति, ३) प्रमाद ४) कषाय, और ५) योग। कर्मग्रन्थकार के मतानुसार अवान्तर समावेश के कारण ४, और तत्त्वार्थकार के कथनानुसार ५ बंधहेतु हैं। (इनकी विचारणा पहले कर चुके हैं)

१४ गुणस्थानों का जो नामकरण किया है। वह किस आधार पर किया है? इसका भी विचार तो आ सकता है। और आना आवश्यक ही है। प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है। जैसे कि पहले १४ गुणस्थानों के नामों का निर्देश तो काफी पहले कर आए हैं उसको देखने से आपको स्पष्ट ख्याल आएगा कि... ये सारे ही नाम आत्मा की कर्मसंयुक्त अवस्था के आधार पर हैं और कहीं किस बंधहेतु की प्राधान्यता है? इतना ही नहीं आपको आश्चर्य तो इस बात का होगा कि सभी नामादि भी एकमात्र मोहनीय कर्म के आधार पर हैं। और सभी बंधहेतु भी मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के आधार पर हैं।

#### मोहनीय कर्म विभाग

#### कर्म बंधहेतु के भेद

|                             |    |              |              |
|-----------------------------|----|--------------|--------------|
| १) मिथ्यात्व—दर्शन मोहनीय—  | ३  | १) मिथ्यात्व | १) मिथ्यात्व |
| २) मूलकषाय— चारित्र मोहनीय— | १६ | २) अविरति    | २) अविरति    |
| ३) नोकषाय चारित्र मोहनीय—   | ६  | ३) प्रमाद    | ३) कषाय      |
| ४) वेद मोहनीय—              | ३  | ४) कषाय      | ४) योग       |
| कुल प्रकृतियाँ—             | २८ | ५) योग       |              |

१) मिथ्यात्व तो वैसे भी मोहनीय कर्म की प्रकृति है ही, तथा समान रूप से बंधहेतु भी है ही।

२) चारित्र मोहनीय कर्म के घर में अविरति प्रधानरूप से रहती है। विरति का अभाव ही अविरति स्वरूप है। अविरति में हिंसा, झूठ, चोरी आदि जो अव्रत हैं वे भी मूल



कषायजनित है इसलिए ६ अविरति और ६ अवत इन दोनों को मिलाकर १२ भेद अविरति के होते हैं ।

३) तीसरे विभाग नोकषाय मोहनीय कर्म में जो हास्य—रति—अरति आदि के स्वभाव हैं उसी पर क्राम आते हैं ये । अतः वैसे भी नोकषाय मोहनीय आत्मा का स्वभाव बनाता है । इसके कारण हँसना, रोना, भयभीत बनना आदि का स्वभाव नोकषाय मोहनीय कर्म के कारण बन जाता है । अब जब आत्मा स्व-स्वभाव छोड़कर जब हास्यादि के आधीन हो जाती है, तब प्रमादवश ही होता है । उसे ही प्रमाद कहते हैं । इसलिए प्रमाद बंधहेतु बनकर उपस्थित हो जाता है ।

या फिर प्रमाद का मूल कषायों में समावेश करें तो भी मूल कषायों में ही प्रमाद गिना जा सकता है । इसलिए प्रमाद से दूर रहो ही नहीं तो पुनः कषायभाव ही अपना अधिकार जमा लेगा । एक तरफ मोहनीय के भेदों में मूल १६ कषायों का स्वरूप स्पष्ट प्रगट होता है । और दूसरी तरफ कषाय को तो वैसे भी सब बंधहेतुओं में सबसे बड़ा बंध हेतु कहा गया है । अब अन्तिम बात रही योग और वेद की । इधर गुणस्थानों में — अन्त में जाकर योग की बात की है । और इधर बंधहेतुओं में भी अन्तिम बंधहेतु योग है । तथा मोहनीय कर्म में भी चौथा विभाग वेद का है, जो मन—वचन—काया पर ही आधार रखता है । बिना इनके तो योगबंध होगा भी कैसे ?

इस तरह आप देख रहे हैं कि एक मात्र मोहनीय कर्म की ही प्रकृतियाँ हैं, तथा समस्त बंधहेतु भी एक मात्र मोहनीय कर्म के ही हैं । अभी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीयादि दूसरे कर्मों की तो बात बीच में आती ही नहीं है । क्योंकि उन कर्मों के स्वतंत्र कोई बंधहेतु है भी नहीं । जो है वे बंधहेतु सब मोहनीय कर्म के ही हैं । हेतु—कारणभूत हेतु मोहनीय के होने के कारण इतना तो संसार में स्पष्ट हो ही जाता है कि.... संसार की समस्त प्रवृत्तियाँ मोहनीय के आधार पर ही होती हैं । दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है । यह रहस्यात्मक बात “हेतु” शब्द स्पष्ट कर देता है । और कर्म बांधने की प्रक्रिया में हेतु का आधारभूत महत्व ही सबसे ज्यादा है । “किरइ जीएण हेउहिं जेणं तो भन्नए कम्मं” पू. देवेन्द्रसूरि म. ने कर्मग्रन्थ के प्रारंभ में ही कर्म की जो व्याख्या की है उसमें भी हेतु शब्द का प्रयोग किया है । यह स्पष्ट सूचित करता है कि... बिना हेतु के कर्म का बंध हो ही नहीं सकता है । इसलिए जब तक मन—वचन—काया के योगादि प्रवृत्तिशील सक्रिय रहेंगे तब तक—बंध हेतु सभी सार्थक कार्य करते रहेंगे । और उनके आधार पर जीवों को कर्मों का बंध होता ही रहेगा । व्याख्या इस बात को स्पष्ट करती है कि जीव के द्वारा हेतुपूर्वक जो क्रिया की जाती है वह

कर्म कहलाता है। यदि हेतु शब्द निकाल दिया जाय तो मात्र “जीव द्वारा जो क्रिया की जाती है उसे कर्म कहते हैं” तो निश्चित रूप से सभी क्रियाओं को ही कर्म कहना पड़ेगा। लेकिन वैसा होता नहीं है। शायद क्रिया भिन्न प्रकार की हो और हेतु बिल्कुल अलग ही प्रकार का हो सकता है। तथा क्रिया की समानता एक जैसी अनेक जीवों के बीच देखी जा सकती है लेकिन बंधहेतुओं में भिन्नता रहेगी। इसीके आधार पर कर्मों का बंध भी भिन्न—भिन्न प्रकार का होगा। और स्थितिबंधादि भी भिन्न—भिन्न प्रकार का होगा। विषय की विचारणा भी पहले काफी कर आए हैं। अतः विशद स्वरूप वहाँ से स्पष्ट समझ में आ सकेगा। (कृपया पीछे पुनः पढ़कर पक्का करने का रखें।)

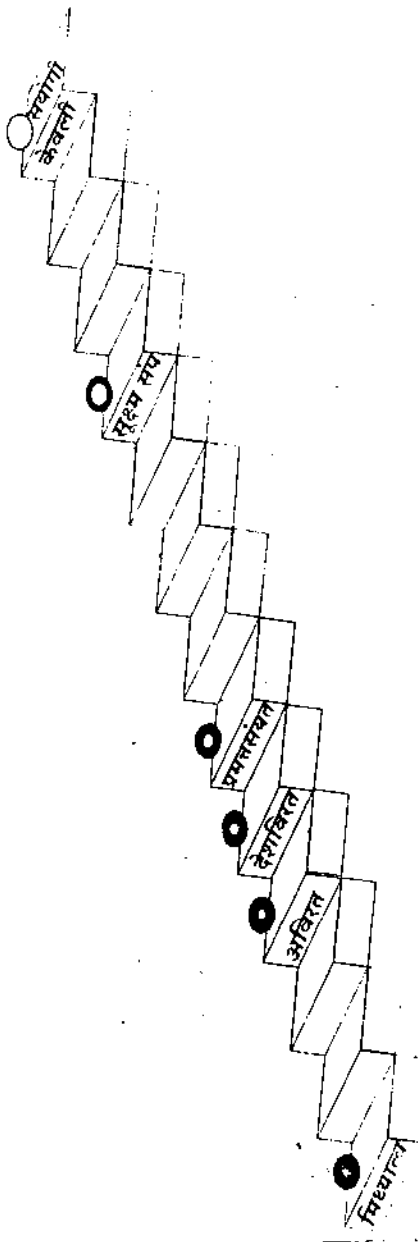
### गुणस्थानों के नामों पर बंधहेतुओं की छाप—

अब इसी तरह १४ गुणस्थानों के जो १४ नाम दिये गए हैं उनके नामों को तथा कहाँ तक उन नामों की स्थिति रहती है और बदलती है यह देखेंगे। पहले गुणस्थान पर, ४ थे पर, ६ ठे पर, १० वे गुणस्थान पर, तथा १३ वे गुणस्थान पर, इस तरह क्रमशः इन ५ गुणस्थानों पर पाँचों बंधहेतुओं के पाँचों नामों का निर्देश स्पष्ट ख्याल आता है। उनके नामों के साथ बंधे हेतुओं की छाप नामों को स्पष्ट देखने से ख्याल आ जाएगा—

- १) पहले गुणस्थान मिथ्यात्व पर — “मिथ्यात्व” १ ला बंधहेतु।
- २) ४ थे अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान पर — “अविरति” २ रा बंधहेतु
- ३) ६ ठे प्रमत्त संयत गुणस्थान पर — “प्रमाद” ३ रा बंधहेतु
- ४) १० वे सूक्ष्म संपराय गुणस्थान तक — “संपराय = कषाय” ४ था बंधहेतु
- ५) १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान तक — “योग” ५ वाँ बंधहेतु।

इस प्रकार १, २, ६, १० और १३ वे इन ५ गुणस्थानों का नामकरण ही ५ बंधहेतुओं के आधार पर ही किया गया है। तथा वहाँ नामनिर्देश करके वहाँ तक उस उस बंधहेतु की स्थिति प्रधान रूप से निर्देश की है। और उससे आगे बढ़ने के बाद उस बंध हेतु की स्थिति कुछ भी नहीं रहती। उसका अभाव रहता है यह भी निर्देश स्पष्ट होता है।

इसे स्पष्ट समझने के लिए गुणस्थानों के नामों के साथ उस बंधहेतु की स्थिति प्रवृत्ति—प्रकृति आदि देखने से विशेष ख्याल आ जाएगा। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि कौन सा जीव किस गुणस्थान पर खड़ा है। और वहाँ कितने कर्म, कितनी कर्मप्रकृतियाँ किस हेतुपूर्वक बांध रहा है। और कहाँ तक बाँधता ही रहेगा। यह नीचे की निम्न तालिका १४ सोपानों को क्रमशः देखने से ख्याल आएगा।



निम्न तालिका के आधार पर देखिए— सभी १४ गुणस्थानों के नाम न लिखते हुए यहाँ सिर्फ बंधहेतुओं के नामवाले जो शब्द प्रयुक्त हैं सिर्फ उनके नामों का उल्लेख किया है। देखिए— १ ला गुणस्थान मिथ्यात्व नामक है। यहाँ वैसे सभी बंधहेतु पाँचों भरे पड़े हैं। सभी एकसाथ मौजूद हैं। अतः सभी बंधहेतुओं से कर्म का भारी बंध होता ही है। लेकिन मिथ्यात्व से सबसे ज्यादा कर्मबंध होता है। यहाँ प्राधान्यतया मिथ्यात्व ज्यादा प्रवृत्त है। कार्यरत है। अतः कर्मबंध पाँचों बंधहेतुओं द्वारा बहुत ज्यादा प्रमाण में होता ही रहता है।

फिर जैसे ही जीव पहले गुणस्थान से ऊपर उठ जाता है और सीधे ४ थे गुणस्थान पर पहुँचा कि सम्यक्त्व पाया। सम्यक्त्व पाते ही अब मिथ्यात्व गायब। अब ५ बंधहेतुओं में से ४ शेष बचे हैं। ये चारों ४ थे गुणस्थान पर सक्रिय हैं। जी हाँ, ४ थे गुणस्थान पर देव—गुरु—धर्म पर श्रद्धा काफी अच्छी बनी है, जिससे उनको मानने की भावना ऊँची बनी है। परन्तु अभी उनका आचरण करने की कोई तैयारी नहीं है। इसलिए वह आचरण न करके श्रद्धा भाव से मानने में कोई कमी नहीं रखेगा। आचरण के अभाव में अविरति का बंधहेतु खुल्ला है। इसलिए धर्म में श्रद्धा रखते हुए भी अविरति—अवतज्जन्य हिंसा—झूठ—चोरी आदि के सभी पाप करता रहेगा। और ६ जीवनिकाय की विराधना भी

करता रहेगा । अभी तक जीवों की रक्षा करने आदि की उसकी वृत्ति ही नहीं बनी है ।

४ वे गुणस्थान से आगे ५ वे गुणस्थान पर एक सोपान आगे बढ़ने पर वही अविरति प्रमाण में आधी हो गई है । यद्यपि अविरति संपूर्ण रूप से सर्वथा नहीं गई है, इसलिए देशविरति गुणस्थान नामकरण किया गया है । यहाँ देश शब्द राष्ट्र या राज्यवाचक नहीं है परन्तु अल्प प्रमाण अर्थ प्रयुक्त है । जो अविरति बंधहेतु था वह अब विरति धर्म में बदल रहा है । लेकिन सर्वांशिक संपूर्ण नहीं । इसलिए देशरूप में विरति धर्म आया और कुछ प्रमाण में अविरति भी रहती है । जब सामायिक—प्रतिक्रमण—पौषधादि करता है तब विरति में रहता है । और जब सामायिकादि पूरी हो जाती है या पार लेता है तब पुनः अविरति में आ जाता है । विरतिरूप सामायिकादि में रहते समय ६ जीव निकाय की विराधना नहीं करेगा । बस, उसमें साधु जैसा जीवन जीएगा । इसीलिए सूत्र में स्पष्ट कहा है कि— “समणो इव सावओ हवइ जम्हा । एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥” जहाँ तक श्रावक सामायिकादि की विरति में रहता है तब वह श्रमण = साधुतुल्य कहलाता है । इसी कारण से बार—बार ज्यादा से ज्यादा सामायिक करनी चाहिए । वैसे भी शास्त्रकार महर्षी और ज्यादा स्पष्ट कहते हैं कि—

**सामाइय-पोसहंमि अ, जो कालो गच्छइ जीवस्स ।**

**सो मुक्खफल देई, सेसो संसार फल हेउ ॥**

— अर्थात् सामायिक पौषध में जीव का जितना काल जाता है—बीतता है उतना ही और वही काल मोक्षफल देता है, अर्थात् मोक्षगमन के लिए उपयोगी सिद्ध होता है । बस, उसके सिवाय का सारा ही जो अविरति का काल है वह संसार की वृद्धि का फल देता है । उससे संसार बढ़ता ही रहता है । इस श्लोक में विरति का भी फल बताया है और विरति का भी प्रमाण बताया है ।

अब ५ वे गुणस्थान से आगे बढ़कर विकास की दिशा में जीव जब ६ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होता है तब महाव्रत ग्रहण करके संपूर्ण रूप से अविरति का सर्वथा त्याग करके साधु बनता है । इससे यह स्पष्ट होता है— जिस किसी को भी संसार का महाभिनिक्रमण करके यदि साधु बनना हो तो सबसे पहला प्राथमिक नियम इतना तो जरूर आ जाता है कि वह ६ जीव निकाय की विराधना—अविरतिरूप बंधहेतु आश्रव का तो त्याग करना चाहिए । ७ पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—वनस्पती तथा त्रसादि के समस्त जीवों की रक्षा करते हुए आचारसंहिता बनानी चाहिए । आचार—विचार में ही ऐसी व्यवस्था बैठानी

चाहिए जिससे किसी भी जीवों की हिंसा—विराधना न हो। इन अविरति और अव्रत के सभी पापों को अनन्त जन्मों तक जीव ने सेवन किया है। और उसमें अनन्त जीवों की हिंसा—विराधना की है। इसलिए अविरति जैसे बंधहेतु का सेवन—आचरण करते हुए जीव ने अनन्त बार अनन्त गुने कर्म विगत अनन्तकाल में किये हैं। अब तो सोच—समझकर इस बंधहेतु का सर्वथा संपूर्ण रूप से त्याग करके पापकर्मों से बचना ही श्रेयस्कर है। जैन साधु के लिए तो आचार—संहिता ऐसी सुंदर बनाई गई है कि . . . वे बरोबर अविरति का त्याग करते ही करते हैं। पूरी जिन्दगी भर तक अष्टप्रवचनमाता का पालन करते हुए छः जीवनिकाय की विराधना से बचते हुए संपूर्णरूप से रक्षा करते हुए आचरण करते हैं। संयम धर्म का पालन करते हुए साधु जीवन जीते हैं।

जी हाँ, मिथ्यात्व और अविरति इन दोनों बंधहेतुओं का सर्वथा त्याग हो चुका है अतः इनसे जन्म कर्मों का बंध नहीं होगा। लेकिन प्रमाद—कषाय योग के ३ बंधहेतु और हैं। इन तीन से कर्मबंध का मार्ग चालू रहेगा।

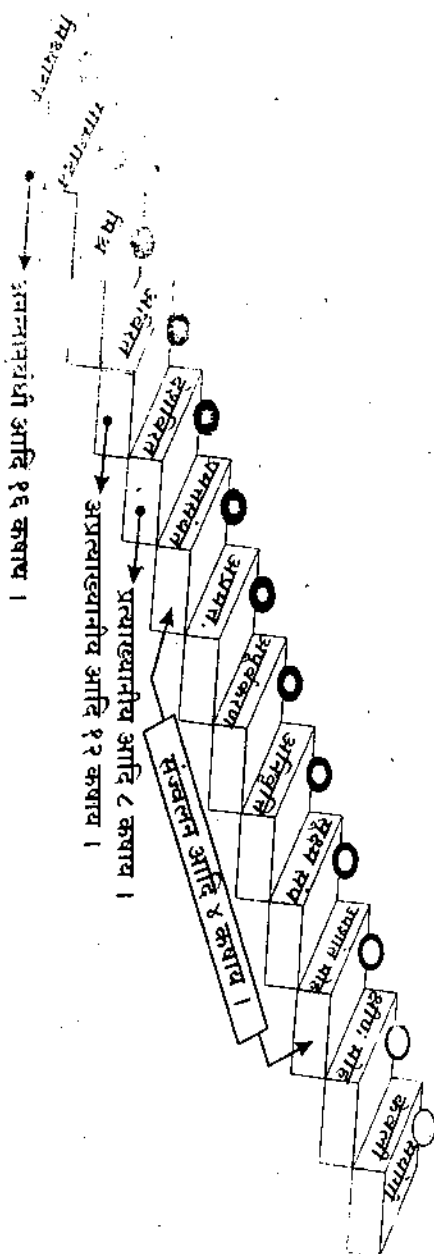
यह आध्यात्मिक विकासमार्ग है। आत्मा की उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है। लेकिन प्रगति कब और कैसे होगी? भूतकाल के अन्दर रहे हुए पाप कर्मों का क्षय—नाश (निर्जरा) करने से। तथा नए पापकर्मों का उपार्जन न करने से। भूतकालीन पापकर्मों की कोई जीव कितनी निर्जरा कर रहा है? की या नहीं आदि का हमें कुछ भी ख्याल नहीं आएगा। लेकिन नए पापकर्म उपार्जन कर रहा है या नहीं, का ख्याल उसकी वर्तमानकालीन प्रवृत्ति—वृत्ति से स्पष्टरूप से आएगा। मिथ्यात्वादि पाँचों बंधहेतुओं की प्रवृत्ति—वृत्ति साफ दृष्टिगोचर होती है। वे सभी प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। मिथ्यात्व रहने पर देव—गुरु—धर्म को न मानने की वृत्ति के कारण, जीवादि नौ तत्त्वों को न मानने के कारण, आचरण में भी वैसे जीव की प्रवृत्ति भी हिंसादिमय ही बन जाती है। फिर समस्त जीवों को भी जीवरूप मानने की वृत्ति ही नहीं रहती। इसलिए मात्र भगवान या गुरु को ही मानना पर्याप्त नहीं है परन्तु साथ जीवादि सभी तत्त्वों का—पदार्थों का स्वरूप भी यथार्थ मानकर उचित व्यवहार और आचरण होना ही चाहिए।

वर्तमान जीवन में आचरण के क्षेत्र में अविरतिरूप विराधना नहीं बल्की विरतिधर्मरूप आराधना रहनी चाहिए। जिससे नए कर्मों का बंध न हो। अब साधुके जीवन में इन दो पापकर्मों के बंधहेतुओं से बचने के कारण ५०% पापकर्मों के नए आगमन से जीव बच जाता है। अब शेष जो बंधहेतु बचे हैं उनकी ही चिन्ता है।

छूटे गुणस्थान पर साधु बन जाने के बावजूद भी प्रमाद नामक बंधहेतु से पापकर्मों का आगमन चालू ही रहता है। यदि साधक श्रमण ७ वे अप्रमत्त संयत गुणस्थान पर एक सोपान और आगे चढ़ जाय तो प्रमाद बंधहेतु भी बन्द हो जाएगा। फिर प्रमादजन्य जो कर्मबंध होता है वह भी बन्द हो जाएगा। इसलिए किसी भी रूप से प्रमाद से बचना ही, प्रमाद के त्यागपूर्वक अप्रमत्त भाव से साधना करने पर राग-द्वेष जनित कर्म से बचा जा सकता है। अब आगे विकास हो सकता है। प्रमाद बाधक है। विकास का अवरोधक है। जबकि अप्रमत्त भाव आगे के विकास के लिए काफी अच्छा सहायक है।

७ वे गुणस्थान पर आरूढ़ हो जाने के पश्चात् अब ३ बंधहेतुओं के द्वार बंध हो जाते हैं। अब सिर्फ २ बंधहेतुओं के द्वार खुल्ले रहते हैं। कषाय और योग। कषाय क्रोध-मान-माया और लोभ ये चारों कषाय अनन्तानुबंधी आदि ४ के साथ  $4 \times 4 = 16$  प्रकार के होते हैं। इन १६ प्रकार के कषायों में चार-चार की टुकड़ी बनती है। और ये भी गुणस्थानों पर बाधक-अवरोधक बनती हैं। उनका निर्देश निम्न क्रम से देखिए—

इस तालिका को देखने से स्पष्ट ख्याल आ जाएगा। १ ले मिथ्यात्व गुणस्थान पर अनन्तानुबंधी चारों कषायों का जोर ज्यादा रहता है। वैसे भी मिथ्यात्व के साथ इन अनन्तानुबंधी चारों कषायों का गहरा-गाढ़



संबंध बना हुआ है। दोनों साथ ही रहते हैं। एक दूसरे के पूरक—परस्पर सहयोगी हैं। यद्यपि शेष १२ कषायों का भी अस्तित्व है। अनन्तानुबंधी आदि की काल के आधार पर व्यवस्था है। १) अनन्तानुबंधी—आजीवन—जन्मभर रहता है। २) अप्रत्याख्यानीय ४ कषाय—१ वर्ष की काल अवधिवाला है। ३) प्रत्याख्यानीय ४ कषाय ४—४ माह की काल अवधि तक रहनेवाला है। जबकि संज्वलन की उत्कृष्ट काल मर्यादा १५ दिन की ही है।

जैसे ही मिथ्यात्व के १ ले गुणस्थान से ग्रंथिभेद कर कोई जीव सीधे ४ थे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर पहुँचता है वहाँ ४ अनन्तानुबंधी कषाय क्षीण हो गए। अब अप्रत्याख्यानीयादि १२ कषायों की स्थिति ४ थे गुणस्थान पर रहती है। फिर आगे विकास साधता हुआ जीव जब ५ वे गुणस्थान देशविरति पर आरूढ होता है तब व्रत—विरति—पच्वक्खाण आ जाते हैं। अब अप्रत्याख्यानीय ४ कषाय भी गए। इस तरह ५ वे गुणस्थान पर आते ही अनन्तानुबंधी ४ + अप्रत्याख्यानीय ४ = ८ कषायों का विलय होगा। अब शेष ८ और बचे हैं।

विकास की दिशा में अग्रसर साधक अब आगे ६ ठे गुणस्थान के सोपान पर चढ़कर जब साधु बनता है तब प्रत्याख्यानीय ४ कषायों का भी विलय हो जाता है। इस तरह अनन्तानुबंधी ४, + अप्रत्याख्यानीय ४ + प्रत्याख्यानीय ४ = १२ कषायों का अभाव हो गया। अब मात्र संज्वलन के ४ ही कषाय शेष बचे हैं। वैसे संज्वलन की जाति के ४ कषायों की स्थिति ६, ७, ८, ९ और १० वे इन ५ गुणस्थानों पर रहती है। इन पर भी क्रमशः मात्रा का जोर कम—कम होता ही जाता है लेकिन कषाय थोड़ा भी हो तो भी आखिर है तो कषाय की ही जाति का है। अतः बंधहेतु होने के नाते कर्म तो बंधाएगा ही बंधाएगा।

बस, मोहनीय कर्म की स्थिति १० वे गुणस्थान तक ही है। आगे नहीं है। आगे ११ वाँ गुणस्थान जो कि उपशमश्रेणीवाले का है। वहाँ अब नए कषाय की प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि बंधहेतु नहीं है। परन्तु पूर्व बंधे हुए कषायों के उदय की संभावना पूरी है। क्योंकि क्षय का कार्य नहीं किया है—उपशमन का काम किया है। अतः राख के नीचे दबे प्रदीप्त अग्निमय कोयलों की तरह क्रोधादि कषायों की सत्ता पड़ी है। अतः कभी भी कषाय पुनः प्रदीप्त हो सकते हैं। इसलिए पुनः पतन होगा।

आगे के १२, १३ गुणस्थान बिल्कुल कषाय की सत्ता से रहित हैं। वहाँ न तो क्रोधादि कषायों का बंधहेतु है और न ही कषायजनित कोई प्रवृत्ति। कुछ भी नहीं है।

चूँकि क्षपकश्रेणी का साधक ही यहाँ पहुँचा है। इसलिए कषायभावजनित किसी भी कर्म के बंधन की रतीभर भी संभावना नहीं है। इसलिए १२, १३, १४ वे गुणस्थान पर सर्वथा निष्कषाय भाववाले वीतरागी महात्मा हैं। अब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये चारों प्रकार के बंधहेतुओं का नामनिशान भी नहीं है। इसलिए कर्मबंध का भी नामनिशान नहीं रहेगा।

परन्तु योग भी एक पाँचवा बंधहेतु है। अभी वह अवशिष्ट बचा है। १२, और १३ वे इन दोनों गुणस्थान पर वीतरागी—सर्वज्ञ होने के बावजूद भी मन—वचन—काया के योग है तो सही। मन की प्रवृत्ति है। हाँ, १२ वे छद्मस्थ वीतरागी के लिए तो द्रव्य—भाव दोनों मन हैं परन्तु १३ वे गुणस्थान पर केवली—सर्वज्ञ जो हैं उनको मन से न तो सोचना है न विचारना है। कुछ भी नहीं। इसलिए मन हेतु कर्मबंधकारक नहीं बनेगा। परन्तु वचन और काया को बंधहेतु कर्मबंध की प्रवृत्ति कराएंगे। अतः कर्म का बंध तो इतने से निमित्त के कारण भी होगा ही। सर्वथा तो बचना संभव नहीं है। इसी कारण यहाँ पर योग बंधहेतु की सत्ता का सूचक सयोगी केवली नामकरण उचित ही किया है।

यहाँ नियम ऐसा है कि... उत्तर उत्तर के बंधहेतु नीचे नीचे के गुणस्थानों पर जरूर से हैं। लेकिन नीचे नीचे के गुणस्थान पर रहे हुए बंधहेतु ऊपर—ऊपर के गुणस्थान पर सर्वथा नहीं रहते हैं। उदा. के लिए १ ले गुणस्थान पर मिथ्यात्व का बंधहेतु है, परन्तु आगे—ऊपर के किसी भी गुणस्थान पर मिथ्यात्व बंधहेतु का अस्तित्व ही नहीं है। अतः आगे—ऊपर का कोई जीव पतित होगा। यदि पड़ेगा—गिरेगा तो अन्य किसी बन्धहेतु की प्रवृत्ति आदि के कारण से गिरेगा, परन्तु मिथ्यात्व से नहीं। मिथ्यात्व से तो १ ले गुणस्थानवाला ही गिरेगा। इसी तरह अविरति—प्रमाद—कषाय—योगादि सभी बंधहेतुओं की प्रवृत्ति १ ले गुणस्थान पर अवश्य ही रहेगी। अतः कर्मबंध सबसे होता ही रहेगा। लेकिन ऊपर—ऊपर चढ़ने के बाद नीचे के बंधहेतुओं का कार्यक्षेत्र अब ऊपर नहीं रहेगा।

४ थे गुणस्थान का “अविरत सम्यग्दृष्टि” नामकरण अविरति बंधहेतु की प्रधानता के कारण उचित ही है।

५ वाँ अविरति की न्यूनता और विरति के कुछ प्रवृत्ति के कारण देशविरतिधर नामकरण सार्थक है।

छठे गुणस्थान का नाम प्रमत्त संयत है। यहाँ प्रमाद बंधहेतु की प्राधान्यता है। अतः संयत के आगे प्रमत्त नामकरण बिल्कुल सार्थक है। अब नीचे के मिथ्यात्व तथा अविरति के बंधहेतुओं का नामनिशान नहीं है।



आगे ७ वे गुणस्थान का नाम अप्रमत्त संयत कहा है। वह भी सार्थक सही है। क्योंकि निषेधवाचक 'अ' अक्षर प्रमत्त के आगे लगाया है। वह इसलिए कि ७ वे गुणस्थान पर आकर जीव ने प्रमाद का त्याग कर दिया है। प्रमाद छोड़ दिया है अतः वह प्रमादबंध नहीं रहा। परन्तु ऊपर के कषाय और योग दोनों बंधहेतु तो अभी भी मौजूद हैं।

१० वे गुणस्थान का "सूक्ष्म संपराय" नाम भी यह सूचित कर रहा है कि— "संपराय" शब्द का सीधा अर्थ ही कषाय होता है। शायद आप जानते ही होंगे कि— कष् + आय = कषाय शब्द की निष्पत्ति है। यहाँ 'कष्' का अर्थ संसार है और आय का अर्थ लाभ होना है। अतः जिससे संसार का लाभ होता है अर्थात् संसार की वृद्धि होती है वह "कषाय" कहलाता है। यद्यपि १० वे गुणस्थान पर यह संपराय सूक्ष्म मात्र ही है। लेकिन है सही। क्योंकि अब मात्र लोभ ही बचा है और वह भी सूक्ष्म की कक्षा का ही है। अतः सूक्ष्मसंपराय नामकरण कषाय के बंधहेतु के कारण उचित ही है। इसी तरह नौवे गुणस्थान का नाम जो अनिवृत्ति बादर है वह भी सार्थक है। क्योंकि वहाँ पर बादर अर्थात् स्थूल मात्रा में भी कषाय क्रोध, मान तथा माया तीनों उपस्थित हैं तथा तीनों के द्वारा कर्मबंध भी चालू रहता है।

अब सयोगी केवली... जो १३ वे गुणस्थान पर पहुँच जाते हैं। ऐसे महात्मा चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके केवली—सर्वज्ञ—वीतरागी बन जाते हैं फिर भी ऐसी कक्षा में योग रहता है अतः सयोगी कहलाते हैं। मन, वचन और काया के तीनों योग १२ वे तथा १३ वे इन दोनों गुणस्थान पर रहते हैं। यहाँ योग शब्द बंधहेतु के पाँचवे प्रकार योग का वाचक है। जैसे कि पिछले सभी गुणस्थान पर भिन्न—भिन्न गुणस्थान के नामकरण के साथ बंधहेतुवाचक शब्द नाम के रूप में जुड़े हुए हैं। ठीक वैसे ही १३ वे गुणस्थान के नामकरण में आगे जुड़ा हुआ सयोगी शब्द अर्थात् योगसहित मन—वचन—काया के तीनों योगवाले अर्थ में है। हाँ, जब जी रहे हैं वहाँ तक शरीर तो बना हुआ साथ ही है। यदि शरीर ही छूट जाय तो मृत्यु हो जाय। इसलिए शरीर—काय योग तो बना हुआ है ही। शरीर है तो वाचा—भाषा भी है ही। बोलना—देशना देना आदि वाचिक व्यवहार करने में भाषा के प्रयोग में बोलना तो पड़ता ही है। इसलिए काय योग के साथ वचनयोग भी है ही। अब बात रही मनोयोग की। केवलज्ञानी को सोचने विचार करने की कोई आवश्यकता रहती ही नहीं है। अतः भाव मन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है। फिर भी हेमचन्द्राचार्यजी वीतराग स्तोत्र में लिखते हैं कि— "संशयाभ्राय हरसे अनुत्तर स्वर्गीणामपि" अनुत्तर विमान जैसे कल्पातीत कक्षा के सर्वश्रेष्ठ स्वर्ग के देवताओं के भी

संशयों को वहाँ बैठे बैठे ही दूर करने में जिन द्रव्य मनोवर्गणा के पुटल परमाणुओं की आवश्यकता रहती है उतने ही द्रव्य मन को बनाते—रखते हैं। इस तरह मन वचन और काया के तीनों योग १२ वे—१३ वे दोनों गुणस्थानों पर रहते हैं। शेष ४ बंधहेतु तो चले गए अब एक मात्र योगज बंध रहा है। अतः इन दोनों गुणस्थानों पर भी अल्प मात्रा में कर्मबंध का निमित्त बचा है। अतः कर्मबंध होता तो है ही। लेकिन अब सांपरायिक बंधन होकर कषायरहित मात्र योगज बंध ही होता है। इस तरह वीतरागी—केवली होने के पश्चात् भी बंधहेतु का अस्तित्व नहीं छूटा।

अन्त में जीव १४ वे गुणस्थान पर पहुँचा। वहाँ वीतरागी—सर्वज्ञतादि सब तो समान रूप से वैसे ही रहते हैं। लेकिन अब मन—वचन—काया के तीनों योगों का निरोध करते हैं। क्या करना है इन योगों को रखकर? अतः तीनों योगों का निरोध कर अयोगी बनते हैं। जड़ देह ही छोड़ देंगे तब कैसे जीएंगे? संभव ही नहीं है। अतः १४ वे गुणस्थान पर पंचह्रस्वाक्षरों का उच्चार करने जितने ही परिमित काल में देहादि सब छोड़कर परिनिर्वाण—मोक्ष पद को प्राप्त हो जाते हैं। बस, अब शरीर—देह—मन—वचन किसी की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती है। चेतनात्मा इन तीनों के बिना प्रकाशपुंज की तरह आत्मप्रदेश के शुद्ध स्वरूप में पुंजमात्ररूप में रहती है। बस, यही उसकी सिद्ध—बुद्ध—मुक्तावस्था है।

इस तरह १४ गुणस्थानों पर बंधहेतुओं का क्रम है तथा बंधहेतुओं के आधार पर गुणस्थानों के नामकरण की व्यवस्था कैसी है उसका ख्याल आ जाता है। तथा किस बंधहेतु की किस गुणस्थान तक स्थिति प्रवृत्ति है इसका भी ख्याल आ जाता है।

**बंधहेतुओं द्वारा आवृत्त धर्म—**

ये पाँचों प्रकार के मिथ्यात्वादि बंधहेतु आत्मा के मुख्य उपयोगी अत्यन्तावश्यक धर्मों—गुणों को रोक देते हैं। अतः वे आवृत्त रहते हैं, प्रकट नहीं हो पाते हैं। उदाहरणार्थ—

१ ले मिथ्यात्व बंधहेतु ने प्रगट रहकर आत्मा के लिए विकास में सर्वप्रथम सोपान जहाँ से उत्थान की शुरुआत होती है उस सम्यक्त्व को ही रोक दिया है। अतः जब तक मिथ्यात्व रहेगा तब तक वह सम्यक्त्व को आने ही नहीं देगा। रोके रखेगा। अतः सम्यक्त्व को लाना हो तो मिथ्यात्व को विदाय करना ही होगा। निकालना ही होगा। सम्यक्त्व यह आत्म गुण है। धर्म है। उपयोगी है। आध्यात्मिक विकास की यात्रा का यही प्रथम सोपान

है। बस, यहाँ से ही आत्मा के विकास की यात्रा का प्रारंभ होता है। यही केंद्रबिन्दु है। (सम्यक्त्व का वर्णन पहले काफी किया जा चुका है।) बस, सम्यक्त्व के आच्छादक मिथ्यात्व को भगा दिया जाय, क्षय किया जाय तो सम्यक्त्व आ जाएगा। अर्थ के रूप में कहें तो भगवान्, गुरु और धर्म तथा तत्त्वों के प्रति की विपरीत वृत्ति—गलत मान्यता, झूठी अंश्रद्धादि सब दूर हो जाएगी तथा उन सबके बारे में जीव के लिए विकास की दिशा का सन्मुखीकरण होता है। आज दिन तक मिथ्यात्ववासित होकर जीव जो विपरीत चलता था, मोक्ष से उल्टी दिशा में चलता था, अब वह सम्यक्त्व पाकर मोक्ष सन्मुख बनता है। अब सम्यक्त्वी—साधक सम्यक्त्व के इस छोटे से बीज को पाकर अब विकास की दिशा में तेजी से आगे दौड़ जाएगा। जी हाँ, ... सम्यक्त्व से सत्यता की सही पहचान हो जाती है। भूले भटके मुसाफिर को विपरीत दिशा से गलत रास्ते से सही दिशा के सच्चे रास्ते पर आने से जितना आनन्द होता है, ठीक उसी तरह इस भवपरंपरा के संसार में भटकता जीव मिथ्यात्वरूपी भूले भटके गलत रास्ते से मुड़कर सम्यक्त्व के सच्चे सही मार्ग पर आकर मोक्षप्राप्ति की सही दिशा में चलते हुए अनेक गुना आनन्द पाता है। अतः मिथ्यात्व जो सम्यक्त्व को रोकता है—रोधक है उसको सबसे पहले हटाकर आत्मा को विकास की दिशा में अग्रसर करना ही उत्तम मार्ग है।

२) अविरति बंधहेतु—विरति धर्म को रोकता है। अविरति—अव्रती बनाती है। छकाय जीवों की विराधना कराती है। हिंसादि होने के कारण उस अविरतिधारक को अव्रती बना देती है। हिंसा—झूठ—चोरी—अब्रह्म—परिग्रह के पाप अव्रत को कराती है। अतः अविरति अधर्म है। पापरूप है। इनकी निवृत्तिरूप धर्म ही विरतिधर्म है। वि + रति = विरति। इस शब्द में प्रयुक्त रति शब्द आनन्द—मजा सूचक है, प्रिय पसंदगी के अर्थ को ध्वनित करता है। किसमें रति? अविरति—जो १८ पाप की प्रवृत्ति है उसमें आनन्द मजा आती है। हिंसादि द्वारा दूसरे जीवों को मारने में भी जिसको मजा आती है वह अविरति—अव्रती कहा है। विरति शब्द में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग का अर्थ विगता रतिः यस्मादिति विरतिः = जिसमें से रति आनन्द का भाव जो हिंसादि जन्य है वह निकल गया है इसलिए विरति धर्म है। अविरति शब्द का ठीक विरोधी विपरीतार्थवाची विरति धर्म है। आत्मा को पापाश्रय से बचाता है। अविरति का बंधहेतु विरति धर्म को रोकता है। अवरोधक है। ४ थे गुणस्थानक तक इसकी सत्ता रहती है। अतः यह विरति धर्म को तनिक भी पास आने नहीं देता है। अतः १ से ४ गुणस्थानवर्ती जीव अविरतिवाला रहता है। विरतिरोधक अविरति को हटाना चाहिए।

३) प्रमाद बंधहेतु छठे गुणस्थान तक है। यह १ से ६ गुणस्थान तक अपनी सत्ता रखता है और १ से ६ गुणस्थानवर्ती सभी जीव प्रमादग्रस्त प्रमादी होते हैं। मिथ्यात्वी जीव प्रमादी हो यह तो समझा जा सकता है, लेकिन ४ थे गुणस्थान पर सम्यक्त्वी जो धर्मश्रद्धावाला होता है, अरे ! ५ वे गुणस्थान पर धर्म का आचरण करनेवाला सम्यक्त्वी होता है, और इससे भी आगे चढ़ा हुआ छठे गुणस्थानवाला जीव जो संसार का त्यागी—विरक्त वैरागी—चारित्रधारी संयमी साधु होता है वह भी प्रमादाधीन हो जाता है। फिर छठे गुणस्थान से नीचे के जीवों की तो बात ही क्या करना ? अतः प्रमाद बंधहेतु अप्रमत्तभाव को रोकता है और ७ वें गुणस्थान पर पहुँचने—चढ़ने ही नहीं देता है। प्रमाद में विषय कषाय, विकथा, मद, निद्रा आदि सब में जीव ग्रस्त हो जाता है। इन सबकी प्रवृत्ति करने लग जाता है। और अपनी आत्मा का अहित करता है। अतः अप्रमत्तभाव के रोधक इस प्रमाद दोष को दूर करना ही लाभदायी है। इसीसे आत्मा का विकास अवरुद्ध नहीं होगा और आत्मा आगे बढ़ पाएगी।

४) कषाय यह भी ४ था बंधहेतु है। इसकी सत्ता पहले गुणस्थान से लेकर आगे १० वे गुणस्थान तक रहती है। सोचिए ! कुल मिलाकर है ही सिर्फ १४ गुणस्थान और इनमें १४ वाँ तो ५ ह्रस्वाक्षर उच्चार मात्र काल का है। मोक्षगमन का है। अब बचे शेष १३। और इन १३ में से १० तो कषाय ही खा जाता है। ११ वाँ तो सुषुप्त कषाय के उदय का ही है। इस तरह यदि इसकी भी गिनति करें तो ११ गुणस्थान तो कषाय की मालिका के हो जाते हैं। अब बचे सिर्फ २। १२ वाँ और १३ वाँ। ये दोनों गुणस्थान संपूर्ण रूप से बिना कषाय के शुद्ध हैं। अतः ज्यों ही कषाय—मोहनीय कर्म संपूर्ण—सर्वांशिक क्षय होकर हटा कि आत्मा के वीतराग भावादि गुण प्रगट हो गए। केवलज्ञानादि प्रगट हो जाते हैं। अतः १ से लेकर १० वे गुणस्थान पर एक छत्री साम्राज्य जमाकर बैठे हुए इस कषाय को तो समूल नाश करके निकालना ही चाहिए। आत्मा के वीतरागभाव के अवरोधक इस कषाय को आत्मशत्रु—आन्तर शत्रु आदि समझकर हनन करना ही चाहिए। तभी जाकर साधक १३ वे गुणस्थान पर अरिहंत बनेगा। और दुनियाँ “नमो” शब्द आगे जोड़कर ऐसे अरिहंत को “नमो अरिहंताणं” मंत्र पद से सदा ही नमस्कार करती रहेगी।

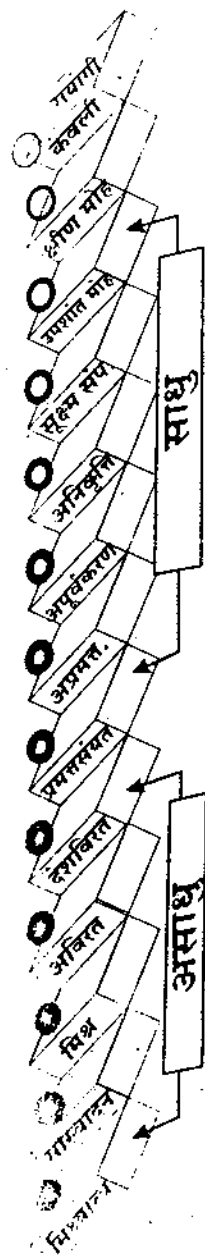
५) ५ वाँ बंधहेतु योग है। यह भी १ ले गुणस्थान से लेकर १३ वे गुणस्थान तक अपना साम्राज्य बनाए बैठा है। मन, वचन और काया ये तीनों योग आत्मा को अपने वश में रख लेते हैं। अतः आत्मा इनसे घिरी हुई रहती है। इस घेरे में फंसी हुई आत्मा इन तीनों



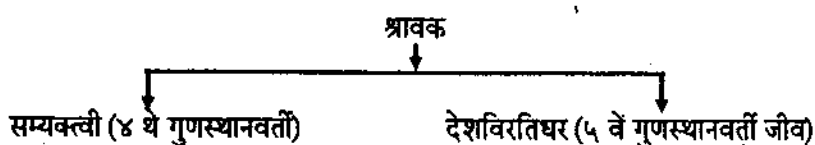
योगों के कारण कर्म बांधती ही रहती है। कर्मों का बंध भी इन तीनों योगों के द्वारा और कर्मों की निर्जरा भी इन तीनों के द्वारा ही होती है। इन तीनों योगों की सक्रियशीलता पर बंध का आधार है। इसलिए यह योगनामक बंधहेतु अयोगी स्वरूप को रोकता है। उसका अवरोधक बाधक है। इसलिए किसी भी रूप में इन तीनों योगों के बंधन को हटाकर आत्मा को अयोगी बनाना ही लाभदायक है। प्रबल पुरुषार्थ करना श्रेयस्कर है। इन बंध—हेतुओं के अभाव में आत्मगुणों का प्रगटीकरण होगा, तब आत्मा एक—एक गुणस्थान के सोपान आगे बढ़ती ही जाएगी, चढ़ती ही जाएगी।

#### १४ गुणस्थानों में साधु असाधु—

उपरोक्त सोपानों की तालिका का चित्र देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि... १४ गुणस्थानवर्ती गुणियों को दो विभाग में विभक्त किया जा सकता है। १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान से लेकर ५ वे गुणस्थान तक के



अधिकारी जीव गृहस्थी—घरबारी—संसारी कहलाते हैं। भले ही ४ थे गुणस्थान पर कोई श्रद्धालु श्रावक बन गया हो फिर भी है तो वह संसारी गृहस्थ। क्योंकि धर्म की श्रद्धा जरूर हुई है लेकिन अभी संसार छोड़कर त्यागी—विरक्त साधु नहीं बन पाया है। और इसी तरह ५ वाँ गुणस्थान भी श्रावक का ही है।



श्रावक दो प्रकार का है। एक तो अविरत सम्यक्दृष्टि है। जो मन में देव—गुरु—धर्म के प्रति श्रद्धा सही रखता है। परन्तु अविरतिधर है। इसलिए अभी सब पापों को न करने के पचक्खण या प्रतिज्ञा नहीं की है इसलिए अविरतिजन्य पाप की प्रवृत्तियाँ चालू ही रहती हैं। सच तो यह है कि ४ थे गुणस्थान पर चारित्रात्मक आचरण शुरू नहीं हुआ है। अभी तो सिर्फ मानसिक श्रद्धा मात्र बनी है। अतः अविरति स्वाभाविक है। लेकिन जैसे ही वह ५ वे गुणस्थान पर पहुँचता है कि व्रत, विरति और पचक्खण शुरू हो जाता है। अतः ५ वाँ गुणस्थान आचरण का है। ४ था सिर्फ श्रद्धा भाव से मानने का है। फिर भी ५ वे गुणस्थान तक असाधु है। अभी तक गृहस्थी—संसारी है। अतः १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान से ५ वे गुणस्थान तक सभी गृहस्थाश्रमी घरबारी असाधु हैं, यद्यपि धीरे—धीरे धर्म की तरफ आगे विकास जरूर साधा है।

यदि आप १ ले गुणस्थान से सही रूप में देखें तो मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की भूमिका में प्रवेश करने आदि की प्रक्रिया से साफ स्पष्ट होता है कि धर्मप्राप्ति—धर्म की श्रद्धा आचरण और फिर त्याग आदि क्रमशः धीरे—धीरे प्राप्त करता जाता है।

अब छठे गुणस्थान पर आकर संसार से महाभिनिष्क्रमण अर्थात् सदा के लिए त्याग करता है। बस, यही संसार को अन्तिम सलामी है। चरम विदाय है। जब संसार को अलविदा सदा के लिए कह दी है तो फिर संसार एवं संसार की प्रवृत्तियों के प्रति पुनः पीछे मुड़कर देखना तक नहीं है। उनमें रस—दिलचस्पी भी लेनी नहीं चाहिए। नहीं तो पुनः संसार की प्रवृत्तियों करने का मन बन जाएगा। अतः ज्ञानी गीतार्थ महात्मा स्पष्ट कहते हैं कि—

**क्लेशे वासित मन संसार, क्लेश रहित मन होय भवपार।**

क्रोध—मान—माया—लोभ—राग—द्वेष—कामवासना आदि सब यदि मन में बसे हुए हो या फिर मन उनमें फसा हुआ हो तब तक कोई संसार से छुटकारा नहीं पाता है और ज्योंही ये छूट जाते हैं, इनसे छुटकारा पाता है, या मन बिल्कुल ही अलिप्त हो जाता है तब निश्चित समझिए कि अब उसका भव—पार हो जाएगा। अब संसार में नहीं रहेगा।

छूटे गुणस्थान पर संसार को त्यागकर जीव जब साधु बनता है तब संसार की कारक एवं कारणभूत सभी साधन—सामग्रियाँ छूट जानी चाहिए। उदाहरणार्थ— पत्नी, पुत्र, परिवार तो पहले छूटना ही चाहिए। फिर धन—संपत्ति—पैसा—माल—मिल्कत—जमीन—जागीरदारी सब छूट जानी चाहिए। बस, इस माया का अब कोई संबंध मात्र भी नहीं रहना चाहिए। अर्थात् संसार को छोड़कर साधु बनने के बाद अब नया पैसा भी अपने पास रखना नहीं चाहिए। पैसे को छूना तक नहीं। स्पर्श मात्र भी वर्ज्य। फिर धन—संपत्तिरूप धन—दौलत माल—मिल्कत बिल्कुल पास रखनी ही नहीं। उसका मालिक भी नहीं बनना। जमीन—जायदाद बाग—बगीचे—बंगले या मठ—आश्रम भी अपनी मालिकी के नहीं रखने चाहिए। नहीं तो फिर अलिप्त नहीं रह पाएगा। फिर उसका मोह—ममत्व आकर्षित करेगा। इसलिए जैन साधु की आचार संहिता ऐसी सर्वोत्तम कक्षा की तीर्थंकर भगवंतों ने बनाई है कि... जैन साधु के लिए इनके महाव्रत ही बना दिये। दीक्षा लेकर साधु बननेवाले को आजीवन पर्यन्त अर्थात् मृत्यु की अन्तिम श्वास पर्यन्त विजातीय स्त्रीवर्ग का स्पर्श भी नहीं करना। चाहे पूर्वाश्रम गृहस्थाश्रम की वह बहन, बेटी या माँ भी हो तो भी उसका स्पर्श मात्र भी जीवनभर नहीं करना। इसे ब्रह्मचर्य महाव्रत के साथ जोड़ दिया गया। यह ४ था महाव्रत और दूसरी तरफ धन—संपत्ति, माल—मिल्कत आदि के सर्वथा त्याग को ५ वाँ महाव्रत कह दिया। इस तरह जैन साधु को जिन्दगी भर के लिए इन दो सबसे बड़े संसार कारक दूषणों से बचा लिया। भीष्म प्रतिज्ञा करा दी।

इसी तरह प्रथम महाव्रत में अहिंसा की सूक्ष्मतम गहराई को जैन साधु के जीवन में उजागर कर दी। चरितार्थ कर दी। दीक्षा लेकर साधु जीवन ग्रहण करने के पश्चात् सूक्ष्म अहिंसा जीवमात्र की रक्षा करने की सर्वोत्तम भावना से जिन्दगीभर तक कच्चे पानी का स्पर्श तक न करना। फल—फूल—पत्ते आदि हरी वनस्पति—बीजादि का भी जिन्दगी भर तक स्पर्शमात्र भी न करना। अग्नि का भी स्पर्शमात्र न करना और कोई रसोई बनानी या करनी आदि कुछ भी नहीं। इस प्रकार समस्त जीव राशि के ६ जीवनिकायों की विराधना का सर्वथा त्याग। सोचिए, हिमालय की गुफा में रहना आसान है लेकिन इस प्रकार का ऐसा संपूर्ण त्यागमय जीवन जीना सबसे कठीन है। ऐसा साधुत्व संसार में एकमात्र जैन

साधु का ही मिलेगा । (विशेष वर्णन— केशलुंचन, पादविहार, महाव्रतों आदि का स्वरूप ११ वे १२ वे प्रवचन की पुस्तिका को पढ़कर समझा जा सकता है ।)

एक बार ग्रहण किया हुआ चरित्रधर्म रूप ऐसा साधुत्व मृत्यु की अन्तिम श्वास तक भी वापिस छोड़ा ही नहीं जा सकता है । ऐसा चरित्र छठे गुणस्थान से प्रारंभ होता है और १४ वे गुणस्थान तक यही चरित्र समान रूप से रहता है । यह आधारभूत है । अतः आगे के समस्त गुणस्थान संसार के त्यागी साधु के हैं । अतः जो ५ वे गुणस्थान से आगे चढ़ा नहीं है, जो साधु बना ही नहीं है वह भी यदि अपने आप को आगे के गुणस्थान पर आरूढ़ बताना अनुचित है ।

१३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर कोई वीतराग तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान भी बन जाय तो भी वह सर्वप्रथम साधु तो है ही । बाद में वीतराग—सर्वज्ञ या भगवान है । प्रथम साधु है इसीलिए स्तुति—स्तवना तथा गुणकीर्तन आदि स्तोत्रादि में भगवान के लिए गुरु, मुनि, साधु, श्रमण आदि विविध शब्दों का संबोधनादि के रूप में प्रयोग किया गया है । अतः छठे गुणस्थान से आगे के सर्व १४ वे गुणस्थान तक सभी साधु हैं । छठे गुणस्थान से नीचे पहले गुणस्थान तक के सभी असाधु—गृहस्थी—घरबारी है । इस तरह १४ गुणस्थान पर साधु—असाधु ऐसे दो विभाग में विभक्त जीव हैं । दो ही मालिक कह सकते हैं एक साधु और दूसरा गृहस्थी है । दोनों के अपने—अपने गुणस्थान हैं ।

### गुणस्थानों का परिवर्तन कैसे ?

जिस जिस गुणस्थान का जो जो स्वरूप निर्धारित किया गया है वैसी अवस्था जिस जीव को प्राप्त हो वह उस गुणस्थान पर आरूढ़ होता है । यदि आगे के गुणस्थान के लक्षण, गुणस्थान वैसी अवस्था यदि प्राप्त न हो तो निश्चित समझिए कि आगे का गुणस्थान कभी भी प्राप्त नहीं होता है । प्रत्येक गुणस्थान के द्रव्य और भाव दोनों स्वरूप हैं । द्रव्य स्वरूप में बाहरी आकार प्रकार बदलता है और भाव स्वरूप में आन्तरिक गुणात्मक भूमिका बदलती है । फिर भी गुणस्थान प्रधानरूप से आन्तरिक ही है । यदि कोई बाहरी दृश्य बदल भी दे तो इतने मात्र से उसका गुणस्थान बदल नहीं जाता है । मानों कि कोई गृहस्थ साधु का वेष धारण कर ले इतने मात्र से वह छठे गुणस्थान पर आरूढ़ नहीं हो जाता है या छट्ठा साधु का गुणस्थान आ नहीं जाता है । यदि इतना आसान हो तो नाटक में काम करनेवाले कई कलाकार हैं जो थोड़ी देर के लिए साधु का वेष धारण कर ले, या थोड़ी देर के लिए भगवान के जैसी वेषभूषा भी बना ले तो क्या उससे भगवान थोड़े ही बन जाता



है ? जैसे एक छोटे बच्चे को उसकी माँ दिन में दस बार यदि अलग अलग प्रकार की वेषभूषा पहना दे उससे क्या वह वैसा हो थोड़ी ही जाता है ? क्या डाक्टर के साधन लेकर वह किसी को तपासने जैसा नाटक मात्र विनोद या हास्य के लिए करे तो इतने मात्र से वह डाक्टर थोड़ा ही बन जाता है ? ठीक इसी तरह मात्र द्रव्यरूप से या बाह्यरूप से साधु का वेष मात्र ग्रहण कर ले और आन्तरिक त्यागादि की कोई भावना, गुणात्मक कक्षा न बने, या आभ्यन्तर त्यागादि कुछ भी न आए तो इतने मात्र से वह साधु बन नहीं सकता है । द्रव्यरूप से वेषमात्रधारी वास्तव में छुट्टे गुणस्थान का स्वामी नहीं कहला सकता है । निश्चयनय की अपेक्षा से तो नहीं, लेकिन हाँ, व्यवहारनय साधु कहकर व्यवहार जरूर कर सकता है । परन्तु व्यवहारनय उसका गुणस्थान नहीं बदल सकता । संभव भी नहीं है । हो सकता है कि निश्चयनय से वह मिथ्यात्वी भी हो और व्यवहारनय से वह साधु भी हो । जैसे मूलरूप से अभवी जीव हो और वह व्यवहारनय से दीक्षा ग्रहणकर साधु बन भी जाय तो इतने मात्र से क्या उसका गुणस्थान परिवर्तन हो जाएगा ? जी नहीं । अभवी जीव अनादि—अनन्तकाल तक महामिथ्यात्वी ही रहता है । अतः अनन्तकाल तक उसका पहला मिथ्यात्व का ही गुणस्थान रहेगा । परिवर्तन संभव ही नहीं है ।

अभी जीव के लिए परिवर्तन संभव है । अतः गुणस्थानों के परिवर्तन का आधार मात्र गुणों पर निर्भर करता है । आत्मा में गुण परिवर्तन आन्तरिक कक्षा में परिवर्तित हो तो निश्चित ही परिवर्तन संभव है, परन्तु शरीर पर लिंग मात्र के परिवर्तनों का कोई मतलब नहीं है । जिस गुणस्थान का जो निश्चित—निर्धारित स्वरूप है वह आने पर वह गुणस्थान निश्चित रूप से आएगा । उदा. जीवादि नौ तत्त्वों, तथा देव—गुरु—धर्म की यथार्थश्रद्धा आ जाने पर ४ था गुणस्थान जरूर आएगा । देशरूप से अर्थात् अल्प प्रमाण में भी यदि व्रत—विरति—पञ्चक्खाण आएगा तो ५ वाँ गुणस्थान जरूर आएगा । इसी तरह साधुजीवन के २७ गुणों की कक्षा तथा संसार के त्याग की प्रक्रिया बनने पर छठवा गुणस्थान जरूर आएगा ।

बस, व्यवहारनय की अपेक्षा जितना भी बाह्य परिवर्तन है वह मात्र १ से ६ गुणस्थान तक ही है । यह बाह्य परिवर्तन व्यवहारिक रूप से रहता है । बाह्य चिन्हरूप पहचान का सहायक बनता है । १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर तो पूरी दुनिया है । चाहे किसी भी प्रकार की वेशभूषा हो वह पाप की प्रवृत्ति में रत—आसक्त होगा । वही मिथ्यात्वी कहलाएगा । ४ थे सम्यक्त्व के गुणस्थान की व्यवहारिक पहचान के लिए पूजा की

वेशभूषा में जिन मंदिर जाता हुआ, ललाट पर तिलक प्रभु आज्ञा का सूचक बना हुआ हो, या माला हाथ में ग्रहण करता हुआ प्रभु नामस्मरण, जपादि करता हो, या तीर्थयात्रा करने जाता हुआ, या स्वाध्याय तत्त्व विचारणा—पठन—पाठ अभ्यासादि कराता—करता हुआ तो समझिए वह ४ थे गुणस्थान का मालिक है और यह उसका बाह्य स्वरूप है जो दुनिया की पापप्रवृत्ति से विरक्त है ।

५ वे गुणस्थान पर आरूढ आत्मा व्रत, विरति और पञ्चकम्पाणधारी बनती है । वह पौषधशाला या उपाश्रय में सामायिक, प्रतिक्रमण या पौषधादि करता हुआ, तथा तत्सूचक चरवला—मुहपत्ति—कटासणादि जीवरक्षासूचक उपकरण आदि को ग्रहण कर बैठा हो । उपयोग करते हुए अविरति के त्यागपूर्वक व्रत—विरति को धारण करके आराधना करता हो ऐसा साधक ५ वे गुणस्थान पर आरूढ समझा जाता है । बाह्य रूप से तथा आभ्यन्तर रूप दोनों प्रकार से तथा व्यवहार रूप से तथा निश्चय नय से भी देशविरति का ५ वाँ गुणस्थान उसे स्पर्शता है ।

इसी तरह एक सोपान और आगे चढ़ा हुआ साधु भी बाह्य रूप से द्रव्यलिंग से भी पहचाना जाता है । तथा आभ्यन्तर कक्षा से भी । व्यवहाररूप से बाहरी पहचान गृहस्थाश्रमी संसारी स्वरूप से सर्वथा भिन्न, सिलाई किये हुए वस्त्र न पहनकर, रंगबिरंगी भी न पहनकर कोई फेशन के शो वाले भडकादि कपडे भी न पहनकर सीधे सादे सफेद वस्त्रधारी, साधु की वेशभूषा का धारक अपने धर्मचिन्हरूप रजोहरण—(ओघा) मुंहपत्ती तथा दण्ड एवं काष्ठपात्रादि धारक साधु व्यवहार नय से बाह्य स्वरूप से पहचाना जाता है । यद्यपि भिन्न भिन्न संप्रदाय अभिप्रेत भिन्न प्रकार की वेशभूषा आदि का धारक हो सकता है । बाह्य स्वरूप है अतः उसमें सभी अपनी—अपनी इच्छानुसार परिवर्तन थोड़ा—ज्यादा कर सकते हैं । कोई सर्वथा वेश न रखते हुए नग्न दिगंबर भी रह सकते हैं । कमण्डलधारी, कौपीन धारी भी साधु कहला सकते हैं ।

व्यवहारात्मक बाह्य परिवर्तन जो पहचान का लिंगमात्र है वह भिन्न भिन्न प्रकार का हो सकता है । लेकिन आभ्यन्तर कक्षा में—गुणात्मक स्थिति आनी ही चाहिए । अतः श्रमणावस्था ग्रहण करनेवाले साधु में संसार की विरक्ति, वैराग्य, त्याग, पापनिवृत्ति, पंचमहाव्रत धारकता, ब्रह्मचर्यशुद्धि, अपरिग्रहता, तथा रात्रिभोजन त्याग, पंचेन्द्रिय संवरादि रूप सूचक २७ गुणों की धारकता अनिवार्य है । केशलुंचनादि भी व्यवहारिक पहचान के साधन बन जाएंगे, लेकिन गुणात्मक स्थिति आभ्यन्तर कक्षा की होगी ।

अब छठे गुणस्थान से आगे अन्तिम सोपान रूप १४ वे गुणस्थान पर्यन्त बाह्यलिंग तो साधु का ही रहेगा । उसमें तो कोई परिवर्तन नहीं होगा । क्योंकि ६ से १४ तक के सभी गुणस्थान साधु अवस्था के ही हैं । अतः कोई ज्यादा परिवर्तन की गुंजाईश नहीं है । लेकिन आभ्यन्तर कक्षा में आसमान जमीन का परिवर्तन होता ही जाता है । ऐसी अन्तर कक्षा के परिवर्तन को सूचित करनेवाली बाह्य परिवर्तन की कोई निशानी नहीं है । जी हाँ ! अब पुनः बाह्य परिवर्तन मात्र १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान पर पहुँचने के बाद होगा । लेकिन वह भी सब में नहीं । जो जो तीर्थंकर बनेंगे उनके लिए अष्टप्रातिहार्य, समवसरण तथा अनेक अतिशयों की रचनाएं होगी । ये सभी प्रधानरूप से दैवी कृत रहेगी । देवताओं द्वारा बनाए हुए अतिशय अष्टप्रातिहार्यादि, समवसरणादि परमात्मा की पहचान के लिए बाह्य साधन बन जाएंगे । लेकिन आभ्यन्तर गुणात्मक कक्षा तो वीतरागता और सर्वज्ञतादि की सब में समान रूप से एक जैसी ही रहेगी । १३ वे गुणस्थान पर चाहे जो भी आए, जितने भी आए उन सब की उस गुणस्थान के अनुरूप वीतरागता सर्वज्ञतादि की स्थिति एक समान—एक जैसी ही रहेगी । चाहे वह तीर्थंकर बने या चाहे वह गणधर बने, या फिर चाहे वह सामान्य साधु ही क्यों न हो ? आभ्यन्तर गुणात्मक कक्षा सर्वथा समानरूप ही रहेगी । बाह्य परिवर्तन में तो तीर्थंकर नाम कर्मादि तो मात्र पुण्यप्रकृति है । तीर्थंकर नामकर्म की सर्वोत्तम कक्षा की पुण्य प्रकृति है । तीर्थंकर नामकर्म की सर्वोत्तम कक्षा की पुण्य प्रकृति के उदय से वैसी श्रेष्ठतम कक्षा प्राप्त होती है । परन्तु वीतरागता—सर्वज्ञतादि तो पुण्योदयजन्य नहीं है, ये तो सर्वथा क्षायिक भाव की है । अतः गुणात्मक होने से समानरूप ही रहेगी । इस तरह १४ ही गुणस्थान पर बाह्यचिन्हादि किसके कैसे हैं वह यहाँ दर्शाया है । जिससे बाह्य स्वरूप से भी पहचान जा सके । १३ वे गुणस्थान पर पहुँचे तीर्थंकर की बाह्य पहचान... समवसरण की दैवी रचना, अष्टप्रातिहार्यादि, अतिशयादि हैं । अतः इनके कारण वे तीर्थंकर हैं और १३ गुणस्थान पर आरूढ हैं यह भी पहचान बाह्यरूप से स्पष्ट हो सकती है । ४ थे गुणस्थान की वैसी कोई बाह्य पहचान नहीं है । इसी तरह ७, ८, ९, १०, ११ और १२ वे गुणस्थान की भी कोई बाह्य पहचान विशेष प्रकार की नहीं बनती है । ये छठे गुणस्थान प्रधानरूप से आभ्यन्तर कक्षा के हैं । बाह्य रूप से तो छठे गुणस्थान पर साधु बन ही गया है । अतः छठे गुणस्थान से लेकर आगे १२ वे तक बाह्यरूप से तो वैसा साधु ही दिखाई देगा । बिल्कुल साधु जीवन की आचार संहिता ही रहेगी । हाँ, अन्तर जरूर बढ़ेगा । आचारसंहिता में आगे बढ़ने पर कुछ कमी—बेसी जरूर आएगी । जैसा कि अप्रमत्त बनने के बाद अब प्रतिक्रमणादि की आवश्यकता नहीं रहेगी । शास्त्रकार स्पष्ट करते हैं—

## अप्रमत्त के लिए प्रतिक्रमण नहीं—

इत्येतस्मिन् गुणस्थाने नो सन्त्यावश्यकानि षट् ।

सततध्यानसद्योगाच्छुद्धिः स्वाभाविकी यतः ॥ ३६ ॥

जब साधक ७ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होकर अप्रमत्त बन जाय फिर उसके लिए प्रतिदिन के दैनिक—रात्रिक प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता ही नहीं रहती । क्योंकि प्रमादभाव के कारण जिन—जिन दोषों की संभावना रहती थी अब वे कारण ही नहीं हैं । अतः उन कारणों के सेवन के अभाव में वैसा दोष ही नहीं लगता है तो फिर खपाने के लिए कोई आवश्यकता रहती ही नहीं है । यहाँ ७ वे गुणस्थान पर कोई माया—कपट—दंभादि सेवन करने का तो कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है । क्योंकि श्लोक में साफ शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा है कि “सतत ध्यानसद्योगाच्छुद्धिः”—सतत—निरंतर शुभध्यान के शुभयोग से स्वाभाविक रूप में शुद्धि काफ़ी अच्छी एवं ऊँची कक्षा की रहती है । इसलिए दोष कुछ भी लगने की संभावना ही नहीं रहती है । अतः आवश्यक क्रिया करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है । इन सामायिक आदि की क्रिया जो की जाती है वह सामायिक का क्रियात्मक स्वरूप है, तथा इन सामायिकादि का गुणात्मक स्वरूप भी है । समता गुण है । सामायिक उसकी प्राप्ति के लिए क्रिया रूप है । अतः बार—बार की क्रिया करते रहने से उस गुण की प्राप्ति विशेषरूप से की जा सकती है । मुख्य साध्य तो गुण की प्राप्ति का ही है । उस साध्य को साधने के लिए तदनुरूप क्रिया करना उसका व्यवहारिक स्वरूप है । समता आत्मा का गुण है तो उसी गुण की क्रिया सामायिक है । छठे गुणस्थान तक आचारात्मक क्रिया करने का महत्व था लेकिन अब सातवे गुणस्थान से क्रिया गौण है और गुणस्थान प्राधान्य है । गुण भी आत्मिक कक्षा के सर्वोत्कृष्ट कक्षा के हैं फिर तो कोई सवाल ही नहीं । समता—नम्रता (विनय), क्षमा, सरलता, संतोषादि आत्मा के ही गुण हैं और आत्मा यदि उन गुणों में मग्न—लीन रहकर वैसी तदाकार ही बनकर रहे तो की जानेवाली सामायिक की क्रिया अर्थात् बाह्य व्यवहारात्मक क्रियात्मक सामायिक की अपेक्षा गुणात्मक समभाव की आन्तरिक स्थिरता ऊँची सामायिक गिनी जाएगी । इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य क्रियात्मक सामायिक नहीं करनी ऐसा नहीं है । बाह्य क्रियात्मक सामायिक तो हजारों बार करनी ही है । उपयोग भाव में जितने ज्यादा स्थिर रहेंगे उतनी ज्यादा मात्रा में निर्जरा होगी । यदि मानें कि निर्जरा नहीं भी हुई तो भी संवर का लाभ तो पूरा मिलेगा । इसमें तो संदेह नहीं है । लेकिन छठे प्रमत्त गुणस्थान तक बाह्य क्रियात्मक सामायिक का महत्व था । अब ७ वे गुणस्थान से

साधक बिल्कुल अप्रमत्त ही बन गया है, आत्मसाक्षीभाव में जी रहा है, आत्मगुणों की अनुभूति के साथ जी रहा है, जागृति में सावधान बनकर जी रहा है, इसलिए अब सामायिक अन्तर आत्मा की गहराई में समभाव की गुणात्म होगी ।

आगमशास्त्र यहाँ स्पष्ट कहते ही हैं कि “आया सामाइए,” आया सामाइ अरस्स अट्टे” । गुण—गुणी का अभेद संबंध होने के कारण आत्मा ही सामायिक है । ऐसा निश्चय नय की दृष्टि से कहा जाता है । गुण में गुणी का आरोपण, या गुणी में गुण के आरोपण करते हुए एकरूपावस्था का ऐसा निश्चयात्मक व्यवहार होता है । अब सतत ध्यान की शुद्धि में रहा हुआ योगी—ध्यानी आत्मसाक्षीभाव के साथ ही रममाण रहता है । समता गुण है, और इसमें स्थिर समत्वी आत्मा सामायिक भाव की स्थिरतावाली कही जा सकती है ।

इस ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान पर आए हुए अप्रमत्त योगी का अन्तःकरण संकल्प—विकल्पों की परंपरा से रहित हो जाता है । उसके चारित्र गुण में किसी भी प्रकार के अतिचार लगने की कोई संभावना ही नहीं रहती है । अतः बाह्य रूप से प्रतिक्रमण करने की अपेक्षा आभ्यन्तर कक्षा में प्रतिक्रमण की ही कक्षा में सदा रहता है । अतः वह भावतीर्थ की अवगाहना करने से उत्तरोत्तर परम विशुद्धि को प्राप्त होता है । भावतीर्थ के विषय में शास्त्र में फरमाया है कि—

दाहोपशमः तृष्णाछेदनं मलप्रवाहणं चैव ।

त्रिभिरर्थैर्निर्युक्तं तस्मात्तद्भावतस्तीर्थम् ॥ १ ॥

क्रोधे तु निगृहीते दाहस्योपशमनं भवति तीर्थम् ।

लोभे तु निगृहीते तृष्णाया छेदनं जानी ही ॥ २ ॥

अष्टविधं कर्मरजः बहुकैरपि भवैः संचितं यस्मात् ।

तपः संयमेन क्षालयति, तस्मात्तद्भावतस्तीर्थम् ॥ ३ ॥

द्रव्यरूप और भावरूप दोनों अवस्थाएं हैं बाह्यरूप से शरीर में दाह होता है, मलप्रवहण होता है । लेकिन उसके लिए भी यदि आन्तरिक कषायादि का शमन हो जाय तो उससे दाहादि का भी शमन हो जाय । १) दाह का उपशम, २) तृष्णा का छेदन, ३) और मलप्रवहण ये तीनों तीन भाव अर्थ से जुड़े हुए हैं । जैसे क्रोध की निवृत्ति, या निग्रह हो जाने से दाह का भी उपशमन हो जाता है । और लोभ का निग्रह हो जाने से तृष्णा का छेदन भी होता है । तृष्णा का अन्त आता है । इसी तरह जीव ने अनेकों जन्मों में बांधे हुए आठों

कर्मों की जो कर्मरज है उनका भी प्रक्षालन = धोने रूप शुद्धि तपश्चर्या और संयम के द्वारा होती है। अतः ये तप—संयमादि भावतीर्थरूप है।

### अप्रमत्त की कक्षा में प्रवेश

७ वे गुणस्थान की अप्रमत्त की कक्षा में आत्मा का प्रवेश कैसे होता है ? क्या करने से अप्रमत्त बना जा सकता है इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए फरमाते हैं कि—

चतुर्थ कषाय—जो संज्वलन कषाय के नाम से पहचाना जाता है— जिसमें संज्वलन की कक्षा के क्रोध, मान, माया और लोभ चारों की गणना होती है, ऐसे संज्वलन कषाय की ज्यों ज्यों मन्दता उत्तरोत्तर होती जाय त्यों त्यों साधक अप्रमत्तता की तरफ अप्रसर होता जाता है। कहा है कि—

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।

तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ १ ॥

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥ २ ॥

जैसे जैसे सुलभ—सुखरूप सहज में ही इच्छानुरूप प्राप्त होनेवाले विषय भी रुचिकर नहीं लगते हैं, पसन्द नहीं आते हैं वैसे वैसे ... उत्तम तत्त्व की गहराई का ज्ञान भी आनन्दरूप से प्राप्त होता ही जाता है और जैसे जैसे उत्तम तत्त्वों की गहराई में डुबकी लगाता हुआ साधक ज्ञानानन्द प्राप्त करता ही जाता है, वैसे वैसे उसको सहज—सुखरूप प्राप्त होनेवाले रुचिकर विषय भी नहीं रुचते हैं। न ही पसंद आते हैं। दशवैकालिककार ने सच्चे त्यागी का लक्षण बताते हुए इसी सन्दर्भ में साफ कहा है कि—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि अ ।

अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइति वुच्चइ ॥

वस्त्र, सुगंधित अत्तर, विलेपन, तथा आभूषण—अलंकार, सुंदर रमणीय स्त्रियाँ, एवं शयन—पलंगादि भोगोपभोग की सामग्रियाँ जिसको प्राप्त ही नहीं हुई हैं, मिली ही नहीं हैं, अर्थात् उनके अभाव में यदि कोई नहीं भी भोगता है तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता। यदि कहने लगे तो सर्वप्रथम भिखारी को ही अच्छा श्रेष्ठ त्यागी कहना पड़ेगा। लेकिन यह तो अभावात्मक त्याग है। जब उसके पास कुछ है ही नहीं उसे मनोरम भोगोपभोग की कोई साधन—सामग्री, विषय पदार्थ जब मिले ही नहीं है और इसी कारण नहीं भोगता

है तो उसे त्यागी कैसे कहा जाय ? कहावत कहती है कि— “न मिलि नारी तो बावा हुआ ब्रह्मचारी” । यह तो गलत है । यहाँ अभावात्मक त्याग है । अतः ऐसे ब्रह्मचारी का विश्वास नहीं किया जा सकता । शायद कल कोई नारी मिल जाय तो वह ब्रह्मचारी पक्का बना रहेगा या नहीं ? यह शंकास्पद है । अतः सद्भावात्मक त्याग की व्याख्या आगे स्पष्ट की है—

**जे अ कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुब्बई ।**

**साहीणे चयइ भोए, से हु बाइ ति वुच्चइ ॥ ३ ॥**

— जो पुरुष कांत—मनोहर प्रिय ऐसे भोगोपभोग के पदार्थ—वस्त्र—कपडे लते, अन्तर—विलेपनादि सुगंधित पदार्थ, सौंदर्य प्रसाधन, तथा सुंदर मनमोहक गहने—आभूषण, स्वर्ग की अप्सरा जैसी रूपवती स्त्रियाँ, सुंदर आसन एवं पलंगादि सब प्रकार के मनपसंद भोगों और विषयों की प्राप्ति होने के बावजूद भी वह उन भोगों और विषयों से मुँह फेर लेता है, अरे ! सामने देखने तक के लिए भी तैयार न हो, मन से विचारमात्र करके भी भोगने की इच्छा न रखे, मन से ही लात मारकर दूर से ही छोड़ देता है वही निश्चित रूप से—निश्चय नय से सच्चा त्यागी कहलाने लायक है । दशवैकालिक आगम के टीकाकार पू. हरिभद्रसूरि म. फरमाते हैं कि... “अत्यपरिहीणो वि संजमे ठिओ तिणि लोगसाराणि अग्गी उदगं महिलाओ य परिच्चयते चाइत्ति” । धन संपत्ति—वस्त्रादि सामग्री से रहित ऐसा चारित्रवान् पुरुष यदि लोक में सारभूत ऐसे—अग्नि, पानी और स्त्री इन मुख्य तीन का सर्वथा त्याग कर दें, स्पर्श मात्र न करें तो वह सच्चा त्यागी कहलाता है । सभी जानते ही हैं कि... संसार में अपरिमित धन संपत्ति मिलने पर भी कोई अग्नि, पानी और स्त्री को स्पर्श करने का छोड़ ही नहीं सकता है । इसलिए इनको छोड़नेवाला महान त्यागी कहलाता है ।

राजगृही नगरी में अभयकुमार जैसे बुद्धिनिधान ने रास्तों के बीच हीरे मोती... और रत्नों का ढेर करवाया और कहा कि— जो भी कोई व्यक्ति आजीवनभर अग्नि, पानी और स्त्री का स्पर्शमात्र भी न करे उसे मैं ये तीनों रत्नों के ढेर को अवश्य इनाम के रूप में दे दूँगा । लेकिन समस्त प्रजा में से कोई भी तैयार नहीं हुआ । हाँ, रत्नों के ढेर लेने के लिए सभी तैयार थे, चाहते भी थे, लेकिन ये शर्त बड़ी कठिन लगती थी । असंभव सी लगती थी । लोग सोचते थे कि इतने भारी रत्नों के ढेर के ढेर ले तो लें लेकिन फायदा क्या ? बिना पानी का, अग्नि का स्पर्श किये कैसे जीएंगे ? और फिर जब संसार के सब सुख—भोग भोगने हैं तो स्त्री के बिना क्या करेंगे ? इसलिए सब ना कहते थे । अभयकुमार

मंत्री ने कहा— देखो, आप लोग तो शर्त के कारण रत्नों के ढेर लेने के लिए तैयार नहीं हैं, लेकिन आपको सबको यह जानकर आश्चर्य होगा कि . . . जैन साधु बने हुए दीक्षित चारित्रधारी महात्मा ऐसी तीन तो क्या १०—२० शर्तें, अरे ! इससे भी बड़ी भारी कठिन शर्तें भी लेने के लिए तैयार हैं, मृत्यु की अन्तिम श्वास पर्यन्त पालने के लिए भी तैयार हैं, और फिर भी ऊपर से इन रत्नों के ढेरों को लेने की कोई इच्छा नहीं रखते हैं । अरे ! इच्छा तो क्या स्पर्शमात्र भी करना नहीं चाहते हैं । सर्वथा रत्नों का भी त्याग करते हुए और ऐसी ऐसी असंभवसी ३ तो क्या १०—२० शर्तें इनसे भी भारी पालने के लिए तैयार हैं । सचमुच वही हुआ । और जैन साधु के त्याग, तप और महाव्रत की महानता देखकर राजगृही की समस्त प्रजा जैन साधु के चरणों में नतमस्तक हो गई । त्याग की जय बोलते बोलते काफी, अनुमोदना प्रशंसा की । इस तरह का त्याग वास्तव में त्याग है । यह सद्भावात्मक त्याग है । काफी बड़ा त्याग है । होते हुए भी, उपलब्ध रहने पर भी, या पास में होने पर भी न उपभोग करना यह सबसे ऊँचा त्याग है ।

**मोहक्षय की साधना—त्याग— त्याग से अप्रमत्त भाव—**

मोहनीय कर्म का ज्यादा बंध मोह के विषयों के सेवन से ही होता है । विषय—भोगादि सभी मोह के विषय हैं । इनके सेवन में पुनः राग की वृद्धि और राग के साथ द्वेष की वृद्धि भी सहयोगी है, वह भी होती ही रहेगी । इस तरह राग द्वेष की वृद्धि होती रहेगी । जो भी मोह के रागादि जनक विषय हैं उनको भोगने आदि के निमित्त पुनः कषाय भी जगेंगे । ऐसे कषाय पुनः मोहनीयादि कर्मों का भारी बंध करा देंगे । और फिर ऐसे कर्मों की भारी दीर्घस्थितियों को भोगने के लिए पुनः जीव को कई भव—जन्म ग्रहण करने पड़ेंगे । इस तरह तो संसार की भारी वृद्धि हो जाएगी । काफी लम्बे संसार में काफी लम्बे काल तक भटकते ही रहना पड़ेगा । इस तरह तो इसका कभी अन्त ही नहीं आएगा ।

अतः ऐसे संसार से बचने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि मोह—माया के समस्त विषयों का पहले से ही त्याग कर दिया जाय । ताकि ये पुनः नए कर्म न बंधाए । इसलिए ध्यान—तप—जपादि की तरह मोहनिमित्तक विषय—भोगों का त्याग करना अत्यन्त सहयोगी एवं सहायक है । इस तरह प्रत्यक्षरूप में ध्यान—तपादि सहायक हैं तो परोक्ष रूप से भी त्याग धर्म अत्यन्त सहायक है । सबसे ज्यादा आवश्यक भी है ।

आज दिन इस संसार में संसार के भोग एवं उपभोग की समस्त साधन—सामग्रियाँ जितनी भी हैं वे सब देहोपयोगी हैं । आत्मोपयोगी इनमें से कुछ भी नहीं है । विषय भोग



के सभी पदार्थ इन्द्रियों शरीर और मात्र मन को ही रुचिकर लगते हैं। इनके उपयोगी और सहयोगी हैं। बस, भोग—उपयोग की साधन सामग्रियों से तो मात्र इन्द्रियों मन और शरीर को ही मजा आएगी। परन्तु आत्मा को तो और ज्यादा सजा भुगतनी पड़ेगी। क्यों कि ये मन, शरीर और इन्द्रियाँ इनके अनुकूल २३ विषयों को भोगने के पीछे भारी कर्मों का उपार्जन कराएगी। नए कर्म ज्यादा बंधाएगी। इसके कारण पुनः चेतनात्मा को कर्म की सजा भुगतने के लिए नए जन्म लेने पड़ेंगे। और वे जन्म चारों गति में कहीं भी हो सकेंगे। फिजुल में अल्पकालीन विषय भोगों से जन्य सुख की मजा प्राप्त करते जाने के कारण उपाजित पाप कर्मों की भारी सजा भी जन्मान्तरों में भुगतनी पड़ती है। इसलिए भविष्य का लम्बा विचार करके दीर्घदर्शिता के आधार पर भगवान् तीर्थंकर प्रभु ने त्याग धर्म की आचार संहिता सुंदर बनाई। ऐसा सुंदर आचार धर्म बनाया कि... उसमें त्याग—तप की सुंदर व्यवस्था कर दी। जिससे संसार को त्याग करनेवाले त्यागी को पुनः कर्मबंध न हो, और भव संसार की परंपरा न बड़े। इसलिए त्याग धर्म महान है। उपयोगी ही क्या यह तो महान उपकारी है।

अब त्यागधर्म का अप्रमत्त भाव के साथ भी काफी अच्छा संबंध है। क्योंकि यदि संसार का त्याग करने के पश्चात् भी कोई इन सुख भोगों की साधन सामग्रियों के पीछे ही लालयित रहेगा तो वह अप्रमत्त कैसे बन पाएगा? संभव नहीं है। जैसे जैसे विषयसुख—तथा भोग भोगने जाएगा वह प्रमादी ही कहलाएगा। इसलिए शास्त्रकार महर्षी ने पाँच प्रकार के प्रमादों में “मज्ज—विसय—कसाय” की गाथा में विषयों को भी प्रमादान्तर्गत ही गिना है। बात भी बिल्कुल सही है कि... विषय भोग जन्य सुखों को भुगतने में वह साधक ध्यान तप—जप भावनायोग आदि किसी भी प्रकार की साधना में वह अप्रमत्त रह ही नहीं सकता है। संभव भी नहीं है। पाँचों इन्द्रियों के विषय भोगों को भुगतते समय कोई भी साधक ध्यान में तल्लीन, प्रभु स्मरण में लीन कैसे रह सकता है? संभव ही नहीं है।

दूसरी तरफ आगे—आगे के गुणस्थानों पर अग्रसर होनेवाला साधक जो आत्माभिमुखी, आत्मसन्मुख, मोक्षाभिलाषी बनता ही जा रहा है। ऐसा आत्माभिलाषी, आत्मसन्मुखी साधक जो देहभाव से ऊपर उठ जाता है वह क्यों इन निम्न कक्षा के भोगों में डूबेगा? इनकी अभिलाषा फिर वापिस क्यों करेगा? जो भी कोई एक बार गटर—कीचड से गंदे—मैले हुए पैरों को धो डालता है वह दुबारा क्यों उसमें वापिस पैर डालेगा? ठीक उसी तरह जिन विषय—भोगों को भोगकर, भारी कर्म उपार्जन कर जो

जीव नरकादि की भारी दुःखरूप सजा भोगकर आया है वह पुनः क्यों ऐसे दुःखकारक, क्षणिक सुख की लालसा के कारण दीर्घ पापकर्म बंधानेवाले भोगों को भोगेगा ? इन विषयभोगों को भुगतने के कारण ही जीव अपने उच्चस्तर से नीचे गिरकर निम्नस्तर पर उतर गया । अपने आत्मभाव की रमणता में कितना ऊपर उठ चुका था ? और अब पुनः नीचे उतरना । अरे रे ! क्यों यह पतन करना ? कल्याणमंदिर स्तोत्र में पू. सिद्धसेन दिवाकर सूरि म. इस अवस्था का स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं कि—

**ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन ।**

**देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।**

ध्यान में स्थिर रहकर जो देहभाव को भूलकर परमात्म दशा की तरफ अग्रसर होता है वह साधक... कहाँ पहुँचेगा ? सोचिए । अतः ध्यान ऐसी भूमिका है कि जिसमें जीव देहभाव, देहरागादि भावों को भूल जाता है । उससे ऊपर उठ जाता है । ऐसा ध्यान होना चाहिए । ऐसे ध्यान को ध्यान कहा है ।

यहाँ पर देहभाव, देहराग, देहाध्यास की वृत्ति जो जीव को पुनः पुनः भोग—उपभोग की साधन सामग्रियों से जनित सुख की तरफ आकर्षित करती है । अतः साधक को चाहिए कि आत्म साधना की ऊँची कक्षा तक पहुँचने के पश्चात् पुनः निम्नस्तर के सुख भोगने का विचार तक न करें । अतः महान ज्ञानी महापुरुषों ने जो त्याग कराया, सिखाया है, वही ज्यादा उपयोगी और उपकारी है । अतः मोह के विषयों का त्याग तथा त्याग से अप्रमत्त भाव की साधना करनी ही चाहिए ।

**आखिर प्रमाद क्यों ?**

**जाइ—जरा—भरण—सोग पणासणस्स ।**

**कल्लाण—पुक्खल—विसाल सुहावहस्स ।**

**को देव दाणवं नरिन्द गणच्चीअस्स,**

**धम्मस्स सारमुवलब्ध करे पमायं ? ॥**

द्वादशांगी के इस पुक्खवरदीवद्दे श्रुतस्तव सूत्र की उपरोक्त गाथा में श्रुतज्ञान, आत्मा के लिए उपयोगी एवं उपकारी ज्ञान की प्राप्ति हो जाय उसके बाद क्या प्रमाद करना चाहिए ? यह श्रुतधर्म कैसा है ? जो जन्म—जरावस्था, मृत्यु तथा शोक का नाशक है, पुष्कल—प्रमाण में कल्याणकारी—विशाल सुख को देनेवाला—दायक है । संसार का सुख ठीक इससे विपरीत प्रकार का है । संसार का सुख क्षणिक एवं नाशवंत, अल्पकालिक

है। भौतिक है। पौद्गलिक है। पराधीन है। वह तो जन्म—जरावस्था, मृत्यु और शोक को बढ़ानेवाला—वर्धक है। तथा पुष्कल—विपुल भी नहीं सीमित, परिमित और मर्यादित है। तथा कल्याणकारी भी नहीं, अकल्याणकारी—अहितकारी है। तथा संसार के ही त्यागी—तपस्वियों द्वारा त्यक्त है। पूजित नहीं है। अतः संसार के सुख की कामना करने की अपेक्षा आत्मा के शाश्वत मोक्ष सुख की आकांक्षा साधक को करनी चाहिए। वही श्रेयस्कर है। ऐसे सुख का दाता—श्रुतधर्म है। अतः ऐसा श्रुतधर्म जिसकी देवता—दानव—नरेन्द्र इन सबके समूह समुदाय ने भी पूजा की है, माना है, स्वीकारा है, अतः ऐसे श्रुतधर्म को प्राप्त कर कौन प्रमाद करेगा ? क्या प्रमाद करना उचित है ? जी नहीं। किसी भी स्थिति में प्रमाद करना उचित नहीं है। अतः अप्रमत्तभाव ही कल्याणकारी है। प्रमाद का त्याग करने तथा अप्रमत्तभाव का आचरण करने के लिए महत्व बताते हुए यह बात इस श्लोक में प्रेरक—प्रेरणा जगाने के लिए कही है। यह स्पष्ट रूप से ध्यान में लेकर साधक को भोगों का, मोह की साधन सामग्रियों का, एवं प्रमाद भाव का त्याग करके अपनी आत्मा का विकास साधते हुए गुणश्रेणी पर आगे बढ़ना ही चाहिए। इसी में उसका भला है। यही श्रेयस्कर मार्ग है।

॥ प्रमादं त्यक्त्वा अप्रमत्तं भवतु सर्वेषाम् ॥



